आधुनिक
भारत
के
निर्माता

काका साहब कालेलकर

रवीन्द्र केलेकर
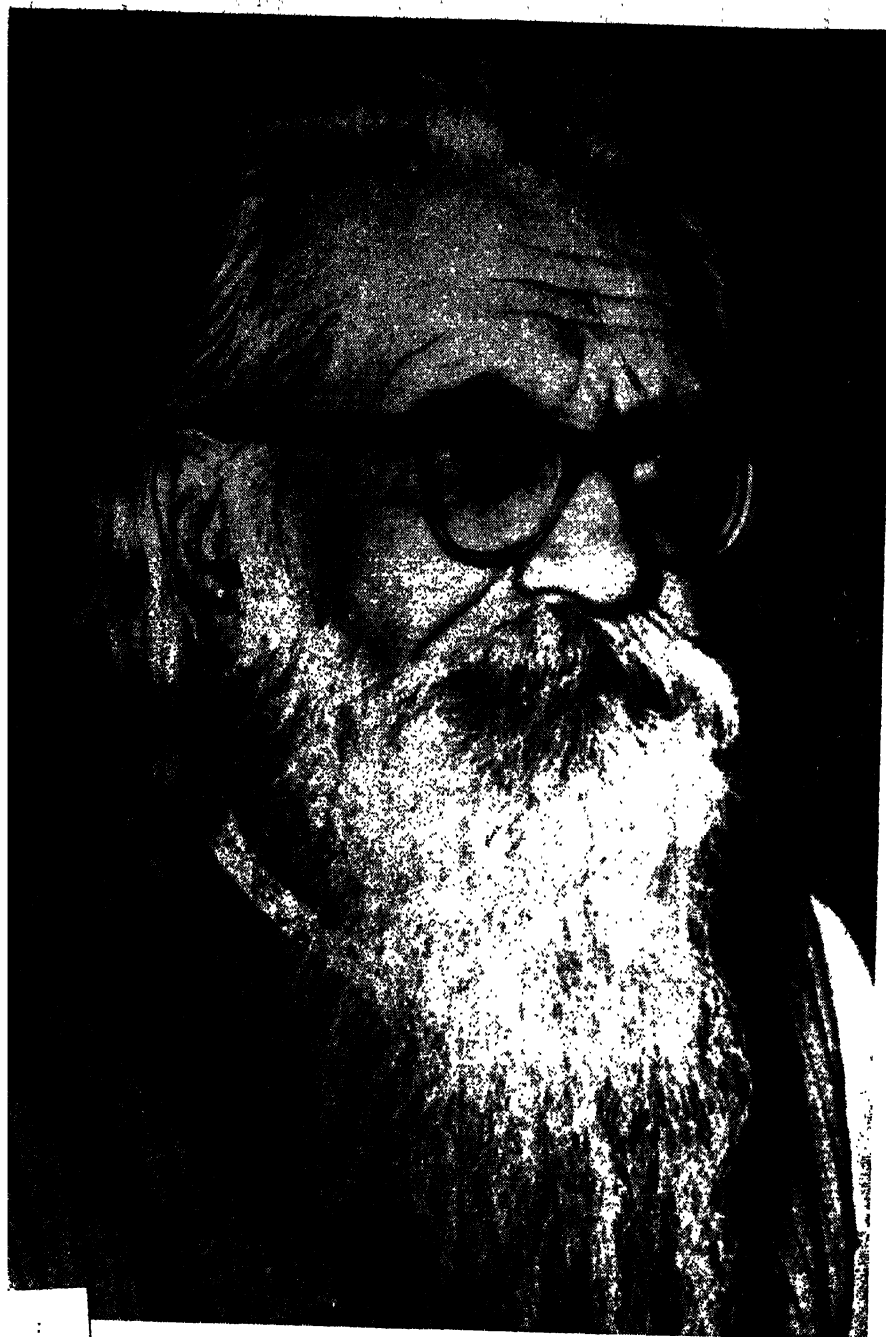
आधुनिक भारत के निर्माता

काका साहब कालेलकर

(गांधीयुगीन सांस्कृतिक नवचेतना के अग्रदूत)

रवीन्द्र केलेकर

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
भारत सरकार

प्रकाशकीय

'आधुनिक भारत के निर्माता' प्रकाशन विभाग की एक उत्कृष्ट एवं महत्वपूर्ण श्रृंखला है। इस श्रृंखला के अंतर्गत उन महापुरुषों की जीवनियां प्रकाशित की जाती हैं, जिन्होंने मातृभूमि की परतंत्रता की बेड़ियों के बंधन को काटने के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया तथा राष्ट्र को सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध कर एकता के सूत्र में बांधने का भगीरथ प्रयास किया। हमारा परम कर्त्तव्य है कि हम इन राष्ट्र-प्रेमी महापुरुषों का संक्षिप्त जीवन चरित्र वर्तमान और भावी पीढ़ियों तक पहुंचाएं। इस लक्ष्य को फलीभूत करने के लिए प्रकाशन विभाग ने यह पुस्तक माला प्रारंभ की है।

हम अविस्मरणीय राष्ट्र निर्माताओं की संक्षिप्त जीवनियां मर्मज्ञ लेखकों से लिखवाकर प्रकाशित करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक 'काका साहब कालेलकर' इसी श्रृंखला की एक कड़ी है। इसके लेखक श्री रवीन्द्र केलेकर ने उनके संसर्ग में रहकर उनकी जीवनचर्या का निकट से निरीक्षण किया है। काका साहब कालेलकर गांधीजी के सहयोगी ही नहीं, अपितु उनके विचारों के समकालीन व्याख्याता भी थे। अत: उन्हें गांधीयुगीन सांस्कृतिक नवचेतना का अग्रदूत कहना समीचीन होगा।

काका साहब बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वे सच्चे अर्थों में शिक्षक, लेखक, पत्रकार, सृजक साहित्यकार और उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ थे। विचारों से वह समन्वयवादी तथा राष्ट्रीय एकता के लिए देवनागरी लिपि को सब प्रांतीय भाषाओं की लिपि के रूप में अपनाने के पक्षधर थे।

आशा है, यह पुस्तक पाठकों को न केवल काका साहब के जीवन तथा स्वतंत्रता संग्राम में उनके अद्वितीय योगदान से परिचित कराएगी अपितु, उनकी बहुआयामी वृत्तियों से भी साक्षात्कार कराकर प्रेरणा प्रदान करेगी।

डा० श्याम सिंह शशि
निदेशक

आभार

इस तरह की पुस्तक एक हाथ से नहीं लिखी जा सकती। उसके लिए अनेकों की प्रेरणा, प्रोत्साहन, सलाह और सक्रिय सहायता की आवश्यकता रहती है। इस पुस्तक के लेखन में मुझे कई महानुभावों का सहयोग मिला है। इनमें—

काका साहब कालेलकर जन्म शताब्दी समारोह समिति के अध्यक्ष—श्री विशम्भरनाथ पांडेजी तथा इसी समिति के सभी सदस्य—कवि श्री उमाशंकर जोशी; प्रो० सतीश कालेलकर; श्री गोपाल पोहेकर; श्रीमती सरोज बहन शाह; श्रीमती कृष्णा शर्मा; श्री विष्णु प्रभाकर; डा० रवीन्द्र कुमार; डा० हरी देव शर्मा; डा० लोकेश चन्द्र।

इंडियन कौंसिल फार हिस्टोरिकल रिसर्च: श्री नन्दन शर्मा; श्री शान्ताराम नायक तथा श्री जयप्रकाश भारद्वाज प्रमुख हैं।

मैं इन सभी महापुरुषों का हृदय से आभारी हूं।

इस ग्रंथ की भूमिका के लिए मैं श्री राजमोहन गांधी का विशेष आभारी हूं।

इनमें से श्री उमाशंकर जोशी, प्रो० सतीश कालेलकर और गोपाल पोहेकर प्रकाशित पुस्तक देखने के लिए अब हमारे बीच नहीं रहे हैं। इसका मुझे खेद है।

रवीन्द्र केलेकर

भूमिका

ईमानदारी से और कुशलतापूर्वक लिखी गई किसी भी व्यक्ति की जीवन-कथा रुचिकर होती है। यदि यह व्यक्ति एक तीर्थ-यात्री, देश-भक्त, एक साहित्यकार, एक प्रकृति-प्रेमी, एक बहुभाषाविद, एक शिक्षक और सुधारक हो, तो हमारी रुचि कई गुणा बढ़ जाती है। और जब हमें यह ज्ञात हो कि यह व्यक्ति गाधी जी का एक नि.स्पृह और विश्वसनीय साथी था जिससे गाधीजी अंग्रेजी राज के विरोध में चलाए जाने वाले अपने आदोलनो और प्रति-आंदोलनों के बारे में प्राय: राय लेते थे, तो हमारी दिलचस्पी और भी अधिक बढ़ जाएगी। काकासाहब कालेलकर के प्रत्येक श्वास मे, प्रत्येक कदम मे तथा उनके हरेक सपने मे भारत की स्वतत्रता और पुर्ननिर्माण का संघर्ष बसा था। इसलिए इस जीवनी को पढ़ते समय हमे अन्य बातो के साथ उस संघर्ष की एक तस्वीर भी मिलती है।

लेकिन आज युवाओं को उस स्वतत्रता-संग्राम और उससे जुड़े एक अविस्मरणीय मानव के बारे में क्यो पढना चाहिए? स्वतंत्रता के बाद गुजरे तैंतालीस वर्षों ने आज के युवाओं को कोई महान गौरव या महान प्रसन्नता प्रदान नही की है। यदि एक विवाह-समारोह मे विषाक्त भोजन परोसा जाए तो उससे पीड़ित लोगो की वर-वधू के शादी से पूर्व की प्रेम कथा जानने मे कोई रुचि नही होगी। स्वतंत्रता-संग्राम की महागाथा मे अवगाहन करने में हमारे आज के युवाओं में जो हिचकिचाहट है, वह आसानी से समझी जा सकती है।

गाधीजी कहा करते थे, भगवान भूखे मनुष्य के सम्मुख रोटी बनकर ही प्रगट हो सकता है। यदि भूखे मनुष्य के सामने भगवान के बारे मे व्याख्यान देना अनुचित है, तो क्या यह उचित हो सकता है कि हम उन बेरोजगार युवकों के आगे स्वतंत्रता-संग्राम का बखान करें जहाँ हर मोड़ पर वे भ्रष्टाचार का सामना करते हैं? ईश्वर को उनके सम्मुख एक नौकरी के रूप में प्रगट होना होगा, न कि एक पुस्तक के रूप में।

लेकिन जरा ठहरें...। क्या यह पुस्तक हमें श्रद्धा, साहस और राष्ट्र-प्रेम से ओतप्रोत ऐसे असाधारण प्रतिभाशाली मानव के बारे में नहीं बताती है, जो प्रसिद्धि की नहीं, बल्कि किन्हीं ऊंचे उद्देश्यों की खोज में था ? क्या यह एक ऐसे व्यक्ति का परिचय हमसे कराती है, जिसने मृत्यु को अपना परम सखा माना ? आज के इस स्वार्थी, भीरु और कटुता से पूर्ण समय में, ऐसे युग में जबकि इंसान सस्ते प्रचार व अवैध धन जुटाने में मसरूफ है, आतंकवाद के अहद में जह। वे ही व्यक्ति कुछ सार्थक कार्य कर सकते हैं जो मृत्यु से नहीं डरते—ऐसी घड़ी में इस तरह की पुस्तक बहुत ही उपयोगी है।

श्री रवीन्द्र केलेकर की काका साहब कालेलकर के बारे में लिखी यह पुस्तक यथार्थत इसी प्रकार की एक पुस्तक है।

अगर काका साहब एक ऐसे व्यक्ति थे जिनका अभाव आज हमें महसूस होता है, तो उनके विचार शायद वही विचार थे जिनकी आज हमें जरूरत है। काका साहब एक उग्र राष्ट्रवादी थे जिन्होंने अपनी किशोरावस्था में ही तब तक आराम से न बैठने की प्रतिज्ञा की थी, जब तक दासता के कारण हुए अपने देश के अपमान का वे बदला न ले लें। बाद में वही काका साहब सभी राष्ट्रों व समुदायों से प्रेम करने लगे थे। वे संस्कृत के प्रति समर्पित थे, फिर भी उन्होंने महात्मा गांधी के साथ हिन्दी और उर्दू भाषा-भाषियों तथा हिन्दू और मुसलमानों के बीच भाईचारा स्थापित करने के लिए हिन्दुस्तानी के लिए अपनी जान लगा दी। यद्यपि वे भारत और महाराष्ट्र के वफादार सपूत थे, उनकी अंतिम वफादारी मानवजाति के प्रति थी। अत· उनका महत्व जितना बीते हुए कल के लिए है, उतना ही आने वाले कल के लिए भी है।

काका साहब की यह विस्तृत जीवनी एक बात के कारण और अधिक समृद्ध हुई है। काका साहब जीवित थे तब केलेकरजी ने उनसे तरह-तरह के प्रश्न पूछे और उनकी स्मृति जागृत की। जो उत्तर उन्होंने दिए वे भी इस पुस्तक में सम्मिलित किए गए हैं। केलेकरजी ने काका साहब से महात्माजी, गुरुदेव रवीन्द्र नाथ, लोकमान्य तिलक जैसों के बारे में ऐसे प्रश्न पूछे थे जिन्हें जहां तक मेरा ख्याल है, औरों ने कभी नहीं पूछे।

इस पुस्तक की भूमिका लिखने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ, इसे मैं अपना बड़ा सौभाग्य मानता हूं। हालांकि मैं यह महसूस करता हूं कि मैं इस योग्य नही हूं। मुझसे ज्यादा दूसरे लोग काका साहब से मिले है। उनका हिन्दी, गुजराती और मराठी मे लिखा हुआ विपुल साहित्य मुझसे ज्यादा औरों ने पढ़ा है, पर अधिकारी न होने पर भी उनसे इस तरह जुड़ जाने पर मैं गौरव महसूस करता हू।

मैं इसके लिए भी कृतज्ञ हू कि पाठको को इस पुस्तक की सिफारिश करने का मौका मुझे मिला। स्नेह-भक्ति और समझदारी से लिखी हुई यह जीवनी लेखन का एक असाधारण नमूना है। भारत की तरुणाई के प्रति लेखक का यह एक अनुरागपूर्ण कार्य है, जिस पर श्री रवीन्द्र केलेकर अवश्य गर्व कर सकते है।

राज मोहन गांधी

विषय-सूची

बचपन के संस्कार

जन्म

गोवा की उत्तरी सीमा पर जहा आज महाराष्ट्र का सिंधुदुर्ग जिला है, वहां अंग्रेजों के शासन-काल मे एक छोटी-सी रियासत थी, जो सावतवाडी के नाम से जानी जानी थी। इस रियासत के माणगाव नामक कस्वे के कालेली नाम के गाव मे आज मे लगभग दो सौ साल पहले एक गौड सारस्वत ब्राह्मण परिवार रहता था। किसी समय इस परिवार के लोग सावतवाड़ी के राजा के सेनापति रहे होंगे। सावतवाड़ी के किले का अधिकार भी उन्ही के अधीन रहा होगा। इसी कारण इस परिवार का उपनाम राजाध्यक्ष पड़ा।

सत्ता और वैभव के कारण उसकी सावतवाडी मे बड़ी प्रतिष्ठा थी।

महाराष्ट्र मे लोगों के उपनाम अक्सर उनके गाव के नाम को लेकर बनाए जाते हे। इस नियम के अनुसार कालेली के राजाध्यक्ष शुरू-शुरू मे कालेलकर राजाध्यक्ष कहलाते थे। बाद मे लोगो की जबान से राजाध्यक्ष उपनाम अपने-आप लुप्त हो गया और यह परिवार महज कालेलकर उपनाम से ही पहचाना जाने लगा।

उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ मे सावतवाडी का शासन कुछ ढीला हो गया था। फलस्वरूप, रियासत मे अराजकता फैल गई थी। चोर, डाकुओ का आतंक बढ गया था। समृद्ध घरों पर जब डकैतिया पड़ती थी, तब पैसे निकलवाने के लिए लोगो के सीने पर ये डाकू बड़े-बड़े पत्थर लाकर रख देते थे। लोग इस परिस्थिति से तंग आ गए थे। शासन की ओर से सुरक्षा मिलने की विशेष आशा नही थी। उल्टे, डाकुओ को पकड़ने के लिए शासन की ओर से जो प्रयत्न हुए, उनसे उनके जुल्म और भी बढ गए। कभी-कभी शासन का जुल्म डाकुओं के जुल्म से बढ़ जाता। अराजकता के ऐसे वातावरण मे रहना लोगो के लिए असम्भव हो गया, तब कई परिवार सावतवाडी छोड़कर अन्य सुरक्षित स्थानों पर जाकर बसने के लिए मजबूर हुए। उन दिनों जिन लोगो ने स्थानांतर किया उनमे कालेलकर कुटुम्ब के एक सदस्य थे : जीवाजी कालेलकर। अपनी जमीन-

जायदाद छोड़कर वे सहयाद्रि लांघकर बेलगांव गए और वहीं हलकर्णी नामक एक गांव में बस गए।

हलकर्णी में उनकी किसी से जान-पहचान नहीं थी। न ही उनके पास कोई पूंजी थी। कहीं नौकरी किए बिना गुजारा करना असम्भव था। सौभाग्य से वहां के एक सेठजी के यहां उन्हें नौकरी मिल गई और उन्होंने यहां अपना जीवन नए सिरे से शुरू कर दिया।

जीवाजी स्वभाव से स्वामीभक्त थे और सेठजी भी भले आदमी थे। दोनों के बीच सगे भाइयों-जैसा सम्बंध स्थापित हो गया। फलस्वरूप सेठजी का सारा हिसाब जीवाजी ही देखने लगे। वे सेठजी के प्रति इतनी अभेदबुद्धि से पेश आने लगे कि अपनी कमाई से जो बचत होती थी, बगैर हिसाब रखे वे सेठजी के यहां ही जमा करने लगे। अचानक एक दिन हृदय का दौरा पड़ने से सेठजी गुजर गए और उनके साथ जीवाजी की पूरी बचत डूब गई। नतीजा यह हुआ कि जीवाजी के बेटे बालकृष्ण को गरीबी में दिन काटने पड़े। पढ़ाई छोड़कर छोटी उम्र में ही उन्हें नौकरी की तलाश में निकलना पड़ा। हलकर्णी छोड़कर वे बेलगांव के नजदीक शाहपुर नामक गांव में जाकर बस गए। वहीं उन्होंने स्वयं प्रयत्न से थोड़ी अंग्रेजी सीख ली और बीजापुर की कलादगी में वे फौजी विभाग में भर्ती हुए। वे इसी विभाग में रहते तो सम्भवतः सूबेदार के पद पर पहुंच जाते और उनके बेटों को लश्करी वातावरण मे रहकर फौजी 'कैरियर' बनाने की शायद इच्छा हो जाती। पर, जिसके मातहत बालकृष्णजी नौकरी करते थे, वह गोरा अफसर उनकी ईमानदारी और लगन से खुश था। इससे भी ज्यादा वह उनके अंग्रेजी भाषा के ज्ञान से प्रसन्न था। विलायत लौटते समय उसने बालकृष्णजी की सिफारिश मुल्की विभाग मे कर दी। इस विभाग में उन्हें अच्छे अवसर मिले। धीरे-धीरे पदोन्नति पाकर वे कलेक्टर के मुख्य हिसाब-नवीस (हेड अकाउंटेंट) के पद पर पहुंच गए।

बेलगांव शाहपुर की ओर के गौड़ सारस्वत ब्राह्मण या तो व्यापार करते आए थे या साहूकारी। सारस्वतों में सरकारी नौकरी करने वाले बालकृष्ण कालेलकर ही इस ओर के पहले सारस्वत थे। इससे जाति के लोगों में उनकी बड़ी इज्जत थी। बीजापुर में अकाल पड़ा, तब बालकृष्णजी ने बड़ी मेहनत करके लोगों को राहत पहुंचाई थी। इससे सरकारी लोगों के बीच भी उनकी

प्रतिष्ठा थी। नौकरी के सिलसिले मे उनका बेलगाव मे सातारा से कारवार, कारवार से धारवाड़ – इस तरह अलग-अलग स्थानो मे तबादला हुआ करता था। उनके पास कभी-कभी एक महत्व का काम और आ जाता था। देशी रियासतों मे जहां राजा नाबालिग होते, वहा का कारोबार उन दिनों अंग्रेजों की देखभाल मे चलता था। वह सतोषजनक रूप से चल रहा है या नही, इसकी जाच करके सरकार को रिपोर्ट देने के लिए बालकृष्णजी की नियुक्ति होती थी। फलस्वरूप उन्हे सावतवाड़ी, जत, रामदुर्ग, मिरज, मुधोल, सावनुर जैसी दक्षिण की रियासतो मे जाच के लिए बार-बार जाना पड़ता था। इससे भी बिरादरी और उनके इर्द-गिर्द की दुनिया मे उनका रोब बढ़ गया था।

नौकरी के सिलसिले मे वे सातारा मे यादो गोपाल नामक एक मुहल्ले मे लक्कड़वाले की कोठी मे रहते थे। सन् 1885 का नवम्बर का महीना था। अचानक एक दिन उनके यहा एक साधु आ धमका। बालकृष्णजी की पत्नी राधाबाई उन दिनों गर्भवती थी। उनको दखते ही साधु ने बालकृष्णजी से कहा, आपके यहा अब की बार भी बेटा ही पैदा होने वाला है। उसे गुरु दत्तात्रेय का प्रसाद मानकर उसका नाम दत्तात्रेय ही रखिए।

बालकृष्णजी अपनी आदत के अनुसार साधु को कुछ दान देने गए। किंतु साधु ने लेने से साफ इकार कर दिया। कुछ भी लिए बिना वह चुपचाप चले गए।

कुछ दिनो बाद —यानी 1885 म पहली दिसम्बर के दिन बालकृष्णजी के यहा एक बालक ने जन्म लिया। देशी तिथि के अनुसार शक 1807 (सवत् 1940) की कार्तिक बदि दशमी का दिन था और बार मंगल था। बच्चे के जन्म के समय सुबह के दस बज रहे थे, उस समय बालकृष्णजी पूजा मे लीन थे। साधु की सलाह के अनुसार बालक का नाम दत्तात्रेय ही रखा गया। छः भाई और एक बहन के बीच यह सबसे छोटा लड़का था, इसलिए उसके इर्द-गिर्द के सभी लोग उसे दत्तात्रेय के बदले प्यार से 'दत्तू' के नाम से पुकारने लग गए थे।

जो जीवन बाद मे काका साहब के रूप में प्रवाहित हुआ, उसका यही से आरम्भ होता है।

बचपन

दत्तू सबसे छोटा था। इसलिए सबका प्यारा था। जिसकी परवरिश बहुत प्यार में होती है, वह अक्सर जल्दी बड़ा नही होता। बड़ा होने मे देरी लगा देता है। दत्तू चार-पांच साल का हुआ तब तक उसे इस का ख्याल तक नही था कि खाना अपने हाथ से खाना चाहिए। उसे हमेशा या तो दादी खिलाती थीं या मां, जीजी खिलाती थी या भाभी! दत्तू के बड़े भाई, जिनको दत्तू बाबा के नाम से पुकारता था, कभी-कभी इससे चिढ़ जाते और कहते, 'इतना बड़ा ऊंट-जैसा हो गया हैं, फिर भी यह अपने हाथ से नही खाता।' इस तरह की टीका-टिप्पणी सुनकर दत्तू को बुरा तो लगता था, पर उसके दिमाग में यह बात न आती कि उसे अपनी आदत बदलनी चाहिए और खाना अपने हाथ से ही खाना चाहिए।

एक बार घर के लोगों ने एक षड़यत्र रचा। दत्तू सारा दिन उछलकूद करके शाम को थककर सो गया था। भोजन का समय हुआ, तब उसे उठा दिया गया। रसोई घर मे उसे ले जाकर उसके सामने परोसी हुई एक थाली रख दी गई। फिर उसके तीसरे भाई विष्णु ने चीमी से कहा, 'चीमी, आज दत्तू को तू खिला।' चीमी दत्तू की भतीजी थी, उससे कुछ डेढ़ साल छोटी। चीमी ने हाथ मे एक कौर लिया और दत्तू के मुंह के सामने धर दिया। दत्तू ने मुंह खोलकर कौर ले लिया।

तुरंत चारों ओर तालिया बज गईं। सब खिलखिलाकर हंस पड़े और बोले, 'देखो, भतीजी चाचाजी को खिला रही हैं, तब भी उसे शर्म नही आती।'

दत्तू झेंप गया। उसने दूसरा कौर लेने से इंकार कर दिया और उसी क्षण निश्चय किया, 'अब अपने हाथ से ही खाऊंगा।'

मगर किस हाथ से खाया जाता है, उसे क्या मालूम! दत्तू ने सामने बैठे हुए लोगों का अनुकरण किया तो उसका बांया हाथ थाली मे पड़ा। विष्णु ने फिर ताना कसा, 'देखो, इस घोड़े को यह भी मालूम नही कि दाहिना हाथ कौन-सा है और बांया कौन-सा।'

दो-तीन बार हाथों की गड़बड़ी हुई तब दत्तू ने तय किया कि इस शास्त्र मे निजी बुद्धि किसी काम की नहीं है। खाना खाने बैठने से पहले किसी से पूछ

लेना ही अच्छा है। वह पिताजी के पास बैठकर भोजन करता था। जब खाना शुरू होता, वह पिताजी से पूछ लेता, 'पिताजी, मेरा दाहिना हाथ कौन-सा है?' दाहिना हाथ एक बार जूठा हो जाता, तब वह निश्चित होकर खाना खाता।

एक दिन अचानक उसने एक खोज कर ली। उसके दाहिने कान में दो मोतियों का एक गहना था, जिसे 'बाली' कहते हैं। दत्तू ने तुरंत सिद्धांत बना लिया : जिस ओर के कान में बाली है, उस ओर का हाथ दाहिना है। इस खोज के बाद उसने पिताजी से पूछना छोड़ दिया। खाना शुरू करने से पहले वह दोनों कानों को चुपचाप टटोल लेता और जिस कान में मोतियों का स्पर्श होता, उस ओर के हाथ से खाना शुरू कर देता। बड़ी होशियारी के साथ वह यह काम निबटा लेता था।

दाएं-बाएं का यह किस्सा यहीं समाप्त नही होता। काका साहब लिखते है :

> 'हमारा परिवार पुराने ढंग का था।...फिर भी औरों की देखादेखी हमारे घर में कई विदेशी वस्तुएं पैठ गई थी। मेरे भाग्य में विलायती जूते पहनना बदा था। इन जूतों में भी दायां-बायां— जैसी दो जातियां थी, जो लाख कोशिशें करने पर भी मेरी समझ में न आती थी। मुझे हर रोज पिताजी से पूछना पड़ता, इनमें दायां कौन-सा है और बायां कौन-सा? पिताजी ने कई बार मुझे जूते और पैर के आकार की समानता समझाने की कोशिश की पर वह किसी तरह मेरे दिमाग मे नहीं बैठी।...इसके बाद, मैं जूते चाहे जैसे पहनने लगा और कुछ ही दिनों में जूतों को मैंने इतना निराकार बना दिया कि फिर पिताजी के लिए भी यह पहचानना मुश्किल हो गया कि कौन-सा जूता दायां है और कौन-सा बायां?'

इस सीधे भोले दत्तू में एक तेज दिमाग भी साथ-साथ काम करता आया था। कभी-कभी तो वह एकाध छोटी-सी बात को लेकर काफी गहराई में उतरता था। इसी उम्र का एक किस्सा है :

सातारा में जहां दत्तू रहता था, वहां उसके घर की दाहिनी ओर दूर एक किला दिखाई देता था, जिसे स्थानिक लोग 'अजिंक्य तारा' कहते थे। दत्तू

उसकी ओर देखता रहता और मन-ही-मन सोचता रहता, भला कौन रहता होगा इस किले मे ? क्या होगा उसमे ?

एक दिन उसने देखा कि घर की सीढ़ियों पर खडे रहकर अगर उठ-बैठ करें तो किला भी ऊंचा-नीचा होता है। दत्तू के लिए यह एक बडी आनंद-दायक खोज थी। तुरंत उस पर इस आनंद को लूटने की धुन सवार हुई। वह लगातार उठ-बैठ किया करता और किले को ऊंचा-नीचा होता देखकर खूब खुश हो जाता। उसने अपनी इस खोज की बात अपने भाई गोंदू और केशू को बता दी। वे भी दत्तू के साथ उठ-बैठ करने लगे। तुरन्त पडोस के दूसरे दो लडके नाना और हरि भी खेल मे शरीक हुए। सभी उठ-बैठ किया करते और किले को ऊंचा-नीचा होते देखकर खुश हो जाते।

एक दिन दत्तू ने एक और खोज की। वह किले की ओर पीठ करके पाव फैलाकर खड़ा हो गया। फिर नीचे सिर झुकाकर दोनों टागो के बीच से किले को देखने लगा। वह आश्चर्य के मारे दग रह गया। उसे सारी दुनिया उल्टी दिखाई देने लगी। यही नही, उसे यह उल्टी दुनिया ज्यादा सुंदर, सुघड और आकर्षक मालूम हुई। उसे बड़ा आनद हुआ। इस आनंद को लूटते-लूटते उसे एक विचार सूझा, जो किसी दार्शनिक को ही सूझ सकता था। वह अपने आप से पूछने लगा, 'इस तरह औधे सिर जो दुनिया दिखाई देती है, वह उल्टी है या खड़े होने पर जो दिखाई देती है, वह उल्टी है ? अगर हम सब सिर नीचे और पैर ऊपर करके चलने लगे तो सबको दुनिया ऐसी ही उल्टी दिखाई देगी और उसी को वे सीधी कहेगे। फिर अगर मुझ-जैसा कोई नटखट लड़का अपने पैरो पर खड़ा हो जाए तो उसे दुनिया वैसी ही दिखाई देगी, जैसी आज हमे दिखाई देती है। और तब वह हैरान होकर कहेगा, देखो, 'दुनिया कैसी उल्टी बन गई है। आसमान सिर के ऊपर है और जमीन पैरो के नीचे !'

दत्तू का यह दार्शनिक दिमाग धीरे-धीरे और भी अधिक गहराई मे उतरने लगा। अक्सर वह बड़े जटिल प्रश्न खड़ा कर देता और बड़ी आसानी से उन्हे सुलझा भी देता।

बरसों बाद का किस्सा है :

वृद्धावस्था मे काका साहब एक बार सौराष्ट्र की यात्रा पर थे। एक छोटे-से स्टेशन पर उनकी गाड़ी खड़ी थी। उन्होने खिड़की से बाहर देखा, तब

उन्हें बाहर कई पेड कतार में खड़े दिखाई दिए। सभी पेड़ एक ही जाति के थे। उम्र भी सभी की करीब एक-सी थी। जुड़वे ही समझिए। पर हर एक का आकार अलग था। काका-साहब यह दृश्य देख रहे थे। अचानक हवा चली और पेड़ो के पत्ते नाचने लगे। तब जो दृश्य दिखाई दिया उसका वर्णन उन्होने अपने मनन के साथ 'चित्र-विचित्र' नामक एक निबंध मे किया है। वे लिखते हैं :

जब हवा चली, पेडों के पत्ते नाचने लगे। उनकी शाखाएं डोलने लगी। मैंने जो चित्र देखा था, उसमे अब हर क्षण नए-नए बदलाव होने लगे। मैं जो देख रहा था, वह न तो पेडो को दिखाई देता था, न हवा को उसका पता था। इतने मे देखा कि जिस खिड़की से मै यह दृश्य देख रहा हूं, उसकी काच सभी जगह समान नही है। कही मोटी है तो कही पतली। इससे पेडों की शाखाओं और पत्तो मे विकृति दिखाई देती है। हवा के कारण शाखाए जब डोलने लगती हैं, तब पत्तों के विकृत रूप भी बदल जाते हैं। काच के मोटे हिस्से मे दिखाई देने वाले पत्ते जब पतले हिस्से की ओर खिसक जाते है, उनकी विकृतिया भी बदल जाती हैं। मोटे हिस्से मे पत्तो की आकृतियो म कुछ ऐसी मजेदार विकृतिया पैदा होती हैं, जिनसे लगता है, माना आकृतियो का एक प्रहसन ही चल रहा है। इस प्रहसन का सूत्रधार कौन है ? हवा या काच ? या दोनो का सहयोग ? फिर सूत्रधार किसे कहे ? पत्तो की आकृतियो की यह लीला देखते-देखते, ध्यान मे आया कि अब अपनी दोनो आखों से मुझे समान रूप से दिखाई नही देता। बाईं आख कुछ कमजोर है। उससे धुधला-धुधला-सा दिखाई देता है। मैंने तुरन्त नया खेल शुरू कर दिया। क्षण-भर के लिए बाईं आख से देखा, दूसरे ही क्षण दाई आख से देखा। चित्र-रसिको को मालूम है कि कोई भी दृश्य जब धुधला-सा या अस्पष्ट दिखाई देता है, तब उसमे मधुरता आ जाती है। कभी-कभी उसम एक प्रकार की काव्यमय मादकता भी आ जाती है। मन मे प्रश्न उठा, कुछ ही क्षणो म मैंने जो कई सृष्टियो का अवलोकन किया, उनमे कौन-सी सत्य है ? पेड़ो की सत्य सृष्टि अलग थी, हवा की अलग थी। काच की मरोड़ी हुई सृष्टि तो बिल्कुल अलग थी और मेरी धुधली आखो ने इस सृष्टि को जो ख्वाबी रूप दिया था, वह तो इन सबसे अलग था। *किसी भी सृष्टि को हम मिथ्या या*

माया रूप कैसे कह सकते हैं ? इन सभी सृष्टियों का मैं साक्षी हूं। बाहर की सृष्टि में किसी भी प्रकार का हेरफेर करने की शक्ति कांच मे नहीं थी। पर मुझे नए-नए दर्शन कराने की शक्ति उस जड़ और अनगढ़ काच मे अवश्य थी। हवा, कांच की विकृति और मेरी आंखों के दोष—इन सबने मेरे लिए एक ही सृष्टि के नए-नए रूप बना दिए। पर उनके पास करतूत बिल्कुल नही था। शीशे के रस ने जब कांच बनाई तब उसने थोड़े ही यह संकल्प किया था कि कभी हवा बहेगी, पेड़ अपनी शाखाओं को हिलाएंगे और ठीक उसी समय एक गाड़ी खड़ी रहेगी और उसकी खिड़की की एक कांच उनके पत्तों की आकृतियों का इस तरह मजाक उड़ाएंगे और गाड़ी मे एक सज्जन की दो आखें हर एक दृश्य की गलत-फहमी कर लेने का व्रत लेकर बैठी होंगी।...दिमाग मे इस तरह के विचार चल रहे थे, इतने मे गाड़ी चलने लगी। हवा, कांच का दोष, आखो का वार्धक्य - इन त्रिदोषों मे अब गाडी की गति का चोथा विक्षेप बढ़ गया। फिर मेरे मन ने यह दृश्य-परम्परा देखने का छंद छोड़ दिया और वह आइंस्टाइन के सापेक्षनावाद तथा गौडपादाचार्य के अजाति सिद्धात की ओर मुडा। मन मे एक कल्पना सूझी और मुझे हंसी आई। कहते हैं कि आइ-स्टाइन का सापेक्षतावाद हमे सृष्टि को समझ लेने की दृष्टि देता है। पर यह वाद समझते समय विकृति पैदा करने वाली कोई हवा की या एकाध अनघड़ कांच की बाधा तो हमे नही होती न ? सभी चीजो की चिकित्सा करने वाला मन ही अगर उस अनघड़ कांच की तरह रहा तो हम कैसे कह सकेंगे कि उसके देखे हुए दृश्य और उसके निकाले हुए अनुमान विकृत नही होंगे ?

शरारतें

दत्तू की शरारतें उसके अपने ढंग की थी। उसके बड़े दो भाई—बाबा और अण्णा—को पढ़ाने के लिए घर मे एक शिक्षक आया करते थे। भाषा और गणित उनके खास विषय थे। स्वभाव के बड़े क्रोधी थे। घर में जब वह पैर रखते, तब सभी बच्चे इधर-उधर छिप जाते। एक रोज वह पढ़ाने में तल्लीन थे। दत्तू को शरारत सूझी। रंग मे भंग किस तरह किया जाए, विचार में वह पड़ा। जब कुछ न सूझा तब दरवाजे के पीछे खड़े

होकर रेल की सीटी की तरह उसने जोर से 'कुऊ ऊ ऊ' के महामंत्र का उच्चारण किया। बस, मास्टर साहब नाग की तरह फुफकारने लगे। पर दत्तू चालाक था। मास्टर साहब की नजर उस पर पड़े उससे पहले ही वह वहां से भाग निकला। इतने मे न मालूम कैसे, गोंदू भागता-भागता वहां आ पहुंचा। मास्टर साहब ने सोचा, इसी ने यह शरारत की होगी। उन्होंने उसे पकड़कर एक चपत लगा दी और कहा —'क्यों रे बदमाश, शोर क्यों मचाता है ?' गोंदू बेचारे को क्या मालूम। वह मुंह फाड़कर रोने लगा। मास्टर साहब को लगा, यह तो और भी आफत हो गई। पर, उनका दिमाग बड़ा उपजाऊ था। उन्होंने एक दियासलाई सुलगाई और गोंदू से कहा, 'मुंह बंद कर, वरना दियासलाई मुंह में ठूंस दूंगा।'

गोंदू खामोश हो गया।

एक ओर खड़े-खड़े दत्तू यह सब देख रहा था। पहले तो उसको लगा, किसी तरह हम बच तो गए। उसे इसका संतोष तो हुआ, किन्तु दूसरी ओर गोंदू की जो फजीहत हुई उससे उसको हसी आ गई। पर, दत्तू के संस्कारी स्वभाव की यह विशेषता थी कि उसे लगा : मैंने जरूर कुछ अशोभनीय काम किया है। फिर तो गोंदू की आख से आख मिलाने की भी उसकी हिम्मत नही हुई। कुछ शर्म-सी मालूम होने लगी, जो पहले उसे कभी मालूम नही हुई थी। सोने के समय तक वह गोंदू की बगैर किसी कारण खुशामद करता रहा। फिर भी उसे शांति नही मिली।

शरारतें जब हद से ज्यादा हो जाती तो दत्तू को बड़े भाई बाबा के कमरे मे बिठाया जाता था। कमरे के एक कोने मे बिठाकर उसे हुक्म दिया जाता। 'अब यही देवता की तरह हाथ जोड़कर बैठे रहो।' बेचारा दत्तू ! उसको तो यह सजा बेंत की सजा से भी कठिन मालूम होती थी। पर बेचारा क्या करता ? शरीर तो बैठ जाता था। पर मन ? वह तो इधर-उधर दौड़ता ही रहता था। बैठे-बैठे वह कमरे का चारों ओर निरीक्षण किया करता। कहां क्या रखा है, पुस्तकें कहां हैं, स्याही की शीशी कहां है, बिस्तर कहां है, सब कुछ देख लेता। कभी-कभी तो अपने इर्द-गिर्द घूमते हुए मकोड़ों का वह निरीक्षण करता और सोचता रहता—ये मकोड़े एक ही दिशा में गोल-गोल

क्यों घूमते रहते हैं ? कभी एकाध मकौड़ा धूमकेतु की तरह अचानक उल्टी दिशा मे घूमने लगता, तब दत्तू को बड़ा मजा आता ।

दत्तू इस तरह अपने इर्दगिर्द की दुनिया का निरीक्षण किया करता था । पर ज्यादा देर तक एक जगह बैठे रहना उसे दुश्वार हो जाता । तब उसकी शरारतें दूसरा रूप ले लेती । बाबा के सबसे प्रिय विषय दो थे : संस्कृत और नीद । जब जागते रहते, तब संस्कृत के श्लोक गुनगुनाया करते थे और जब सो जाते, तो खर्राटे भरने लगते थे । बाबा से छोटे भाई अण्णा को बाबा का यह खर्राटे भरना अच्छा नही लगता था । तब वह सूत की छोटी-सी बत्ती बना लेता और धीरे से बाबा के नाक मे डालता । बाबा को तुरंत छीक आती और उसकी नीद खुल जाती । अण्णा को इस तरह बाबा की नाक मे बत्ती डालते हुए दत्तू ने कई बार देखा था । एक दिन दत्तू को हमेशा की तरह बाबा के कमरे मे बिठाने की सजा हुई । बाबा उस दिन सो गया और सोते ही खर्राटे भरने लग गया । दत्तू को लगा, चलो, हम भी आज अण्णा की तरह कुछ पुण्य लूटे । वह सूत ढूंढने लगा । सूत कही नही मिला, तब उसने एक दियासलाई उठाई और बडी सावधानी से बाबा के नाक मे उसका प्रवेश कराया । कहते है न, कि कलियुग मे कर्म का फल तुरंत मिल जाता है । दत्तू को उसका खासा अनुभव हुआ । उसके गालो को तमाचे चखने को मिले । इसके अलावा शरारती, उत्पाती, खुराफाती-जैसी तीन उपाधिया भी मिली ।

बेचारा क्या करता ? खामोश तो बैठा नही जा सकता था ।

और एक दिन का किस्सा है :

दत्तू को बाबा के कमरे की सजा हुई थी । कमरे मे एक कोने मे वह बैठ तो गया । पर, इस निश्चय के साथ कि आज तो मै यहा से भाग ही निकलूंगा । कमरे मे लपेटा हुआ एक बिस्तर पडा था । उसके पीछे जाकर दत्तू ने सो जाने का बहाना बनाया । बाबा ने उसे इस स्थिति मे एक-दो बार देखा था । पर यह सोचकर कि वाकई वह सो गया, बाबा दूसरे काम करने लगा । इधर दत्तू ने देखा कि बाबा का ध्यान और कही लगा हुआ है । उसने तुरन्त निश्चय किया, अब भाग निकलना चाहिए । धीरे-धीरे पेट के बल रेंगता हुआ वह दरवाजे तक पहुंचा और वहा पहुंचते ही भाग निकला ।

उसको लगा, यह एक अच्छी युक्ति हाथ लगी है ।

दूसरी बार जब उसे कमरे की सजा मिली, उसने फिर से यह युक्ति आजमाने की सोची। बेचारे को क्या मालूम कि उसकी पलायन-कला की पोल पहले ही खुल गई थी। पहली बार जब वह भाग निकला था, केशू बडा खुश हुआ था। उसने दत्तू के इस पराक्रम की बात गोदू को बता दी थी। धीरे-धीरे वह भाभी के कानों तक पहुंच गई थी। भाभी ने वह बाबा को बताई थी। इसलिए अब की बार दत्तू खिसकते-खिसकते दरवाजे तक जाने लगा, तब बाबा ने जान-बूझकर उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। खिसकते-खिसकते ज्योंही वह दरवाजे तक पहुंचा, बाबा एकदम गरज पड़े, 'भागता है क्या ?चोर कही का। चल, वापस आ जा।'

पकड़े जाने का खास दुख दत्तू को नही हुआ। पर उसको लगा कि उसकी साख अब चली गई है। लोग उसे अब भगोड़ा चोर कहेगे।

शाम तक अण्णा ने यह घटना हसते-हसते सबको सुना दी। शरम के मारे दत्तू पानी-पानी हो गया। फजीहत से बच्चो की मायूसी बढने लगती है, इसका ख्याल बडो को नही होता। दो-तीन दिन के बाद दत्तू लापरवाह-सा हो गया। उसके बाद जब भी उसे कमरे की सजा होती, तब भाग निकलने की कोशिश वह जरूर करता था। किंतु, जब पकडा जाता, उसे बिल्कुल शरम महसूस नही होती थी।

शरारतो मे भी 'दिमाग चलाना' दत्तू की विशेषता थी। एक मजेदार किस्सा

दत्तू का भाई केशू अब स्कूल जाने लगा था। एक दिन स्कूल जाने के समय उसकी दवात लुढक गई। बेचारा घबडा गया, अब स्याही कहा से लाऊगा ? और बिना स्याही के स्कूल कैसे जाऊगा ? वह रुआसा हो गया।

केशू और गोदू दोनो की मदद करने की नीयत दत्तू मे हमेशा से थी। दवात लुढक जाने के कारण केशू की जो स्थिति हुई, उसे देखकर दत्तू की मदद करने की नीयत जाग उठी। उसने कहा, 'ठहरो, घबराओ मत। तुम्हे स्याही मै देता हू। बाबा के कमरे में मैने भरी हुई स्याही की एक बडी शीशी देखी है। उसमे से चाहे जितनी स्याही मिल सकती है और बाबा भी इस वक्त घर मे नही है। चल दवात भर ले।'

केशू का सवाल हल हो गया। उसने बाबा की स्याही से दवात भर ली। और चोरी पकड़ी न जाए इसलिए दत्तू के कहने से ही शीशी मे उतना ही पानी भर दिया।

दत्तू ने केशू और गोंदू को एक बड़ी सुविधा उपलब्ध करा दी थी। बस, तबसे गोंदू और केशू दोनों की दवाते दिन मे चार बार लुढ़क जाती और दोनों चार बार बाबा की शीशी से चुंगी वसूल कर लेते और चोरी पकडी न जाए इसलिए शीशी मे उतना ही पानी भर देते।

कुछ दिनों के बाद बाबा की स्याही बिल्कुल पानी जैसी हो गई और इन दोनो की पोल खुल गई। बाबा ने दोनों को खूब डांटा, 'एक तो तुम चोरी करते हो और ऊपर से शीशी मे पानी डालकर स्याही बिगाड भी डालते हो। ठहरो, तुम्हें अच्छा सबक सिखा देता हूं।'

अब दत्तू का दिमाग तुरंत नई दिशा मे काम करने लगा। उसने केशू से कहा, डरो मत। मेरे पास एक और इलाज है। आइंदा हम ऐसा करेगे कि कोयले से पट्टी घिसेंगे, उससे जो काला पानी निकलता है, वह शीशी मे भर देगे। इससे न तो स्याही पतली होगी, न हम पकड़े जाएंगे।

बस, प्रयोग आजमाया गया।

दूसरे दिन शीशी की सब स्याही फट गई। केशू को इस बार न केवल डांट खानी पडी, बल्कि मार भी खानी पड़ी।

फायदा इतना ही हुआ कि कोयले का या मामूली पानी शीशी मे न डालने की शर्त पर, जब भी जरूरत पड़े मा से कहकर बाबा की शीशी से स्याही लेने का हक केशू और गोंदू, दोनों को मिल गया।

कुछ साल बाद का और एक किस्सा है :

अब दत्तू के दिमाग चलाने की कला मे कुछ वैज्ञानिकता आ गई थी। दत्तू अब बड़ा हो गया था। स्कूल भी जाया करता था।

विवाह का मौसम था। चारों ओर दिन-रात बाजे बजने शुरू हो गए। सवेरे-शाम-दोपहर-रात बाजों का शोर मचा रहता। केशू और दत्तू बाहर के कमरे मे सोते थे। रात को बाजे बजने लगते तब उनकी नीद उचट जाती।

गुस्से मे दोनो कहते, 'कम्बख्त, दिन मे विवाह क्यों नही कर लेते ये लोग समझ मे नही आता !'

एक दिन दोनो ने देखा कि ठीक पड़ोस मे ही विवाह का समारोह शुरू हो गया है। उन्होने भी बाजेवालो को बुलाया था। और चूकि उनके यहा इन लोगो को बैठने के लिए पर्याप्त जगह नही थी, बाजेवालो ने इनके बरामदे मे अड्डा जमाया। फुरसत मिलते ही यह बाजेवाले पो···पो···पी···पी तडम् तडम् तडम् शुरू कर देते। केशू इनसे तग आ गया। वह स्वभाव स बडा गुस्सैल था। कमरे मे बाहर आकर वह बाजेवालो पर गरज पडा, 'हरामखोरो, चले जाओ यहा से।'

बाजेवालो ने जवाब दिया, 'गालिया क्यो देते हो, भाई ? हम तो आपके बुजुर्गो की इजाजत लेकर ही यहा बैठे हैं।'

जब घर के बुजुर्गो ने ही इजाजत दी है, तब बिचारे बच्चो की क्या चलती ? बाजेवालो का जवाब सुनते ही केशू कमरे मे चला आया और गुस्से मे उसने धडाम् से दरवाजा बद कर दिया।

दत्तू का दिमाग तुरत काम करने लगा। वह सस्कृत तो नही जानता था। पर बाबा ने कई सस्कृत सुभाषित उसे कठस्थ करवा दिए थे। उनमे से एक का, दत्तू को स्मरण हुआ और उसने केशू की ओर देखकर कहा, "बुद्धिर्यस्य बलम् तस्य।"

केशू गुस्से मे ही था। बाजेवालो के जवाब से वह अपने को अपमानित-सा महसूस कर रहा था। इसलिए जब दत्तू के मुह से सस्कृत सुभाषित निकला, तब उसने अपना सारा गुस्सा दत्तू पर निकला, 'तू क्या बकवास करता है रे ?'

'बाजो का बजना मै अभी बद कर देता हू,' यह जवाब देकर दत्तू घर के अदर चला गया।

आम का मौसम था। घर मे कच्चे आम थे। उनमे से एक हरा आम लेकर दत्तू बाहर आया और बाजे वाले जहा पी पी पो पो किया करते थे, वही उनके सामने बैठकर उसने आम खाना शुरू कर दिया। खट्टे आम की सुगंध नाक-कान मे जाने के बाद भला जीभ अपना स्वभाव कैसे बदल देती ? बाजेवालो के मुह मे पानी भर आया और शहनाई की जिह्वा में वह उतर गया।

बाजेवालों के पास हमेशा शहनाई की दो-तीन जिह्वाएं होती हैं, जो शहनाई के साथ ही लटकती रहती हैं। एक मे लार उतर गई इसलिए बाजेवाले ने वह उतारकर दूसरी बिठा दी। इधर दत्तू आम खाता रहा और ओंठों से चुस्किया लेता रहा। नतीजा : दूसरी मे भी लार उतर आई। तीसरी बिठाई। उसकी भी वही हालत हुई। बाजे बंद हो गए।

बड़ी-बड़ी आखें निकालकर बाजेवाले वहा से दूसरी जगह जाकर बैठे।

स्कूल में

दत्तू जब पाच साल का हुआ, तब तक घर के बाहर सड़क पर गया ही नही था। कही अकेला बाहर गया और उसका असभ्य और असंस्कारी लड़को से सम्बंध हो गया तो उनके मुह से वह गंदे शब्द सुनेगा और वह भी गंदे शब्द बोलने लगेगा। इस डर से घर के बुजुर्ग उसे घर के बाहर नही जाने देते थे। बुजुर्गो की नजर से कतरा कर वह कभी चला जाता तो बाबा उसे पकडकर घर मे ला बिठा देता।

फलस्वरूप दत्तू के खेल, उसकी शरारतें, सब-कुछ घर मे ही चलती थी।

हा, एक बात मे वह बड़ा भाग्यवान था। घर मे उसे कहानियां बहुत सुनने को मिलती। उसके भाभी के पास तो लोक-कथाओ का बड़ा भंडार था। वह हमेशा उसे कोई-न-कोई कहानी सुना देती। भाभी को फुरसत न रहती तब वह अपनी दादी के पास जाता। उसका कथा-भंडार भी भाभी की ही तरह समृद्ध था। शिव-पार्वती की पूरी कथा दत्तू ने पहले-पहल अपनी दादी के मुंह से ही सुनी थी।

जब वह पाच साल का हुआ, तब केशू और गोदू स्कूल जाने लगे थे। दोनो भाई एक तरह से उसके साथी थे। वे स्कूल जाने लगे, तब दत्तू को घर मे अकेले सब नीरस-सा महसूस होने लगा। इसलिए वह भी स्कूल जाने की जिद लेकर बैठा। उसने मां से कहा, भाभी से कहा, दादी से कहा, पर किसी ने उसकी नही मानी। तब, उसने एक तरकीब ढूंढ़ निकाली। पिताजी के दफ्तर चले जाने के और भाइयों के स्कूल जाने के बाद उसने मा के पास जाकर जोरों से रोना शुरू कर दिया : 'मुझे स्कूल जाने दो।' दत्तू की यह

रोते-रोते लगाई हुई रट देखकर मा उक्ता गई। 'हा, बेटा, हा, तुझे अभी भेज देती हू स्कूल,' कहकर एक दिन पहले उसका रोना बद कर दिया। फिर उसे अच्छे कपड़े पहनाए। एक लाल साफा उसके सिर पर बाधा और घर के नौकर महादू को बुलाकर कहा, 'इसे स्कूल छोड आओ।'

इतने छोटे बच्चे को स्कूल मे आया हुआ देखकर स्कूल के बच्चो को बड़ा मजा आया। वहा एक मास्टरजी थे, जिनका नाम पेठे साहब था। उन्होने दत्तू को प्यार से पास बुलाया और अपनी जेब से एक बताशा निकालकर उसे खाने को दिया।

स्कूल का उसका यह पहला ही अनुभव था और यह अनुभव बडा मधुर था।

पहले ही दिन एक सकट आ पडा। स्कूल के बच्चो के साथ दत्तू खेल रहा था। खेलते-खेलते उसका साफा खुल गया। दत्तू को साफा बाधना नही आता था। साफा बाधने का उसे कभी मौका ही नही मिला था, इसलिए जब साफा खुल गया, वह बडी फिक्र मे पडा। इतने मे उसकी मदद के लिए एक लडका दौड आया। उसने अपने घुटनो पर साफा बाधकर, दत्तू के सिर पर रख दिया।

इस प्रकार बाकायदा भर्ती हुए बिना दत्तू रोज स्कूल जाने लगा। पेठे साहब रोज उसे बताशा खाने को देते और स्कूल के बच्चे मानो उसे खिलौना समझकर उसके साथ खेलते रहते। रास्ते पर चलने की उसकी हिम्मत भी अब धीरे-धीरे बढने लगी। उसे स्कूल छोडने रोज महादू आता था। अब दत्तू कभी-कभी उसका साथ छोड देता और दौडता हुआ स्कूल पहुच जाता।

फिर बिचारे महादू को उसके पीछे दौडना पडता।

आखिर एक दिन दत्तू के स्कूल के प्रति इस आकर्षण को देखकर उसे बाकायदा भर्ती करा दिया गया। विद्यारम्भ के लिए महाराष्ट्र मे दशहरे का मुहूर्त शुभ माना जाता है। उस दिन दत्तू अच्छे अच्छे कपडे और सोने के गहने पहन कर स्कूल गया। सातारा के पुराने राजमहल मे एक बड़े दालान मे स्कूल चलता था! वहा स्कूल के सभी लड़के अच्छे-अच्छे कपड़े पहन कर आए थे। उन्हे मिठाई बाटी गई। फिर एक बुजुर्ग शिक्षक दत्तू के पास आकर बैठे। दत्तू की स्लेट पर उन्होंने बड़े-बड़े सुदर अक्षरो मे श्रीगणेशाय नमः ओ नामा सीधं

(ॐ नमः सिद्धं' का बिगड़ा हुआ रूप) लिख दिया। फिर दत्तू के हाथ में एक पेंसिल दी और उसका हाथ पकड़कर शिक्षक ने एक-एक अक्षर पर उसका हाथ घुमाया।

इसके बाद दत्तू बाकायदा विद्यार्थी बना।

अब दत्तू रोज स्कूल जाने लगा। महादू उसे छोड़ने जाता। फिर जब दस बजे घंटी बजती, तब महादू उसे लेने जाता। महादू को आने में कभी-कभी देरी हो जाती, तब दत्तू का दिमाग चकराने लगता। घंटी बजते ही बाकी के सारे विद्यार्थी स्लेट और किताबें उठाकर छलांग मार कर घर भागते। दत्तू को महादू की प्रतीक्षा करनी पड़ती, क्योंकि दत्तू के शरीर पर कीमती गहने रहते (हाथ में सोने के कड़े, गले में सोने की कंठी, कान में मोती की बालियां)। वह भी महादू की प्रतीक्षा किए बिना घर भागना चाहता था। पर हेडमास्टर साहब उसे जाने न देते। दत्तू के लिए यह सजा-सी लगती। वह हेडमास्टर से बड़ी आजिजी के साथ कहता, मैं गहने, कपड़ों के अंदर छिपाकर दौड़ता-दौड़ता घर चला जाऊगा। पर हैडमास्टर टस-से-मस न होते। लगभग एक हफ्ते के बाद, स्कूल जाने का दत्तू का सारा उत्साह काफूर हो गया। स्कूल में एक नये शिक्षक आए। मोटे-ताजे हृष्टपुष्ट और जवान थे। छड़ी में ज्यादा विश्वास रखते थे। तीन हाथ लम्बी बांस की छड़ी लेकर बैठते थे और बैठे-बैठे ही सकारण-अकारण बच्चो को पीटते थे। कभी हाथ लाल सुर्ख कर देते, कभी जांघ। दत्तू को भी यह प्रसाद मिलता रहता। पर चूंकि सभी लड़कों की पिटाई हुआ करती थी, दत्तू यह मानने लगा कि पिटाई भी शिक्षा का एक आवश्यक अंग है। अतः उसने घर में न कभी इसका जिक्र किया था, न शिकायत। पर रोज-रोज मार खाकर स्कूल जाने का उसका उत्साह घट गया।

एक दिन वह मार खाकर घर लौटा था। मार की वजह से उसके हाथ लाल-लाल हो गए थे। जीमने बैठा, तब गरम चावल वह हाथ में ले नहीं सका। उसकी आंखों में आंसू आ गए। भाभी समझ गई। उसने पूछा, स्कूल में तुझे मास्टरजी ने मारा तो नहीं ?

'नहीं तो।' दत्तू ने साफ इंकार कर दिया।

पर भाभी से यह बात छिपी न रही। उसने सारे घर में शोर मचा दिया कि दत्तू की स्कूल में पिटाई होती है। भाभी दत्तू का पक्ष लेकर शोर मचा

रही है, इसका दत्तू को ख्याल भी नही था। वह तो यही समझ रहा था कि भाभी उसकी फजीहत करना चाहती है।

बाद में क्या हुआ, दत्तू को पता न चला। एक दिन वह हमेशा की तरह स्कूल गया। अचानक पुलिस का एक आदमी स्कूल में आया और वह चांदवडकर मास्टर को बुलाकर ले गया। सारे बच्चे आश्चर्य-चकित होकर देखते रहे। कुछ देर बाद मास्टरजी वापस लौटे और उन्होंने दत्तू को पूछा, 'क्यों रे, तूने घर जाकर कुछ कहा था क्या ?'

दत्तू की समझ में कुछ भी नहीं आया। उसने साफ इंकार कर दिया, पर मास्टर साहब का रुआब अब उतर गया था। उस दिन वे कुछ भी न बोले, न उन्होने किसी की पिटाई की।

दूसरे दिन चांदवडकर मारटर क्लास मे नही आए। उनके बदले एक दूसरे मास्टरजी आए।

बाद में सबको मालूम हुआ कि दत्तू की भाभी के कहने पर उसके बड़े भाई ने पुलिस मे शिकायत की थी। फलस्वरूप स्कूल की दुनिया से चांदवडकर जी हटा दिए गए थे और उनके शिकजे से सब बच्चे मुक्त हो गए थे। बच्चो मे दत्तू की प्रतिष्ठा बढ़ी। पर दत्तू के मन मे यही अफसोस रहा कि चांदवडकरजी की नौकरी की शुरूआत मे ही मैं बाधक बना। इस घटना के बाद भी दत्तू ने कई शिक्षको से कई बार मार खाई, पर इस डर से कि 'मेरी वजह से कही किसी शिक्षक की नौकरी न चली जाए' उसने कभी भी घर मे किसी को भी उसका पता नही चलने दिया।

अक्का

दत्तू की एक बहन थी, जिसको दत्तू ने अभी तक नही देखा था, क्योंकि उसकी शादी हो चुकी थी और वह ससुराल मे रहती थी।

दत्तू पहली कक्षा में पढ़ रहा था। एक दिन अचानक उसके घर के सामने एक गाड़ी आकर खड़ी हुई और उसमें से एक महिला नीचे उतरी। इस अपरिचित महिला को देखकर दत्तू ने अपनी मां को पुकार कर कहा, 'मां, हमारे यहां कोई महिला आई है।' पर मां बाहर आए, उससे पहले यह महिला सीधी अंदर चली

गई और मानो घर की ही कोई महिला हो, इस तरह घर में घूमने-फिरने लगी। तभी दत्तू को मालूम हुआ कि यह उसकी सगी बहन है, जो काफी दिन ससुराल रहकर अब मायके आई है। उसे यह भी मालूम हुआ कि उसे सब 'अक्का' कहते हैं। हालांकि उसका नाम भागीरथी है। लेकिन पिताजी और मां उसे प्यार से 'भागू' के नाम से पुकारते थे।

हिन्दू कुटुंब में आमतौर से लड़कियों की उपेक्षा ही होती आई है। सभी लड़कों से प्यार करते हैं और लड़कियां हमेशा उपेक्षित ही रहती हैं।

पर दत्तू के यहा अक्का की स्थिति बिलकुल अलग ढंग की थी। लड़कों की तरह ही उसकी परवरिश हुई थी और सबको वह प्यारी थी। बाबा और अण्णा, जो उम्र मे अक्का से बड़ थे, तरह-तरह की मीठी मजाक करके उसे प्रसन्न रखते थे। और पिताजी भी, जो प्रेम व्यक्त करने के मामले में बड़े संयमी थे, सारा दिन यही जानने के लिए बड़े उत्सुक रहते थे कि उनकी भागू को क्या पसद है, क्या नही है।

दत्तू उन दिनों पहली कक्षा मे पढ़ रहा था। अक्का ने आते ही उसे पढ़ाना शुरू किया। पढ़ाने की कला वह बहुत अच्छी तरह जानती थी और दत्तू को बड़े प्रेम स पढ़ाती थी।

असल में दत्तू पढ़ना तो अक्का से ही सीखा।

अक्का रोज शाम को मां को 'रामविजय' पढ़कर सुनाती थी। दत्तू भी नियमित रूप से वहां आकर बैठता था और अक्का के मुंह स राम की कथा बड़े चाव से सुनता था।

दत्तू के लिए अक्का धीरे-धीरे श्रद्धेय बन गई थीं।

घर मे दत्तू ने एक तोता पाल रखा था, जो दत्तू का प्यारा था। एक दिन अक्का ने कहा, 'इसे हम छोड़ दें।'

'क्यों?' दत्तू ने से पूछा।

अक्का ने तुरन्त अपने मधुर कंठ से नल-दमयंती का मराठी आख्यान गाना शुरू किया। उसमे राजा के हाथ में फंसा हुआ हंस छूटने के लिए पंख किस तरह फड़फड़ाता है, अपने को छोड़ देने के लिए वह राजा से गिड़गिड़ा कर किस

तरह प्रार्थना करता है, यह किस्सा आता था। राजा जब हंस को नहीं छोड़ता तब हंस निराश होता है, और अपनी मां, पत्नी और बच्चों को याद करके विलाप करने लगता है। यह प्रसंग अक्का ने जब गाकर सुनाया, तब अक्का से रहा नहीं गया और वह बरबस रो पड़ी।

दत्तू, विष्णु, गोंदू, केशू सबके हृदय हिल उठे। उन्होंने तुरन्त तोते को छोड़ देने का निश्चय किया और छोड़ भी दिया।

सातारा से सब शाहपुर गए तब अक्का भी उनके साथ शाहपुर आई। शाहपुर दत्तू का ननिहाल था। वहां अक्का को सख्त बुखार आने लगा। प्रसूति के बाद का टाइफाइड था। अक्का की बीमारी के कारण घर में एक तरह की उदासी और चिंता छा गई।

एक दिन सुबह उठते ही दत्तू और उसके भाइयों को पड़ोस के एक घर में खाना खाने का न्योता मिला। बड़े उत्साह के साथ सब वहां गए। सारा दिन वहीं रहे। शाम होते ही दत्तू को घर की याद आने लगी। उसने घर जाने की बात की तब उस घर के किसी बड़े लड़के ने आकर कहा, 'चलो, मैं तुम्हें एक कहानी सुनाता हूं।' कहानी पूरी हुई, तब किसी और ने गाना शुरू कर दिया। दत्तू का तेज दिमाग अब दुविधा में पड़ गया। उसे लगा, ये लोग आज हमें घर नहीं जाने देंगे। हमें यहीं रोक रखने के प्रयत्न में सब लगे हैं। इन प्रयत्नों के पीछे जरूर कुछ-न-कुछ रहस्य होगा। दत्तू तंग आ गया और वह रोने लगा। उसे रोता देखकर गोंदू भी रोने लगा। दोनों को शान्त करने के लिए उस घर के लड़कों ने तुरन्त एक नाटक खेलना शुरू किया। नाटक काफी देर तक चलता रहा, पर दत्तू को किसी भी तरह उसमें मजा नहीं आया। इतने में पड़ोस के दूसरे एक लड़के ने आकर दत्तू को कहा, 'अरे, तुझे मालूम नहीं, तेरा बाप उधर जोर-जोर से रो रहा है।'

दत्तू को इस लड़के पर बड़ा गुस्सा आया। यह लड़का मेरे पिताजी के लिए 'तेरा बाप' जैसे अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करता है। इसकी इतनी हिम्मत? और ऊपर से कहता है कि पिताजी रो रहे हैं। भला मेरे पिताजी कभी रो सकते हैं? कभी नहीं रोए। उन्हें रोते हुए मैंने कभी नहीं देखा। यह झूठा लड़का है। दत्तू ने चिढ़कर उस लड़के से कहा, 'तू झूठा है।'

रात के नौ बजे, सब घर लौटे। घर मे शमशान जैसी शान्ति फैली हुई थी। कोई किसी से बोलता न था। दत्तू की आंखें पिताजी को ढूंढ़ने लगी। घर के एक कोने में चावल का एक बोरा रखा था, उस पर एक चद्दर ओढ़कर पिताजी बैठे थे। लगता था, मानो सर्दी से कांप रहे हों। दत्तू दौड़ता हुआ उनके पास गया। पिताजी ने दत्तू को गोद में लेकर दुःखी आवाज में कहा, 'दत्तू, अपनी भागू हमे छोड़कर दूर चली गई।' दत्तू की समझ मे कुछ भी नहीं आया। वह सोचने लगा, आखिर हुआ क्या हे? भागू दूर यानी कहां गई? क्यों गई? दत्तू ने फिर से पिताजी की ओर देखा।

अपनी भागू हमें छोड़कर दूर चली गई। यही वाक्य उसे फिर से सुनाई दिया।

दत्तू अब मां को ढूंढ़ने अंदर चला गया। अंदर जमीन पर एक कपडा ओढ़ कर लेटी हुई मां उसे दिखाई दी। दत्तू को लगा, वह सो रही है। असल में वह बेसुध पड़ी थी और मौसी उसकी बगल मे बैठी रो रही थी। दत्तू को देखकर वह और जोरों से रोने लगी। मामा ने उसे डांटा, 'अगर तू ऐसी रोती रहेगी तो बच्चे बेचारे क्या करेंगे?'

दूसरे दिन दत्तू ने देखा कि मां कुछ भी नही खाती है। सब लोग उसे समझा रहे हैं। पर वह साफ इंकार करती है। आखिरी उपाय के बाद मामा दत्तू को उसके पास ले गए और उससे बोले, 'तू मां से कह कि यदि तू खाना न खाए, तो मेरे गले की कसम।' दत्तू यह कहने जा रहा था तभी मां ने उसे दृढ़तापूर्वक मना किया। फिर, दत्तू की जबान नहीं खुली।

मौत क्या चीज होती है? दत्तू को कुछ मालूम नहीं था, पर वह इतना तो समझ ही गया कि अपनी इकलौती बहन अक्का अब उसे कभी दिखाई देने वाली नही है। काका साहब लिखते है: 'अक्का के सम्बंध मे मेरे संस्मरण इतने ही हैं, फिर भी छुटपन से इन्ही संस्मरणों का ध्यान करके मैं अपने मन मे उनका पोषण करता आया हूं।...मनुष्य का अपनी मां के साथ का सम्बंध असाधारण होता है। अपनी पत्नी के साथ का संबंध एकांतिक और अद्वितीय ही होता है। अपनी बेटी के साथ का सम्बंध भी ऐसा ही वैशिष्ट्यपूर्ण होता है। पर जो सम्बंध सहज रूप से व्यापक बन सकता है, जिसमें सारी स्त्री जाति का अंतर्भाव किया जा सकता है, वह तो भाई-बहन का ही सम्बंध है। मैं बहुत छोटा था तभी मेरी

इकलौती बहन गुजर गई। इसलिए जिंदगी का मेरा यह अग पहले ही शून्यवत्-सा हो गया। स्त्रियो की भक्ति मै दूर से ही करता हू। भगिनी-प्रेम की भूख रह ही गई है। जीवन की व्यापकता का और सर्वांग सुदरता का आदर्श जैसे-जैसे परिपक्व होता गया, वैसे-वैसे इस विचार से मन हमेशा उदास रहा कि काश ! मेरे एक बहन होती तो कितना अच्छा होता। अपनी बहन न होने के कारण नई-नई बहने बनाना मुझे नही आता, यह कोई मामूली कठिनाई नही है। मैं ऐसी कई बहनो को जानता हू, जो पूजनीया हैं। उनके परिचय से मैं अवश्य पावन और उन्नत बनूगा। पर हृदय की भूख तो अक्का के सस्मरणो से ही बुझानी होगी।

मां

अक्का की मृत्यु के कारण घर मे जो उदासी फैली, वह दत्तू के लिए असहनीय महसूस होने लगी। उसमे भी मा की हालत देखकर उसका गला भर आने लगा।

मा ने कई दिनो तक तो खाना भी नही खाया।

दत्तू के बडे भाई बाबा की बेटी चीमी अक्का की बडी लाडली थी। उम्र के हिसाब से चीमी काफी समझदार लडकी थी। अक्का उसके साथ खेलती रहती थी। खेलते खेलते कभी खिन्न हो जाती और मा से कहती, 'मा, इस दुनिया म अच्छे लोग ज्यादा दिन नहीं जी पाते। चीमी को जब देखती हू, भगवान से प्रार्थना करने की इच्छा हो जाती है कि 'हे भगवान ! इसे लम्बी आयु दे।' अक्का के ये शब्द अक्का के सम्बन्ध मे ही सार्थक सिद्ध हुए थे। मा को इन शब्दो की बार-बार याद हो आती और वह रोने लगती। अक्का को अतिम दिनो मे अनानास खाने की इच्छा हुई थी, पर बीमारी के कारण उसे अनानास नही दिया गया था। मा को इस बात की भी बार-बार याद हो आती और फिर वह रोने लगती।

मा ने अनानास खाना ही हमेशा के लिए छोड दिया था।

दत्तू की अवचेतना मे इन सारी बातो का असर यह हुआ कि वह अनजाने ही मा के साथ बेटी की तरह पेश आने लगा। मा को स्नान करने मे कभी

मदद करता तो कभी पीठ मसल देता। कमर दुखती हो तो मालिश करता। कभी बाल बनाता। चोटी गूंथने में तो वह विख्यात हो गया था।

मां अक्सर कहा करती, दत्तू मेरा बेटा नहीं, बल्कि बेटी है।'

मां सुबह उठते ही चक्की चलाने बैठती और आटा पीसते-पीसते गीत गाया करती थी। तब दत्तू मां की गोद में सिर रखकर जमीन पर टांगें फैलाकर लेटे-लेटे गीत सुनता रहता था।

मां के प्रति दत्तू की जबरदस्त श्रद्धा थी। वह जो भी कहती, दत्तू के दिल में तुरन्त जम जाती। मां ने अगर कहा, पांडव अच्छे थे, कौरव बुरे थे, तो दत्तू के मन में क्यों, किस लिए आदि प्रश्न ही न उठ पाते। वह मान जाता। मा कहती है न ? तो फिर वह सच ही होना चाहिए। पाडव अच्छे ही होने चाहिए और कौरव बुरे ही होने चाहिए।

मां पढ़ी-लिखी महिला नही थी। अपनी मातृभाषा मराठी की भी पुस्तकें वह पढ़ नहीं सकती थी। घर संभालना, पति की सेवा करना, बच्चों की परवरिश में रचे-पचे रहना, सगे-संबंधियों और अतिथि-अभ्यागतों का स्वागत-सत्कार करना, मनुष्य के आश्रय में रहने वाले पशु-पक्षियो के प्रति दया-भाव रखना, कुल परंपरा से चलते आए त्यौहारों और उत्सवों को भक्ति से मनाना—यही था मां का सीधा-सादा धर्म। घर में कोई बीमार पड़े या कोई संकट आए तो मानता मानना और जब तक पूरी न हो, सजग रहना—यह था उनका कर्तव्य।

घर में नई लड़की लानी हो, यात्रा करनी हो या ऐसा ही कोई महत्व का काम हो तो वह कुल देवता की आज्ञा मांगे बिना कुछ न करती। कालेलकर कुटुंब का कुल देव श्रीमंगेश है और उनका मुख्य मंदिर गोवा में है। उनके दर्शन के लिए कभी-कभी गोवा जाना चाहिए, यह मां का आग्रह रहता था। पर मंगेश का अखण्ड स्मरण उन्हें हमेशा रहता था। घर में कुल देवता के लिए एक अलग कमरा था और यात्रा में उनकी तस्वीर साथ रहती थी। मंगेश मां के लिए घर के कुटुंबियों की ही तरह प्रत्यक्ष थे।

इस प्रकार का भोला-भाला मुग्ध जीवन वह बिताती थी। कहती थीं—भगवान को मालूम है कि हम कोई साधु-सत्पुरुष, त्यागी-बैरागी या संत-महंत नहीं हैं। हम तो सीधे-सादे गृहस्थाश्रमी हैं। हमारा धर्म कैसा होना चाहिए,

यह भगवान को मालूम है। इस सरल धर्म की कसौटी पर ही वह हमें कसते हैं। इस कसौटी मे हम खोटे न उतरें इतनी ही फिक्र मा को रहती थी। कभी किसी का बुरा न करना, सब लोगो के प्रति समान प्रेम रखना, बहुओ को बेटियों की तरह मानना, यथाशक्ति परोपकार करना, ये थे उनकी धार्मिक श्रद्धा के सामाजिक अग। समाज मे हमे कोई बुरा न कहे, इसी की उन्हे अधिक फिक्र रहती थी।

दत्तू को उसका अपना धर्म तो उसकी मा से ही मिला।

मदिर मे जाकर कथा-पुराण सुनने की मा की आदत नही थी। पर जब मदिर जाती, सज-धज कर जाती थी। सारे गहने पहन लेती। और रास्ता मालूम होते हुए भी चपरासी को साथ मे ले जाती।

दत्तू कुछ समझने लग गया, तब उसने एक दिन मा से पूछा, 'तुम मदिर जाती हो यह तो अच्छा ही है, पर एक बात मेरी समझ मे नही आती। तुम सजधज कर क्यो जाती हो ? और चपरासी को साथ मे क्यो ले जाती हो ?'

दत्तू का प्रश्न सुनकर मा पहले तो खिलखिलाकर हस पडी। फिर बोली, 'सुनो, हम अच्छे मकान मे रहते है, घर मे नौकर-चाकर हैं, यह सारा वैभव भगवान की कृपा से ही तो हमे मिला हे। इसलिए जब भगवान के दर्शन के लिए जाती हू, सारा वैभव साथ मे लेकर जाती हू और भगवान से कहती हू, 'भगवान ! तूने ही हमे बच्चे दिए। तूने ही सुख-समृद्धि दी। तूने ही वैभव दिया। सब-कुछ तेरी ही कृपा से हमे मिला है। अब इतना ही मागती हू कि हमारे हाथो किसी का बुरा न हो। सभी के आशीर्वाद हमे मिले और हमेशा तेरा स्मरण हो।'

मा का यह जवाब दत्त के लिए दीक्षा स्वरूप सिद्ध हुआ। लोग मदिर जाते हैं तो मागने के लिए जाते हैं। मा मागने नही जाती, वह तो भगवान की कृपा को याद करके उसका इकरार करने जाती हैं। मदिर मे जाना हो तो भगवान की कृपा को याद करके उसका इकरार करने के लिए ही जाना चाहिए। यह बात दत्तू के मन मे हमेशा के लिए जम गई।

धर्म के सम्बध मे मा के कुछ आग्रह थे। मसलन वह चाहती थी कि घर मे मिट्टी के तेल के दीए कभी न आएं। वह कहती कि गरी के या तिल के तेल

के दीए जलें तो घर में लक्ष्मी रहती है। मिट्टी का तेल तो अवदशा है। दूसरा आग्रह था कि घर में दूध हमेशा घर की भैंस का या गाय का ही होना चाहिए। दूध कभी न खरीदा जाए। उनकी जबान पर इस सम्बंध में एक मराठी कहावत चलती रहती। कहतीं, 'मोज्या माप्या खाशील काय पाप्या ?— मतलब, नाप-तोल कर लाई हुई चीज आदमी कितनी खा सकेगा ? घर में भैंस या गाय हो तो वाल-बच्चे जी भरकर दूध, दही, मक्खन, घी खा सकेंगे। दोपहर के समय कोई भिखारी आ जाए तो उसे कम से कम ठंडी छाछ तो पिलाई जा सकती है। फलतः घर में भैंस रखनी ही पड़ती। उनका तीसरा आग्रह था कि घर मे कितने ही मेहमान क्यों न आएं, उन्हें भोजन कराना ही चाहिए। इस आग्रह के कारण चूल्हे पर कभी-कभी तीन-तीन, चार-चार बार रसोई चढती थी। ये सभी आग्रह मां ने जहां तक सम्भव था, चलाए। पर एक आग्रह के बारे मे उन्हें हार खानी पड़ी, फिर भी आग्रह न छोड़ा। उनका आग्रह था कि जेवर हमेशा शुद्ध सोने के ही होने चाहिए। गिनी का सोना चाहे जितना चमकता हो, उसके बने जेवरो की आवाज चाहे जितनी मधुर लगती हो, आखिर है तो वह मिलावटी। उसे घर मे स्थान नही देना चाहिए।

गोवा के सुनार गिनी गोल्ड के सुंदर नाजुक कर्णफूल बनाते हैं। ऐसे कर्ण-फूलो की एक जोड़ी मा ने एक बार देखी। वैसी सुंदर जोड़ी बनवा लेने का निश्चय भी हुआ। पर बाद में मालूम हुआ कि शुद्ध सोने के इतने नाजुक कर्णफूल बनाए नही जा सकते। कई सुनारों से उन्होंने पूछा, 'क्या शुद्ध सोने के कर्णफूल नही बनते ?' सभी ने जवाब दिया, 'फूलो की पंखुड़ियां नाजुक नही बन सकती।' बेचारी अंत में हिम्मत हारी, पर आग्रह न छोड़ा। कहने लगी, 'सोने के फूल तो बहुत-से हैं, उन्हें ही पहन कर संतोष मान लूगी।' मिलावटी चीज घर मे आने ही न दी।

पिताजी

पिताजी के प्रति दत्तू का प्रेम, आकर्षण और आदर जन्म से ही था।

दत्तू से थोड़ा बड़ा भाई गोंदू बचपन मे बहुत बीमार रहता था। इसलिए माता-पिता ने कुछ ऐसी व्यावस्था कर रखी थी कि माता गोंदू को सम्भाले और पिताजी दत्तू की देखभाल करें। दत्तू को नहलाने, खिलाने, सुलाने का काम अधिकतर पिताजी ही किया करते थे। रात को पेशाब के लिए जाना हो तो

पिताजी ही उसे उठाकर बाहर आगन मे ले जाते थे। दत्तू को बडा आश्चर्य होता था कि अधेरे मे उन्हे रास्ता कैसे दिखाई पडता होगा। इस आश्चर्य के कारण वह इस नतीजे पर आ पहुचा था कि पिताजी की शक्ति अजीब है। वे सब कुछ जानते हैं, सब कुछ कर सकते हैं। जो फोटो खीच सकते है, भला उनकी शक्ति का अनुमान कैसे किया जाए ?

दत्तू के पितृभक्ति सम्बधी इन प्राथमिक सस्कारो को मा की ओर से काफी पोषण मिला। पिता के प्रति पुत्र का क्या धर्म है, यह दत्त को मा ने ही समझाया था। कभी कहती, 'जानते हो, अपने सुख या आराम का कोई ख्याल किए बिना पिताजी दिनरात जो यह मेहनत करते है, वह किसलिए करते हैं हमारे लिए करते है। पैसा कमाते है पर अपने लिए खर्च नही करते, हमारे लिए खर्च करते है।' कभी कहती, 'तुम लोगो की शिक्षा-दीक्षा की व जो इतनी चिंता करते है, तुम लोग बीमार पडते हो, तब वे जागते बैठे रहते हैं तुम्हारी प्रगति से सतोप अनुभव करते है समाज मे तुम्हारे लिए स्थान बना देते है— यह सब वे किसलिए करते है ? तुम लोगो के प्रति उनका जो प्रेम है, इसीलिए न ? यह सब उनका प्रेम है, उनका उपकार है। इसलिए उनकी सेवा करनी चाहिए, उनकी आज्ञा माननी चाहिए, जिससे उन्हे सताप हो वैसा ही वर्ताव करना चाहिए। है, न ?'

अनेक प्रसगो के सदर्भ मे दत्तू को मा ने यह सब समझाया था। मा का वचन दत्तू के लिए हमेशा वेदवाक्य-सा रहा है। इसलिए यह सब सहज ही उसके गले उतर गया था। फिर, मा की पिताजी के प्रति जो गहरी भक्ति थी, वह भी दत्तू ने देखी थी। उससे भी मा के वचनो का उस पर गहरा असर हुआ था।

एक दिन की बात है, दत्तू अपनी मा के साथ वगीचे मे घूम रहा था। वहा मा ने एक सुदर गुलाब का फूल देखा। फूल को देखकर मा का मन ललचा उठा। मा ने हल्के से फूल तोड लिया और सीधे पिताजी के पास जाकर वह फूल उन्हे दिया। पिताजी ने प्रसन्न होकर फूल लिया और सूघा। उस दिन मा के चेहरे पर दत्तू ने जो भक्ति देखी, उसका उसके दिमाग पर गहरा असर हुआ। उस दिन से वह पिताजी की सेवा अधिक प्रेमपूर्वक करने लगा। छोटी-सी सेवा करने का अवसर मिलता तो वह बडी धन्यता का अनुभव करने लगता।

पिताजी स्वभाव से निवृत्ति-परायण थे। लोगो के बीच जाकर मिलना-जुलना उन्हें आता ही न था। व्यवहार के कारण जिन लोगो से मिलना होता था, उन्ही से मिलते। न कभी दूसरो के यहा जाते, न दूसरो को अपने यहा बुलाते। हा, जो आते उनके सत्कार मे कोई कमी न रहने देते। किसी बाहरी चीजो मे उन्हे रस नही था। भोजन के बाद कभी पान तैयार करके दिया तो जेब मे रख लेते थे और कभी-कभी तो खाना भी भूल जाते थे।

किसी समय वे सितार बजाया करते थे, पर बाद मे वह भी छोड दिया। किसी प्रिय गीत की एकाध कडी गुनगुनाने की भी उन्हे आदत नही थी। उन पर पखा झलना, उनके जूते साफ करना, उन्हे पानी पिलाना आदि सेवाए तो वह करता ही था। दत्तू सेवा के प्रसग खोजने लगता और प्रसग मिलते ही आनदित हो जाता था।

पिताजी कुलदेवता की नित्य पूजा करते थे। पूजा मे वे बिलकुल तल्लीन हो जाते थे। घर मे कुलदेवता का एक अलग कमरा था। वहा कुछ मूर्तिया और देव-देवियो के प्रतीक के रूप म कुछ पत्थर रखे गए थे। शिवजी के लिए गोल पत्थर, गणेशजी के लिए एक लाल पत्थर, सूर्य के लिए स्फटिक-सा एक पत्थर, देवी के लिए सोनामुखी धातु का एक टुकडा इन पत्थरो के ठीक बीच मे लकडी के एक आसन पर एक नारियल रहता था। उसकी दो आखे और मूछ के नीचे छिपा हुआ उसका मुह देखकर दत्तू मगेश के सिर की कल्पना कर लेता था। नारियल की दो आखो के बीच के सहज ऊपर के हिस्से को मगेश का कपाल समझकर उसको चदन का तिलक लगाया जाता था और उस पर कुछ कुकुम छिडक दिया जाता था।

पूजा की तैयारी करना और पूजा मे पिताजी की मदद करना दत्तू का प्रिय काम था। मूर्तियो को पचामृत का स्नान करवाना, पचामृत स्नान के बाद शुद्धोदक से स्नान करवाना, फिर शुद्ध कपडे से मूर्तियो को पोछना और पूजा पूरी होने पर नैवेद्य चढाना – सभी कामो मे दत्तू पिताजी की मदद करता था। इससे उसके धार्मिक सस्कारो को पुष्टि भी मिलती थी और तुष्टि भी। दत्तू की इस मदद की सभी कद्र करते थे। मा कहती, इसके बड़े भाई तो स्कूल जाकर नास्तिक बने, पर मेरे दत्तू को देखो, कितनी सुदर पूजा करता है। कद्र के ऐसे शब्द सुनकर दत्तू खुश हो जाता था।

'माता-पिता तो मेरी पूजा से खुश हुए हैं। पर भगवान प्रसन्न हुए हैं या नहीं ?' इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ने के लिए दत्तू कभी-कभी नारियल की आंखों में देखता रहता था। उसे वहां अक्सर प्रसन्नता ही दीख पड़ती थी। पर कभी-कभी यह छाप पड़ती कि भगवान नाराज हैं, चिंतित हैं। तब दत्तू पिछले दिन की सारी घटनाओं को याद करता और 'कल मैंने कोई गलती तो नहीं की ?' इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ने लगता। कभी गलतियां दिखाई देतीं, तब निश्चय कर लेता—आइंदा मैं ऐसी गलतियां कभी नही करूंगा। काका साहब लिखते हैं : 'भले यह उन दिनों का खेल रहा हो। बाल मानस का ही तो वह खेल था, पर आज जब सोचता हूं, तब लगता है कि अंतर्मुख होकर अपने आचरण और विचारों को जांचने-परखने की, आत्म-निरीक्षण करने की मेरी जो साधना बाद में चलती रही उसका यह शुभारंभ ही था।'

कुलदेव-निष्ठा

सारस्वतों की कुलदेव निष्ठा उतनी ही गहरी और उत्कट रही है, जितनी मक्का, मदीना और काबे के प्रति मुसलमानों की होती है—या कहिए, ईसाइयों की येरूसलम के प्रति होती है।

सारस्वत ब्राह्मण कई ऐतिहासिक अपघातों के कारण महाराष्ट्र, गोवा, कर्नाटक, केरल आदि प्रदेशों में बिखर गए हैं। पर उनके सभी कुलदेव गोवा में प्रतिष्ठित हैं। वहीं इन कुलदेवों के मुख्य मंदिर हैं। जिंदगी में कभी-न-कभी गोवा में जाकर कुलदेवता की सेवा में कुछ दिन बिताने ही चाहिएं—यह एक ऐसी गहरी भावना है, जो विघटित सारस्वत समाज को गोवा में खींचकर ले आती है। आज भले हम इस निष्ठा को मध्यकालीन वहमी अनुरक्ति कहें, पर वह इतनी गहरी और सजीव रही है कि वह सारस्वतों की अपनी अस्मिता को मिटने नहीं देती।

डा० रामकृष्ण गोपाल भांडारकर 'प्रार्थना समाज' के संस्थापक थे। मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी थे। जाति संस्था की निंदा करते थे। पर वे यह कभी भूल न पाए कि वे सारस्वत हैं। विशेष प्रसंगों पर बड़ी आत्मीयता से बता भी देते थे कि उनका खानदान गोवा के अमुक कुलदेव पर निष्ठा रखता है।

गोत्र-भावना से भी, यह कुलदेव-निष्ठा की भावना गहरी सिद्ध हुई है।

दत्तू के पिताजी की भी कुलदेव-निष्ठा इसी कोटि की गहरी और उत्कट थी।

उनके एक मित्र थे, उनका नाम रघुनाथ बापू था। उन्होने चालीस वर्ष से ज्यादा समय तक राजयोग का अभ्यास किया था। उन्होने दत्तू के पिताजी को राजयोग की दीक्षा दी थी। एक दिन रघुनाथ बापू ने उनको आत्मा और परमात्मा की एकता की बात समझा दी और कहा, 'अद्वैत की भूमिका पर तुम स्वय परब्रह्म हो।'

पिताजी अकुलाए। कहने लगे, 'आप जो कहते हैं, वह सच है। पर इस ज्ञान से कुलदेव के प्रति मेरी निष्ठा और भक्ति कम होनेवाली नही है।'

कुछ वर्षों बाद की बात है। दत्तू अब बडा हो गया था। कालेज मे जाने लगा था। वहा बुद्धिवाद के प्रभाव म आ गया था और धीरे-धीरे कट्टर नास्तिक बन चुका था। उसने घर लौटने पर अपने मत परिवर्तन की बात पिताजी को बताई। पिताजी ने उसकी बात चुपचापसु न ली। एक शब्द मे भी उसका विरोध नही किया। सिर्फ इतना ही कहा, 'यह सब सुनकर भी कुलदेव के प्रति मेरी निष्ठा कम नही होती। वही हमारी रक्षा करते है, वही हम रास्ता दिखाते है।'

पिताजी की इस निष्ठा का दत्तू के जीवन पर काफी बडा प्रभाव पडा।

पूजा घर मे कुलदेवता के प्रतीक के तौर पर जो नारियल रखा जाता था, वह हर साल श्रावण महीने के पहले सोमवार के दिन बदला जाता था। उसके स्थान पर नया नारियल रखा जाता था। उस दिन पुराने और नए दोनो नारियलो का एक साथ अभिषेक होता। अभिषेक के बाद नया नारियल मुख्य स्थान पर विराजमान होता और पुराना एक ओर बैठकर पूजा ग्रहण करता। दूसरे दिन पुराने नारियल को फोडकर उसकी गरी के टुकडे प्रसाद के तौर पर सबको बाटे जाते। घर के जो लोग पढाई या अन्य किसी कारण दूर जाकर रहते उनको यह प्रसाद डाक से भेजा जाता। दत्तू कालेज मे पढता था, तब उसे यह प्रसाद डाक से भेजा जाता और नास्तिकता के प्रभाव मे आया हुआ दत्तू यह प्रसाद भक्तिभाव से ग्रहण भी करता था।

पिताजी की निष्ठा ने ही उसमे यह नम्रता पैदा की थी।

पूजा का नारियल एक साल तक रखा जाता था, इसलिए बड़ी सावधानी से अच्छा परिपक्व नारियल चुनकर लाया जाता था। वर्ष के अंत मे उसकी गरी अच्छी निकलती तो वह कुलदेवता की कृपा मानी जाती। सड़ी हुई या खराब निकलती तो वह कुलदेवता के रोष का लक्षण माना जाता।

उस दिन उपवास तो रहता ही था। फिर, सारे दिन रूद्राभिषेक, पूजा आदि विधियां चलती रहती। इन विधियों के कारण श्रावणी सोमवार सबको मानो नए वर्ष के समान जान पड़ता था। पिताजी उस दिन सुबह उठकर, नहा-धोकर पूजा-पाठ के घर मे जा बैठते। फिर पूजा शुरू करने से पहले एक बढ़िया कागज लेकर उस पर कुलदेव के नाम एक चिट्ठी लिखते।

चिट्ठी मे कुटुंब की पिछले वर्ष की हालत का वर्णन किया जाता था। जैसे: भगवान, इस वर्ष तुमने हमे यह दिया, घर मे अमुक बालक का जन्म हुआ, तुमने अमुक रीति से हमारा उत्कर्ष किया, इतनी समृद्धि दी, इत्यादि। फिर साल भर की बीमारियों और चिन्ताओं की फेहरिस्त गिना दी जाती और कहा जाता भगवान हम अज्ञानी हैं, तुम्हारी लीला समझ नही पाते। तुमने जो यह संकट-दु.ख भेजे, हमारी भलाई के लिए ही भेजे होगे। उसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लेना हमारा धर्म ही है।' अत मे अगले साल के लिए जो मशा होती, वह लिखी जाती। सबको दीर्घायु, आरोग्य, सन्मति मिले, सबको सुख-संतोष मिले इत्यादि। नीचे दासानुदास सेवक लिखकर पिताजी हस्ताक्षर करते और पूजा के बाद यह चिट्ठी कुलदेवता के चरणों मे रखी जाती।

काका साहब लिखते हैं:

'यह प्रथा मैंने आज तक दूसरे किसी कुटुम्ब मे नही देखी। पिताजी की लिखी हुई, ऐसी कई पुरानी चिट्ठिया मैने उनकी पेटी मे पड़ी हुई देखी थी। उनमे से जितनी मिली, इकठ्ठी भी कर रखी थी। बाद मे जब मैं उग्र राजनीति में हिस्सा लेने लगा, तब मेरे एक भतीजे ने मेरे बहुत से कागजात जला डाले, उनके साथ ये चिट्ठियां भी जल गईं।...पिताजी की लिखी हुई इन चिट्ठियों को पढकर मेरे मन पर जो गहरी छाप पड़ी, वह यह थी कि हम अनाथ नहीं हैं। एक सर्वसमर्थ सत्ता हमारी देखभाल करती है। उसकी इच्छा और व्यवस्था को हम जानते नही। हमारे लिए क्या हितकर है, क्या हितकर नही है, यह भी हम नही जानते। अपनी

भावनाओं के अनुसार हम सुखी या दुःखी होते रहते हैं। जो घटना हमें घातक प्रहार के समान लगती है, वह अनिष्ट ही होगी ऐसा मानने के लिए कोई कारण नही हैं। जीवन में काका साहब को कई विपत्तियों और संकटों का सामना करना पड़ा। कई दुःख झेलने और सहने पड़े। पर काका साहब कभी एक क्षण के लिए हताश या निराश नही हुए। उनकी इस सिद्धि के मूल मे ठेठ बचपन मे पाई हुई पिताजी की वह श्रद्धा रही है कि हम अनाथ नही हैं। एक सर्वसमर्थ सत्ता सृष्टि की देखभाल कर रही है। यही मानकर हमें चलना चाहिए कि भगवान जो करता है, हमारी भलाई के लिए ही करता है। काका साहब की यह अनुभूति उनकी आयु के साथ-साथ गहरी होती गई थी।

बचपन मे पाई हुई इस श्रद्धा का परिणाम यह हुआ है कि वे शायद ही कभी सकाम प्रार्थना कर सके। कुछ मागने जाते तो मन में तुरन्त यह ख्याल आ जाता कि भगवान तो सब-कुछ जानते हैं। मेरे लिए जो ठीक होगा वही वे करेंगे। फिर, मागने की क्या जरूरत है। बचपन से वह कहते आए, 'हे भगवान ! मुझे मागना ही नही आता। केवल एक श्रद्धा रखकर बैठा हू कि तुम जो करते हो, अच्छा ही होता है। मेरी इस श्रद्धा मे कोई बाधा न आने पाए।'

उपास्य देवता का चुनाव

दत्तू स्कूल मे जो पाता था, उससे बहुत ज्यादा वह अपने घर के सनातनी माहौल मे पाता था। यह माहौल उसके चरित्र को बना रहा था। पिताजी की भी उसके इसी चरित्र-निर्माण मे विशेष दिलचस्पी थी। बच्चों को कर्मकाड सिखाने के लिए उन्होंने एक शास्त्रीजी को नियुक्त किया था और शास्त्रीजी उन्हें संध्यापूजा, वैश्वदेव, रुद्र, पवमान आदि वैदिक सूक्त सिखाते थे। दत्तू बड़ी रूचि के साथ यह सब सीखता था। धार्मिक वाचन के लिए पिताजी ने घर मे रामायण, महाभारत, भागवत के श्रीधरस्वामी कृत लोकप्रिय मराठी अनुवाद (राम विजय, पांडव प्रताप और हरिविजय) लाकर रख दिए थे। दत्तू ये ग्रंथ बड़े भक्तिभाव से पढ़ता रहता था। कुछ बातें समझ में आती थीं, कुछ बिलकुल न आतीं।

इन सब बातो का परिणाम यह हुआ कि दत्तू के मन पर भक्त बनने की धुन सवार हुई। उसे नामस्मरण का चसका लगा। माता-पिता का भक्त तो वह था ही। उसने अब एक नया क्रम बांध लिया। सुबह उठते ही वह माता-पिता के चरण स्पर्श करने लगा। घर मे यह बिलकुल नई प्रथा थी। इस ओर वह कड़ी नही चलती थी। इससे घर के लोगो को भी आश्चर्य हुआ। कई लोग तो दत्तू का मजाक करने लगे। उसे भक्त कहने लगे। उसी नाम से पुकारने लगे। शुरू-शुरू मे वह कुछ शरमाया, पर बाद में वह शरम चली गई। और उसकी जगह अभिमान ने ले ली। शुरू-शुरू में तो यह अभिमान सात्विक ही था, पर जब वह बढ़ा, तब दत्तू के मन मे यह भाव जागा कि मैं अपने दूसरे भाइयों से तो अलग कोटि का हू, उनसे कुछ अच्छा ही हू। इस अभिमान के कारण ही वह पुडलीक, श्रवण आदि पितृभक्तो की कथाओ मे विशेष रूचि लेने लगा। इन कथाओं में उसे आनंद भी मिलने लगा।

मा ने दत्तू को पितृभक्ति सिखाई थी और वैसी ही बधुभक्ति भी सिखाई थी। उसके सामने लक्ष्मण का आदर्श रखा था और कहा था लक्ष्मण की तरह तू भी अपने बड़े भाइयो के कहने मे रह।' लक्ष्मण का तो एक ही वडा भाई था। दत्तू के हिस्से मे पाच भाई आए थे और वे मब राम नही थे। दत्तू की लक्ष्मण-वृत्ति का वे खूब लाभ उठाते थे, ऊपर से उसे पीटते भी थे। पर दत्तू ने तो अपना यही धर्म भान लिया था कि वे चाहें पीटे, डाटे, कुछ भी करे, उनके प्रति अपने प्रेम मे कोई कमी नही आनी चाहिए। दत्तू ने अपने इस धर्म को काफी हद तक निभाया था।

उसे सबसे ज्यादा दुख सहना पडा केशू के हाथो। वह लहरी था, क्रोधी था और अपनी इच्छाओ का दास था। केशू के भी बड़े भाई थे। विष्णु तो उससे उम्र मे थोड़ा बड़ा था पर केशू ने किसी के प्रति लक्ष्मण-वृत्ति नही अपनाई थी। वह विष्णु की निंदा भी करता था और दत्तू को उसमे शामिल कर लेता था। दत्तू परेशानी मे पड जाता, पर करता वही था, जो वह कहता था। केशू के हाथो दत्तू ने खूब मार खाई। पर आश्चर्य यह है कि उसी पर दत्तू की सबसे अधिक भक्ति रही। उसके प्रति यह निष्ठा सभालने के लिए दत्तू ने पिताजी से भी दुराव किया। पर हर हालत में केशू के प्रति निष्ठा रखने मे दत्तू ने धन्यता का अनुभव किया है।

काका साहब लिखते हैं :

> उस समय मुझे ऐसा लगता था कि मैं आदर्श बंधु-प्रेम के सस्कार प्राप्त कर रहा हूं। आज मै समझता हूं कि वह एक प्रकार की विकृति थी और गुलामी की वृत्ति का रूप धारण कर रही थी।

दत्तू का उपनयन नही हुआ था, उमसे पहले ही उसे उपास्य चुन लेने की इच्छा हुई। धार्मिक पुस्तकों से उसने इतना तो जान ही लिया था कि कुलदेवता हर एक को उसकी जाति की तरह जन्म से ही मिलता है। पर उपास्य देवता वह अपनी अभिरूचि के अनुसार चुन सकता हे और वह कुलदेवता से अलग भी हो सकता है।

कालेलकरो के कुलदेवता थे मंगेश-यानी शिवजी और सहायक देवी थी महालक्ष्मी। हर कुलदेवता की एक सहायक देवी होती ही है, जिसको गोवा की कोकणी भाषा मे 'पालवी' कहते हैं। महालक्ष्मी वैष्णवी शक्ति भी हैं और शैवी शक्ति भी और मंगेश तो साक्षात् शिव हे।

जो हो, शिव और शक्ति दत्तू को विरासत मे मिले थे। शिव के बारे मे उसने अपनी दादी मा से बहुत कुछ सुना था। दादी मा भले ही अनपढ़ रही हों, पौराणिक कथाओं का उनका भडार काफी समृद्ध था। उन्होंने दत्तू को बताया था कि शिवजी एक बड़े योगी है। बडी-बडी लाल-पीली जटाए रखते है। शरीर पर भस्म रमाए रहते हे। शख और डमरू बजाते श्मशानों मे भटकते हैं और पार्वतीजी उनकी सेवा के लिए उनके पीछे-पीछे घूमती है।

दादी मा ने शिवजी का यह जो वर्णन किया था, उससे दत्तू ने अपने मन मे शिवजी की एक तस्वीर खीच रखी थी। वह बडी ही आकर्षक थी। दत्तू कहता था कि शिवजी ब्रह्मा के समान डरपोक नही हैं। विष्णु के समान चतुर भी नही हैं। बड़े सीधे हें, भोले हैं। भस्मासुर को भी मुह मांगा वरदान देने वाले हैं। इन कारणों से शिवजी पर दत्तू की भक्ति तो थी पर उपास्य के रूप में उन्हें चुनने की उसे इच्छा नही हुई। शिवजी भले ही भोले हों, पर क्रोधी भी तो हैं। जरा-सी गलती करने पर सत्यानाश भी कर सकते हैं। उनसे हमेशा डरते ही रहना पड़ता है। शिवजी की एक बात दत्तू को बहुत पसंद आई थी। मनुष्य भले ही गृहस्थ बनकर रहे, पत्नी भले ही रूप का भंडार हो, गृहस्थी मे मनुष्य को शिवजी की तरह ही उदासीन रहना चाहिए। पत्नी को अगर गरज

होगी तो वह घर चलाएगी । बाल-बच्चों के प्रति प्रेमभाव हो तो भी वह बताने जितना छिछरा तो होना ही नही चाहिए । प्रेम कभी दिखाने की चीज नही होनी चाहिए । आगे चलकर जब दत्तात्रेय की विभूति का परिचय हुआ, स्त्री जाति के प्रति दत्तू की इस उदासीनता ने करीब-करीब स्त्री-द्वेष का रूप ले लिया था ।

इसके बावजूद, दत्तू ने शिव को अपने काम का न कहकर एक ओर रख दिया और वह दूसरा उपास्य ढूढने लगा । ढूढते-ढूढते पंढरपुर के विठ्ठल की ओर ध्यान गया । पढरपुर महाराष्ट्र की अत्यत पवित्र भूमि है । वहां का एक-एक कंकड़ और पत्थर सतों के चरणो से पुनीत बना हे । कुछ दिन पहले दत्तू ने पढरपुर की यात्रा की थी और विठ्ठल की कहानी भी उसने सुनी थी : पुडलीक नामक एक भक्त था । माता-पिता की सेवा मे हमेशा तल्लीन रहता था । उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर एक दिन भगवान श्रीकृष्ण खुद उसे वरदान देने आए । माता-पिता की सेवा छोड़कर भगवान के स्वागत के लिए उठना पुडलीक को उचित न लगा, उसने इधर-उधर देखा, बगल मे एक ईट पडी थी । पुडलीक ने ईंट उठाई और भगवान की ओर फेंककर कहा, 'लो, जब तक मेरी माता-पिता की सेवा पूरी न हो, तुम इस पर खडे रहो ।' ईंट को मराठी मे वीट कहते है । 'ईट पर खडा रहने वाला' यह 'विठ्ठल' शब्द का अर्थ है ।

दत्तू का मन विठ्ठल पर जम गया । श्रीकृष्ण का महात्म्य समझने के लिए वह कुछ गहराई मे उतरना चाहता था । इसलिए उसने 'हरि विजय' पढना शुरू किया । अचानक एक दिन पूना मे केशू आया । वह पूना मे बाबा और अण्णा के साथ रहकर पढता था । उसने पूछा, क्या पढ़ रहे हो ?

'हरि-विजय' दत्तू ने जवाब दिया ।

'छी: उसमे श्रीकृष्ण की लीलाए हैं । श्रीकृष्ण अच्छा देवता नही है, स्त्रैण है, गन्दा है; व्यभिचारी है; उसकी पूजा हरगिज नही करनी चाहिए ।'

दत्तू के लिए यह मानो हुक्म था । उसने तुरंत 'हरि-विजय' फेक दी ।

'अब किसको उपास्य चुने ?' उसने पिताजी से पूछा, 'पिताजी, देवता कितने होते हैं ?'

पिताजी ने जवाब दिया, 'वैसे तो एक ही है । उसे ईश्वर, परमात्मा, भगवान आदि कहते हैं, और वह सब जगह मोजूद है । जल, स्थल, काष्ठ, पाषाण

सब मे है । तुझ मे भी है, मुझ मे भी है । पर उनके तैंतीस कोटि रूप माने गए हैं ।'

'आपको इन तैंतीम कोटि रूपो की जानकारी है क्या ?'

'नही, पिताजी ने जवाब दिया, इस जानकारी की कोई जरूरत भी नही है । क्योकि देवता चाहे जितने हों, सभी पाच देवताओ मे समा जाते हैं । सभी पंचायतन के देवताओ के अवतार हैं ।'

पचायतन यानी क्या ?

'शि ना ग र दे' पिताजी ने जवाब दिया । 'शि' यानी शिव, 'ना' यानी नारायण, 'ग' यानी गणपति, 'र' यानी रवि, और 'दे' यानी देवी । इन पाचों की पूजा करने से सब देवताओ की पूजा हो जाती हैं । इन पाचो मे से किसी एक को बीच मे रखकर उसके इर्द-गिर्द चारो को बिठा दे और मबकी एक माथ पूजा करे, इसे पचायतन पूजा कहते हैं ।

दत्तू जो चाहता था, वही उसे मिल गया था । अब इन पाचो मे से किसी एक को उसे चुनना था । किसको चुने ? शिवजी को तो उसने एक ओर रख ही दिया था । बाद मे नारायण यानी श्रीकृष्ण को व्यभिचारी मानकर छोड दिया था । रहे गणपति, इनकी तो पाठशाला मे ही पूजा हो सकती है क्योकि वह विद्या के देवता हैं । उपास्य के तौर पर चुनने लायक नही हैं । रवि है तो तेजस्वी, पर उनकी न कही मूर्ति मिलती है, न कही मदिर है । उनको कैसे चुने ? और देवी तो ठहरी स्त्री । भला स्त्री की पूजा कोई पुरुष कर सकता है ? दत्तू को पाचो मे से एक भी पसद नही आया । अब क्या करे ? किसको चुने ? पुस्तके पढते-पढ़ते दत्तात्रेय मिल गए । दत्तू कूद पडा, हां, इन्ही को उपास्य के रूप मे चुन सकता हू । एक तो अपने ही नाम के हैं, दूसरे ब्रह्मचारी है । तीसरे, ब्रह्मा-विष्णु-महेश तीनो उनमे समा जाते है ।

दत्तात्रेय के जितने भी स्त्रोत मिले, दत्तू ने भक्तिपूर्वक कठस्थ कर लिए । दत्तात्रेय उदुम्बर के वृक्ष के नीचे बैठना पसंद करते थे । अत: दत्तू ने भी जहा गूलर का वृक्ष होता वहा उसकी छाया मे जाकर बैठना शुरू किया । दत्तात्रेय को सेम की सब्जी पसंद थी, दत्तू भी सेम की सब्जी खाने लगा । दत्तात्रेय तपस्वी, कष्ट-सहिष्णु शुद्ध ब्रह्मचारी थे और आर्तत्राण भी थे । दूसरो का

दु:ख देखकर उनका हृदय पिघल जाता था। दत्तू को लगा, काश, यह गुण मुझ मे भी होता ! कितना अच्छा होता ! वह अपनी बुद्धि के अनुसार दीन-दुखियों की खोज करने लगा और यथाबुद्धि, यथासंभव दूसरो की मदद भी करने लगा।

दत्तू को 'गुरूचरित्र' पढने की इच्छा हुई। महाराष्ट्र मे नृसिह सरस्वती नामक एक अवतारी पुरुष हो गए। वे दत्तात्रेय के अवतार माने जाते थे। उनकी लीलाओ का वर्णन इस 'गुरूचरित्र' मे है। घर मे 'हरि विजय', 'पाडव प्रताप' आदि पुस्तके थी। 'गुरूचरित्र' भी था, पर वह दत्तू के मामा ले गए थे। वह वहा से वापिस लाने का या नया खरीदने का प्रस्ताव दत्तू ने पिताजी के सामने रखा। बगल मे मा बैठी थी। वह गरज पडी, 'नही, यह पुस्तक घर मे नही आएगी।'

'क्यो' ? दत्तू ने पूछा।

'हमारे घर म वह अनुकूल नही आती। अक्का न गुरूचरित्र पढ़ना शुरू किया उसी साल वह चल बसी। तुम उसे मत पढ़ना।'

दत्तू की दरख्वास्त खारिज हो गई थी। मा को दु.ख देने की अपेक्षा न पढना ही अच्छा हे – यो सोचकर उसने 'गुरूचरित्र' पढ़ने की अपनी इच्छा ही मिटा दी, कभी नही पढा।

फलस्वरूप दत्तू की उपासना निश्चित नही हुई। वह कभी दत्तात्रेय का नाम लेता, कभी जय हरि विठ्ठल का जाप करता, कभी और कोई धुन गाता। अत म उसने यह सब छोड दिया और सिर्फ प्रणव जाप को ही अपना लिया। मुह से वह सिर्फ 'ॐ-ॐ' की गम्भीर ध्वनि ही निकालने लगा।

महा शिवरात्रि का व्रत

अचानक एक दिन दत्तू ने घोषणा की, अब की बार मै महा-शिवरात्रि का व्रत रखूगा।

उपास्य के रूप मे वह शिवजी को चुन नही पाया था, पर शिवजी का प्रभाव उस पर जबरदस्त था। देवताओ मे शिवजी ही बड़े देवता है, इस निर्णय पर वह आ पहुंचा था। उसने समुद्र-मथन की कथा पढी। समुद्र-मथन के समय सभी देवता लालची सिद्ध हुए थे। भिखारी की तरह हर देवता एक-एक रत्न उठा ले

गए थे। विष्णु ने तो अन्य रत्नों के साथ लक्ष्मी को भी हड़प लिया था। सिर्फ शिवजी ही ऐसे देवता निकले, जो दुनिया का दुःख दूर करने के लिए हलाहल पी गए और नीलकंठ बने। दत्तू के मन मे शिवजी की प्रतिमा इतनी ऊंची उठी कि उसकी तुलना मे उसे अन्य सभी देवता तुच्छ मालूम होने लगे थे। दत्तू के लिए यह एक तरह दीक्षा थी। मुझे भी इसी तरह जिंदगी मे चलना चाहिए, ऐसा ही उसे लगने लगा था।

इसी भावदशा मे उसने श्रीधरस्वामी कृत 'शिवलीलामृत' पढी। उसमे उसने पाया कि छोटे बालकों की भक्ति से शिवजी विशेष प्रसन्न होते है। बस दत्तू ने निश्चय कर लिया, 'मैं शिवरात्रि का व्रत रखूंगा।'

मा ने कहा, 'नही, तू अभी छोटा है। यह व्रत बालकों के लिए नही है।'

क्यों ? शिवजी बालकों की भक्ति से ही तो अधिक प्रसन्न होते हैं। मै व्रत रखूगा ही, दत्तू ने निश्चयपूर्वक जवाब दिया।

बात पिताजी तक पहुंच गई। पिताजी ने दत्तू को समझाने की कोशिश की। उन्होंने कहा, यह व्रत ऐसा है कि एक बार लेने पर न तोड़ा जा सकता है, न छोड़ा जा सकता है, जिदगी-भर रखना पड़ता है। इसके पालन मे कही गफलत हो जाए तो शिवजी सत्यानाश कर डालते है।'

उन्होने दत्तू को पराव्रत करने के लिए उसके सामने एक प्रस्ताव रखा, 'तुझे अगर फलाहार ही करना है तो एकादशी का व्रत रख। वह आसान भी है, पुण्यदायक भी और टूटने पर या छोड़ देने पर हानि का डर नही है।'

'मैं फलाहार के लालच मे थोड़े ही व्रत रखना चाहता हू।' दत्तू ने दृढ़ता-पूर्वक जवाब दिया।

पिताजी ने कहा, 'बेटे, जिद न कर, हमे नाहक दुःख न दे; चुपचाप खाना खा ले।'

पिताजी अभी-अभी एक कटु अनुभव से गुजरे थे। उन्होने अपने बड़े बेटों को पढ़ाने के लिए पूना में रखा था। इसी आशा से कि पूना में वे ज्यादा संस्कारी बनेगे, पर अनुभव उल्टा आया था। एक ने तो संध्या करना भी छोड़ दिया था। प्याज के पकोड़े के बिना उसे भोजन भी अच्छा नही लगता था और दूसरो ने तो ईसाइयों की तरह सिर पर लम्बे-लम्बे बाल रखे थे। हर

हफ्ते हजामत करने के बजाय वह सिर्फ दाढ़ी ही बनाता था। घर में पैठे इस भ्रष्टाचार से पिताजी बहुत दु:खी थे। पश्चाताप के साथ अपने को ही कोसते थे, इन्हें पूना भेज दिया यही मेरी बड़ी गलती हुई।

उन्होंने दत्तू से कहा, 'अपने बड़े भाई को देख। तू जब कालेज जाएगा, तब ऐसा ही होगा। आज व्रत लेगा और कल तोड देगा।'

'क्यो तोड़ दूगा ? मै उनके जैसा कभी नही बनूंगा। आप विश्वास रखिए, मैं शिवरात्रि का व्रत कभी नहीं तोडूंगा।'

दत्तू के इस दृढ़ जवाब से पिताजी को लगा, अब इसे दूसरी भाषा मे समझाना होगा। दलील या अजीजी से वह नही समझेगा। उन्होने बाएं हाथ से उसकी भुजा पकड़ ली और दाएं हाथ से कसकर उसके जांघ पर चार तमाचे लगाए। हर तमाचे की चार अगुलियों के हिसाव से सोलह अंगुलिया जांघ पर उभर आई।

फिर भी दत्तू ने अपनी जिद न छोडी। उसने अकड़कर कहा, 'आज तो मै भोजन करूगा ही नही।'

दत्तू खूब रोया। फिर चुप होकर पूजा घर मे जा बैठा और नाम-स्मरण करने लगा।

शाम के लगभग चार बजने आए। अब उसकी दूसरी परीक्षा शुरू हुई। मां ने सोचा, 'भले वह उपवास रखे। पर उपवास मे भी खाई जा सकें, ऐसी कई चीजें हैं। ये चीजे वह खाए तो अच्छा ही है, वरना पित्त बढ जाने का डर हैं और कल बीमार भी पड़ सकता है।'

मा ने आलू, मूगफली, खजूर, साबूदाने के कुछ पदार्थ बनाए और दत्तू को खाने को बुलाया।

पर दत्तू को तो तीर्थ की पांच-दस बूंदों के अलावा पानी भी नही पीना था। उसने इंकार कर दिया। उपवास करना ही है तो जिससे शिवजी प्रसन्न हों ऐसा ही करना चाहिए, यह उसकी दलील थी।

वह इतनी जिद करेगा, इसका किसी को ख्याल तक नही था। पिताजी ने कहा, 'भले व्रत रख, पर फलाहार की चीजें तो खा ले। यह चीजे खाने से उपवास नही टूटता।'

दत्तू ने अपना मुंह सी लिया था। उसे खाना भी न था, न ही जवाब देना था। पिताजी गरम हुए। उन्होंने मानो निश्चय ही किया था कि इसे तो खिला कर ही छोड़ूंगा, पर दत्तू को वे आज एक ही चीज खिला सकते थे, वह थी मार। वह दत्तू को पेटभर खानी पड़ी। सुबह से ज्यादा शाम को खानी पडी।

इतने मे बड़े भाई आए। उन्होने उसे पकड़ कर जबरदस्ती उसके मुह मे दूध डाला। दत्तू ने दूध थूक दिया, कै कर दिया।

फिर तो दत्तू भी बिगड़ गया। जो भी सामने आया, डटकर उसका मुकाबला करने लगा। इतने में मामा आए। उन्होने पिताजी को समझाया, 'अजी! छोड दीजिए उसे, पांच तो बज चुके है। अब ज्यादा-से-ज्यादा तीन घटे निकालने होंगे। फिर तो वह सो जाएगा।'

इसके बाद अपनी बहन की ओर मुड़कर उन्होने कहा, 'अब ज्यादा आग्रह न कर। इसे सुबह पांच बजे जगाकर नहला-धुलाकर खाने के लिए बुलाना। उसकी धार्मिक भावना को ठेस न पहुंचाना ही अच्छा है।'

आखिर पिताजी मान गए। उन्होंने दत्तू को पकडा। उसे पूजा घर मे ले जाकर कहा, 'अब कुलदेवता के सामने कबूल कर: 'मै कालेज मे जाऊगा वहा यदि नास्तिक बन भी गया तो भी शिवरात्रि का व्रत नही छोड़ूगा।'

कुलदेवता के सामने दत्तू ने शपथ ली: 'मै यह व्रत कभी नही तोड़ूगा। जिदगी-भर निभाऊंगा।'

काका साहब लिखते हैं:

> तब से लेकर आज तक मैं बराबर महा शिवरात्रि का उपवास करता आया हूं। एक ही बार तिथि का ध्यान न रहने से गफलत हुई थी। उसका प्रायश्चित मैंने दूसरे दिन किया। फिर भी उस प्रमाद का दु:ख अभी तक बना हुआ है।

संस्कार

दत्तू के इर्द-गिर्द का वातावरण रूढ़िवादी था। पूर्व परम्परा से चली आई रूढ़ियों का कट्टरता के साथ पालन करने मे ही उन लोगों का सारा धर्म आ जाता था। जात-पांत व ऊंच-नीच का भाव स्वाभाविक माना जाता था।

इससे पैदा होने वाले सामाजिक मत्सर या विद्वेष भी सहज और कुदरती माने जाते थे। किसको छूना नही चाहिए, किसके हाथ का खाना नही खाना चाहिए— छुआछूत और खानपान के इन पेचीदे नियमो मे ही सारी धार्मिकता समा जाती थी। देवी-देवता तो तैंतीस कोटि थे। उतने ही भूत-प्रेत थे। इनके कोप से डरना, इनसे सम्बध रखने वाली बलि और व्रत, त्योहार, उत्सव— इसी वातावरण मे दत्तू की परवरिश हुई।

धर्म के बारे मे लोगो का मार्गदर्शन करने के लिए उन दिनो बाबा-बैरागियो, हरदास-पोराणिको या पडे-पुरोहितो के अलावा कोई नही था। ये लोग जिस प्रकार का मार्गदर्शन करते थे, उसी मार्ग पर समाज चलता था।

बगाल के ब्रह्म समाज से प्रेरणा पाकर महाराष्ट्र मे 'प्रार्थना समाज' की स्थापना हुई थी। इस प्रार्थना समाज ने महाराष्ट्रियो की धार्मिक मान्यताओ मे कई सात्विक और उदार परिवर्तन किए थे। पर यह सारा आदोलन पूना-बम्बई की ओर के सुशिक्षितो के बीच ही चलता था। यह सातारा, बेलगाव की ओर पहुच नही पाया था। यहा किसी ने प्रार्थना-समाज का नाम तक नही सुना था। सुधारको के नाम कभी-कभी सुनाई अवश्य देते थे, पर उनके बारे मे लोगो के ऊचे ख्याल नही थे। लोग यही समझते थे कि ये लोग मास खाते हैं, शराब पीते हैं विधवाओ से विवाह करते हैं— बिल्कुल धर्मभ्रष्ट और समाजद्रोही है। करीब-करीब ईसाई है। मौलिक धार्मिक विचारो की दृष्टि से इस समाज मे लगभग अधेरा ही छाया हुआ था।

चोरी, चुगली, व्यभिचार से दूर रहे और ऐसा जीवन बिताए जिससे भले आदमियो को उलाहना न मिले —यही इन लोगो का सरल नीतिशास्त्र था। जैसे-तैसे कमाई बढाए, बाल-बच्चो को सुखी रखे, इसमे भी जीवन का कोई बड़ा आदर्श हो सकता है, इसका किसी को ख्याल तक भी नही था।

दत्तू का बचपन इन्ही धार्मिक कुलाचारो, व्रतो, उत्सवो और अधविश्वासो का श्रद्धापूर्वक पालन करने मे बीता।

कालेलकरो के खानदान मे क्या किया जाता है, क्या बिल्कुल नही किया जा सकता, क्या करना जरूरी है, क्या शोभा देता है, क्या नही देता—इस सम्बध मे मा की कुछ धारणाए थी। उनके द्वारा मा ने दत्तू को नीति की शिक्षा देने का काम खूब किया। कालेलकरो का परिवार सदाचारी है, परोपकारी है, एक दिल

से रहता है; इस परिवार में बहुओं से बेटियों की तरह बर्ताव किया जाता है—इस तरह की कीर्ति पाने के लिए मां हमेशा लालायित रहती थी। कभी कहती, भगवान मुझे इतना दे, जिससे मैं दूसरों के लिए उपयोगी हो सकूं। मां की यह बहुत बडी आकाक्षा थी। दत्तू कभी मजाक मे कह देता, 'भगवान तुझे यथेच्छ दे देते, पर तू उनसे ज्यादा कमीशन मांगती होगी। इसलिए तेरे द्वारा देने के बदले भगवान सीधे लोगों को दे देते है।'

मां हंस देती।

दूसरे के मुंह से अपने परिवार की प्रशंसा सुनने को मिलती, तब मा बहुत खुश हो जाती। मां की यह कमजोरी पडोसी-रिश्तेदार पहचान गए थे। इसलिए वे मां को चिढाने हेतु कभी-कभी आलोचना करने लायक कुछ-न-कुछ ढूढ ही निकालते थे और मां को सुना भी देते थे। आलोचना सुनकर मा बडी दु:खी हो जाती। इस तरह एक-दूसरे को चिढ़ाना, रुलाना, इस भोले समाज के जीवन का एक तरह का आनंद ही था। बहुत सीधा-सरल समाज था, वह।

घर मे साल-भर कोई-न-कोई उत्सव चलता रहता। चैत्र मे गौरी की पूजा होती, तब गौरी के आसपास सजावट की जाती। इसे यहा के लोग 'आरास' कहते हैं। गुडियों के प्रदर्शन से लेकर कृत्रिम बगीचे और पानी के कृत्रिम फुहारे तक की सभी चीजें इस 'आरास' मे मौजूद रहती। फिर दत्तू घर-घर जाकर अलग-अलग 'आरास' देख आता। गणेश चतुर्थी आती तब भी ऐसा ही होता था। बरसाती तितलियों की तरह घर-घर गणेशजी पधारते और तीन से दस दिन तक मेहमान रहकर चले जाते। दत्तू उन दिनों घर-घर जाकर गणेशजी का दर्शन करता। ऋषि पंचमी के दिन बैल की मेहनत का कुछ भी न खाने का और साल मे एक दिन पशुद्रोह से बचने का जो व्रत आता वह तो दत्तू को बड़ा ही आकर्षक लगता। हरतालिका और वटसावित्री तो घर की स्त्रियों के खास त्यौहार थे। दत्तू भी स्त्रियो के आनद मे हिस्सा लेता। नागपंचमी के दिन वह खुद अपने हाथ से मिट्टी का नाग बनाता और उसकी पूजा करता। जन्माष्टमी के दिन एक पाट पर सारा गोकुल खडा कर देता, तब उसका सीना गर्व से फूल जाता। रामनवमी, जन्माष्टमी, तुलसी-विवाह, होली—हर एक त्यौहार दत्तू को कुछ-न-कुछ देता ही रहता था। इस तरह कर्मकाण्ड, उत्सव, भक्ति, व्रत-वैकल्य—तरह-तरह के संस्कारों से उसका हृदय समृद्ध होता जा रहा था।

कला-प्रेम दत्तू ने पहले-पहल इन धार्मिक सस्कारो से ही ग्रहण किया ।

प्रकृति से सखा भाव

भले ही रूढिग्रस्त हो, पर जिस वातावरण मे दत्तू का बचपन बीत रहा था, वह एक दृष्टि मे समृद्ध ही था । इसके बावजूद उसके जीवन मे एक कमी रह गई—लोगो से मिलना-जुलना वह कभी न सीख पाया । एक तो, पिताजी स्वभाव से निवृत्ति-परायण थे । कही आते-जाते नही थे । दूसरा, वे सातारा मे रहते थे और वहा सारस्वत समाज के लोग ज्यादा नही थे ।

इस देश की यह एक विशेषता रही है कि यहा जो जिस जाति मे पैदा होता है, उसी जाति के लोगो के साथ मिलता-जुलता है । जिनकी पोशाक अलग है, भाषा अलग है, जिनके रस्म-रिवाज अलग हैं, वे सब हमारे लिए पराये होते है । उनसे हमारा कोई सम्बध नही हो सकता, इस वृत्ति मे ही इस देश के लोग जीते आए है । दत्तू के घर के लोगो की भी यही वृत्ति थी । बच्चो को तो वे घर के बाहर भी जाने नही देते थे इस डर से कि वे खराब लडको के सम्पर्क मे आकर खराब न हो जाए ।

उनके पडोस मे एक दर्जी रहता था । उसके नाना और हरि नाम के दो बेटे थे । वे कभी-कभी दत्तू के साथ खेलते थे । एक मुसलमान लडका भी आता था । उसका नाम डाग्या था, पर वह केशू का दोस्त था । दत्तू की मा की एक सहेली थी, जिसका वे मनी की मा कहते थे (उस की लडकी का नाम मनी था इसलिए वह 'मनी की मा' कहलाई जाती थी) इस मनी के साथ भी दत्तू खेला करता था । बस, दत्तू की बाल-दुनिया इतनी ही छोटी थी । इससे बडी दुनिया मे जाने का उसे कभी अवसर ही नही मिला । हा अपवाद केवल स्कूल का था । पर स्कूल की दुनिया मे वह कितने घटे रह पाता था ? उसका स्वभाव भी कुछ तुनुकमिजाजी बन गया था । भावुक ही कहिए । कोई कुछ कह देता, तो वह दु.खी हो जाता था । छोटी-सी बात पर भी वह तीव्र वेदना अनुभव करता था । इसलिए दूसरो से मिलने-जुलने के अवसर वह टालता ही रहा ।

फिर, पाच बडे भाइयो का उस पर दबाव जो था । बेचारे का व्यक्तित्व कुम्हला गया, तो इसमे आश्चर्य ही क्या ?

परिवार के लोगों के साथ वह बीच-बीच मे शाहपुर जाया करता था । शाहपुर तो कालेलकरों का ही गांव था । वहां तीन बड़े मुहल्लो मे उनके जाति के लोग रहते थे । सभी एक-दूसरे के रिश्तेदार थे । नजदीक के सम्बधी थे, पर वहां के लोग कोंकणी बोलते थे और दत्तू की भाषा मराठी थी । कोकणी उसकी समझ मे पूरी नही आती थी । वहा पर भी वह अपने को अलग ही महसूस करता था ।

नतीजा यह हुआ कि इन सब कारणों से दत्तू के सामाजिक जीवन का एक पहलू हमेशा के लिए कमजोर रह गया ।

काका साहब दुनिया-भर घूम आए, उस जमाने के बडे-बडे लोगों के घनिष्ट सम्पर्क मे आए । फिर भी वे कहत हैं :

> आज भी सार्वजनिक या खानगी प्रसगो के समय लोगो से मिलते-जुलते मुझे बड़ा अखरता है । अपरिचित लोगो से मिलते समय तो हमेशा बेचैनी रहती है । जो लोग मुझे पहचानते है और मेरे बेढंगेपन को दरगुजर करते है, उन्ही के आगे मै खुल सकता हू । सार्वजनिक सेवा जिसे करनी है, उसके लिए यह भारी दोष ही समझना चाहिए ।

पर इस कमी से एक बडा लाभ भी हुआ । एक ओर से रूधी हुई शक्ति दूसरी ओर प्रकट हुई । दत्तू कल्पना-विहार मे मशगूल रहने लगा । बडा होने पर मै क्या करूंगा, राजा बन गया तो राज्य कैसे चलाऊगा, घने जंगलो मे रास्ते निकालने हो तो कैसे निकालूगा, नदियो पर पुल कैसे बनाऊंगा, पहाडों को खोदकर सुरग कैसे तैयार कराऊंगा— आदि कई कल्पनाएं उसके दिमाग मे अखंड रूप से चलती रहती । कल्पना मे ही वह कभी बडी-बडी इमारतें बनाता, कभी घोड़े पर बैठ कर सारा देश घूम आता । करीब-करीब शेखचिल्ली-जैसी ये कल्पनाएं होती थी– पर, वे दत्तू को अंतर्मुख बना देती थी । इस अंतर्मुख वृत्ति के साथ सृष्टि सौदर्य की ओर उसका ध्यान बहुत जल्द आकर्षित हुआ । वह नदी-नाले, तालाब-बगीचे आदि सृष्टि के विविध रूप देखने मे तल्लीन हो जाता था । नदी के घाट पर बैठकर नदी के प्रवाह की ओर टकटकी लगाए देखते रहने मे उसे बड़ा आनंद मिलता था; वह ऊचे-ऊंचे पहाड़ों की ओर देखता रहता, कभी पुराने किले देखने जाता तो कभी मदिरों के शिखरो की ओर ताकता रहता । कभी बादलों के बदलते रूप और रंग देखकर भाव विभोर हो जाता । रात्रि के समय आकाश का निरीक्षण करता और सितारो से घंटों बातें करता रहता ।

भविष्य के साहित्यकार की प्रतिभा को बनाने मे इन कल्पनाओ और योजनाओ का काफी योगदान रहा है।

शाहपुर से बेलगुदी करीब आठ मील की दूरी पर है। दो सुदर पहाड़ियो की तलहटी मे एक ओर यह छोटा-सा गाव बसा हुआ ह। दत्तू के पिताजी ने वहा जमीन खरीदी थी, वहा उसके मामा रहते थे, उसकी मौसी भी रहती थी। दत्तू अपने ननिहाल कई बार गया था। अब तो वहा उसका अपना घर भी था, अपना खेत भी था। इस गाव मे एक छोटी-सी नदी बहती है, इसका नाम है मार्कण्डी। दत्तू जब बेलगुदी जाता तो दोपहर को अपने खेत म गूलर के पेड की छाया मे जाकर बैठ जाता था। तब मार्कण्डी की हवा उसके सारे शरीर को पुलकित करती थी। यहा बैठे-बैठे हवा की लहरो से लहराते हुए घास के पत्तो को उसने घटो तक निहारा है। वह कभी-कभी उसके प्रवाह मे पाव लटकाकर बैठ जाता, तब मार्कण्डी तुरत कल-कल-कल-कल करती उससे बाते शुरू कर देती और वह घटो तक उसकी बाते सुनता रहता। मार्कण्डी क्या कहती, यह जानने की उसे कोई दरकार न थी, न ही दत्तू को बाते समझाने के लिए वह रुकती। दोनो ही एक-दूसरे से बाते कर रहे है, बस इतना ही दोनो के लिए काफी था।

दत्तू कभी उसके किनारे गाता-हुआ घूमता और मार्कण्डी उसका गाना सुनती रहती। दत्तू कभी रात को यह देखने के लिए भी वहा चला जाता कि वह सर्दी म काप तो नही रही ह। मार्कण्डी ने दत्तू को खाने के लिए शकरकद दिए है, पीने के लिए अमृत समान पानी भी दिया ह। दत्तू के जीवन मे मार्कण्डी ने 'सखी' का स्थान प्राप्त किया था। प्रकृति का हर उन्मेष उसके लिए भक्ति का विषय बना था। काका साहब लिखते है :

> निर्दोष आनद लूटने की कला इस तरह अनायास ही मेरे हाथ लग गई। नदी के घाट, नदी के पुल, उसके पृष्ठभाग पर दौडने वाली नावे और धीमे चलते जहाज यह सब देखकर मनुष्य और प्रकृति का सख्य मन पर अच्छी तरह अकित हो गया। आज भी पुल और नाव देखने का कुतूहल मेरे मन मे कम नही हुआ है। इतने वर्षो से बाग के फूल और आकाश के तारे देखता आया हू, फिर भी उनकी ताजगी मेरे लिए कम नही हुई है। नदी मे बाढ़ आती है, आकाश से तारे टूटने लगते है, भूचाल आता है, जंगलो मे आग लगती है या धुआधार बारिश से चारो ओर पानी ही पानी हो जाता है तो

उससे मेरी चित्तवृति दबती नहीं, बल्कि हर एक प्रसंग के साथ तदाकार होकर उसकी मस्ती का अनुभव करती है।

कारवार का प्रभाव

1892 में पिताजी का कारवार तबादला हुआ। 11 मार्च के दिन दत्तू ने सातारा से हमेशा के लिए विदा ली। इससे पहले वह सातारा से शाहपुर एक-दो बार ही गया था। अब तक उसने या तो पैदल यात्राएं की थी या बैलगाड़ी से। सातारा से बेलगांव तक डाक का एक तांगा जाता था, उसमें भी वह एक बार बैठा था।

अबकी बार उसने ट्रेन मे यात्रा की। सातारा से वह शाहपुर और वहां से ट्रेन मे बैठकर गोवा गया। गोवा होकर कारवार जाना था। शाहपुर से लोंढ़ा और लोंढ़ा से केसलरॉक तक की यात्रा मे उसने आखें फाड़फाड़कर प्रकृति की शोभा देखी। पर, जब ट्रेन केसरलॉक छोडकर घाट उतरने लगी तब दूर-दूर तक फैली हुई सह्याद्रि की हरी-भरी उपत्यकाएं देखकर वह अचंभे मे पड़ गया। इतनी सुंदर वनश्री उसने पहले कभी न देखी थी। एक से बढ़कर एक सुंदर-सुदरतर, भव्य-भव्यतर इतने दृश्य दिखाई देने लगे कि उसने और केशू, गोंदू ने दाहिनी ओर की खिड़कियो से बांयी ओर की खिड़कियों तक और बांयी ओर की खिडकियो से दाहिनी ओर की खिड़कियों तक नाच-कूदकर डिब्बे मे बैठे हुए यात्रियो के नाकों दम कर दिया।

कुछ देर बाद उसने बांयी ओर देखा। एक पूरी-की-पूरी नदी पहाड की चोटी से नीचे कूद रही है, मानो पहाड से दूध बह रहा हो, ऐसा एक अद्‌भुत दृश्य उसे दिखाई दिया। किसी ने बताया कि यह एक जल प्रपात है और उसका नाम भी 'दूधसागर' है। दत्तू ने इससे पहले कोई जल प्रपात देखा नही था, न ही ऐसा कोई अद्‌भुत दृश्य देखा था। वह अवाक् होकर उसको ताकता रहा। ट्रेन बड़ी रसिक थी। वह प्रपात के बिलकुल सामने एक पुल पर आकर खडी हुई और पानी की ठंडी-ठंडी फुहार खिड़की से डिब्बे में आकर दत्तू को गुदगुदाने लगी। दत्तू आखें फाडकर प्रपात का सौंदर्य पीता रहा। काका साहब ने दूधसागर की प्रशस्ति इन शब्दों में की है :

काली नदी शुभ्र सफेद हुई, ऐसी कोई बात क्या कभी किसी ने सुनी है ? कारवार की ओर एक काली नदी बहती है। वह समुद्र से मिलने तक काली की काली ही रह जाती है। पर गोवा की ओर एक काली नदी है, जो सागर से मिलने की आतुरता मे पहाड की चोटी से ऐस कूद पडती है कि उसका एक काव्यमय सफेद दूध जैसा प्रपात बन जाता है। उसका नाम ही है : दूधसागर। जैसे किसी युवती ने स्नान के बाद सुखाने के लिए बाल फैला दिये हो, इस तरह का यह दूध सागर का दृश्य है। शरावती के जोग के प्रपात का वर्णन मैने तीन बार किया है, तो दूध सागर के गभीर ललित काव्य का मनन मुझे दस बार करना चाहिए।

दूधसागर की बाते करते-करते आगे चले तो दो-तीन घटो के बाद आता है मुरगांव, इसे आजकल लोग मार्मागोवा कहते है। गोवा का यह एक बन्दरगाह है। वहा एक होटल मे सब ठहरे थे। भोजन के बाद दत्तू इधर-उधर पडी सीपिया लेकर खेल रहा था। इतने मे केशू दौडता आया और चिल्लाकर दत्तू से कहने लगा, दत्तू, दत्तू जल्दी आ। देख यहा कितना पानी है। समुदर है समुदर !

दत्तू मे जोश भर आया। उसने सीपिया फेक दी और दौडा। गोदू ने दूर से दोनो को दौडते हुए देखा, वह भी दौड़ने लगा।

और तीनो ने क्या देखा—पानी ही पानी। बिलकुल क्षितिज तक फैला हुआ पानी। वह चुप भी नही रहता, नाचता है। आश्चर्य से आखे फाड-फाडकर दत्तू उसकी ओर देखता रहा। हठात् उसके मुह से निकला—

अ ब ब ब ब ब ! कितना पानी ! इतना पानी यहां कहा से आया। अब इसका क्या किया जाए ? उसने अपने दोनो हाथ फैलाए। केशू और गोदू ने भी उसके अनुकरण मे हाथ फैलाएं। तीनो समुद्र के ताल के साथ नाचने लगे और जोर-जोर से चिल्लाने लगे—

समूदद्र, समूदद्र, समुदद्र ...

समुद्र के नक्कारखाने मे अब बेचारे दूधसागर की आवाज कौन सुने ?

दत्तू के जीवन का यह पहला ही दिन था, जो यात्रा की दृष्टि से अनुभव समृद्ध कहा जा सकता है। उसकी आंखें, कान और मन आज जितने तृप्त हुए थे, उतने इससे पहले कभी नही हुए। प्रकृति-प्रेमी आनंद-यात्री काका साहब का जन्म

वास्तव में इसी दिन हुआ। घुमक्कड़ी की दीक्षा उन्हें इसी दिन ने दी, कहना चाहिए।

कारवार भारत के पश्चिम तट का एक नितांत रमणीय प्रदेश है। पश्चिम की ओर का उनका अर्द्धचंद्राकार समुद्र तट, पूर्व और दक्षिण की ओर की अप्रतिम वनश्री से लदी हुई उसकी हरी-नीली पहाड़ियां, उत्तर की ओर समुद्र से मिलने वाली उसकी सुडौल काली नदी और जहा तक दृष्टि डालें वहा तक दिखाई देनेवाले नारियल, आम, कटहल, कोकम, काजू के पेड— देखते ही लगता, यह कोई नगर नही, बल्कि एक बडा और अति सुदर बगीचा है। यहा के पेडो का राजा तो नारियल का ही पेड़ है, पर यहा और एक सुदर सुडौल पेड़ सीधा चढ़ता है। उसे 'सरो' का पेड कहते हैं। समुद्री हवाओं के कारण जो भूक्षरण –(इरोसियन) होता है, उसे रोकने के लिए कारवार के समुद्र किनारे पर यह लगाया गया है। उत्तर की ओर से सागर-सरिता संगम पर तो उसका एक छोटा-सा वन ही खडा कर दिया गया है। कारवार की शोभा मे हिमालय-परिसर की छटा, यही पेड ला देता है। यहां जो प्राणो की लीला, गति का नृत्य और वैचित्र्य का वैभव दिखाई देता है, वह शायद ही और किसी प्रदेश मे दिखाई दे।

रवीन्द्रनाथ कारवार की इस प्राकृतिक शोभा से काफी प्रभावित हुए थे। 'वैराग्य साधने मुक्ति से आभार नय' नामक अपनी कविता मे उन्होने जिस जीवन-दर्शन –जो उनका अपना जीवन-दर्शन है का विशद वर्णन किया है, वह उन्होने यही पाया था। इस जीवन-दर्शन को गंगोत्री स्वरूप माना जाने वाला उनका 'प्रकृतिर प्रतिशोध' काव्य उन्होंने यही लिखा था। इसी परिसर ने उन्हें वह 'दृष्टि' प्रदान की थी।

रवीन्द्रनाथ अपनी किशोरावस्था मे अपने बड़े भाई के साथ यहां आकर रहे थे।

दत्तू को भी इस प्रदेश ने एक नई दृष्टि प्रदान की। शुरू-शुरू मे वह महीनों तक यहां के प्राकृतिक सौदर्य का यथेच्छ पान करता रहा। पर बाद मे समुद्र से काफी परिचय होने के कारण जब उसका कुतूहल कम होता गया, सरों के पेड़ो से सूं सूं करके बहने वाली हवा हमेशा की-सी लगने लगी और एक ही हरे रंग की हजारों छटाए उसे स्वाभाविक-सी मालूम होने लगी तब उसका ध्यान धीरे-धीरे जीवन के दूसरे पहलुओं की ओर आकृष्ट होने लगा।

जब वह शाहपुर जाता था, तब वहां की कोंकणी भाषा सुनकर उसे लगता था, मानो वह किसी जंगली समाज में आ पहुंचा है। कोंकणी उसके लिए 'अशुद्ध मराठी' थी। यहां कारवार में सौ फीसदी लोग आपस में कोंकणी—सिर्फ कोंकणी बोलते थे। पढ़े-लिखे लोग भी और अनपढ़ भी। यहां जो मराठी सुनाई देती थी, कृत्रिम-सी लगती थी, वह ग्रांथिक मराठी थी। जब कोंकणी सुनने की आदत पड़ती गई, दत्तू उसके माधुर्य से प्रभावित होने लगा। जल्द ही वह इस निर्णय पर आ पहुंचा कि यह एक बड़ी ही मधुर भाषा है। इतनी मधुर भाषा उपेक्षित क्यों रही ? इस भाषा में साहित्य क्यों नहीं ? यह भाषा बोलने वाले लोग अपनी भाषा में लिखने के बजाय मराठी, कन्नड़-जैसी ओढ़ी हुई भाषाओं में क्यों लिखते हैं ? जिन भाषाओं में वे लिखते हैं, उनमें बोलते क्यों नहीं हैं आदि अनेक प्रश्न बाद में—बरसों बाद—उपस्थित होने वाले थे। इस वक्त तो कोंकणी के माधुर्य की ओर ही उसका ध्यान गया।

दत्तू कोंकणी की खूबियां समझने की कोशिश करने लगा। इसके बाद उसका यहां के लोगों के आहार-विहार की ओर ध्यान गया। उसका अपना परिवार शुद्ध शाकाहारी था। मत्स्याहार या मांसाहार करने वाले लोग या तो मुसलमान, ईसाई-जैसे परधर्मी होते हैं या हिन्दू समाज की छोटी जातियों के लोग होते हैं, यही उसका ख्याल था। यहां तो उसने उच्च जाति के माने जाने वाले सारस्वत ब्राह्मणों को ही खुले आम मत्स्याहार करते हुए देखा। इतना ही नहीं, बल्कि जिस दिन घर में मछली न पकती हो, उस दिन के भोजन को भोजन ही न मानने वाले सारस्वत उसने यहां देखे। सारस्वत दत्तू की ही जाति के लोग थे। अपनी ही जाति में यह अनाचार देखकर दत्तू को सदमा पहुंचा। उसने पिताजी से पूछा। पिताजी ने कहा, 'इन लोगों की यही स्वाभाविक खुराक है।'

सारस्वत प्रायः मत्स्याहारी होते हैं। पर जो पीढ़ियों से शाकाहारी हैं, ऐसे भी सारस्वत होते हैं। खूबी यह है कि इतना बड़ा आहार-भेद होते हुए भी सारस्वतों ने अपनी दो अलग जातियां बनने नहीं दीं। मत्स्याहारी और शाकाहारी सारस्वतों के बीच बराबर शादियां होती रही हैं। शाकाहारी घर की लड़की मत्स्याहारी के यहां ब्याही जाती हैं, तब उस पर मत्स्याहारी बनने की जबरदस्ती कभी नहीं की जाती। मत्स्याहारियों के बीच वह जिंदगी-भर शाकाहारी ही रहती है। विशेषता यह है कि स्वयं शाकाहारी रहकर भी वह घर के

लोगों को मछली पकाकर परोसने में हिचकिचाहट महसूस नही करती । मत्स्याहारी घर की लड़की जब शाकाहारी के यहां ब्याही जाती है, तब उस पर भी शाकाहारी बनने की जबरदस्ती नही होती । वह अपने लिए, घर मे अलग मत्स्याहार पका सकती है ।

अलबत्ता दोनों के यहां शाकाहार और मत्स्याहार पकाने के बर्तन अलग-अलग होते हैं । दत्तू के लिए यह एक नई और महत्वपूर्ण खोज थी ।

दत्तू के यहां अ-ब्राह्मणो का लाया हुआ पानी पीया तो कभी नही जाता था, नहाने के लिए भी नही लिया जाता था । यहां कारवार मे सारस्वत ब्राह्मणों को अ-ब्राह्मणों के पानी से विशेष एतराज नही था । नहाने के लिए तो खैर अलग, कुल्ला करने के लिए और पीने के लिए भी अ-ब्राह्मणों का लाया हुआ पानी काम में लाया जाता था । यह देखकर दत्तू बिल्कुल दंग रह गया । उसे लगा, यहां तो घोर कलियुग आ गया है । इससे भी बड़ी आश्चर्य की बात यह थी कि यहां किसी को भी इसमे अनुचित बात मालूम नही होती थी । दत्तू के यहां धौत वस्त्र के बारे मे काफी कड़े नियम थे । रेशमी, ऊनी या कोसे[1] का वस्त्र हमेशा पवित्र माना जाता था । उसे पहनने पर कोई छू दे तो वह अपवित्र नही होता । पर सूत की धोती के बारे मे तो यही नियम था कि उसे धोकर अरगनी पर सुखाने के बाद गीले कपड़े पहने बिना उसे छुआ ही नही जा सकता था । छूने पर वह अपवित्र हो जाता था । कारवार के लोगों मे यह नियम नही था । यहां तो अरगनी पर से यह वस्त्र छोटी जाति का सेवक भी लकड़ी से निकाल सकता था । बस हाथ से छूना नही चाहिए, इतना ही नियम था । लकड़ी से निकालने और लकड़ी से ही उसे आसन पर रख देने से यह पवित्र ही रहता था । दत्तू ने यह भी देखा कि चावल, रोटी, खिचड़ी-जैसी चीजों को बेत की ढकी हुई टोकरी मे रख दिया जाए और उसके ऊपर ऊनी कपड़ा लपेट दिया जाए तो यह भोजन छोटी जाति के सेवक के हाथ से भी किसी के यहां भेजा जा सकता था । किसी को कोई एतराज न था । बड़े-बड़े कर्मनिष्ठ ब्राह्मण भी ये चीजें खा लेते थे ।

दत्तू की परवरिश कट्टर सनातनी वायुमंडल मे हुई थी । उसकी सनातनी आत्मा को इन सारी बातों से काफी सदमा पहुंचा । वह इतना चिढ़ गया कि इन सारस्वतों को ब्राह्मण मानने से भी उसने शुरू-शुरू में इंकार कर दिया ।

1. कोसा -= अच्छे प्रकार का रेशम ।

नतीजा : धीरे-धीरे उसका दिमाग दूसरी दिशा में काम करने लगा। वह खोजने लगा, जिन रिवाजों को मै कलियुग के मानता हू वे यहां सर्वमान्य कैसे हुए होंगे ? मै अपने यहां के रिवाजो को उचित मानता हू और इन लोगो के रिवाजो को अनुचित। क्या सचमुच अपने रिवाज उचित है और यह अनुचित हैं ? सत्य क्या है ? यह सब मानने की बाते तो नही हैं ? जब मै किसी छोटी जाति के आदमी को पानी पिलाता हूं तब मै उसे बर्तन को छूने नही देता। बर्तन अपने हाथ मे लेकर उसकी अजलि मे पानी डालता हू, पर पानी की धारा तो उसकी अजलि को भी छूती है और बर्तन को भी छूती है। इस स्पर्श से बर्तन अपवित्र होना चाहिए था। वह अगर अपवित्र नही होता तो लकडी द्वारा अरगनी पर से जो वस्त्र उतारा जाता है वह भी अपवित्र नही हो सकता।

सोचते-सोचते दत्तू के मन मे एक बात पैठ गई कि हर समाज के रिवाज अलग-अलग हो सकते हैं। हम जिन रिवाजो को मानते हैं उनको भले ही इतनी उत्कटता से मान लें, जिससे हमारे लिए वे सौ फीसदी सच या ग्राह्य हो जाए। पर इसका मतलब यह नही है कि दूसरे लोग जो मानते हैं, वे गलत हैं।

सर्व-धर्म-समभाव या सर्व-धर्म-ममभाव की ओर पहुचने के लिए अभी काफी देर थी। पर कारवार के अनुभवो ने भिन्न समाजो के भिन्न रिवाजो को समझ लेने की उसकी जिज्ञासा जाग्रत की। इसकी परिणति यह हुई कि धीरे-धीरे उसकी मनोवृति उदार बनती गई। पराये लोगो की ओर वह सहानुभूति से देखने लगा। कुछ बरसो बाद काका साहब यह कह सके—

> ठेठ बचपन मे ही मन मे यह बात बैठ गई कि परस्पर भिन्न, परस्पर विरोधी साधनाओ द्वारा भी मनुष्य एक ही धर्मानुभव प्राप्त कर सकता है। इसीलिए अब भिन्न-भिन्न समाजो के और भिन्न-भिन्न रिवाजो के लोगो के साथ हृदय का तादात्म्य अनुभव करना मेरे लिए कठिन नही होता। उनकी बातें सुनते ही उनके अनुभवो को ग्रहण करने के लिए मेरा हृदयकमल तुरंत उत्फुल्ल और अभिमुख हो उठता है। अवसर मिलने तक की देर रहती है, वह मिला कि हृदय हृदय के साथ मिल जाता है। इसके लिए मुझे किसी मानसिक विरोध का सामना नही करना पड़ता।

चरित्र-गठन

पढ़ाई

बच्चों के चरित्र-गठन मे घर के संस्कारो का जितना योगदान होता है, उतना ही स्कूल का, स्कूल की शिक्षा पद्धति का, शिक्षको का, स्कूल के वायु-मडल का और इस कालखड मे जिनके सम्पर्क मे वे आते हैं, उन दोस्तों और साथियो का भी होता है।

दत्तू के चरित्र-गठन में इनके अलावा एक और तत्त्व का योगदान रहा, वह था, यात्राओ का। मराठी की पहली कक्षा से लेकर मैट्रिक तक की पढाई के दरमियान दत्तू लगातार स्थानान्तर करता रहा। फलस्वरूप उसकी पढ़ाई किसी एक जगह पर नही हुई।

मराठी की पहली कक्षा उसने सातारा मे पूरी की। इतने मे पिताजी के तबादले के कारण उसे कारवार जाना पड़ा। कुछ समय वहा बिताने के बाद घर में एक अलग ही प्रकार की समस्या उपस्थित हुई। दत्तू के पिताजी अपने बच्चो की पढ़ाई के बारे मे काफी सतर्क थे। वे उन्हे अच्छी-से-अच्छी शिक्षा देना चाहते थे। शिक्षा की दृष्टि से उन दिनो महाराष्ट्र मे सबसे बढ़िया स्थान पूना माना जाता था। दत्तू के दो बड़े भाई बाबा और अण्णा पूना मे पढ़ते थे। वहा उन्हे घर का खाना नही मिलना था और भोजनालय के खाने से वे तंग आ गए थे। उन दिनो के रिवाज के अनुसार इन दोनो की शादी भी हो चुकी थी। बाबा की पत्नी की गोद मे तो वासू नामक एक नन्हा-मुन्ना भी खेल रहा था। दत्तू के पिताजी ने सोचा कि बच्चों की खाने-पीने की तकलीफ दूर हो और वे पढ़ाई भी अच्छी तरह कर सकें, इसलिए पूना मे भी एक घर बसाया जाना चाहिए। इससे बाबा और अण्णा अपनी-अपनी पत्नी के साथ भी रह सकेंगे। बाबा और अण्णा शादीशुदा भले ही हों, उम्र की दृष्टि से उनके लिए तो वे बच्चे ही थे। इसलिए उन्होंने पूना मे एक नया घर बसाया और बच्चों पर किसी बुजुर्ग की निगरानी रहे इस हेतु बच्चों की मां को भी पूना भेज दिया और वे स्वयं कारवार

में अकेले रहने लगे। फलस्वरूप दत्तू भी अपनी मां के साथ पूना गया। वहां के 'नूतन मराठी विद्यालय' में उसने मराठी की दूसरी कक्षा पूरी की। तीसरी कक्षा के समय वह कारवार लौट आया। चौथी के समय वह शाहपुर गया।

इसके बाद अंग्रेजी शिक्षा शुरू होती थी। पहली कक्षा के समय वह कारवार में था। दूसरी उसने सावनूर में पूरी की। तीसरी के समय वह फिर कारवार आया। चौथी के समय धारवाड़ गया। पांचवी, छठी और सातवी कक्षा शाहपुर में उत्तीर्ण की। पढ़ाई में दत्तू को अगर किसी विषय ने सबसे ज्यादा परेशान किया तो वह था गणित। इस विषय को रोचक बनाकर पढ़ाने वाला कोई शिक्षक उसे प्रारम्भिक कक्षाओं मे नही मिला। सतारा मे वह पहली कक्षा में पढ़ता था, तब सौ तक गिनना उसने सीख लिया था। कुछ पहाड़े भी रट लिए थे। वह पहाड़े यंत्रवत बोल भी लेता था। कारवार में उसका सखाराम नामक एक शिक्षक से पाला पड़ा। वह बिलकुल असंस्कृत शिक्षक था और आलसी भी। खुद पढ़ाने के बदले क्लास के किसी होशियार लड़के को पढ़ाने का काम सौप देता। दत्तू की क्लास में तिमाप्पा नामक एक होशियार लड़का था, वही दत्तू को गणित पढ़ाने लगा। पर, पढ़ाना एक कला है, वह तिमाप्पा कैसे जाने? फलस्वरूप वह जो-कुछ कहता था, दत्तू की समझ में नही आता था। मसलन वह दो-चार संख्याएं लिखाता और बच्चों को कहता, 'बस, अब इनका जोड़ लगाना।' यानी क्या करना यह तो दत्तू को अभी तक किसी ने बताया ही नही था। वह संख्याओं के नीचे एक आड़ी लकीर खीच लेता और उसके नीचे जो भी अक मन मे आए लिख देता। बेचारा तिमाप्पा गलती खोजने लगता। उसे सबसे पहले यह पता चला कि दत्तू जोड़ लगाते समय दाहिनी और से बांई जाने के बजाय बाई और से दाहिनी ओर आंकड़े लिख डालता है। उसने दत्तू को कहा, 'यों नही। जोड़ लगाते समय दाहिनी ओर से बाई और जाना चाहिए।'

दत्तू ने मन में अपने आपसे कहा, 'ठीक है, दाहिनी ओर से बाईं ओर जाएंगे। अपना क्या बिगड़ता है।' वह दाहिनी ओर से बाईं ओर अंक लिखने लगा।

फिर भी, जवाब तो कभी सही नही आया।

अब तिमाप्पा दत्तू के पीछे आकर खड़ा रहने लगा। दत्तू जब कोई अंक लिखता, तो वह उससे पूछता, 'ऐं, यह कहां से लाया, गिनकर बता तो।'

दत्तू जवाब दे देता, 'तुम मेरे पीछे आकर खड़े रहते हो, इससे मैं घबड़ा जाता हूं और गलत लिख डालता हूं।'

किसी भी हालत मे न तिमाप्पा दत्तू को जोड़ सिखा सका, न दत्तू स्वयं सीख सका।

पूना के नूतन मराठी विद्यालय मे ही दत्तू जोड़, बाकी, गुणा और भाग की रीतिया सीख सका। फिर भी गणित के बारे मे उसमे कोई दिलचस्पी वहां भी पैदा नहीं हुई। पूना से वह कारवार लौटा, और वहा से दूसरे साल शाहपुर गया। वहां माधवराव तिनइकर नामक एक शिक्षक से उसका सम्पर्क हुआ। माधवराव गणित मे प्रवीण थे। इस बात के लिए वे हमेशा उत्सुक रहते थे कि विद्यार्थी खूब पढ़े लिखें। छुट्टी के दिन भी वे विद्यार्थियों को अपने घर बुलाते और गणित सिखाते। उनका घर दत्तू की गली में ही था। इसलिए दत्तू को उनके यहां मजबूरन जाना ही पड़ता था। उन्होंने दत्तू को काफी हैरान किया। उन्ही की वजह से दत्तू कुछ सीख पाया। पर दत्तू मे जो गणित बुद्धि जाग्रत हुई, उसका पूरा श्रेय माधवराव को नही दिया जा सकता। श्रेय के अधिकारी दूसरे दो सज्जन हैं, इनमे से एक का नाम था जोशीजी, जो अंग्रेजी की पहली कक्षा मे वे दत्तू शिक्षक के थे। उन्होंने ही दत्तू को पहली बार बताया कि गणित तो दुनिया का रोजमर्रा का व्यवहार है। इस व्यवहार को समझने पर सब त्रैराशिक ही है। इसी कक्षा में दत्तू की नीव पक्की हुई। पहली ही बार गणित का स्वरूप उसके ध्यान मे आया। दत्तू का आत्मविश्वास बढ़ा। श्रेय के अधिकारी दूसरे एक सज्जन थे, जगन्नाथ बुवा नामक एक हरिदास (कथावाचक)। कारवार मे वे दत्तू के पड़ोस मे कुछ दिनो के लिए आकर रहे थे। उन्हे गणित का बड़ा शौक था। एक दिन दत्तू को एक सवाल मे उलझा हुआ देखकर उन्होंने उससे पूछा, 'क्या उलझन है, बेटे।'

दत्तू ने अपनी उलझन उन्हें बता दी और जगन्नाथ बुवा ने वह तुरंत सुलझा दी। उस दिन से दत्तू सुबह-शाम उनके पास आकर बैठने लगा। जगन्नाथ बुवा ने दत्तू को तरह-तरह के सवाल समझा दिए। नई-नई रीतियां बता दी। एक वर्ष का गणित उन्होंने एक ही महीने मे पूरा कर दिया। दत्तू के हाथ में मानो गणित की कुंजी ही आ गई। फिर तो दत्तू बड़े शौक से अपने वर्ग के दूसरे विद्यार्थियों को भी गणित पढ़ाने लगा। गणित पढ़ाने का यह शौक जो कारवार में शुरू हुआ था, कालेज में इंटर तक चलता रहा।

हिन्दू स्कूल का वातावरण

इस देश में पाठशाला का वायुमंडल हमेशा ही स्पर्धा का रहा है। विद्यार्थियो को नम्बर, ग्रेड वगैरह देकर हम पाठशाला में हल्के दर्जे की स्पर्धा दाखिल करते हैं। इस ओर अभी भी किसी का ध्यान नही गया है। फलस्वरूप, जो विद्यार्थी पाठशाला में भर्ती होता है, वह हमेशा पहला नम्बर पाने की ही महत्वाकांक्षा रखता है। फिर उसे ऐसा ही लगता है, मानो दूसरे सभी विद्यार्थी उसके शत्रु हैं। इन सबका मुकाबला करके, सबसे लड़कर, सबको हराकर ही उसे आगे बढ़ना है। धीरे-धीरे वह ईर्ष्यालु, स्वार्थी और चुगलखोर बन जाता है। जिन्हे हम होशियार विद्यार्थी कहते हैं, वे अक्सर ऐसे ही होते हैं। दूसरा कोई विद्यार्थी कुछ पूछे, तो वे न तो सीधी तरह जवाब देंगे, न बताने से इंकार करेंगे, उल्टे ऊपरी तौर पर कुछ बताएगे, महत्व की बातो को छिपाएंगे या टालमटोल करते रहेगे।

शिक्षक जहा कान का कच्चा होता है, वहां स्पर्धा में फंसे हुए विद्यार्थी को या तो अपने विषय को अच्छी तरह सीखना पड़ता है या शिक्षक की खुशामद करने की तरकीबे खोजनी पडती हैं। उसे अक्सर अपने प्रतिस्पर्धी की शक्ति अशक्ति का अंदाज लगाकर वह किन मामलो मे गाफिल रहता है, इस पर बड़ी निगरानी रखनी पडती है। पाठशालाओ का यह माहौल नैतिक दृष्टि से घटिया ही माना जाना चाहिए। हमारी सब पाठशालाएं प्राचीन काल से ही ऐसे माहौल मे चलती आई है।

शाहपुर की पाठशाला का माहोल ऐसा ही था। इस पाठशाला में शिक्षक सब लडकों को एक कतार मे खड़े कर देते और सवाल पूछते। एक को पूछा, वह जवाब न दे सका, तुरन्त दूसरे को पूछा। फिर तीसरे, चौथे इस तरह पूछते जाते और जो लडका सही जवाब देता, उसे ऊपर चढ़ाते। यहां तक तो ठीक था, पर वे इससे आगे बढ़ गए थे। जो लड़का ऊपर चढ़ता उसे वे हुक्म करते, 'जिन पर तुमने विजय प्राप्त की है, उनकी नाक बाएं हाथ से पकड़ो और हरएक को एक-एक तमाचा मारकर ऊपर जाओ।'

एक बार दत्तू का भाई गोंदू दत्तू की ही कक्षा में आ गया। वह अक्सर बीमार रहता था, इसलिए पढ़ाई में कभी-कभी पीछे पड़ जाता था। इस वर्ष दत्तू की कक्षा में गोंदू ऊपर के नम्बर पर था और दत्तू नीचे। शिक्षक ने गोंदू

को एक सवाल पूछा, गोंदू जवाब नही दे सका। दत्तू ने तुरंत जवाब दे दिया और खुशी-खुशी गोंदू के ऊपर जा बैठा।

शिक्षक बोले, 'यह नही हो सकता। बड़ा भाई हुआ तो क्या हुआ ? पहले उसकी नाक पकड, तमाचा मार, उसके बाद ही ऊपर जा बैठ।'

दत्तू ने कहा, 'जी नही, मुझसे यह नही होगा।'

शिक्षक तैश में आ गए। बोले, 'बडा आया है राम का भाई लक्ष्मण। बड़े भाई का अपमान करने मे अधर्म होता है और गुरु की आज्ञा भंग करने मे अधर्म नही होता ?'

दत्तू असमजस मे पड गया। उसने सोचा, घर मे कई बार गोदू से लडता हूं, मारपीट भी करता हू। फिर उसे यहां एक तमाचा लगा दू तो क्या हर्ज है ? गुरु तो पिता के समान है। उनकी आज्ञा टाली नही जा सकती।

उसने गोंदू की नाक पकडी और तमाचा लगाने के लिए हाथ उठाया। अचानक उसकी दृष्टि गोंदू की मुखमुद्रा पर पड़ी और वह बेचैन हो उठा। उसने उसकी नाक छोड दी और शिक्षक से कहा, 'मुझसे यह नही होगा। मुझे नम्बर नही चाहिए। मै नीचे बैठने के लिए तैयार हू।'

दत्तू की दुविधा और भावना समझने जितनी शक्ति शिक्षक मे नही थी। उन्होंने दत्तू को गरम-गरम छडी चखा दी। दत्तू रोता-रोता अपनी जगह पर जा बैठा।

पर उसने उसी क्षण निश्चय किया, आइंदा मैं पाठशाला मे देर से आऊंगा। भले एकाध घंटा मुझे खडा रहना पडे, मै हमेशा आखिरी नम्बर मे ही बैठूंगा और किसी सवाल का जवाब नही दूंगा। इससे किसी का तमाचा खाने की या किसी को तमाचा मारने की नौबत नही आएगी।

कारवार के 'हिन्दू स्कूल' का वातावरण बिल्कुल अलग ढंग का था। कुछ आदर्शवादी नौजवानों की चलाई हुई यह एक खानगी पाठशाला थी। उन दिनों यहां अंग्रेजी की तीन प्राथमिक कक्षाएं ही पढ़ाई जाती थीं और पढ़ाने वाले तीनों शिक्षक आदर्शवादी थे, उनमे से एक थे, वामनराव दुभाषी, दूसरे हरि कामत और तीसरे, विट्ठल मास्टर। दत्तू का सबसे प्रथम परिचय इनमें

से हरि मास्टर से हुआ। वे स्वभाव से कुछ रजोगुणी थे। छोटी-सी बात को लेकर कभी-कभी नाराज भी हो जाते थे, पर विद्यार्थियों में काफी दिलचस्पी रखते थे। विद्यार्थियों की अंग्रेजी भाषा अच्छी कर देना, उन दिनों उत्तम शिक्षक की कसौटी मानी जाती थी और हरि मास्टर इस क्षेत्र में कुशल शिक्षक थे। अंग्रेजी के शुद्ध उच्चारण की ओर वे खास ध्यान देते। भाषांतर की ओर भी उनका खास ध्यान रहता था। हरि मास्टर के प्रोत्साहन से दत्तू ने कई अंग्रेजी कविताएं कंठस्थ कर ली थीं। यहां तक कि वह जब अंग्रेजी की तीसरी में पहुंचा, उसने 'लेडी आफ द लेक' काव्य की लगभग दो सौ पंक्तियां कंठस्थ कर ली थी। दत्तू इस स्कूल में सिर्फ डेढ़ साल रहा होगा, पर इतने छोटे समय में उसकी अंग्रेजी भाषा की बुनियाद इतनी मजबूत हो गई कि मैट्रिक तक अंग्रेजी में वह हमेशा अव्वल ही रहा।

'हिन्दू स्कूल' के संचालक ये तीनों शिक्षक बच्चों की नैतिक शिक्षा की ओर भी विशेष ध्यान देते थे। इनमें हरि मास्टर सत्य के विशेष आग्रही थे। हर हालत मे सच ही बोलना चाहिए यह सीख दत्तू ने सबसे पहले हरि मास्टर से ही ली। काका साहब लिखते हैं :

> मुझे ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं आता, जब मैं हिन्दू स्कूल में पढ़ते समय झूठ बोला होऊं। हम झूठ का मोह छोड़कर अगर सच कह देते थे तो हरि मास्टर शुरू-शुरू में हमें माफ कर देते। पर आगे चलकर सत्य बोलने के लिए इतना भी लालच देना उन्हें ठीक नहीं जंचा। इसलिए कई बार सत्य बोलने पर भी हमारी पिटाई होती। पर झूठ बोलकर पिटाई से छूट जाना आसान होते हुए भी झूठ बोलने में हीनता है, इस ख्याल से सच बोलने की हिम्मत हम मे आ गई थी।

नम्बर पाने की महत्वकांक्षा में विद्यार्थियों के बीच जो स्पर्धा अक्सर चलती रहती है, उससे उनके स्वभाव में कुछ घटिया तत्व दाखिल हो जाते हैं, इस तथ्य की ओर 'हिन्दू स्कूल' में सबसे पहले हरि मास्टर का ही ध्यान गया। उन्होंने इस स्पर्धा को कम करके उसकी जगह विद्यार्थियों में भाई-चारे और सहयोग का माहौल पैदा करने के लिए एक तरकीब ढूंढ़ निकाली। उन्होंने अपनी कक्षा के विद्यार्थियों को कहा, 'तुम अपने बीच के दो विद्यार्थियों को अपने नेता के

रूप मे चुन लो।' 'विद्यार्थियो ने जब दो नेता चुन लिए, तब हरि मास्टर ने इन नेताओ को कहा, 'अब तुम अपने-अपने साथियो को चुन लो।'

इस प्रकार उन्होने पूरी कक्षा को दो टुकड़ियो मे विभाजित किया। फिर, हर सप्ताह के हर टुकडी के तमाम विद्यार्थियो के नम्बर जोडने लगे। जिस टुकडी के नम्बर अधिक होते उसे वे पहले दर्जे की टुकडी कहने लगे और उसे पूरे सप्ताह तक शिक्षक की दाहिनी ओर बैठने का बहुमान देने लगे।

पहले क्या होता था जिन्हे पहला नम्बर पाने की भूख रहती थी, वे दो चार विद्यार्थी ही पढाई मे ज्यादा ध्यान देते थे। जिन्हे नम्बर पाने की आशा ही नही थी, वे पढाई के बारे मे कुछ उदासीन रहते थे। हरि मास्टर की नई व्यवस्था का एक परिणाम यह हुआ कि हर टुकडी के बुद्धिमान और मदबुद्धि सभी तरह के विद्यार्थी अपनी टुकडी का पहला नम्बर मिले, इसलिए उत्साह के साथ पढने लगे। एक-दूसरे की मदद करने लगे। यहा तक कि बुद्धिमान विद्यार्थी कच्चे विद्यार्थियो के घर जाकर उन्हे पढाने भी लगे। एक महीने के अदर हर टुकडी के सदस्यो के बीच भाई-चारा बढ गया। हर सदस्य यह समझने लगा कि एक-दूसरे की मदद करना अपना न सिर्फ कर्तव्य है, बल्कि धर्म भी है। इससे उनके बीच सहयोग की वृत्ति बढी और उनमे सघप्रवृत्ति पैदा हुई।

पर इस व्यवस्था का दूसरा एक परिणाम यह हुआ कि दोनो टुकडियो के बीच स्पर्धा अधिक तीव्र होने लगी। एक टुकडी दूसरी को अपनी विरोधी टुकडी मानने लगी। यह तो एक अच्छी व्यवस्था का दुष्परिणाम ही था। हरि मास्टर इसका इलाज ढूढे उससे पहले दत्तू की आखो मे यह दोष खलने लगा। वह अपनी टुकडी के विद्यार्थियो को समझाने लगा कि दूसरी टुकडी को विरोधी टुकडी मानना सरासर गलत है। दूसरी टुकडी का कोई विद्यार्थी हमसे मदद मागे तो उसकी मदद करना हमारा बडप्पन है। अपनी टुकडी के विद्यार्थियो की हम जितनी मदद करते हैं, उससे अधिक दूसरी टुकडी के विद्यार्थी की हमे मदद करनी चाहिए। दत्तू अपनी टुकडी के विद्यार्थियो को जो यह अपील करता था, वह बडप्पन की अपील थी, केवल उदारता या सद्भावना की नही।

दत्तू के स्वभाव का यह पहलू हरि मास्टर के ध्यान मे तुरत आ गया। वे खुश हुए। कुछ दिनो के बाद हरि मास्टर ने दत्तू के लिए एक विशेष स्थान चुन लिया। दोनो टुकडियो के बीच जब कोई झगड़ा पैदा होता, तब हरि मास्टर

दत्तू को न्यायाधीश के स्थान पर बिठा देते और झगडे का निबटारा करने की जिम्मेदारी उसी पर डाल देते।

इसका परिणाम यह हुआ कि चौबीसो घटे नीति-अनीति, न्याय-अन्याय का विचार करने की दत्तू की आदत पड गई और यह आदत जिदगी-भर बनी रही। काका साहब लिखते है :

> मेरे लेखो, भाषणो या चर्चाओ मे मूलभूत नैतिक तत्वो का जो विवेचन बार-बार आ जाया करता है, उसकी बुनियाद मे हिन्दू स्कूल का वह माहौल है। आचार्य कृपालानी मुझसे अक्सर कहा करते है कि समय-असमय पर नीति चर्चा करने की आपको आदत पड गई है, इससे लोग आपसे दूर भागते है। अगर यह बात सही है तो उसका कारण 'हिन्दू स्कूल' के इस माहौल मे ढूढना होगा।

'हिन्दू स्कूल' मे दत्तू का और एक शिक्षक से घनिष्ट परिचय हुआ। उनका नाम था वामन मगेश दुभाषी। हरि मास्टर के साथ यह वामन मास्टर हर रविवार को धार्मिक शिक्षा की एक क्लास चलाते थे। उसमे न सिर्फ 'हिन्दू स्कूल' के, बल्कि सरकारी हाईस्कूल के भी विद्यार्थी होते थे। इस वर्ग मे दोनो किसी-न-किसी नैतिक या धार्मिक विषय पर प्रवचन देते थे। हरि मास्टर का बोलने का ढग बहुत ही सुदर था, पर वामन मास्टर जब बोलने लगते तब उनकी लगन और गभीरता अधिक उभर आती। उनमे यह भाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता था कि वे जीवन जैसे एक पवित्र विषय पर बोल रहे हैं। दत्तू जैसे-जैसे उनके प्रवचन सुनता गया, उसे यकीन होता गया कि ये मामूली शिक्षक नही है, बल्कि एक चरित्र सम्पन्न भव्य पुरुष हैं। अनजाने मे ही दत्तू उनका भक्त बनता गया।

वामन मास्टर अग्रेजी भाषा बहुत ही अच्छी तरह पढाते थे। उनसे कविता पढने मे दत्तू को खूब आनद आता था। पढाने का उनका ढंग इतना स्पष्ट, सरल, प्रभावपूर्ण और भाववाही था कि बीच मे जो अपरिचित शब्द आते उनका निश्चित अर्थ भी अपने आप मन मे अकित हो जाता था। पाठ पढाते समय वे उसके अदर की नीति का बोध भी समझा देते थे। वामन मास्टर के नैतिक

उत्साह और लगन का दत्तू पर ऐसा प्रभाव पडा कि उसमे सतयुग के क्षात्र धुर-धरो (नाइट्स) का-सा उत्साह और पुरुषार्थ का स्रोत फूट निकला।

दत्तू की कक्षा मे तीन-चार विद्यार्थी, सरकारी अधिकारियो के लडके थे। पढने मे वे होशियार थे। इस तरह बुद्धिमत्ता और सामाजिक प्रतिष्ठा मे श्रेष्ठ होने से उनमे अस्पष्ट रूप से ही क्यो न हो, ऐसा कुछ भाव पैदा हो गया था कि वे ही कक्षा मे सबसे अच्छे है। एक दिन निचली कक्षा का एक विद्यार्थी किसी कारण वामन मास्टर से मिलने दत्तू की कक्षा मे आया। वह बिल्कुल देहाती लड़का था। उसने कपडे भी इस तरह पहने थे कि वे बिलकुल बेढगे लगते थे। उसने कोट पहना था पर कोट के अदर कुर्ता नही था। कोट के बटन भी लगाए नही थे, लगते भी न थे। उसकी शक्ल-सूरत और बेढगापन देख कर दत्तू को हसी आ गई। वामन मास्टर ने यह नोट कर लिया। जब लडका चला गया, वामन मास्टर ने सबको फटकारते हुए कहा, 'कैसा हट्टा-कट्टा लडका था, देखा तुम लोगो ने? उसके जैसा निर्दोष और आरोग्यवान, उछलते हुए खून वाला क्या तुम मे कोई है? उसके उस खुले सीने को देखकर तो हर एक को ईर्ष्या होनी चाहिए। घर मे वह सख्त मेहनत करता होगा और गरीबी का सादा जीवन बिताता होगा। कैसी मासूम हसी वह हस रहा था। आरोग्य और शक्ति घी-दूध या बादाम पिस्ते मे नही, बल्कि शुद्ध, स्वतत्र, परिश्रमी और मुक्त जीवन मे है।

दत्तू के लिए यह फट्कार एक बडी दीक्षा-सी सिद्ध हुई। प्रतिष्ठा सम्बधी उसके झूठे ख्याल उसी क्षण गिर पडे। अच्छे बुरे की एक नई कसौटी उसके हाथ मे आ गई, उसे एक नई दृष्टि मिली। उसने सही माने मे 'डेमोक्रेसी' का पाठ सीखा। काका साहब के चरित्र-गठन मे वामन मगेश दुभाषी का उतना ही हिस्सा है, जितना उनके पिताजी का रहा है। चारित्र्य-गठन मे जिनका योग-दान होता है, उन्हे अगर 'गुरू' कहे, तो वामन मगेश दुभाषी ही काका साहब के पहले गुरू हैं, जिन्होने उनको सामाजिक नीति और सामाजिक सुधारो की दीक्षा दी। काका साहब भारत-भर मे विख्यात हुए, तब भी उन्होने दुभाषी जी से यह गुरू-शिष्य सम्बध बराबर रखा था। दुभाषीजी की मृत्यु तक वह बना रहा।

दुभाषीजी ने 'ऋग्वेदी' उपनाम से मराठी मे दो-तीन अच्छी पुस्तके भी लिखी है। उनमे रवीन्द्रनाथ की 'गीताजलि' का मराठी के 'अभग' छद मे किया हुआ अनुवाद बहुत महत्व रखता है। गीताजलि का यह पहला ही मराठी अनुवाद है, जो मूल बगला से किया गया है। इस 'अभग' गीताजलि मे काका साहब की प्रस्तावना है।

स्कूल से बाहर की शिक्षा

कही अन्याय दिखाई देता तो उसके प्रतिकार के लिए दत्तू तुरत खडा हो जाता। पर एक बार ऐसा हुआ कि एक लडके की एक पुस्तक की चोरी हुई। स्वभावत उस लडके ने शिक्षक के पास जाकर शिकायत की। शिक्षक क्या करते ? उन्होने कक्षा के सभी विद्यार्थियो को अपने-अपने बटुवे खोलकर दिखाने का हुक्म दिया। सभी ने अपने-अपने बटुवे खोल दिए।

दत्तू से यह सहा नही गया। उसके मन मे तरह-तरह के विचार चलने लगे। चोरी तो हुई है, चोर को पकडना भी चाहिए। पर क्या सभी लडको की ओर सदह की निगाह से देखना चाहिए ? सभी को चोर समझना कहा तक उचित हे ? चोरी पकडने का यह तरीका ही गलत है। इसमे लडको के स्वाभिमान का चोट पहुचती है। दत्तू के मन मे शिक्षक के प्रति केवल आदर ही नही, बल्कि भक्तिभाव भी था। पर सवाल स्वाभिमान का था।

शिक्षक एक-एक विद्यार्थी का बटुवा देखते-देखते दत्तू के सामने आकर खडे रहे। दत्तू ने अपना बटुआ नही खोला। उसने निडरता के साथ शिक्षक स कहा, आपको अगर यकीन हो कि मैने ही चोरी की है, तभी मै बटुवा खोलूगा, वरना नही। शिक्षक स्तब्ध रह गए। चुपचाप आगे चले गए।

दत्तू के चरित्र का एक-एक अग अब धीरे-धीरे प्रकट होता जा रहा था। स्कूल मे दत्तू होशियार लडके के रूप मे ही पहचाना जाता था, पर यह नही कहा जा सकता कि पढाई के बारे मे वह कोई विशेष परिश्रम करता था। बल्कि यही कहना चाहिए कि पढाई के बारे मे अधिकतर वह लापरवाह ही रहता था। शिक्षक जो काम देते थे, वह मन लगाकर कर लेता था। पर घर मे वह कभी किताब लेकर बैठा हो या कुछ रटा हो, ऐसा कभी किसी ने नही

देखा । ऐसा लगता था, उसका पढाई मे कोई ध्यान ही नही है और फालतू बातो मे ही वह अपनी सारी शक्ति खर्च करता है ।

मा को इस बात की काफी चिंता होती थी । एक दिन दत्तू सुबह की मीठी नीद की खुमार म बिस्तर मे पडा था । अचानक उसके कानो पर एक सवाद पडा । मा दत्तू के बडे भाई बाबा का पूछ रही थी, 'क्यो रे, यह दत्तू कुछ पढता-बढता हे या नही ?'

दत्तू के कान तुरत खडे हो गए । वह सो रहा है, यो मानकर ही यह प्रश्न पूछा गया था । इसलिए बाबा का जवाब सुनने के लिए वह बिस्तर पर निश्चेष्ट ही पडा रहा ।

बाबा ने मा से कहा, 'हा अपनी शक्ति के अनुसार पढता है ।'

'पर उसके हाथ मे मै कभी किताब देखती ही नही ।'

'तू खामखा चिंता करती है ।' बाबा न मा को आश्वासन दिया, 'उसकी बुद्धि अच्छी है । भले किताब हाथ मे न ले । पर जब पढता है ध्यान देकर पढता है । जब मे उस कुछ समझाता हू, तब वह झट समझ लेता है । तू उसकी फिक्र मत कर ।'

मा कहने लगी, 'तू इतना विश्वास दिलाता है, तो मुझे कोई चिंता नही । पढाई के बार म मै क्या समझू ? मै तो इतना ही चाहती हू कि वह बुद्धू न रह जाए । अच्छा पढा-लिखा हो, कमाने खाने लग, उसे अच्छी तरह जमा हुआ देखना चाहती हू ।'

उन दिनो बुजुर्ग कभी बच्चो के गुणो की तारीफ करते नही थे । बल्कि दोषो की ही ओर अधिकतर ध्यान खीचते थे । और बाबा तो ऐसे थे कि कदम-कदम पर दत्तू को टोकते रहते थे । कभी नाराज होते तो कभी पीटते भी थे । उन्ही बाबा के मुह से जब उसन अपनी तारीफ सुनी, उसके हर्ष की सीमा न रही । पर उसने अपना हर्ष प्रकट होने नही दिया । इतना ही निश्चय किया कि बाबा ने उस पर जो विश्वास प्रकट किया है, उसके अनुरूप उसे अपना आचरण रखना चाहिए और मा की इच्छाए भी पूरी करनी चाहिए ।

वह दूसरे बच्चों की तरह दिन-रात पढ़ता नही था। पर कक्षा मे शिक्षक जो पढ़ाते थे, उसे वह ध्यानपूर्वक सुनता था। उतनी पढ़ाई उसके लिए पर्याप्त थी। इसी से ही वह पाठशाला मे होशियार लड़का माना जाता था।

पढ़ाई के बारे में इस उम्र मे भी उसके विचार कुछ अलग ढंग के थे। 'रस आता है इसलिए पढता हूं', यही उसकी वृत्ति थी। नम्बर मिलें, क्लास मिले, स्कालर-शिप मिले, इस तरह की कोई इच्छा उसके मन मे कभी जाग्रत नही हुई।

कालेज मे भी उसकी यही वृत्ति रही। काका साहब लिखते हैं :

> परीक्षा जब नजदीक आती तब जिन विषयों मे मुझे कोई दिलचस्पी नही थी, उनको मै हाथ मे ले लेता और उनमे दिलचस्पी लेकर जैसे-तैसे पास होता। रोम के इतिहास मे मुझे कोई खास दिलचस्पी नही थी, पर कालेज के पहले वर्ष मे यह विषय था। साल-भर मैंने उसे छुआ तक नही था। जब परीक्षा नजदीक आई, तब सोचा, वर्ष खो देने मे लाभ क्या है? चलो इस विषय को भी पढ लें। प्रारंभ तो लाचारी मे किया, पर पढते-पढ़ते उसमें रस आने लगा। सारा इतिहास पढ डाला और पास हो गया। कुछ वर्षो बाद जब रोमन कानून पढ़ने लगा, उस समय रोमन इतिहास भी मुझे फिर से पढ़ना पडा। आज मैं मानता हूं कि मैंने यह इतिहास पढ़ा न होता तो मेरी पढ़ाई अधूरी रह जाती।

पढ़ाई के दरमियान उसने जो-कुछ पढ़ा, रसपूर्वक पढा। विद्याध्ययन की अभिरुचि उसमे हमेशा थी और कभी कीट-पतंगो से लेकर आसमान के सितारों तक के विषयो मे उसे रुचि थी। इस समय की उसकी उपलब्धियो के बारे मे सोचने पर मालूम होता है कि पाठशालाओं मे उसने जो पाया, उससे बहुत ज्यादा उसने इस उम्र मे की हुई यात्राओं मे पाया। मैट्रिक तक की पढ़ाई के दरमियान, यानी लगभग अठारह वर्ष की उम्र तक उसने कई स्थलों की यात्राएं की थीं।

कारवार की दक्षिण की ओर एक तीर्थ-क्षेत्र है, जो गोकर्ण के नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिण भारत में इस तीर्थ-क्षेत्र का माहात्म्य काशी से भी ज्यादा माना जाता है। दत्तू एक बार वहां हो आया था। दत्तू के जीवन की यह एक बहुत

बड़ी रोमांचकारी यात्रा थी। क्योकि वहा से लौटते समय स्टीमलांच मे वह बैठा था, वह समुद्री तूफान मे करीब-करीब जल समाधी लेने पर तुली हुई थी, और धैर्य मे मेरू समान दत्तू के पिताजी भी हक्के-बक्के हो गए थे। कारवार के उत्तर की ओर गोवा मे मगेशी तो कालेलकर कुटुब के कुलदेवता का स्थान है, वहां दत्तू ने एक बार करीब एक महीना बिताया था। शान्तादुर्गा, महालसा, महालक्ष्मी आदि सारस्वत ब्राह्मणो के कौटुम्बिक श्रद्धा के जाग्रत स्थान भी उसे यही मगेशी के आसपास देखने को मिले थे। वैसे ही कैथोलिक पंथ के ईसाइयो मे जो एक अलग ही किस्म की धार्मिक कट्टरता होती है, उसके भी दर्शन यही किए। मिरज के पास 'नरसोबाची बाडी' नामक एक स्थल है, जो गुरु दत्तात्रेय का स्थान माना जाता है। दत्तू को एक बार इस स्थान की यात्रा करने का मौका मिला था। उसने सुना था कि जिसे भूत आता है, वह यहा आकर दत्तात्रेय की सेवा मे अगर रहे तो उससे छूट सकता है। पर दत्तू को यहां ब्राह्मणो के कर्मकाण्ड का एक मजबूत गढ दिखाई दिया। और उस उम्र मे भी उसे लगा, जिसे कर्मकाण्ड का भूत लगा हो, उसे दूसरे भूत लगने की शायद हिम्मत ही नही कर सकते होगे। महाराष्ट्र के साधु-सतो का पीहर पढरपुर है। यहा दत्तू ने भक्ति का एक अखंड महोत्सव चलता हुआ देखा। ज्ञानेश्वर, तुकाराम, एकनाथ, नामदेव आदि महाराष्ट्रीय सतो का साहित्य गहराई से पढ़ने की इच्छा दत्तू मे पहले पहल यही जाग्रत हुई। एक बार वह जरंडा भी हो आया था, जो हनुमानजी का स्थान माना जाता है और एक बार वह परली भी गया था, जो हनुमानजी के अवतार रूप समर्थ रामदास स्वामी का स्थान है।

दत्तू हर यात्रा से जब लौटा, बिल्कुल नया होकर लौटा, अनुभव समृद्ध होकर लौटा। असल मे दत्तू की सही शिक्षा-दीक्षा इसी यात्रा रूपी पाठशाला मे हुई है।

इन तीर्थ क्षेत्रो के अलावा उसे सावतवाडी, मिरज, जत, रामदुर्ग, मुधोल, जमखिडी, सावनूर जैसी देशी रियासते भी देखने को मिली। दत्तू के पिताजी को इन रियासतो मे बार-बार जाना पडता था और हर बार दत्तू उनके साथ हो लेता था। उसे हर एक रियासत अपने-अपने ढग की मालूम हुई। हर एक की विशेषताएं उसके ध्यान में आने लगी। प्राकृतिक शोभा की दृष्टि से उसे

सावंतवाड़ी रियासत गोवा और कारवार से भी निराली मालूम हुई। यहां के लोग स्वभाव से रजोगुणी हैं, पर कला में निपुण हैं, यह उसका निरीक्षण रहा। मिरज, जमखिडी और रामदुर्ग में उसे ब्राह्मणशाही का माहौल दिखाई दिया। मानो पेशवाओं के ये अवशेष हो, तो जत मे उसने हिन्दु-मुस्लिम एक्य का द्योतक एक सफेद झंडा देखा, जो एक मुस्लिम फकीर ने यहा के राजा को दिया था। इस झंडे ने दत्तू को अतीत और भविष्य की ओर देखने की एक बिल्कुल नई दृष्टि प्रदान की। मुधोल मे उसने यहा के एक पुराने राजा की बहादुरी के और उस बहादुरी का नाश करने वाले उसके ऐश-इशरत के कई किस्से सुने तो सावनूर के नवाबी राज्य मे उसने ऐसे मुसलमान देखे, जो न सिर्फ, रहन-सहन मे बल्कि विचारो मे भी द्राविडी थे। अन्य मुसलमानो से बिल्कुल अलग मालूम होते थे। इन रियासतों मे उसने देखा कि ये रियासते बिल्कुल बौनी हैं, पर यहां के राजाओ का रोब बडे सम्राटो-जैसा है। हर एक रियासत की राजधानी अपने ढंग की है और हर राजा का राज्य चलाने का ढंग भी अलग-अलग किस्म का है। करीब-करीब सभी राजाओ का जीवन अधिकतर विलासी है। वे अपनी रानियो की प्रतिष्ठा को भले ही सम्भालते हों, भले ही उनके प्रति आदर दिखाते हो, फिर भी तुच्छ दासियों और चरित्रहीन स्त्रियो के ही वे दास हैं। राजा के हृदय पर इन्ही स्त्रियो का कब्जा है। बेचारी रानियों को तो सच्चे पति-प्रेम से हमेशा वंचित ही रहना पड़ता है। उसने यह भी देखा कि करीब-करीब सभी राजा कलाकारो को प्रोत्साहन देते हैं, दरबार मे कलाकारो का स्थान भी निश्चित कर देते हैं। पर कला-रसिकता के नाम पर यहां ज्यादातर अशोभनीय विलासिता ही दीख पड़ती है। उसका हर-एक रियासत के महलों और मंदिरों के स्थापत्य की ओर ध्यान गया, साथ ही उनके पुराने ढग के खानदानी रीति-रिवाजों की ओर भी।

उसका एक निरीक्षण बड़ा महत्वपूर्ण था। उसने यह देखा कि ये रियासतें भले ही अलग-अलग किस्म की हों पर सभी रियासतों की प्रजा एक ही किस्म की है। वह गरीबी मे रहती है; अन्याय-अत्याचार सह लेती है। फिर भी उसकी राजभक्ति पतिव्रता स्त्री-जैसी है।

अठारह साल की आयु मे इतना सारा अनुभव पाना कम नही कहा जा सकता। सौभाग्य से दत्तू को पिताजी के रूप मे ऐसे एक शख्स मिले, जो पाठशालाओं की शिक्षा से ज्यादा यात्राओ में मिलने वाली शिक्षा-दीक्षा का

महत्व जानते थे। कभी किसी जगह उन्हें जाना पड़ता, तब वे दत्तू को बुलाकर पूछते, 'चलना है? फलां जगह मुझे जाना है।'

और दत्तू तुरंत हां कह देता और उनके साथ हो लेता।

एक बार ऐसा हुआ — दत्तू प्रि-मैट्रिकुलेशन कक्षा मे पढ़ता था। इम्तहान के लिए सिर्फ दो दिन बाकी थे। इतने मे पिताजी कही जाने के लिए निकल पड़े।

दत्तू ने पूछा, 'अबकी बार मुझे साथ मे नही लेना है?'

'तुम्हारे तो इम्तहान हैं न?'

'है तो सही। आप के साथ हो लिया तो ज्यादा-से-ज्यादा नुकसान क्या होगा? एक साल खोना होगा।' दत्तू ने जबाव दिया।

पिताजी ने कहा, 'तो चलो।'

दत्तू इम्तहान छोड़कर पिताजी के साथ यात्रा के लिए निकल पड़ा। छुट्टियो के बाद वह जब स्कूल लौटा, वह उसी कक्षा मे जाकर बैठा, जिसमे वह पिछले साल पढ़ रहा था। शिक्षक दत्तू को अच्छी तरह पहचानते थे। उसकी होशियारी से परिचित थे। उन्होंने उसे मैट्रिक की कक्षा मे ही भर्ती कर दिया। उन दिनों स्कूल के नियम आज के जैसे कड़े नही थे।

देशभक्ति के संस्कार

बड़ी अजीब बात है —देशभक्ति का उपदेश दत्तू ने पहले-पहल एक ऐसे व्यक्ति के मुह से सुना, जो बाद मे अंग्रेजो के खुफिया विभाग का एक अफसर बना और जिसने महाराष्ट्र के क्रांतिकारी देशभक्तो की जड़े खोज निकालने मे अंग्रेजों की बड़ी मदद की। पूना के नूतन मराठी विद्यालय मे दत्तू मराठी की दूसरी कक्षा मे पढ़ रहा था, उस समय यह व्यक्ति पुलिस विभाग में एक मामूली हवलदार था। वह दत्तू के पड़ोस मे ही रहता था। जब भी समय मिलता, वह दत्तू के यहा आता और दत्तू, केशू, गोंदू, तीनों भाइयों को अपने पास बिठाकर उन्हें छत्रपति शिवाजी महाराज की कथाएं सुनाता।

शिवाजी की कथाएं तो दत्तू के ध्यान मे आ गई। पर देश के लिए मर मिटना चाहिए आदि उपदेश पूरी तरह से उसकी समझ मे नही आया। इतना

ही ध्यान में रहा कि देश नामक एक हस्ती है, जो हमारी अपनी होते हुए भी आज हमारे हाथ में नही है, बल्कि अग्रेजों के कब्जे मे है।

घर के माहौल मे ऐसी कोई बात नही थी, जिससे दत्तू को देशभक्ति की प्रेरणा मिले। पिताजी तो खुल्लम-खुल्ला अग्रेजो की नौकरी करते थे और इर्द-गिर्द में यही विचार चलता था कि जिनका हम नमक खाते हैं, उनके प्रति हमें बेवफा नही होना चाहिए। पिताजी भी इसी विचार के थे। अग्रेज विदेशी हैं, हमारे वश के नही है, हमारे धर्म के भी नही हैं, यह तो सब जानते थे। पर उनको हटाने के लिए हमे कुछ करना चाहिए, इस तरह का विचार दत्तू के इर्द-गिर्द के समाज मे कही दिखाई नही देता था। 1857 के विद्रोह को कई साल हो चुके थे। अग्रेजो का राज इतना मजबूत हो चुका था कि लोग इस राज के आदी बन गए थे।

ऐसे वातावरण मे उस हवलदार के देशभक्ति भरे उपदेश ने दत्तू के मन में कुछ जड़ें अवश्य जमा ली थी।

एक-दो साल बाद दत्तू ने शिवाजी की जीवनी पढ़ी। उसमे वह काफी प्रभावित हुआ। वह शिवाजी का भक्त बन गया। उसने वह किताब गोदू और केशू को पढ़ने को दी, वे भी शिवाजी के भक्त बन गए थे। तीनो उन दिनों शाहपुर मे थे। शाम को एक टेकडी पर घूमने जाते, तब तीनो वहा कभी-कभी शिवाजी और अफजल खा की लड़ाई का खेल भी खेल लेते। तीनों की देशभक्ति यहां तक ही आ पहुची थी।

दत्तू अंग्रेजी पढने लगा, तब उसकी देशभक्ति ने भाषणो का रूप ले लिया। वह एक ऐसी जगह ढूढ लेता, जहा घर का दूसरा कोई न हो और वहां केशू-गोदू के साथ और दो-चार मित्रो को बुलाकर भाषण दे देता। उसके ये दोनो भाई और मित्र भी वही करते। वे भी बारी-बारी से भाषण देते। भाषण के विषय सिर्फ दो थे : एक, शिवाजी महाराज की स्तुति करना और दूसरा, अंग्रेजों को गालियां देना। अंग्रेजों के खिलाफ लड़ना चाहिए, इतना निश्चय तो हो ही चुका था। पर लड़ने के लिए शरीर मजबूत होना आवश्यक है, वरना लड़ाई मे हार निश्चित है, इस निर्णय पर भी वह आ पहुंचा था। उसने शरीर मजबूत बनाने के लिए कसरत-कुश्ती शुरू कर दी।

इतने मे एक ऐसी घटना घटी, जिसने सारे देश मे हलचल मचा दी ।

पूना मे अचानक प्लेग की बीमारी फैल गई । इस बीमारी के कारण लोग एक-के-बाद-एक फटाफट मरने लगे । यह बिल्कुल नई बीमारी थी । इससे पहले पूना मे वह कभी किसी को हुई नही थी । कइयो को लगा कि चूकि पूना लोकमान्य तिलक के प्रभाव का क्षेत्र है, इसलिए अग्रेजो ने यह छूत की बीमारी यहा जानबूझ कर फैला दी है । इस बीमारी के लिए उन दिनो कोई अकसीर इलाज नही था, सिवा इसके कि जिस घर मे इस बीमारी ने प्रवेश किया हो, उस घर के बचे हुए लोगो को दूर किसी जगह भेज देना और उस घर मे पूरी सफाई करना । सरकार ने यही इलाज अमल मे लाया था और उसे कार्यान्वित करने का काम फौज के गोरे लोगो के हाथ मे सोप दिया था ।

देखते-ही-देखत प्लेग ने प्रलय-काल का स्वरूप ले लिया । किसी घर मे किसी एक को बीमारी लग जाती, उसकी तुरत मृत्यु हो जाती । उसके पीछे तुरत उसकी पत्नी, बच्चे सब एक-के-बाद एक फटाफट चल बसते । किसी-किसी घर मे पाच-पाच, छः-छः लोग एक ही साथ चल बसत । जो किसी का शव उठाने जाता, वह दूसरे दिन रोग से चल बसता । कई घर, कई मुहल्ले इस तरह ध्वस्त हो गए । सारे शहर मे हाहाकार मच गया । हाहाकार की इस आग मे फौजी अफसरो ने अपने अत्याचारो का घी डाला । सभी फौजी अफसर अग्रेज थे । वे न तो लोगो के रस्म-रिवाज जानत थे, न उनकी भावनाओ को समझते थे । वे सीधे घर मे घुस जाते और सफाई के बहाने सारा सामान फेंक देते । यहा तक कि देवघरो की मूर्तियो को भी फेक देते और घर के बचे हुए लोगो को पकड कर दूर भेज देते ।

प्लेग के जुल्मो से ज्यादा फौजी लोगो के ये जुल्म लोगो को असह्य मालूम होने लगे । लोग तग आ गए । आखिर जो प्रतिक्रिया होनी थी वही हुई । 22 जून, 1897 के दिन प्लेग निवारक समिति के दो बडे अग्रेज अफसरो — रैण्ड और आयर्स्ट— की पूना मे हत्याएं हुई । दोनो बग्गी मे बैठकर कही जा रहे थे । अचानक दो नौजवानों ने बग्गी मे कूदकर दोनों पर गोलियां चलाईं । यह हत्याएं उसी रात को हुई, जिस दिन महारानी विक्टोरिया का हीरक महोसत्व बड़ी धूमधाम के साथ मनाया जा रहा था ।

इन हत्याओ से सारा ब्रिटिश साम्राज्य आतंकित हो उठा।

दत्तू इस समय करीब ग्यारह साल का लड़का था। शाहपुर में अंग्रेजी की दूसरी मे पढ़ रहा था। स्कूल जाते समय एक दुकान के खंबे पर उसने 'केसरी जादा पत्रक' शीर्षक मे छपा हुआ अखबार का एक टुकड़ा चिपका हुआ देखा। उसमे रैण्ड और आयर्स्ट की हत्या का समाचार छपा था। समाचार पढते ही उसके रोगटे खड़े हो गये। लोगो के मुह से उसने सुना, हो न हो, यह किसी देशभक्त का ही काम है। सरकार की तरह इन भोले लोगों के मन मे भी यह बात पक्की जम गई थी कि इस हत्या के पीछे लोकमान्य तिलक अवश्य हैं। लोगो का दुःख दूर करने के लिए, जान न्यौछावर करने की प्रेरणा किसी को लोकमान्य के सिवा भला और किससे मिल सकती थी? लोगो के पास कोई सबूत नही था, पर देशहित का जो भी काम होता है, उसका सम्बध बिना किसी सबूत के लोकमान्य के साथ जोड़ने मे लोगो को कोई हिचकिचाहट महसूस नही होती थी, बल्कि आनंद होता था। महाराष्ट्र मे उन दिनो लोकमान्य की ख्याति शिवाजी के आधुनिक अवतार के रूप मे थी।

एक-दो दिन मे ही दत्तू ने सुना कि सरकार ने इस हत्या के सदर्भ मे लोकमान्य को गिरफ्तार करके कारावास की सजा दी है। यही नही, बल्कि लोकमान्य के दो साथी—नातू बंधुओ की, जो शिवाजी के साथी येमाजी और तानाजी के अवतार माने जाते थे, उन्हें राजबंदियो की हैसियत मे बेलगाव मे लाकर रखा।

रैण्ड और आयर्स्ट की हत्या करने वाले दामोदर और बालकृष्ण इन दो चाफेकर भाइयो के नाम दत्तू ने अब तक नही सुने थे। किसी ने भी नही सुने थे।

फिर तो रोज नई-नई खबरे आने लगी! जो खबरे आती थी, उनमे एक तो वह थी, जो अखबारो मे छपकर आती थी। और दूसरी वह थी, जो पूना से आने वाले लोगो से मिलती थी। दोनो मे इन मौखिक रूप से मिलने वाली खबरो पर ही लोग ज्यादा विश्वास रखते थे। ऐसी ही एक खबर दत्तू का भाई अण्णा पूना से ले आया। उसने कहा कि रैण्ड और आयर्स्ट की हत्या मे किसी भी देशभक्त का हाथ नही है। किसी मेम के मामले में रैण्ड का किसी गोरे

से झगड़ा था। इस गोरे ने ही रैण्ड की हत्या की थी और चूंकि आयर्स्ट रैण्ड के साथ था, इसलिए उसे भी इस गोरे ने उडा दिया।

फिर सुनाई दिया कि इस खबर मे कोई तथ्य नही है। रैण्ड का हत्यारा अभी तक मिला नही है। उस खोजन के लिए खुफिया विभाग के लोग शहर-शहर मे घूम रहे है। बस, अब शाहपुर मे कोई अपरिचित आदमी आ जाता, उसके बारे मे लोग तुरत शक कर लेते। एक दिन लिंगायत सम्प्रदाय के दो साधु शाहपुर आए। दोनो घटिया बजाते घूमने लगे। लोग कहने लगे, ये जरूर खुफिया विभाग के लोग है। उनकी गेरूई कफनी के अदर जासूस का तमगा भी किसी ने देखा है। स्कूल के बच्चो ने यह बात सुनी। दत्तू के नेतृत्व मे उन्होने दानो साधुओ को एक गली मे घेर लिया और उनकी इतनी पिटाई की कि वे भाग गए।

आखिर एक दिन सभी अफवाहे खत्म हुई और रैण्ड और आयर्स्ट की हत्या के बारे मे सही बाते अखबारो म आने लगी। मालूम हुआ कि यह हत्या चाफेकर उपनाम वाले दो भाइयो ने की है। दोनो किसी क्रातिकारी दल के सदस्य हैं, जिसका आराध्य महाराष्ट्र के प्रसिद्ध क्रातिकारी स्व० वासुदेव बलवत फड़के हैं। दोनो को द्रविड उपनाम वाले दो भाइयो ने पकड़वा दिया था, उनको चाफेकर भाईयो के साथियो ने गोली मारकर उडा दिया है। बाद मे यह भी मालूम हुआ कि इस सिलसिले मे कई लोग फासी पर लटकाए गए हैं और कइयो को कडी सजाए हुई हैं।

देश के लिए मर मिटने का जो बीज पूना मे उस हवलदार ने दत्तू के मन मे बोया था, वह अब अकुरित हो चुका था। उसके लिए अब काफी खाद-पानी भी मिल चुका था। दत्तू इस नतीजे पर आ पहुचा कि देशभक्ति का काम सिर्फ भाषणो से होने वाला नही है। कुछ करके दिखाने के दिन अब आ गए हैं।

डेढ साल की जेल भुगतकर लोकमान्य तिलक रिहा हुए। उस समय अखबारों मे उनकी दो तस्वीरे साथ-साथ छपी थी। एक जेल जाने से पहले उनके तगड़े बदन की और दूसरी थी जेल से रिहा होने के बाद उनके दुबले बदन की। महाराष्ट्र में घर-घर की दीवारो पर ये तस्वीरे चिपकाई गई थी। ये तस्वीरे देखकर दत्तू ने अपने दोनो भाइयो को बुलाकर एक सभा की और उसमे उसने अपना फैसला सुनाया —

लोकमान्य-जैसे देशभक्तों को सरकार जेल में रखती है, इसका कारण यही है कि वे अंग्रेजो के खिलाफ खुले आम भाषण देते हैं और अखबारो मे खुले आम उनकी आलोचना करके लेख लिखते हैं। अंग्रेजो के खिलाफ लडने का यह तरीका ही गलत है। सारा काम जब हम शिवाजी की तरह गुप्त ढग से करेंगे तभी कामयाब होगे। क्या शिवाजी कही भाषण करने जाते थे ? क्या उन्होने कभी अखबारो मे कोई लेख लिखा था ? हमे भी इसी तरह गुप्त रूप से सारा काम करना चाहिए। इस प्रकार तीनों भाइयों ने एक राय होकर एक गुप्त मडली की स्थापना की।

उन्ही दिनो उनका घर पीछे की ओर बढाया जा रहा था। उसके लिए नीव खोदते समय जमीन मे गडी हुई एक तलवार मिली। उस पर जग चढा था और उसकी म्यान सड गई थी। दत्तू को लगा शिवाजी महाराज को जिस तरह भवानी ने तलवार दी थी, उसी तरह हम भी देवयोग से यह तलवार भेंट मे मिली है। उसका उत्साह बढ गया। भाइयो का भी जोश बढा। उन्होने यह तलवार छप्पर मे छिपा दी। जब भी मन मे आता, तीनो छप्पर से तलवार निकालते, उस पर फूल चढाते और हाथ मे लेकर चाहे जैसे घुमाते। हा, इस गुप्त मडली मे तीनो भाइयो के अलावा चौथे किसी को वे खीच न सके।

यह तलवार कई साल तक घर मे रही। बाद मे जब काका साहब सचमुच क्रातिकारियो के दल मे शरीक हुए और जब सुना कि पुलिस के लोग खाना-तलाशी के लिए उनके यहा आने वाले है, तब पिताजी पर कोई आफत न आए, इस हेतु उन्होने इस तलवार के टुकडे करवा लिए और इन टुकडो की छुरिया बनवा ली। काका साहब लिखते है : 'उस दिन मुझे न तो खाना अच्छा लगा, न नीद ही आई। पहले से ही हम निःशस्त्र हो गए है. इस हालत मे जो शस्त्र देवयोग से हाथ आया था, उसे भी मुझे अपने हाथो तोडना पडा, यह बात मुझे बहुत अखरी।...हम कुछ अधर्म कर रहे है ऐसा ही मुझे उस वक्त लगा।... आज भी इसकी बेचैनी मेरे दिल मे मौजूद है। हालाकि आज मै मनुष्य की हत्या के लिए बनाए गए शस्त्र को पवित्र नही मानता।'

'देश के लिए मर मिटने' के दत्तू के संकल्प को पुष्टि देने का काम नियति ने भी अपने ढंग से किया। जिस प्लेग ने पूना मे कुहराम मचाया था, वह एक

रोज अचानक दत्तू के घर पर आ धमका। उसमें दत्तू का तीसरा भाई विष्णु चल बसा। मां घर में नही थी। उनको पीहर गए सिर्फ दो ही दिन हुए थे। उनको बुलाने के लिए रिश्तेदार दौड़े। जिस वक्त मां घर में प्रवेश कर रही थीं, उसी वक्त विष्णु का शव उठाया जा रहा था। दु:खावेग से मां जमीन पर ही लुढ़क गईं और वही छटपटाकर लौटने लगी। अक्का की मृत्यु के बाद घर मे यह दूसरी मृत्यु थी, जो दत्तू के लिए भयानक सिद्ध हुई थी।

दूसरे दिन मालूम हुआ कि किसी ने कलेक्टर से शिकायत की है कि घर मे प्लेग से मृत्यु होने पर भी दत्तू के पिताजी बालकृष्णजी ने यह खबर सरकार मे छिपाकर रखी है। छिपाकर रखने का बालकृष्णजी का कतई इरादा नही था। जो-कुछ हुआ था, वह इतनी तेजी से हुआ था कि बालकृष्णजी अपना होश ही खो बैठे थे। वे अपनी कैफियत पेश करने के लिए कलेक्टर के पास गए तो कलेक्टर ने उनसे मिलने से ही इंकार कर दिया। कलेक्टर की इस अप्रत्याशित रूखाई से बालकृष्णजी घबरा गए। मुंह लटकाए घर लौट आए। उनकी समझ मे नही आया कि उन्हें अब क्या करना चाहिए। माफी मांगने के सिवा दूसरा इलाज ही नही था। उसी शाम वे कलेक्टर की कचहरी के दरवाजे पर जाकर खड़े रहे। साथ मे उन्होंने न मालूम क्यो, दत्तू को भी ले लिया। घर लौटने के लिए कलेक्टर जब कचहरी से बाहर आए, बालकृष्णजी हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े रहे और गिड़गिड़ाकर बाले, 'योर ऑनर अलोन कैन सेव मी नाउ।' कलेक्टर ने एक क्षण के लिए भी उनकी तरफ नही देखा, बल्कि उनको दुत्कार कर चले गए।

पिताजी का वह दीन चेहरा, उनकी वह असहाय स्थिति और गोरे कलेक्टर की वह दुत्कार देखकर दत्तू का दिल बगावत मे खड़ा हुआ। उसने उसी क्षण निश्चय किया : 'मैं इन गोरे लोगों का राज तोड़ डालूंगा। बस, जिंदगी मे और कुछ भी नही करूंगा। यही एक काम करता रहूंगा।'*

दत्तू की उम्र इस समय तेरह-चौदह साल की ही थी।

* लेखक के साथ बातचीत से।

विवाह

दत्तू अंग्रेजी की छठी कक्षा मे पढ रहा था, उसी साल उसका विवाह हुआ। उसकी उम्र उस समय लगभग सत्रह साल की थी। उन दिनो छोटी उम्र में ही शादी करने का रिवाज था।

असल मे उसे शादी करनी ही नहीं थी। ठेठ बचपन मे उसने समर्थ रामदास स्वामी की कहानी सुनी थी, जिसमे बताया गया था कि ब्राह्मणो के मुह से 'शुभ मगल सावधान' शब्द सुनते ही उनको वह सकट-सूचना-सी लगी और शादी के मडप से वे भाग निकले थे। दत्तू ने यह कहानी सुनी तब से उसके मन मे यह बात जम गई थी कि शादी करना बुरी बात है।

केशू की शादी के बाद घर म गोदू की शादी की बातें शुरू हुई। गोंदू के सामने भी रामदास स्वामी का आदर्श था। उसने अपनी शादी की बात सुनी, तब उसने दत्तू से कहा, 'य लोग मुझे शादी की जजीरो मे जकड देने की सोच रहे हैं। इन जजीरो म मै फस गया तो मेरी जिदगी ही बरबाद हो जाएगी। मै समय पर सचेत होकर घर से भाग निकलने की सोच रहा हू।'

दत्तू क्षण-भर के लिए साच मे पड गया। दूसरे ही क्षण उसने गोदू से कहा, 'तुम पर आज जो बीत रही है, वह कल-परसो मुझ पर भी बीतने वाली है। मै भी समय पर क्यो न सचेत हो जाऊ? हम दोनो एक साथ भाग निकलेगे।'

गोदू को बडी खुशी हुई। फिर दोनो ने बैठकर कैसे भाग निकले, कहा जाए आदि योजनाए बनाईं। शाहपुर से बडगाव अनगोल की ओर रेलवे जाती थी। रास्ता चढाव का था। इसलिए उस रास्ते से गुजरते समय वह हाफती हुई जाती थी। यह दृश्य दत्तू ने कई बार देखा था। मालगाडी तो बिचारी बहुत ही परेशान होती हुई दिखाई देती थी। दोनो ने तय किया : घर से भाग निकलने पर इस चढ़ाव पर आएगे। गाडी जब हाफती-हाफती चढाव चढेगी, तब हम दो डिब्बो के बीच के जोड पर जा बैठेगे। जब तक हमे कोई न रोके, तब तक आगे जाएंगे। उसके बाद हम अपना आगे का रास्ता तय करेंगे। किसी को भी पता नही चलेगा कि हम कहा गए हैं। दोनों को लगा, उनकी इस योजना मे कोई खामी नही है, वह सम्पूर्ण है।

फिर, दोनों ने एक कागज लिया और घर के बुजुर्गों के नाम उन्होंने एक पत्र लिखा : 'सुना है, आप हमारी शादी की योजनाएं बना रहे हैं। हमें यह मंजूर नहीं है। हमें शादी ही नहीं करनी है। इसलिए हम घर से भाग रहे हैं। हमारी तलाश करने का कष्ट कोई न उठाए, न ही कोई हमारी चिंता करे।' पत्र के नीचे दोनों ने हस्ताक्षर किए और पत्र ताक में रख दिया, ताकि वह बुजुर्गों के हाथ में ही पड़े।

फिर दोनों ने अपने स्कूल के बटुवे में एक जोड़ी कुर्ता-पाजामा, एक तौलिया, एक लोटा और रास्ते में खाने के लिए थोड़ा चिड़वा भर लिया और शाम के करीब पांच बजे, जब घर में कोई नही रहता, दोनों घर से भाग निकले। भाग निकलने का मतलब दौड़ लगाकर भागना यही ख्याल दोनों के मन मे था। रामदास स्वामी वैसे ही भाग निकले थे। इसलिए दोनों ज्योंही घर से बाहर निकले, उन्होंने इतनी तेजी से दौड़ लगाई कि देखते-देखते दोनों शाहपुर के बाहर सोनाप्पा के कुंए के पास जा पहुंचे। वहां दो मिनट रुके। दम भरकर फिर दौड़ने लगे और काफी आगे पहुंच गए। दत्तू के पांव जितनी तेजी से दौड़ते थे उससे अधिक तेजी मे उसका दिमाग दौड़ता रहा। वह आगे की योजनाएं बनाता रहा। इतने में गोंदू रुक गया। कहने लगा, 'हम तो अपने को बचाने के लिए भाग निकले हैं। पर, मां को जब पता चलेगा कि उसके दो बेटे घर से भाग गए हैं, तब उसकी क्या हालत होगी ? रो-रोकर बिचारी खाना-पीना सब छोड़ देगी। जो हमसे इतना प्यार करती है, उसे इस तरह का दुःख देना कहां तक उचित है ?'

दत्तू ने कहा, 'हां, तुम सच कह रहे हो। मां बहुत दुःखी होगी।'

'तो फिर चलो, हम लौट जाएं।'

दत्तू ने कहा, 'चलो।'

दोनों घर लौट आए। दोनों का खयाल था कि घर मे काफी शोर मचा हुआ देखने को मिलेगा। पर यहां तो सब-कुछ शांत था। दत्तू ने ताक में रखा हुआ पत्र ढूंढा, जो वहीं पड़ा था। उसने वह तुरंत फाड़ डाला। दोनों ने बटुवे चुपचाप खाली कर दिए और घर में ऐसे घुल-मिल गए, मानों कहीं कुछ हुआ ही न हो।

अपने आज के पराक्रम की बात उन्होने कभी किसी से नही कही।

दत्तू शादी करना नही चाहता था, इसके कई कारण थे। गोंदू की शादी के समय वह घर से भाग निकला था। उस उम्र मे शादी क्या चीज होती है, यह तो शायद ही कोई बालक जानता होगा। दत्तू कुछ भी नही जानता था। फिर, उस पर रामदास स्वामी का प्रभाव था। वे चूकि शादी के मडप से भाग निकले थे, इसलिए शादी बुरी चीज है, वरना वे क्यो भाग निकलते? यह बात मन मे जम गई थी। फिर, घर मे जो वेदात घुसा था, उसमे उसने इतना ग्रहण कर लिया था कि ईश्वर-प्राप्ति जीवन का सबसे बड़ा ध्येय है और शादी इस ध्येय की सिद्धि के लिए बाधक है, पर इसके सबसे महत्वपूर्ण दो कारण थे -

उसके सभी भाइयो की शादिया हो चुकी थी। इनमे दो बडे भाइयो की पत्नियो भाभियो- से उसका रिश्ता दोस्ती का था। भाइयो की अपेक्षा भाभियो के प्रति उसका अधिक झुकाव था। दोनो भाभियो के पीहर शाहपुर मे ही थे। पति जब बाहर चले जाते, दोनो भाभिया अपने-अपने पीहर चली जाती और पति के लौटने से पहले लौट आती। कभी-कभी लौटने मे उन्हे देर हो जाती, तब पति गुस्सा होते और डाटने लगते, 'कहा गई थी, क्यो गई थी, किससे पूछकर गई थी?' इस डाट के कारण भाभिया डरती और कापने लगती। कभी-कभी पति इतना गुस्सा होते कि कह देते, 'आज मै तुझे जान से मार डालूगा।' यह जान से मारने की धमकी दत्तू सुनता, तब वह भी डर जाता और उसे दौडकर मा को या घर के दूसरे किसी बुजुर्ग को बुलाना पडता।

भाई और भाभियो के बीच रोज ही ऐसी लडाइया चलती थी, ऐसी बात नही है। पर जब वह शुरू हो जाती तब घर का सारा वातावरण ही दूषित हो जाता था।

ऐसे वातावरण मे शादी करना बुरी चीज है, इस नतीजे पर वह पहुचा हो तो इसमे कोई आश्चर्य नही।

और एक बात थी: उसने मा को कभी-कभी एकात मे रोते हुए देखा था। और उसके मुह से कभी-कभी यह भी सुना था कि कितना अच्छा था मेरा यह घोसला! इन बहुओ ने आकर सारा नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। दत्तू मन--ही-मन

इस नतीजे पर आ पहुचा था कि शादी के कारण ही यह सब होता है। बडे भाइयों ने शादिया की और मा को दु ख मे डाला। शादी के कारण अगर मातृ वात्सल्य, पितृ-भक्ति, भ्रातृ-प्रेम सबकी राख हो जाती हो, तो इस झझट मे पडे ही क्यो ? 'मैं शादी नही करूंगा' उसने निर्णय ले लिया था।

फिर भी जब वह सोलह-सत्रह साल का हुआ, वह धीरे-धीरे शादी के लिए अनुकूल होता गया। क्यो ? सीधा जबाब तो यही है कि उसकी किशोरावस्था अब समाप्त होती जा रही थी और वह जवानी मे प्रवेश करने लगा था।

कारवार से पिताजी का तबादला धारवाड हुआ। यह लगभग 1897-99 की बात है। धारवाड जाने से पहले सारा परिवार गोवा मे कुलदेवता के दर्शन और सेवा के लिए मगेशो म जाकर रहा था। यहा उसने पुजारिया के मुह म कुछ अश्लील बाते सुनी थी। यही उसका शिवराम नामक एक नौजवान से परिचय हुआ। वह भी दत्तू की तरह कही बाहर से आकर यहा रहा था। हालाकि वह दत्तू से उम्र मे पाच-छ साल बडा था, पर दत्तू की उससे गहरी दोस्ती हो गई थी। इस शिवराम के मुह से दत्तू ने कुछ ऐसी बाते सुनी, जो उसने न कभी सुनी थी, न कही पढी थी। उसने यह बताया कि जवानी मे प्रवेश करते समय लडको को कुछ ऐसे व्यसन लग जाते है, जो धीरे-धीरे विकृतियो मे परिणित होते हैं। उसने यह भी बताया कि वह स्वय इन विकृतियो का गुलाम बना है और इनसे छुटकारा पाने के लिए वह जल्द-से-जल्द शादी करने की सोच रहा है।

धारवाड म दत्तू का और एक नौजवान से परिचय हुआ। वह भी उम्र मे उससे बडा था और अग्रेजी मे बोलता था। उसने दत्तू को स्त्री-पुरुष सम्बधो के बारे मे कई बाते बताई थी, जो आधी सच, आधी झूठ या काल्पनिक थी। इस उम्र मे जिज्ञासा हमेशा एक प्रबल वृत्ति होती है। क्या ही अच्छा होता अगर इस उम्र मे दत्तू को इस विषय मे कोई वैज्ञानिक जानकारी देता। पर जब आज बीसवी शताब्दी के अत मे भी जहा स्त्री-पुरूष सम्बधो के बारे मे किशोरावस्था के लडकों को वैज्ञानिक बाते बताते हम शर्माते हैं, वहा उन्नीसवी शताब्दी मे भला इसकी उम्मीद कैसे रखी जा सकती है। नतीजा यह हुआ कि दत्तू ने जब जवानी मे प्रवेश किया तो उसके दिमाग मे चोरी-चोरी सुनी हुई इन बातो ने अपना प्रभाव जमा लिया था।

कारवार के हिन्दू स्कूल मे दत्तू ने बहुत-कुछ पाया था। उसे यहां एक नई दृष्टि मिली थी, जिससे उसके विचारो मे काफी परिवर्तन हुआ था। पहले वह संध्या-पूजा, कर्मकाड, तपश्चर्या, देहदडन आदि को धर्म समझता था। हिन्दू स्कूल मे ही उसे मालूम हुआ कि धर्म की नीव मे ईमानदारी, सच्चाई, सदाचार, ज्ञाननिष्ठा, परोपकार, लोक सेवा, स्वार्थ त्याग, आत्म बलिदान आदि नैतिक तत्त्व होते है। इन तत्त्वो के साथ ईश्वरनिष्ठा और चित्तशुद्धि को अगर जोड़ दे तो मनुष्य का विकास बडी तेजी से होता है। यह उसकी यहा की उपलब्धि थी। उस समय उसने अपने लिए एक आदर्श वाक्य (मोटो) चुन लिया: बैटर बी अलोन, देन इन बैड कम्पनी— कुसगति की अपेक्षा अकेले रहना बेहतर है। पर मगेशी मे जब शिवराम की बाते सुनी, दत्तू को लगा कि सिर्फ कुसगति छोड़ देना काफी नही है। बिलकुल एकात म रहकर भी मनुष्य अपना मन और शरीर दूपित कर सकता है। कुछ समय के बाद खुद दत्तू को भी यही अनुभव हुआ। वह धारवाड से बेलगाव गया। पिताजी के तबादले पर बेलगाव के सरदास हाई स्कूल मे पढने लगा। कक्षा मे वह सभी लडको से अलग था। उसे इसका भान भी था और अभिमान भी। कक्षा म वह नीतिमय जीवन की बाते करता। 'दि गुड कम्पनी' नामक एक मडल की भी उसने स्थापना की थी। पर जब अकेला रहता, तब मन म जो गदे विचार जमा हुए थे, अपना काम करने लगते।

'गदे विचार' यह स्वय काका साहब का शब्द प्रयोग है। वास्तव मे लडका जब जवानी मे प्रवेश करता है, तब उसके मन मे जो जिज्ञासाए और इच्छाए जाग्रत होती है, वही दत्तू के मन म जाग्रत हुई थी। ये स्वाभाविक जिज्ञासाए और इच्छाए होती हैं।

जैसे-जैसे मन गदा होता गया, वैसे-वैस उसके बाह्य आचरण मे साफ सुथरापन बढने लगा। धीरे-धीरे उसे यह महसूस होने लगा कि उसका यह मिथ्याचार चल रहा है। मिथ्याचार की परिणति दम्भ म हो सकती है। दम्भ से अपने को बचाने के लिए उसने शादी न करने का अपना सकल्प शिथिल कर दिया। उसने अपने-आपसे पूछा, क्या, पत्नी को साथ मे लेकर अपने आदर्शों की ओर प्रयाण नही किया जा सकता? क्या शिवजी के साथ पार्वती हमेशा नही रही? विष्णु के आदर्शों से लक्ष्मी भी तो एकरूप हुई थी।

दत्तू हमेशा की तरह एक दिन स्कूल गया था। चंदावरकर गणित पढ़ा रहे थे, दत्तू तल्लीन होकर सुन रहा था। इतने में पटवर्धन नामक दूसरे एक शिक्षक ने दो-तीन मेहमानों के साथ कक्षा मे प्रवेश किया। पटवर्धन सर बड़ी गम्भीर प्रकृति के थे। कक्षा में प्रवेश करते ही उन्होंने हुक्म दिया, 'कालेलकर, स्टैंड अप' और सीधे चंदावरकर सर के पास जाकर वे उनसे इधर-उधर की बातें करने लगे। हुक्म सुनते ही दत्तू खड़ा हो गया और बड़ी देर तक वह खड़ा रहा। उसकी समझ मे नही आया कि उसे क्यो खड़े रहने को कहा है। थोड़ी देर के बाद चंदावरकर सर का ध्यान उसकी ओर गया। उन्होने उसे हाथ से इशारा करके कहा, 'सिट डाउन'। तब दत्तू बैठ गया।

घर लौटने पर उसे मालूम हुआ कि शादी तय हो चुकी है। वामनराव शिरोडकर की छोटी बेटी पसंद की गई है। उसी क्षण उसके ध्यान म आया कि आज पटवर्धन सर के साथ जो दो-तीन मेहमान क्लास मे आए थे, वे दूल्हे को देखने के लिए आए थे और उन्होने दूल्हा पसंद किया था।

लड़की के परिवार का नाम सुनते ही दत्तू को आश्चर्य हुआ कि मा ने यह रिश्ता कैसे पसद किया? क्योंकि वामनराव शिरोडकर उस केश कामत परिवार के दामाद थे, जहां दत्तू की इकलौती बहन अक्का का ब्याह हुआ था। इस परिवार के लोगो ने अक्का को सुख देने के बदले सिर्फ सताया ही था। मा का मन इस परिवार के प्रति इतना प्रतिकूल था कि वह कई बार कहती थी कि मैं इस परिवार के किसी सदस्य की शक्ल-सूरत भी देखना नही चाहती। दत्तू को लगा, मां ने शायद मजबूरी मे यह रिश्ता पसद किया होगा। इसलिए अपना विरोध प्रकट करके उसने कहा, 'मुझे यह रिश्ता बिलकुल पसंद नही है।'

मा ने कहा, 'तू क्यो खामखां इन बातों मे अपना दिमाग खपाता है? इतना विश्वास रख कि हम बुजुर्ग तेरे बारे मे जो-कुछ तय करते हैं, वह तेरे ही हित मे है। लडकी की मा बड़ी तेजस्वी, पवित्र और धर्मनिष्ठ महिला है और लड़की भी सुंदर है, शालीन है। मैं उन्हें वचन दे चुकी हूं और वचन कभी तोड़ा नही जाता।'

दत्तू चुप रह गया। उसको लगा, शादियां शायद ईश्वर ही तय करता होगा। अंग्रेजी मे कहते हैं न कि 'मेरीजिस आर मेड इन हैवन'।

कुछ ही दिनों पश्चात् सन् 1902 के ज्येष्ठ महीने में उसकी शादी हुई। शादी के बाद दुल्हन जब घर में प्रवेश करती है, तब उसका नया नाम रखा जाता है। महाराष्ट्र का यह पूर्व-पुरातन रिवाज है। और नया नाम हमेशा पति के नाम के साथ जो फबता हो, ऐसा ही रखा जाता है। दत्तू के पिताजी का नाम बालकृष्ण था, इसलिए मां का राधा रखा गया था। बड़े भाई बाबा का नाम मंगेश था। मंगेश शिवजी का नाम है। इसलिए बड़ी भाभी का नाम पार्वती रखा गया था। इसी न्याय से रघुनाथ (अण्णा) की पत्नी का सीता, केशव की पत्नी का रमा और गोविंद की पत्नी का नाम रखमा रखा गया था। दत्तू के जन्म के पहले ही एक साधु ने उसका नाम दत्तात्रेय रखा था। दत्तात्रेय तो ठहरे अवधूत। इस नाम के साथ फबने वाला कोई नाम नहीं था। मां ने कहा, मेरी यह सबसे छोटी बहू है। मैं तो इसे लक्ष्मी ही कहूंगी। फलस्वरूप, जो लड़की पहले शिरोडकर परिवार में 'सुंदर' के नाम से पहचानी जाती थी, वह अब कालेलकर परिवार में प्रवेश करते ही 'लक्ष्मी' बन गई।

बड़े भाई की शादी हुई थी, तब लोग कहते थे : दुल्हा घर का सबसे बड़ा बेटा 'ज्येष्ठ' है। और दुल्हन अपने घर की सबसे छोटी 'कनिष्ठ' बेटी है। यह ज्येष्ठ-कनिष्ठ जोड़ा है। दत्तू-लक्ष्मी का भी इसी प्रकार ज्येष्ठ-कनिष्ठ का जोड़ा था। फर्क इतना ही था कि दत्तू कालेलकर परिवार का सबसे छोटा-कनिष्ठ बेटा था और लक्ष्मी शिरोडकर परिवार की सबसे बड़ी ज्येष्ठ बेटी थी। इस योगायोग की ओर ध्यान जाते ही दत्तू को बड़ा मजा आया। उसने किसी को यह बता भी दिया। बस, उस दिन से घर के सभी लोग—खासतौर पर भाभियां मजाक में दत्तू-लक्ष्मी को 'ज्येष्ठ-कनिष्ठ जोड़ा' कहने लगीं।

शादी के वक्त दुल्हन का हाथ, हाथ में लेकर दत्तू ने जब अग्नि के इर्द-गिर्द सप्तपदी के चक्कर लगाए, उसी क्षण उसे लगा, मैं अब पहले जैसा नहीं रहा। अब नया आदमी बन गया हूं। मेरी जिम्मेदारियां अब बढ़ गई हैं। समाज का मैं एक जिम्मेदार सदस्य बन गया हूं। अपनी जिम्मेदारियों में किन-किन बातों की शुमार होती है, इसकी कोई कल्पना उसे नहीं थी। वह इतना ही जानता था कि उसे देश की सेवा करनी है और देश को मुक्त करना है; और इस महान आदर्श में उसे अपनी पत्नी को भी शामिल कर लेना है।

देश को अब एक नहीं, बल्कि दो सेवक मिल गए हैं।

छोटे सुधार

लक्ष्मी ने घर मे प्रवेश किया । सभी न उमको देखा । यदि देखा नही था तो सिर्फ दत्तू ने । वह कैसी है, सावली है, गोरी है, मायके के नाम जैसी सुंदर है या सामान्य है, उसे कुछ भी मालूम नही था ।

गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करते समय ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति की एक विधि होती है, जिसे महाराष्ट्र मे 'सोड मूज' कहते है । शादी के एक-दो दिन पहले यह विधि होती है । उस दिन लडका एक छोटी धोती पहनता है, दूसरी ओढता है, तीसरी सिर पर लपेट लेता है और कधे पर एक अगोछे मे दाल-चावल लेकर घर मे बाहर निकलता है और गाव के किसी मदिर मे जा बैठता है । इसे 'रूठकर काशी जाना' कहते हैं । फिर, मदिर मे लडकी के माता-पिता आते हैं, लडके की पाद्यपूजा करते है, उसे समझाते हैं और कहते हैं, 'आपको हम अपनी लडकी देगे । आप काशी मत जाइए' और लडका घर लौट आता है ।

इस विधि के सिलसिले मे जिस दिन दत्तू 'रूठकर' मदिर मे जा बैठा था, वही किसी ने उसे बताया था, देखो, तुम्हारी भावी पत्नी वहां उस कोने मे खडी है । पर नजर उठाकर उस कोने मे चोरी-चोरी से भी देखने की दत्तू की हिम्मत न पडी, क्योकि उस कोने मे कई लडकिया खडी थी और सभी सज-धज कर आई थी । इनमे से भावी पत्नी को कैसे ढूढ निकाले ? और ढूढते-ढूढते दूसरी ही कोई शक्ल आंखों मे जम गई तो ?

फलस्वरूप, उस ओर बिना देखे दत्तू वैसे ही चला आया था । शादी मे दोनो ने एक-दूसरे के गले मे मालाए पहनाई तब दत्तू के ध्यान मे तुरंत एक बात आई कि लडकी कुछ नाटे कद की है ।

इससे ज्यादा उसे लक्ष्मी के बारे मे कुछ भी मालूम नही था । पर दत्तू कुछ अंशों मे रूढ़िमुक्त हो गया था । एक तो कारवार के हिन्दू स्कूल के संस्कारों मे उसकी परवरिश हुई थी । फिर, उसकी शादी भी उस जमाने के हिसाब से दो-चार साल देरी से हुई थी । जीवन मे या घर मे कोई 'सुधार' दाखिल करने मे उसे कोई हिचकिचाहट महसूस नही होती थी । शादी का मंडप बनाने मे उसने पिताजी की मदद करते समय कोई संकोच महसूस नही किया था ।

तिस पर भी पत्नी को देखने का सुधार अमल मे लाने की उसकी हिम्मत न पडी ।

शादी के कुछ दिन बाद पिताजी जमखडो गए । दत्तू, दत्तू की मां, रमा भाभी और लक्ष्मी साथ म थी । वे जहां रुके थे, उस घर के एक बडे कमरे के बीच मे एक कनात डालकर उसके दो हिस्से बनाए गए थे । पिताजी काम के सिलसिले मे बाहर गए थे । मा दोपहर के भोजन के बाद आराम कर रही थी । कमरे के एक हिस्से मे दत्तू बैठा था और दूसरे हिस्मे मे भाभी और लक्ष्मी बैठी थी । दत्तू को लगा, लक्ष्मी को निहारकर देखने का यही अच्छा मौका है । उसने हाथ मे एक आइना लिया और कनात के ऊपर उठाकर उसमे लक्ष्मी का प्रतिबिम्ब पकड लिया । बडी उत्सुकता के साथ वह उसे देखने जा रहा था, इतने मे लक्ष्मी की नजर आइने पर पडी और शर्मा कर वह अदर भाग गई । दत्तू भी शर्म के मारे लाल-लाल हो गया ।

दूसरे या तीसरे दिन दत्तू रामतीर्थ देखने गया । जमखडी मे एक टेकडी पर इस नाम का एक स्थान है । वहा एक झरना बहता है । जमखडी के राजा ने इस झरने के पास एक छाटा-सा बगला बनवाया है और उसकी बगल मे एक सग्रहालय की स्थापना की है ।

सग्रहालय के दरवाजे पर है। संगमरमर की एक यूनानी नग्न मूर्ति खड़ी है । इस मूर्ति को देखते ही छीः कहकर मा आगे चली गई । भाभी और लक्ष्मी भी मा के पीछे गई । दत्तू को यूनानी कला का महत्व मालूम था । उसने मा को बुलाकर इस मूर्ति का महत्व समझा दिया । असल मे वह लक्ष्मी को ही समझा रहा था । मा ने दत्तू को निहारा और वह आगे चल दी । भाभी भी मा के पीछे गई, लक्ष्मी पीछे रह गई थी । इतने मे दोनों की नजर एक-दूसरे पर पडी । एक क्षण मे दोनों के गाल लाल हो गए । दत्तू को लगा, वाकई आज ही सही माने मे मेरी शादी हुई है ।

जमखंडी से लौटने के बाद दत्तू ने घर मे कुछ सुधार किए । घर मे अब तक पिताजी और मा की सेवा ज्यादातर दत्तू ही करता आया था । अब उसने सोचा कि यह काम लक्ष्मी को सौंप देना चाहिए । उसने यह काम उसको सौप दिया और खुद उस पर निगरानी रखने लगा । मा स्नान के लिए

तैयार है, पानी रखा है या नही ? पिताजी को आज जल्दी दफ्तर जाना है, उनकी पूजा का सामान तैयार रखा है या नही, ऐसे सवाल सीधे इससे पूछ लेता और लक्ष्मी 'जी, रख दिया है ।' ऐसा जबाव देकर चली जाती । भाभिया मजाक मे पूछती, तुम्हारा गृहस्थाश्रम अभी शुरू ही नही हुआ है और तुम अभी से पत्नी के साथ बोलने भी लग गए ? बिचारी लक्ष्मी तब शर्म के मारे पानी-पानी हो जाती । धीरे-धीरे लोगो को इस परिवर्तन की आदत पड गई ।

एक दिन घर मे सबने व्रत रखा था । दत्तू को मालूम था कि लक्ष्मी को उपवास से तकलीफ होती है । दूसरो के कारण वह भी उपवास रखेगी और परेशान हो जाएगी । मौका पाते ही दत्तू ने उसे कहा, 'तुम्हे व्रत रखने की कोई जरूरत नही है । तुम हमेशा की तरह खाना खाओ ।' लक्ष्मी को अब तक हुक्म सुनने की ही आदत थी । आज पहली ही बार उसे महसूस हुआ कि हुक्म करने वाले इस कठोर हृदय मे दया का भी कुछ अंश है । वह बडी खुश हुई । कुछ दिनो के बाद एक रोज दत्तू ने देखा कि लक्ष्मी कुछ उदास सी है । क्या हुआ होगा ? पर पूछे कैसे ? और किसको ? इतनी हद तक के सुधार अमल मे लाने की उसकी हिम्मत नही थी । स्नेह प्रकट करने से उसकी उदासी दूर हो जाएगी इस निर्णय पर तो वह आ ही चुका था । स्नेह प्रकट करने की एक तरकीब भी उसे सूझी । खाना खाने के बाद इलायची के दो दाने मुह मे डालने की उसे आदत थी । उसने उस रोज दो दाने ज्यादा लिए और कमरे की ओर जाते समय रास्ते मे लक्ष्मी के हाथ मे रख दिए । लक्ष्मी का चेहरा एक क्षण मे प्रफुल्लित हो उठा ।

एक दिन लक्ष्मी ने देखा कि दत्तू आगन मे बैठा है । आसपास कोई नही है । उससे रहा नही गया । वह धीरे से दत्तू के पास आई और हिम्मत बटोरकर उसने कहा, 'उस दिन के इलायची के उन दो दानो ने आपके प्रेम का मुझे भरोसा दिलाया । अब जीवन मे चाहे जितने सकट आए, मै उनकी परवाह नही करूगी ।'

शादी के दिन सप्तपदी का चक्कर लगाते समय दत्तू को लगता था कि उसकी जिम्मेदारिया अब बढ गई हैं । आज पत्नी के मुह से यह पहला ही वाक्य सुनकर उसे उत्कटता के साथ महसूस हुआ, 'वाकई, मेरी जिम्मेदारिया अब बेहद बढ गई हैं ।'

मैट्रिक के बाद

शादी के बावजूद दत्तू की पढ़ाई बिना किसी रुकावट स चलती रही। शादी के दूसरे वर्ष वह मैट्रिक की परीक्षा मे बैठा और उत्तीर्ण हुआ। उन दिनो यूनिवर्सिटी स्कूल फाइनल नामक और एक परीक्षा ली जाती थी, जिसका विद्यार्थियो के बीच काफी महत्व था। मैट्रिक के होशियार लडके ही इसमे बैठते थे। दत्तू इस परीक्षा मे भी बैठा और उत्तीर्ण हुआ। इतना ही नही, इसमे उसको नम्बर भी अच्छे मिले। इससे पहले उसके घर का कोई लड़का पहले ही वर्ष मैट्रिक मे उत्तीर्ण नही हुआ था और दत्तू तो पहले ही वर्ष एक के बदले दो परीक्षाओ म उत्तीर्ण हुआ। अब सवाल आगे की पढाई का था, पर इस बारे में वह कुछ तय नही कर पाया था।

मन-ही-मन इतना तो निश्चित था कि किसी भी हालत म पूना जाना ही है। देश-सेवा करने की तालीम, भला और कहा मिल सकती है? पूना देश सेवको का आगार है। एक से बढकर एक कई देश-सेवक उन दिनो पूना म रहते थे। सबस बडा आकर्षण तो लोकमान्य तिलक का था। पूना उनका कार्यक्षेत्र था। पढाई की दृष्टि से भी पूना के अलावा दूसरा कोई बढिया स्थान नजदीक नही था।

इसलिए मैट्रिक की परीक्षा म उत्तीर्ण होते ही शरीर से भले नही, पर मन मे वह पूना पहुच ही गया था। कौन-सी दिशा ले? क्या पढे? उसके सामने दो विकल्प थे। एक तो इजीनियर बनने का और दूसरा बी०ए० होकर एल-एल-बी करके वकील बनने का। अवचेतन मे झुकाव तो अलबत्ता इजीनियरिंग की ओर ही था।

कारवार मे उसने साठे नामक एक सज्जन को देखा था, जो इजीनियर थे। साफ-सुथरे अद्यतन कपडे पहनते और घोडे पर बैठकर वे सैर करने निकलते। तब, दत्तू उनकी ओर टकटकी लगाकर देखता रहता था। कारवार मे घोडा सिर्फ उन्ही के पास था। दत्तू को उनके प्रति कुछ ईर्ष्या-सी थी। वह मन-ही-मन कहता, 'बड़ा होने पर मै भी इंजीनियर बनूगा।'

इंजीनियर बनने की उसकी इस सुप्त महत्वाकाक्षा को उसकी यात्राओ ने पोषण दिया था। यात्राओ मे अलग-अलग स्थानों पर वह अलग-अलग प्रकार

के महल देखता, तब वह भी मन-ही-मन तरह-तरह के महलो की रचनाए करने लगता। नदी दीख पड़ने पर उस पर मन-ही-मन पुल बनाने का तो उसे मानो छद ही लग गया था। किसी ऊचे पहाड पर खडे रहकर, जब वह नीचे उपत्यकाओ मे झाकता, तब उसकी दृष्टि मे सबसे पहले रास्ते ही पड जाते, उनकी ओर वह विस्मित होकर देखता रहता। और मन-ही-मन कहता, ये रास्ते न मालूम कहा से आते है और कहा जाते है। रास्ते उसे हमेशा जिदा यात्रियो-जैसे ही मालूम होते। उसके अवचेतन मे यह छाप पडी थी कि यह सब इजीनियरो का ही काम है। ऐसे ही काम उसे करने है।

बचपन मे वह बडा बातूनी था। बुजुर्गो को क्यो और कैसे, ऐसे हजारो प्रश्न पूछता रहता। उसके प्रश्नो का जवाब देते-देते बुजुर्गो के नाको दम आ जाता। कुछ समय के बाद वह कुछ समझने लगा और अपनी बाते दूसरो को समझाने भी लगा। तब उसकी दलीलें सुनकर और उसकी वाक्-पटुता को देखकर कई बजुर्ग कह देते, 'इसे तो विलायत भेजकर बैरिस्टर बनाना चाहिए।'

विलायत जाकर बैरिस्टर बनने के लिए काफी रुपयो की आवश्यकता थी। पिताजी के पास उतने रुपये नही थे। पर पिताजी तो उसे बी० ए०, एल० एल० बी० बना ही सकते थे। उन दिनो बडे-बडे देशभक्त बी० ए० एल० एल० बी० होकर वकालत करते आए थे।

पर यह सब तभी सभव था, जब पिताजी उसे पूना जाने देते। पिताजी तो किसी भी हालत मे उसे पूना भेजने के लिए तैयार नही थे। उन्होने दत्तू के सभी बडे भाइयो को पढाई के लिए पूना भेजा था। उन पर बेहद खर्चा भी किया था और वे बेहद पछताए थे। किसी ने भी उनकी आशाए पूर्ण नही की थी। एक अण्णा को छोडकर, जो बडी मुश्किल मे बी० ए० तक जा पाया, बाकी सब इधर-उधर बीच मे अटक गए थे। बडे भाई बाबा तो मैट्रिक मे बरसो तक लगातार फेल होते रहे। तिस पर भी सभी करीब-करीब नास्तिक बन गए थे। पिताजी और उनके बीच काफी मनमुटाव भी हो गया था, जिससे पिताजी का दिल टूट गया था। दत्तू के बारे मे उन्होने पहले से ही तय कर लिया था कि मैं इसे किसी भी हालत मे पूना नही भेजूगा।

एक दिन हिम्मत बटोर कर दत्तू ने पिताजी के सामने पूना जाने का प्रस्ताव रखा।

पिताजी ने तपाक से जवाब दिया, 'नही ।'

'मुझे मालूम है, आप मुझे क्यो मना करते हैं । बाबा, अण्णा सभी ने आपको निराश किया इसीलिए न ?' दत्तू ने धीरे से पूछा ।

'हा ।'

'यह तो उल्टा न्याय हुआ । अपराध उनका है और आप सजा मुझे फर्मा रहे हैं ।'

'जो भी हो ।'

दत्तू ने कहा, 'आप मेरी दलील सुनेंगे ? बाबा, अण्णा किसी मे भी पढ़ने की उत्कठा नही थी । आपने जबरदस्ती उनको पढने के लिए भेजा । मेरी बात उल्टी है : मुझमे पढने की उत्कठा है । मैने आपको इससे पहले भी कभी निराश नही किया । आप मुझे क्यो मना कर रहे है ?'

पिताजी ने कोई जवाब नही दिया, तब दत्तू ने आगे कहा, 'आप जानते हैं कि मेरे अग्रेजी और गणित दोनो विषय अच्छे है । मुझे इजीनियर बनना है । प्रीवियस की परीक्षा पास किए बगैर इंजीनियरिग कालेज मे प्रवेश नही देते है । सिर्फ एक साल के लिए मै आर्ट्स कालेज मे जाऊगा । उसके बाद इजीनियर बनने दीजिए ।'

पिताजी का दिल पिघला । उन्होने दत्तू को पूना जाने की इजाजत दे दी ।

पिताजी उन दिनो सागली राज्य के ट्रेजरी आफिसर थे । जिस दिन दत्तू कालेज मे जाने के लिए ट्रेन मे बैठा, उसी दिन पिताजी भी सागली राज्य के तीन लाख रुपए लेकर पुलिस रक्षा के साथ पूना जाने के लिए रवाना हुए । पूना से उन्हे सागली राज्य के लिए प्रोमिसरी नोट खरीदने थे । सागली स्टेशन पर दोनों साथ हो गए । पिताजी पूना क्यों जा रहे है, यह जब दत्तू को मालूम हुआ तो उसने पिताजी के सामने एक प्रस्ताव रखा । उसने कहा, 'नोटों के भाव रोज बदलते रहते हैं । हम यदि कुछ कोशिश करे तो खुले भावो से कुछ सस्ती कीमत मे नोट खरीद सकेंगे । राज्य को तो खुले भाव ही बतलाए और बीच मे जो मुनाफा होगा हम ले लें । किसी को पता भी न चलेगा और सहज ही बहुत-सा मुनाफा मिल जाएगा ।'

दत्तू को खयाल तक नही था कि पिताजी को वह जो-कुछ समझा रहा है, वह अनुचित है। उसका तो यही खयाल था कि वह आम व्यवहार की ही बात सुझा रहा है। पिताजी ने दत्तू की बात शान्ति से सुन ली। वह कुछ भी नही बोले। दत्तू समझ रहा था कि उसके सुझाव पर कैसे अमल किया जाए, इसी के बारे मे पिताजी सोच रहे है। उसकी बातो से पिताजी को चोट लगी है, इसकी तो उसे कल्पना तक नही थी। थोडी देर के बाद पिताजी भर्राई हुई आवाज मे बोले, 'दत्तू, मुझे खयाल तक नही था कि तुझमे इतनी हीनता है। तेरी बात का मतलब यही है न कि मै अपने अन्नदाता को धोखा दू ? धिक्कार है तेरी शिक्षा पर। ईश्वर ने हमे जो दिया है, उसी मे हमे सतोष करना चाहिए। लक्ष्मी तो आज है, कल चली भी जाएगी। इज्जत के साथ अत तक रहना ही बडी बात है। मरने के बाद जब ईश्वर के सामने जाकर खडा होऊगा, तब क्या जवाब दूगा ? कालेज मे पढ-लिखकर क्या तू यही करेगा ? इसकी अपेक्षा यही से अगर तू वापस लौट जाए तो क्या बुरा है ?'

काका साहब लिखते हैं :

> यह सुनकर मै सन्न रह गया। गाडी मे सारी रात नीद नही आई। सवेरे पूना पहुचने से पहले ही मेने निश्चय कर लिया कि हराम के धन का लोभ मै कभी नही करूगा। इस निश्चय के साथ ही, मैने कालेज मे प्रवेश किया। कालेज की सच्ची शिक्षा तो मुझे सागली और पूना के बीच ट्रेन मे ही मिल चुकी थी।

युवक दत्तात्रेय

कालेज की दुनिया में

देश के शैक्षिक जगत में पूना के 'डेक्कन कालेज' की, उन दिनों बड़ी ही प्रतिष्ठा थी। इसी कालेज में भरती होने की युवक दत्तात्रेय की इच्छा थी। पर भरती होने के लिए उसे जो एक प्रयत्न करना चाहिए था, उसने नहीं किया। मैट्रिक की परीक्षा के परिणाम घोषित होने तक वह खामोश रहा था। परिणाम घोषित होने से पहले ही उन दिनों के विद्यार्थी अलग-अलग कालेजों में प्रवेश की अर्जियां भेज देते थे। युवक दत्तात्रेय को यह मालूम नहीं था, न ही किसी ने उसे यह सुझाया था।

कोई सुझाता तो 'यह शालीनता के विरुद्ध है।' कहकर सम्भवतः वह यह सुझाव उड़ा भी सकता था। अर्जी भेज दी और परीक्षा में फेल हुआ तो? फजीहत होगी, इस डर से भी शायद अर्जी न भेजता।

परिणाम यह हुआ कि जब परिणाम घोषित होने के बाद वह डेक्कन कालेज में गया, उसे प्रवेश नहीं मिला। यह खबर बेलगांव पहुंची, तब वहां के जिस हाई स्कूल में वह पढ़ता था, उसके हेड मास्टर रावजी बालाजी करंदीकरजी ने एक सिफारिशी-पत्र लिखकर उसके पास भेज दिया। करंदीकरजी इस युवक से बड़ी-बड़ी उम्मीदें रखते थे और पूना के सभी कालेज उनको इज्जत की निगाह से देखते थे। बिना मांगे आया हुआ करंदीकरजी का पत्र देखकर युवक दत्तात्रेय बड़ा खुश हुआ। पत्र लेकर वह दुबारा डेक्कन कालेज में गया। उस दिन डेक्कन कालेज में 'रेसिडेंसी' के कमरों की बंटाई चल रही थी। एक 'फैलो' बंटाई का काम करता था। दत्तात्रेय ने इस फेलो के हाथ में करंदीकरजी का पत्र रख दिया। फेलो ने वह पढ़ा, नीचे का हस्ताक्षर देखा और पत्र जेब में रखकर वह फिर से बंटाई के काम में जुट गया। दत्तात्रेय का खयाल था कि पत्र के नीचे का हस्ताक्षर देखकर फेलो प्रभावित हुआ है। अब वह उसे कमरा अवश्य देगा। पर जब उसने देखा कि कमरों की बंटाई पूरी हो गई है और करंदीकरजी

के पत्र के बावजूद उसे कमरा नही मिला, वह बडा ही निराश हुआ और फेलो के पास जाकर उसने कहा, 'सिफारिशी-पत्र मुझे वापिस दीजिए ।'

फेलो ने उसकी ओर ऐसे विचित्र ढग मे देखा कि दत्तात्रेय को लगा, यह अब मुझ पर टूट पडने वाला है । वास्तव मे फेलो उसे यही कहने की कोशिश कर रहा था कि 'भाई, जल्दबाजी क्यो करते हो ? तुम्हारे लिए हमने कमरा रखा है । तुम्हे वह मिल जाएगा । जिनकी अर्जिया समय पर नही आती, पर जो खास-खास लोगो के सिफारिश पत्र लेकर आते है, उनके लिए कुछ कमरे हम खाली रखते हैं, उन्ही मे से तुम्हे एक मिलेगा । पर, अभी इस वक्त नही, कुछ देर के बाद ।'

पर दत्तात्रेय की समझ मे उसकी यह बात नही आई । उसे लगा कि वह किसी भी हालत मे कमरा देने वाला नही है । दत्तात्रेय को लगा मैने करदीकर-जी का पत्र इसको दिया, यह भारी गलती की । असल मे मुझे वह प्रिंसिपल साहब के हाथ मे देना चाहिए था । उसने फिर से फेलो से कहा, 'कृपया मेरा वह सिफारिश पत्र मुझे वापिस दीजिए, फेलो उसकी ओर घूरकर देखता रहा । मानो कहता हो, 'बेवकूफ, तू कुछ भी नही समझता । तेरा भाग्य ही तेरे विरूद्ध गया हो तो भला मैं तुझे क्या मदद कर सकता हू ।' उसने करदीकरजी का पत्र दत्तात्रेय को वापिस दे दिया ।

यह पत्र लेकर दत्तात्रेय प्रिंसिपल साहब के पास गया । पर उन्हे पत्र देना भूल गया । उसके बदले उसने कहा, 'मुझे रेसिडेसी मे कमरा चाहिए ।'

'सुबह तुम फेलो से मिले थे क्या ?'

'जी नही, दोहपर को मिला था ।'

जवाब सुनकर सेल्वी ने कहा, 'मुझे अफसोस है, तुम और कही कोशिश करो ।'

बस, प्रिंसिपल सेल्वी के इस जवाब ने डेक्कन कालेज मे पढने की युवक दत्तात्रेय की इच्छा पर हमेशा के लिए पानी फेर दिया ।

और वह फर्ग्यूसन कालेज मे भर्ती हो गया ।

काका साहब कहते हैं :

कभी-कभी सोचता हूं, मेरे पिताजी फौजी विभाग मे नौकरी करते थे । वे अगर वही टिके रहते और मुल्की विभाग मे न आते, तो मेरे जीवन-प्रवाह

> को क्या दिशा मिलती ? सम्भवतः फौजी वायुमंडल मे फौजी कैरीयर की ही इच्छा हो जाती। वैसे ही, कभी-कभी सोचता हूं कि अगर डेक्कन कालेज मे मुझे प्रवेश मिल जाता, तो मेरा जीवन-प्रवाह किस दिशा मे बहने लगता ? संभवतः मैं सरकारी नौकरी मे ही लग जाता। पिताजी तो सरकारी नौकरी मे थे ही। बड़े भाई भी अब लग गए थे। मै भी शायद उसी दिशा मे जाता। मेरे जीवन-प्रवाह को भी एक दूसरी दिशा मिल सकती थी। विद्या के प्रति मुझमे गहरी रूचि थी। डेक्कन कालेज मे मेरी इस रुचि को और मेरी विद्याव्यासंगी वृत्ति को काफी पोषण मिलता और संभवतः मैं एक विद्वान के रूप म आगे आता, प्रतिष्ठा भी पाता।

बेवकूफ बनाकर ईश्वर ने मुझे बचा लिया, हमेशा मुझे ऐसा ही महसूस हुआ है।

पर डेक्कन कालेज म यूरोपियन प्रोफेसरो का जो सपर्क मिलता, वह फर्ग्युसन म नही मिला। इस बात का काका साहब को दुःख रहा। काका साहब लिखते हैं :

> फर्ग्यूसन मे अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी साहित्य की पढ़ाई तो हुई, पर अंग्रेजो का संपर्क नही मिला इस बात का विषाद मुझे हमेशा रहा है। अंग्रेजो के संपर्क से हम अधिक सस्कारी या सुशिक्षित होते हैं, ऐसा तो कभी नही माना। पर बिलकुल अलग सस्कृति के लोगो के घनिष्ट सम्बध मे आना संस्कारिता का एक आवश्यक अग है, यह मेरी राय कालेज की पढाई पूरी होने से पहले ही पक्की हो चुकी थी।

जो विद्यार्थी पूना बम्बई मे रहते है और जो कालेजो की इमारतो से परिचित है, उन पर कालेजो का शायद कोई प्रभाव न होता होगा। युवक दत्तात्रेय ने अब तक किसी कालेज की इमारत तक नही देखी थी। वह जब फर्ग्यूसन मे भरती हुआ, तब उसे उत्कटता के साथ यही महसूस होने लगा कि 'मैं एक नई दुनिया मे आ गया हूं। यह सुशिक्षित लोगो की दुनिया है।'

'सुशिक्षित' की उसकी अपनी एक व्याख्या थी, जो उसने अपने बड़े भाई के जीवन को देखकर बनाई थी।

उसका बड़ा भाई बीमार था। कई दिनों से पथ्य पर था। एक दिन मां को लगा, काफी दिनों से यह पथ्य पर है, बेचारा पथ्य से ऊब गया होगा। मां ने एक दिन उसके लिए एक स्वादिष्ट चीज बनाई और उसे खाने को दी। भाई ने यह चीज लेने से साफ इंकार कर दिया और कहा, 'मेरे लिए यह अपथ्य है, इतना स्पष्ट मालूम होने पर भी अगर मैं यह खाऊं तो किस मुंह से कहूं कि मैं सुशिक्षित आदमी हूं।'

भाई के इस जवाब का युवक दत्तात्रय पर इतना बड़ा प्रभाव पड़ा कि उसने 'सुशिक्षित' की व्याख्या इस तरह बना डाली : 'जो हित और अनहित के बीच का फर्क परख सकता हो और अनहित टालने की जिसमे शक्ति हो, वही सुशिक्षित है।'

उसे लगा कि भाई में यह शक्ति उसकी कालेज की शिक्षा के कारण आई है। कालेज की शिक्षा के बारे मे इतने ऊंचे ख्यालो को लेकर ही युवक दत्तात्रेय ने फर्ग्यूसन मे प्रवेश किया।

फर्ग्यूसन कालेज में

देश के अन्य कालेजो की अपेक्षा फर्ग्यूसन बिल्कुल अलग कोटि का कालेज था। इसकी स्थापना ही तिलक जैसे देशभक्तो ने की थी। युवक दत्तात्रेय ने इस कालेज मे प्रवेश किया, उन दिनो तो वह वाद-विवादो का मानो कुरूक्षेत्र बन गया था। पूना मे उन दिनों जितने भी राजनैतिक पक्ष थे नरम, गरम, सुधारक, उद्धारक, क्रांतिकारी, सभी के प्रतिनिधि इसके विद्यार्थी-निवास मे रहते थे। पूना का वातावरण ही हमेशा ऐसा रहा है कि वहा कोई भी व्यक्ति पक्षरहित या निष्पक्ष रह ही नही सकता। ऐसे मनुष्य को पूना-वायुमंडल बरदाश्त ही नही कर सकता। वही माहौल अधिक तीव्रता के साथ फर्ग्यूसन मे दिखाई देता था। युवक दत्तात्रेय नया ही यहां आया था। वह किस पक्ष का है, अभी स्पष्ट नही हुआ था। ज्योंही उसने विद्यार्थी-निवास मे कमरा लिया, हर पक्ष का समर्थक उसके पास आने लगा और उसे अपने पक्ष का बनाने की कोशिश करने लगा। शुरू-शुरू मे उसकी स्थिति ऐसी हुई, जैसी पहली बार शहर मे आनेवाले देहाती विद्यार्थी की हुआ करती है।

उसका कोई पक्ष नही था, ऐसी बात नही है। पिछले दो-तीन वर्षों से वह लोकमान्य तिलक का 'केसरी' साप्ताहिक नियमित रूप से पढ़ता आया था।

लोकमान्य की सीधी सरल ओर प्रौढ मराठी भाषा का वह प्रशसक बन गया था। लाकमान्य जब प्रतिपक्षी के खिलाफ लिखते, तब उनकी भाषा का आवेश चरम सीमा पर पहुच जाता था। दत्तात्रेय उनकी इस जोशीली शैली पर मुग्ध था। कई लोग कहते कि प्रतिपक्ष को परास्त करने के लिए लोकमान्य जिस भाषा का प्रयाग करते हैं, उसम न तो विनय होती है, न ही प्रतिपक्षी के प्रति आदर दोख पडता है, बल्कि जहर ही अधिक रहता है, तब दत्तात्रेय लोकमान्य का पक्ष लेते हुए उन की ही भाषा मे जवाब देता, 'आखिर हैं तो लडवैया। वे दूसरे किस प्रकार स लिख सकते है ? उन्हे अगर निवृत्ति मे समय बिताना होता तो वे सब तरह की उदारता दिखलाते। पर उन्हे तो काम करना है और जिसे काम करना होता है, उसे कभी कभी प्रखर भी होना पडता है।'

अर्थात उसका झुकाव स्पष्ट लोकमान्य के ही प्रति था। लोकमान्य के प्रति उस विलक्षण आकर्षण था। वह उनसे मिलना भी चाहता था। हालाकि लोकमान्य की कई बाते उसकी समझ मे नही आती थी। जो अग्रेजो के सामने शेर बन सकता है, वही रूढिवादियो के सामने बिल्ली कैसे बन सकता है यह उसकी समझ मे नही आता था। उसका निजी चिंतन अभी शुरू ही हुआ था। इतने मे उसके हाथ मे एक पत्र पडा। पत्र कारवार के उसके गुरू-तुल्य शिक्षक वामन मगश दुभाषी का था। उन्होने लिखा था

'सुना है, पढाई के लिए तुम पूना पहुच गए हो। पढाई के लिए इससे उत्तम स्थान देश म अन्यत्र कही नही है। पर एक बात का ध्यान रखना पूना का माहौल पूर्णतया राजनैतिक है। वहा कई पक्ष है। हर पक्ष के समर्थक तुम्हे अपने पक्ष म खीचने की कोशिश करेगे। मै इतना ही कहना चाहूगा कि पढाई के दरमियान किसी भी पक्ष म मत पडना। तुम्हारी उम्र की ओर देखते हुए मुझे डर है, तुम जोशील पक्षो की ओर खीचे जा सकते हो। इसीलिए मैने यह चेतावनी दी है। जाना ही हो तो पूर्ण वि करके जाना और पढाई के बाद जाना।'

दत्तात्रेय ने यह पत्र दो-तीन बार पढा। वह जानता था कि वामन मास्टर उसके हितचिंतक है। उनके प्रति उसका पूज्यभाव था। आदर के साथ वह उनकी ओर देखता था। उनकी ओर से इस तरह की चेतावनी मिलना स्वाभाविक था

और दत्तात्रेय का उस चेतावनी को गम्भीरता से मान्यता देना भी उतना ही स्वाभाविक था।

पर दत्तात्रेय पर इस पत्र का कोई विशेष असर नही हुआ। वह जानता था कि वामन मास्टर का झुकाव गोखले आदि नर्म दल के लोगो के प्रति है। लोकमान्य के प्रति उनके मन मे शकाएं है और दत्तात्रेय के मन मे नर्म दल के लोगो के प्रति कोई विशेष आदर नही था। उसने ऊपरी तौर पर अपने आप से कहा : वे कारवार मे रहकर पूना की राजनीति के बारे मे क्या जाने ? ऐसी चेतावनी का मुझ पर क्या असर होने वाला है ?

उसकी ऊपरी प्रतिक्रिया तो यही हुई, पर वामन मास्टर की चेतावनी उसके अदर गहराई म काम करती रही। अनजाने मे ही उसके हृदय ने निर्णय ले लिया वामन मास्टर जो कहते है, ठीक ही है। किसी भी पक्ष मे हम शामिल नही होगे, किसी के साथ नही जाएगे, पर राजनीति से अलिप्त भी हर्गिज नही रहेंगे। सभी पक्षो को समझने की कोशिश करेग, सबसे मिलते-जुलते रहेग; सबकी सुनेग। जिसमे स्वीकारने योग्य जो-कुछ मिलेगा, अवश्य स्वीकार लेंगे, पर पूर्णतया किसी के नही होग।

कहना चाहिए वामन मास्टर की इस चेतावनी ने युवक दत्तात्रेय को किसी भी पक्ष के साथ बह जाने से बचा लिया। अत हर पक्ष की विचार-प्रणाली और कार्य-पद्धति को वह स्वतत्र रूप से नाप-तौल सका और हर एक के बारे मे अपनी स्वतत्र राय भी स्थापित कर सका।

पूनावास के प्रारभ मे ही उसे हर प्रश्न को तटस्थता और स्वतत्र बुद्धि से सोचने की दीक्षा मिल गई थी।

मनोमंथन

फर्ग्यूसन की दुनिया उसकी परिचित दुनिया से बिल्कुल अलग थी। इस दुनिया मे युवक दत्तात्रेय लगभग चार साल रहा। यह उसके जीवन का गहन मनोमथन का काल था। आदर्शों मे वह कभी इधर झुकता तो कभी उधर। स्वतत्र और तटस्थ बुद्धि से ही सब प्रश्नो की ओर देखता था, उनकी छानबीन

करता था। पर पक्का निर्णय नही कर पाता था। उम्र भी ऐसी थी कि वह उसे कई परस्पर विरोधी आदर्शों की ओर खींच ले जाती थी।

इन्हीं दिनों उसके हाथ में जनरल आर्मस्ट्रांग की जीवनी पड़ी। अमरीका के विख्यात नीग्रो नेता बुकर टी वाशिंगटन के यह गोरे गुरू थे। अमरीकी नीग्रो को गुलामी से स्वतंत्र कराने की लड़ाई मे उन्होंने बहुत बडा हिस्सा लिया था। उनकी जीवनी मे युवक दत्तात्रेय ने एक प्रसंग पढ़ा : आर्मस्ट्रांग ने कालेज की पढ़ाई पूरी की, तब किसी ने उनसे पूछा, 'आपकी पढ़ाई तो पूरी हुई, अब आप क्या करना चाहते हैं ?'

'अभी तो कुछ तय नहीं कर पाया हूं।' आर्मस्ट्रांग ने जवाब दिया, 'पर, मेरे सामने दो विकल्प हैं—या तो मैं पाइरेट (समुद्री डाकू) बनूंगा या मिशनरी (धर्म प्रचारक) बनकर लोक सेवा करूंगा।'

युवक दत्तात्रेय ने यह प्रसंग पढ़ा, तो उसका मन इस कथन से एकदम सहमत हुआ : 'अरे ! इन्होंने तो मेरे ही मन की बात कह डाली है। मेरे मन मे भी ऐसे ही परस्पर विरोधी संकल्प उठते हैं।'

दत्तात्रेय की जिज्ञासा पहले से ही बड़ी तीव्र थी। पढ़ाई के और पढ़ाई के बाहर के कई विषयों में उसे रूचि थी। यहां फर्ग्यूसन मे उसे एक बड़ा पुस्तकालय भी मिल गया। अपने आसपास वह कई तरह की पुस्तकें इकट्ठा करने लगा। उम्र के हिसाब से उसका वाचन भी विशाल था। पर पढ़ाई के बाद क्या करना है, इस विषय में वह कुछ भी तय नही कर पाया था। यह तय करना उसे मुश्किल मालूम होता था। इस नई दुनिया मे वह आया तो था इंजीनियर बनने के लिए, पर इंजीनियर बनने का उसका संकल्प पहले ही वर्ष में छूट गया। इंटर आर्टस में उसने लॉजिक विषय लिया था। उसमें उसकी रूचि बढ़ी। वह ज्यों-ज्यों उसमे गहरा उतरने लगा, त्यों-त्यों उसका दर्शन-शास्त्र के कई क्षेत्रों से—भले ही छिछला हो—परिचय हुआ। फिर यही धुन सवार हुई कि दुनिया में जितनी भी विचार-प्रणालियां हैं, उन सबको समझ लेना आवश्यक है। मनुष्य कितने प्रकार से सोच सकता है, जीवन मे झांकने की कितनी दृष्टियां अब तक विकसित हुई हैं, यह सब जानना चाहिए। यही नहीं, उसे यह भी महसूस होने लगा कि अगर मैंने यह जानकारी प्राप्त नही की तो मेरी पढ़ाई ही अधूरी रह जाएगी।

इसलिए इटर आर्टस मे सेकंड क्लास मिलते ही उसने चुपचाप अपना नाम बी० ए० मे दाखिल करा दिया। और 'लाजिक' तथा 'मोरल फिलोसफी' ऐच्छिक विषय के रूप मे चुन लिए।

छुट्टियों में उसने पिताजी से कहा, 'मै तो बी० ए० करूगा। इजीनियर बनने का विचार छोड दिया है।'

पिताजी इन मामलो मे विशेष कुछ जानते नही थे। उन्हे इतना ही संतोष था कि उनका दत्तू हर साल पास होता है। उसके दूसरे भाइयो की तरह वह साल बरबाद होने नही देता। उसके पीछे जो खर्च होता है वह व्यर्थ नही जाता। वह फिजूलखर्ची भी नही करता।

पिताजी ने इतना ही जवाब दिया, 'जैसा तुम्हे ठीक लगे वैसा ही करो। आशा करता हू कि तुम्हे स्कालरशिप मिलेगी। अगर मिल जाए तो मेरा आर्थिक बोझ कुछ हद तक कम हो जाएगा।'

दत्तात्रेय को स्कालरशिप मिली थी, सिर्फ छ माह के लिए। छः माह के बाद परीक्षा आई, उसमे वह नही बैठा। परिणामत स्कालरशिप बद हो गई। वह दूसरे विद्यार्थी को मिली। पिताजी का बोझ हल्का नहीं हुआ। पर इसका न तो पिताजी को दुख हुआ, न पुत्र को।

दत्तात्रेय ने दर्शनशास्त्र विषय चुन लिया था पर दार्शनिक बनने के लिए नही। न वह दार्शनिक बनना चाहता था, न दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक। वह पारमार्थिक-सीरियस-युवक था। उसे जीवन-रहस्य समझकर अपना जीवन कृतार्थ करना था, इसीलिए उसने यह विषय चुना था।

देश के लिए मर मिटने की इच्छा उसमे अब भी कायम थी। फर्ग्यूसन का माहौल ही ऐसा था कि वह उसे यह इच्छा छाडने न देता। पर कभी-कभी उसके मन मे एक दुविधा आ जाती, 'क्या इतना बडा काम मुझसे होगा ?' और जवाब मिलता, 'नही, यह काम आसान नही है। इससे बेहतर तो यह ही होगा कि मै सरकारी नौकरी कर लू, अच्छा कमाऊंगा तो संतोष से जी पाऊंगा।'

पर सरकारी नौकरी के प्रति उसके मन मे वाकई तिरस्कार था। पिताजी ने सरकारी नौकरी की। किन्तु उनका जमाना अलग था। मै तो तिलक के युग का नौजवान हूं। मै कैसे सरकारी नौकरी कर सकता हू। अपनी सरकार होती तो

बात अलग होती, पर यह तो देश के सबसे बड़े दुश्मन अंग्रेजो की सरकार है। उनकी नौकरी मै करू ? छी:, मुझे नही करनी है, वह अपने आपमे कहता।

एक दिन उसके बडे भाई ने उससे कहा, 'देखो दत्तू, मै सरकारी नौकरी मे हू। मेरा कही-न-कही कुछ-न-कुछ प्रभाव है। तुम चाहो तो मै तुम्हे कही भी लगा सकता हू।' तब दत्तात्रेय को बडा गुस्सा आया। उसने बड़े भाई का अपमान भी कर डाला। उसने कहा, 'कालेलकर खानदान ने सरकार को एक गुलाम दिया वह काफी है और देने की जरूरत नही है।'

सरकारी नौकरी के प्रति उसका यह तिरस्कार सच्चा और निष्कपट था। पर इस तिरस्कार के बावजूद उसके मन मे कभी-कभी यह भी आ जाता कि सरकारी नौकरी क्यो न करू ? क्या हर्ज है ? काफी पैसे कमाऊगा। आराम से जी सकूगा और विद्याव्यासग मे भी जिंदगी बसर कर सकूगा। देश को विद्वानों की भी तो जरूरत है।

जब मन में इस प्रकार के विचार आते तब उसका दिल बगावत करने लगता। वह अपने-आपसे कहता, 'यह क्या सोच रहे हो तुम ? छोड दो यह विचार। यह तुम्हारा मार्ग नही है। इस मार्ग से चलोगे तो दुनिया की निगाह मे तुम शायद बड़े दीख पडोगे, पर अपनी नजर मे तुम गिर जाओगे। तुम दूसरों को धोखा दे सकते हो, अपने को नही। अपनी दृष्टि मे तुम हीन हो गए तो फिर दुनिया के मान-सम्मान की क्या कीमत ?

उसका मनोमथन जब यहा तक आ जाता, तब वह निश्चय कर लेता : 'नही, मुझे आराम से जीना ही नही है। मुझे अंग्रेजों का राज खत्म करना है। अब तुरत किसी क्रातिकारी दल मे शामिल होकर गुप्त लडाई की तैयारी मे लग जाना है। और...अगर इसमे पकड़ा गया तो हंसते-हंसते फांसी के तख्ते पर जान कुर्बान करनी है।'

ऐसे परस्पर विरोधी आदर्शों के बीच वह झूल रहा था, ठीक इसी समय रूस और जापान की लडाई की खबरे उसे मिली। केवल दत्तात्रेय को ही नही, किसी को भी विश्वास नही था कि एशिया का कोई देश यूरोप के किसी देश से टक्कर ले सकता है। यूरोप को ईश्वर का वरदान है, इसीलिए वह अफ्रीका

और एशिया मे अपनी सत्ता मजबूत कर सका है। उन दिनों की सभी काले लोगों की यही धारणा थी। भारत मे भी लगभग सभी लोगों ने—राजा-महाराजाओं ने भी और समस्त प्रजा ने भी- पूरे दिल से यही मान लिया था कि अंग्रेजों की सत्ता किसी भी हालत मे यहां से हटने वाली नही है। हमारे देशभक्त चाहे जो कहें।

इस संदर्भ मे जब यह खबरें मिली कि जापान ने रूस को ललकारा है और बड़ी बहादुरी से वह उससे टक्कर ले रहा है, तब लोगो को बडा आश्चर्य हुआ। रूस की उन दिनो दुनिया की सबसे बडी फौजी ताकत के रूप मे ख्याति थी। अंग्रेज भी उससे डरते थे। उसी के खिलाफ जापान लड रहा है। फर्ग्यूसन के विद्यार्थी एशिया का नक्शा लेकर उसमे जापान ढूढ़न लगे, तब उन्हें और भी आश्चर्य हुआ। इतना छोटा, केवल चार टापुओं का यह देश बड़े रूस के खिलाफ कैसे लड रहा है? सभी को लगा, इतन बडे देश के सामने इतना छोटा देश कुछ नही कर सकता। वह लडेगा, पर बुरी तरह हारेगा। इतने बडे रूस के खिलाफ लड़ने की गोरे लोगो मे किसी की हिम्मत नही होती। जापान का यह केवल दुस्साहस ही है।

पर अखबारो मे ऐसे समाचार आते, जिन पर विश्वास करना मुश्किल होता था। समाचार तो तटस्थ देशो से ही आते थे, इसलिए विश्वास करना ही पडता था। जापान का युद्ध-कौशल उसके युद्ध-भूमि के चुनाव से ही सबसे पहले प्रकट हुआ। यह युद्ध जापान मे नही, बल्कि रूस की भूमि पर लड़ा जा रहा है। जापानी लोग जहाजों मे भरकर फौज ले जाते, रूस की भूमि पर उतारते और वही लड़ते। रूस को आगे बढ़ने ही न देते। 'पार्ट आर्थर' रूस का सबसे बड़ा फौजी अड्डा माना जाता था, जापान ने वह अपने कब्जे मे ले लिया। 'मुकडेन' मे घमासान युद्ध हुआ और जापान ने वहा पर भी रूस को हराया।

इतने में एक खबर आई कि रूस और नार्वे-स्वीडन के बीच समुद्र मे रूस का एक विशाल बेड़ा है। यह पूरा बेड़ा वहां से निकल पड़ा है और वह जापान की ओर आ रहा है। पर किस रास्ते? इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच होकर वह प्रथम अटलांटिक महासागर में आएगा। वहा से दक्षिण अफ्रीका का चक्कर लगाकर हिन्द महासागर मे प्रवेश करेगा। ओर वहा से प्रशान्त महासागर मे प्रवेश करके सीधा जापान पर हमला करेगा। तीन महासागरो का इतना बड़ा सफर दुनिया

के इतिहास मे किसी भी नौसेना ने नही किया होगा। इस युद्ध का वर्णन सुनने के लिए दुनिया के बड़े-बड़े लोगों की तरह फर्ग्यूसन के विद्यार्थी भी बड़े उत्सुक थे। और कितना बड़ा आश्चर्य -एक दिन समाचार मिला कि रूस का यह बेड़ा जापान ने एक ही दिन मे खत्म कर डाला। कल्पना मे भी नही आता था कि यह सब कैसे हो गया।

जापान की बहादुरी की ये खबरे सुनकर सारे एशिया मे नए प्राण का संचार हुआ। सभी देश यही महसूस करने लगे, मानो जापान एशिया के सभी लोगो की ओर से यह लड़ाई लड रहा है। जापान की हर जीत पर सभी खुश होने लगे, मानो खुद ही लडाई मे विजयी हुए हो।

आखिरकार इस युद्ध मे रूस हार गया। अक्सर होता यह है कि जो हार कबूल करता है, वही विजयी देश के पास सुलहनामे की दरख्वास्त पेश करता है। इस लडाई मे उल्टा हुआ : विजयी जापान ने ही सुलहनामे की दरख्वास्त पेश की। लश्करी विजय से भी जापान की यह नैतिक विजय महान सिद्ध हुई।

जापान की इस विजय ने एशिया के इतिहास मे एक नया मोड लिया। मसलन चीन के सिर पर रूस की तलवार हमेशा लटकती रही थी। इस कारण चीनी प्रजा को अपने बादशाह के खिलाफ अपनी शक्ति आजमाने का कभी मौका नही मिलता था। अब वह तलवार हट गई और चीन ने करवट बदली। इसके साथ दुनिया का इतिहास भी बदल गया।

इधर फर्ग्यूसन मे दत्तात्रेय जैसे विद्यार्थी अब नई दिशा मे देश और अपनी जिंदगी के बारे मे सोचने लगे। एक छोटा-सा देश यह चमत्कार कर दिखा सकता है तो हम क्यो नही दिखा सकते? हमारा देश तो एक बहुत बडा देश है।

वे खोजने लगे हमारे देश के नेताओ मे यह कर के दिखाने की किसमे शक्ति है?

उसके नेता

देश की राजनीति उन दिनो दो विचारधाराओ मे बहती थी। दोनों के नेता दो महाराष्ट्रीय थे और दोनो पूना मे ही रहते थे, एक थे, 'राजमान्य' गोपाल कृष्ण गोखले और दूसरे थे, 'लोकमान्य' बाल गंगाधर तिलक। यह राजमान्य और

लोकमान्य उपाधिया दोनो के बीच का मूलभूत भेद व्यक्त करने के लिए ही लोगों ने उन्हें दी थी। गोखले का सरकार-दरबार मे अच्छा प्रभाव था। वे विधान परिषद के सदस्य थे। इस नाते वे 'आनरेबल' कहलाते थे। इसी 'आनरेबल' का रूपान्तर लोगो ने राजमान्य मे किया था। इस मे उपहास का भी कुछ अश था।

तिलक लोगो के बीच काम करते थे। लोगो को जाग्रत करते थे, लोगो मे जो असंतोष या क्षोभ छाया रहता था, उसे वे प्रकट करते थे। इसीलिए किसी अग्रेज ने उन्हे 'फादर आव इडियन अनरेस्ट' भारतीय असतोष के जनक कहा था। उसी का रूपान्तर लोगो ने लोकमान्य शब्द मे किया था। इसमे तिलक का गौरव निहित था।

लोग दोनो को दूसरे दो सदर्भो मे भी पहचानते थे। गोखले नरम दल के नेता थे और तिलक गरम-दल के।

युवक दत्तात्रेय का झुकाव तिलक की ओर था। फर्ग्युसन मे आने से पहले ही वह उनका भक्त बन गया था। गोखले के बारे मे उसके मन मे तिलक के अन्य अनुयायियो की तरह एक तरह का तिरस्कार ही था, पर फर्ग्युसन मे उसने गोखले की स्तुति सुनी, वह भी मुक्तकठ से। स्तुति और निंदा दोनो उसने इतनी अधिक मात्रा मे सुनी कि किसी निर्णय पर पहुचना उसके लिए कठिन हो गया। मन-ही-मन उसने इतना निश्चय कर लिया कि गोखले चाहे जैसे हो, जानने लायक व्यक्ति तो हैं ही। उन दिनो विलायत मे 'इडिया' नाम का एक पत्र प्रकाशित होता था, जो भारतीय राष्ट्रीय काग्रस का मुखपत्र माना जाता था। उसमे गोखले के भाषण छपते थे। मद्यनिषेध की जो योजनाए वे बनाते, उनका ब्यौरा उसमे आता और सबसे महत्व की बात : वे जो केनेडा जैसा सेल्फ गवर्नमेट' (स्व-शासन) मागते थे, उसकी दलीले उसमे प्रकाशित होती थी। फर्ग्यूसन मे यह पत्र आता था। और युवक दत्तात्रेय वह ध्यानपूर्वक पढता था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके मन मे गोखले के प्रति कुछ श्रद्धा तो उत्पन्न हो ही गई और वह मानने लगा कि गोखले जो-कुछ करते हैं, सच्चे दिल से करते है और वह देशहित की लगन मे ही करते हैं।

विधान परिषद मे गोखले बोलने के लिए खड़े होते थे, तब उनका भाषण सुनने के लिए देश के कई नेता वहां उपस्थित होते थे। इतना ही नही, बल्कि

अनुभवी अंग्रेज अफसर भी उनके भाषण सुनने आते थे। उनकी यह ख्याति थी कि वे जिस किसी विषय पर बोलते हैं, पूरी मेहनत करके उसके हर पहलू की जानकारी हासिल करके बोलते हे। युवक दत्तात्रेय पर इस प्रशस्ति का भी कुछ प्रभाव पड़ा। सन् 1902-1904 वायसराय लॉर्ड कर्जन का काल था। अब तक जितने वायसराय देश में आए उनमे कर्जन ही सबसे ज्यादा घमंडी और अत्याचारी वायसराय थे। उनकी नीतियो पर भले ही सौम्य शब्दों मे पर युक्ति-युक्त प्रहार करने का काम गोखले ने बड़ी निडरता से किया था। इसकी भी कद्र युवक दत्तात्रेय करने लग गया था। कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में गोखले ने अध्यक्ष पद से जो भाषण दिया था, वह तो उसे इतना संपूर्ण मालूम हुआ था कि उसने वह कई बार पढा, फिर भी उसे संतोष नही हुआ। गोखले एक बड़े देश सेवक हैं, यह ख्याल उसके मन मे पक्का हो गया था।

गोखले के दर्शन करने का मौका भी उसे एक दिन मिल गया। गोखले फर्ग्यूसन कालेज मे ही पधारे थे। भाषण के लिए वे मंच पर खड़े हुए तब उनकी प्रसन्न गम्भीर मूर्ति देखकर दत्तात्रेय बडा प्रभावित हुआ। उनका भाषण भी उसे प्रभावशाली मालूम हुआ। हालाकि उसमे वक्ता की कोई चमक नही थी, पर वे जो-कुछ बोले उसमे उसे संस्कारिता दिखाई दी थी। देश-कल्याण और देश-सेवा की लगन तो ओतप्रोत थी। स्वर मे अंतःकरण की उत्कटता का गुंजन था। स्पष्ट रूप से दिखाई दिया कि यह कोई मामूली 'पालिटिशियन' नही हे। सौ-दो-सौ साल के बाद का विचार करने वाला यह एक राजपुरुष ही है। हमेशा उदात्त वातावरण मे विहार करने वाली यह एक विभूति है। फर्ग्यूसन तो उन्ही के हाथो परवरिश पाया हुआ उनका गोकुल था। इसलिए उनके उपदेश मे एक प्रकार का अधिकार भी दिखाई देता था और वात्सल्य भी दीख पड़ता था। इस भाषण मे उन्होंने जो एक बात कही, वह हमेशा के लिए दत्तात्रेय के ध्यान मे रह गई। उन्होने कहा —आयकर लेने वाले कर्मचारी हर साल आपके दरवाजे पर आते हैं और कर वसूल कर ले जाते है। मैं भी उन्ही-जैसा 'टेक्स गेदरर' हू। देश के नाम पर आपसे कर वसूल करने आपके दरवाजे पर खड़ा हूं। मुझे पाच फीसदी के हिसाब मे कर चाहिए। पैसो का नही, नव-युवको के श्रद्धावान जीवन का। मै चाहता हू कि इस विद्यालय मे जो पढ़ते है, उनमे से केवल पांच फीसदी युवक देश-सेवा के लिए अपना जीवन समर्पित करें।

छोटी-सी मांग थी, पर इतनी महत्वपूर्ण थी कि वह सुनते ही युवक दत्तात्रेय का दिल थर्रा गया। उस दिन उसके हृदय मे एक नया प्रकाश आया। उसके विचारों को एक नई दिशा मिली और वह कहता है, कुछ अश तक मे 'द्विज' भी बन गया।

फिर भी वह अपना पूरा दिल उनको नही दे सका। इसका एक कारण यह था कि जिस स्व-शासन के लिए गोखले लड रहे थे, वह दत्तात्रेय की दृष्टि से पर्याप्त नही था। दत्तात्रेय तो अग्रेजो की सत्ता से देश को पूर्ण रूप मे मुक्त करने की चाह रखता था। गोखले के स्वशासन के आदर्श मे यह मुक्ति निहित नही थी। दूसरा कारण यह था कि स्वशासन पाने के लिए भी जो मार्ग गोखले ने अपनाया था वह महज कानूनी था, वैधानिक था। उसमे आम लोगो के सहयोग 'पीपुल्स पार्टिसिपेशन' के लिए विशेष गुजाइश नही थी। प्रजा-शक्ति के बारे मे गोखले के मन मे विश्वास नही है, उसे ऐसा प्रतीत होता आया था। इसलिए भी वह संपूर्ण रूप मे अपने नेता के तौर पर उनका चुनाव नही कर सका। गोखले राजनीति को जड-मूल मे शुद्ध और आध्यात्मिक बनाना चाहते थे। उन दिनों फुरसत के समय ही देश-सेवा करने की जो प्रथा चलती आई थी, उसे छोडकर दिन-रात देश-सेवा का ही विचार करने वाले देश-सेवको का एक वर्ग देश मे तैयार करने की चाह वे रखते थे। इन देश-सेवको के जीवन मे देश-सेवा को वे एक व्रत का स्थान दिलाना चाहते थे। इसलिए उनके सामने वे स्वेच्छा स्वीकृत गरीबी का आदर्श रखते आए थे। देश-सेवक जिस हद तक निर्धन होगा, उस हद तक उसकी देश-सेवा ठोस होगी, इसलिए देश-सेवक को चाहिए कि वह थोडे में गुजारा करे, द्रव्य लोभ को एक तरफ रखकर निस्पृहता की आदत डाले। तभी वह तेजस्वी बन सकेगा, सच्ची सेवा कर सकेगा, स्वतत्र रह सकेगा, यह समझाते आए थे और इस अकिंचनत्व के व्रत के साथ अखंड उद्योग, परिश्रम, शरीरश्रम को जोड़कर वे देश-सेवक का जीवन शुद्ध करने की इच्छा रखते थे। भारतीय राजनीति के लिए उनका यह जो योगदान था, इसकी ओर युवक दत्तात्रेय का ध्यान उस वक्त नही गया। वह तो काका साहब बनने पर ही गया। पर तब गोखले नही थे। गोखले के इन आदर्शों को अधिक ठोस रूप में कार्यान्वित करने वाले गाधीजी उन्हें मिल गए थे।

तिलक की बात अलग थी। वे चरित्रवान थे, विद्वान थे, बहादुर और वीर थे। लोक जाग्रति का काम लगातार करते आए थे। पूना मे प्लेग का

प्रकोप हुआ, इससे सब लोग घबड़ा उठे। सरकार ने प्लेग को रोकने के लिए 'सेग्रीगेशन' और क्वारेंटीन' जैसे कठोर उपाय उठाए। प्लेग से ज्यादा इन सरकारी उपायों का आतंक लोगों के लिए असहनीय हो उठा। जिसे जिधर रास्ता मिला, वह उधर भाग गया। पर तिलक पूना में ही रहे। कहीं नहीं गए। पूना में रहकर वे एक ओर लोगों की मदद करने लगे और दूसरी ओर उपाय के बदले अपाय करने वाली सरकारी नीति की कठोर आलोचना भी करते रहे। लोगों में जो क्षोभ छा गया था, उसे वे 'केसरी' के मार्फत प्रकट करने लगे। सरकार को लगा, तिलक ने ही यह क्षोभ पैदा किया है, जिसकी परिणति प्लेग अफसर रैण्ड और आर्यर्स्ट की हत्या में हुई है। सरकार ने 'केसरी' पर राजद्रोह का मुकदमा दायर किया। कइयों ने तिलक से कहा, 'आप माफी मांग लीजिए' तिलक झल्लाए, 'मैं माफी मांगूं ? क्यों ? मैंने सच्ची नीयत से काम किया है। मल्लाह का काम करने वाला किसी दिन समुद्र में डूब भी सकता है, उसी तरह देश-सेवा करने वाले के लिए कभी जेल यात्रा की भी नौबत आ सकती है।' उन्होंने माफी नही मांगी। सरकार ने उनको डेढ़ साल की सजा दी। सजा भुगत कर वे वापस आए, तब फिर से उन्होंने 'केसरी' हाथ में लिया और 'पुनश्च हरि ॐ' कहकर वे दुगुने उत्साह से लिखने लगे।

इस एक प्रसंग के कारण तिलक उन दिनों के जिंदादिल युवकों के अनभिषिक्त राजा बन गए थे। बल्कि राजा से भी कुछ अधिक थे। युवक दत्तात्रेय के सामने उनकी यह मूर्ति विराजमान थी।

तिलक की एक और विशेषता युवक दत्तात्रेय के ध्यान में आई थी।

कारावास में तिलक ने 'आर्कटिक होम इन द वेदास' नाम की एक पुस्तक लिखी। इसमें ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से वैदिककाल के निर्णय की चर्चा की गई थी। वेदों की कुछ ऋचाओं का निरीक्षण करने पर तिलक को लगा कि आर्यों का मूल निवास-स्थान उत्तर ध्रुव की ओर कहीं होना चाहिए। इस निमित्त तिलक ने जो अध्ययन किया, वह इस पुस्तक के पन्ने-पन्ने पर दिखाई देता था। उनका कितना व्यापक और गहरा अध्ययन था! ईरान, मेसोपोटेमिया, खाल्डिया, सीरिया, असीरिया आदि देशों का इतिहास और उनकी संस्कृतियों से उनका कितना गहरा परिचय था! इस पुस्तक के कारण यूरोप के विद्वानों में तिलक की कीर्ति फैल गई थी। मैक्समूलर जैसे प्राच्य विद्या विशारद उनसे काफी प्रभावित हुए थे।

किसी ने एक दिन तिलक से कहा, 'आप राजनीति मे खामखा अपना समय और शक्ति बरबाद कर रहे है। विद्या की उपासना ही आपका असली क्षेत्र है। आप अपनी विद्वता के द्वारा दुनिया की बडी-से-बडी सेवा कर सकते है।' उस समय तिलक ने जो जवाब दिया था, वह सुनकर युवक दत्तात्रेय उनके सामने नतमस्तक हो गया था। तिलक ने कहा था, 'देश के लिए लडना छोडकर मै अगर विद्वता के पीछे पडू तो क्या वह समीचीन होगा ? देश के लिए लडना यही मेरा परम कर्तव्य और प्रधान काम है। विद्वता का काम करने वाले लोग आज भी कई है। स्वराज्य मे तो कई पैदा होगे। इस क्षेत्र मे यह भूमि वध्या नही है।' तिलक के इस उत्तर के कारण दत्तात्रेय के मन मे 'विद्या की उपासना और देश-सेवा' के बीच का फर्क पहले-पहल स्पष्ट हुआ था।

तिलक स्वय वीर थे। पर वे यह भी मानते थे कि देश के करोडो लोगो मे यह वीरता छिपी पडी है। इस वीरता को जगाना उन्होंने अपना काम माना था। उनका जितना स्वय अपने पर विश्वास था, उतना ही विश्वास भोली मुग्ध भारतीय जनता पर था। लोकमान्य का लोकमान्यत्व उनके इसी विश्वास मे था।

और सबसे बडी महत्व की बात यह थी कि तिलक मराठी भाषा के द्वारा लोक जागृति का काम करते थे। वे अग्रेजी बहुत अच्छी तरह जानते थे, बहुत सुदर अग्रेजी लिखते भी थे। पर देशी भाषाओ की शक्ति पर उनका जबरदस्त विश्वास था। देशी भाषाओ के द्वारा ही करोडो अनपढो मे जागृति लाई जा सकती है और करोडो की जागृति मे ही स्वराज्य की कुजी है, उनके इस एक विश्वास के कारण दत्तात्रेय को तिलक उन दिनो के नेताओ मे सर्वश्रेष्ठ प्रतीत हुए थे। वे उसके आराध्य बन गए थे।

पर तिलक के जीवन के एक पहलू की ओर देखकर वह अक्सर व्याकुल हो जाता था। तिलक जितनी उग्रता से अग्रेजो के खिलाफ लड़ते थे, उतनी ही तीव्रता के साथ वे समाज-सुधारको का भी विरोध करते आये थे। गोपाल गणेश आगरकर का, जो उनके किसी समय के घनिष्ट मित्र थे, उन्होने इतनी तीव्रता से विरोध किया था, मानो वे अग्रेजो से भी बडे देश के दुश्मन हो। दत्तात्रेय समाज सुधार के विषय मे पूरा आगरकर के मत का था। वह मानता था कि हमारी पूर्व-पुरातन सस्कृति के बगीचे मे कई ऐसे पौधे उग आए हैं,

जिनकी निंदा (निराई) करना नितांत आवश्यक है। बगैर निंदाई के समाज स्वच्छ नही होगा और न ही संगठित हो सकेगा।

तिलक का कहना था कि जब विदेशी राज्य के नीचे दबकर जनता आत्म-विश्वास खो बैठी हो और खासकर जब विधर्मी पादरियों के द्वारा हमारी संस्कृति पर दिन-रात प्रहार होते हों, तब समाज-सुधार के नाम से समाज को हतोत्साहित करना बडी गलती है। युवक दत्तात्रेय के गले यह दलील किसी तरह नही उतरती थी।

वह बीच-बीच में तिलक से मिलने जाता था और तिलक भी उसके साथ बड़े सम्मान से पेश आते थे। उसे देश-सेवा की प्रेरणा भी देते थे। तिलक की यह एक बडी विशेषता थी कि वे नौजवानों को औरों से ज्यादा समय देते थे, औरों से ज्यादा उनसे काम भी लेते थे। ऐसी ही एक मुलाकात में युवक दत्तात्रेय ने पढाई छोडकर पूरा समय देश-सेवा के लिए देने का सवाल उठाया। तब तिलक ने कहा, 'नही, क्या मैंने कहा है कि तुम पढ़ाई छोड दो? मैं इतना ही कहता आया हू कि पढाई भी करो और देश-सेवा भी करो। यह संभव है कि इससे प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थी को द्वितीय श्रेणी से संतोष करना पडे। मेरा कहना है कि देश के लिए कम-से-कम इतना त्याग करने की तुम सब मे शक्ति होनी चाहिए।'

युवक दत्तात्रेय ने इस उपदेश को गुरू-मुख से सुने हुए मंत्र के समान माना था और उसे हृदयस्थ कर लिया था।

इस जबरदस्त श्रद्धा के बावजूद वह अपना पूरा दिल तिलक को भी नही दे सका। अपने आदर्श नेता के रूप मे वह सम्पूर्णत: उनका भी चुनाव नही कर सका। गोखले को जिस मर्यादा मे उसने माना था, उसी मर्यादा मे वह तिलक को भी मानता था। तिलक द्वारा संचालित कार्यक्रमो मे हिस्सा भी लेता था। पर मन मे यही सोचता रहता कि 'काश! देश मे एक ऐसा नेता होता, जो सामाजिक और राजनैतिक दोनों क्षेत्रो मे एक-सा निर्भय, एक-सा तत्वनिष्ठ और एक-सा स्वतंत्रतावादी होता।'

राजनीति मे वह जैसे-जैसे गहरा पैठता गया, उसका यह विश्वास भी दृढ होता गया कि भले ही आज ऐसा कोई नेता देश में दिखाई न दे, पर भविष्य मे

जल्दी ही ऐसा एक नेता अवश्य पैदा होने वाला है, क्योंकि समय की ही यह मांग है। देश को स्वराज्य की सचमुच भूख लगी है।

इसी दौरान उसका दो तेजस्वी नवयुवकों से परिचय हुआ। एक थे जीवतराम कृपलानी, जो बाद मे जे० बी० कृपलानी के नाम से देश मे विख्यात हुए और दूसरे का नाम था विनायक दामोदर सावरकर, जो सशस्त्र क्राति के भंवर से गुजरते-गुजरते बाद मे युयुत्सु हिन्दुत्ववाद के कट्टर समर्थक बने। दोनो फर्ग्यूसन मे उसके सहपाठी थे।

नास्तिकता का बुखार

हर विचारशील युवक के जीवन मे एक ऐसा समय आता हे, जब उसके शास्त्र-धर्म या ईश्वर विषयक सारे विश्वास यकायक टूट जाते हैं। इसके बाद इन मामलो मे वह या तो बिलकुल अश्रद्धावान बन जाता ह या संशयवाद या नास्तिकवाद के आवर्तकाल से गुजरने लगता है। जवानी के साथ मुह पर मुहासे निकल आना जितना स्वाभाविक हे, उतना ही विचार-जागृति के साथ सशयवाद या नास्तिकवाद से गुजरना अपरिहार्य हे, बल्कि आवश्यक भी है। आतरिक विकास की दृष्टि से यह आवर्तकाल बड़ा महत्व का होता हे।

युवक दत्तात्रेय ने फर्ग्यूसन मे प्रवेश किया, उस समय रैंगलर पराजपे फर्ग्यूसन के प्रिंसिपल थे। आमतौर से इस पद पर इन दिनो किसी बुजुर्ग की नियुक्ति होती थी। फर्ग्यूसन मे ऐसे बुजुर्ग कई थे, जिनका इस पद पर अधिकार था, पर उन्होने अपना यह अधिकार छोड दिया था। और इस तेजस्वी नौजवान को इस पद पर बिठाकर वे सब उसके मातहत काम करते थ। इसका एक कारण था—

अपने विद्यार्थी काल मे पराजपे ने एक होशियार विद्यार्थी के रूप मे अच्छी-खासी कीर्ति अर्जित की थी। उससे प्रसन्न होकर फर्ग्यूसन के त्यागी देशभक्त व्यवस्थापकों ने उन्हे उच्च शिक्षा के लिए विलायत भेज दिया था। खर्च का सारा प्रबंध भी इन्ही बुजुर्गों ने किया था और बदले मे उनसे लिखवा लिया था कि विलायत से लौटने पर वे कालेज के आजीवन सदस्य बने रहेगे और बीस साल तक इसे अपनी सेवा देते रहेंगे।

फर्ग्यूसन के बुजुर्गों की मदद लेकर परांजपे विलायत गए और कैंब्रिज युनिवर्सिटी की गणित की सर्वोच्च परीक्षा में प्रथम आए। उन दिनों यह एक बड़ी उपलब्धि मानी जाती थी। परांजपे की सफलता पर वायसराय ने भी उनका अभिनंदन किया था और उन्हें बड़ी-से-बड़ी सरकारी नौकरी दिलाने का वचन भी दिया था। फर्ग्यूसन के व्यवस्थापक उन्हें वचनमुक्त करने के लिए तैयार हो गए, पर इस तेजस्वी युवक ने वचनमुक्त होने मे साफ इंकार कर दिया। वचन तो वचन ही है, यह कहकर पढाई में मदद करने वाले त्यागी देशभक्त गुरूजनों के बीच रहकर सेवा का कार्य करने मे ही उन्होंने अपने जीवन की सार्थकता समझी।

अध्यापकों मे जो प्रिंसिपल होने की प्रौढ उम्र के थे, उन्होंने अपना हक छोड़ दिया और इस नवयुवक को प्रिंसिपल बनाकर वे उसके मातहत काम करने लगे।

फर्ग्यूसन मे परांजपे गणित पढ़ाते थे और गणित मे दत्तात्रेय की सबसे अधिक रूचि थी। पाठ्यक्रम मे जो पढाया जाता था, उससे बाहर के गणित में भी वह रूचि लेता था। सबसे अधिक रूचि उसे भूमिति में थी। केवल आनंद के लिए ही वह भूमिति के कठिन-से-कठिन सवालों को हल करने बैठता था। केसी की पुस्तक 'सिक्वेल टू युक्लीड' में भूमिति के कठिन-से-कठिन सवाल आते थे। वह उसकी प्रिय पुस्तक थी। कभी-कभी एकाध सवाल दो-दो दिन कोशिश करने पर भी हल न होता, तब वह प्रिंसिपल परांजपे के घर जाता और उनकी मदद लेता था। एक-दो बार ऐसा भी हुआ कि दत्तात्रेय एकाध सवाल लेकर प्रिंसिपल के यहां गया और उसे हल करते-करते स्वयं परांजपे के कपाल पर भी पसीने की बूंदें दिखाई दी हैं।

दत्तात्रेय की गणित-भक्ति देखकर उसके प्रति रैंगलर परांजपे का आकर्षण बढा हो तो उसमें आश्चर्य नही। दत्तात्रेय तो पहले से ही उनके प्रति आकृष्ट था। विद्यार्थियों से पेश आने का परांजपे का तरीका बिलकुल अंग्रेजों-जैसा था। वे विद्यार्थियों को हम उम्र मानते थे और मित्र की तरह उनसे पेश आते थे।

परांजपे को दो विषय बहुत प्रिय थे। एक था, गणित और दूसरा, बुद्धिवाद। वे गणित जितने उत्साह के साथ पढ़ाते थे, उससे दुगुने उत्साह से वे बुद्धिवाद का

प्रचार करते थे। वे धर्म को नही मानते थे। सभी धर्मों के प्रति उनके मन मे तिरस्कार था और ईश्वर को तो उन्होने जीवन से निकाल ही दिया था। बल्कि यों कहना चाहिए कि ईश्वर को उन्होंने पदच्युत कर डाला था। रहस्य-वाद को वे भ्रम कहते थे और सारे धर्मानुभवों को वहम या ढकोसला कहकर दूर फेंक देते थे। धर्म, नीति या अध्यात्म की कोई भी बात सामने आती तब अपनी बुद्धि की कसौटी पर पहले उसे वे कसते और खरी न उतरने पर बिना हिचकिचाहट उसे अस्वीकृत कर देते। बड़े आग्रह के साथ कहते थे: 'जो चीज बुद्धि की कसौटी पर खरी न उतरे, वह चाहे किसी ने भी कही हो, उसको न मानने में ही बौद्धिक ईमानदारी है।'

दत्तात्रेय उनके यहा अक्सर जाया करता था और पराजपे बीच-बीच में उसे बुद्धिवाद के बारे मे भी कई बातें बताया करते थे। लंदन की 'रेशनलिस्ट प्रेस एसोशियेशन' द्वारा प्रकाशित 'थीकर्स लायब्रेरी' की पुस्तकें भी उसे पढ़ने के लिए देते। दत्तात्रेय मे तो अलग-अलग विचार-प्रणालिया जानने की इच्छा पहले से ही मौजूद थी। पराजपे की प्रेरणा से उसने चार्ल्स ब्रैडलॉ, हार्बर्ट स्पेंसर, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन मोर्ली आदि अनीश्वरवादी पंडितो की कई पुस्तके पढ डालीं। धीरे-धीरे बुद्धिवाद उस पर भी सवार हुआ। बचपन के सनातनी वायुमंडल के उसके कर्मकाण्डी संस्कार तो कारवार मे ही छूट गए थे। उनके बदले उच्च जीवन के सनातन शाश्वत मूल्य उसने अपनाए थे। पर इनमे ईश्वर-भक्ति के लिए बहुत बड़ा स्थान था। वह ईश्वर को मानता था। नियमित रूप से प्रार्थना भी करता आया था। अब बुद्धिवाद के प्रभाव मे सबसे पहले उसकी ईश्वर विषयक श्रद्धा ही खतरे में आ पडी। वह अब ईश्वर को मानने से इंकार करने लगा। प्रार्थना को बुद्धिहीनता का लक्षण मानने लगा। धर्म-ग्रंथों को प्रमाण मानने से इंकार करने लगा। उसने चोटी और जनेऊ को छुट्टी दे दी। हर चीज को वह अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसकर देखने लगा। बुद्धि के निर्णय को ही जीवन-सर्वस्व मानने लगा। वह कहने लगा, सत्य-प्राप्ति का एकमात्र साधन बुद्धि के अलावा और कुछ हो ही नही सकता। उसने पदार्थ विज्ञान की चंद पुस्तकें पढ़ ली थी। सृष्टि की रचना, उसकी खूबिया और उसकी परम बुद्धियुक्त व्यवस्था देखकर वह दंग रह गया था। इस जानकारी से उसे जो आनंद महसूस होने लगा, वह लगभग काव्यानंद-जैसा ही था। वह कहने लगा,

लगा, 'देखो, यह सारी खोज बुद्धि ने ही की है। बुद्धि ही सत्य की खोज कर सकती है।'

कालेज की वाग्वर्धिनी सभा में बीच-बीच में वह भाषण देता था। जब से बुद्धिवाद सिर पर सवार हुआ, वह इसी एक विषय पर बोलने लगा। उसने कई व्याख्यान दिए। व्याख्यानों में वह तरह-तरह की दलीलें पेश करने लगा। एक बार प्रार्थना के बारे में बोलते हुए उसने कहा, 'हम प्रार्थना करें ही क्यों? कौन सुनता हैं, हमारी प्रार्थना? ईश्वर? वह है कहां? मध्यरात्रि को अगर मैं प्रार्थना करूं कि इसी क्षण सूर्योदय हो जाए तो क्या सूरज उगने वाला है? बिना अध्ययन किए मैं चाहूं कि परीक्षा में पास हो जाऊं, तो क्या पास हो सकता हूं? सृष्टि के अपने नियम हैं। उन्हीं नियमों के अनुसार सृष्टि चलती है। इन नियमों में कोई बाधा नहीं डाल सकता। सूर्योदय सृष्टि के नियमों के अनुसार होता है, सूर्यास्त भी उन्हीं नियमों के अनुसार होता है। पुराणों में एक किस्सा आता है। एक ऋषि दोपहर को सो गया था। सूर्यास्त का समय हुआ, तब भी सोता रहा। वह नियमित रूप से संध्यावंदन करता आया था। पत्नी को लगा, इनको अगर मैंने नहीं जगाया तो संध्यावंदन का समय टल जाएगा। इससे उसने ऋषि को जगाया। ऋषि को गुस्सा आ गया। उसने पत्नी से पूछा, 'तूने मुझे क्यों जगाया?' पत्नी ने कहा सूर्यास्त का समय हुआ था, इसलिए जगाया।' ऋषि ने जवाब दिया, 'जब तक मैंने सूर्य को अर्घ्य नहीं दिया, तब तक क्या मजाल थी उसकी कि वह अस्तांचल पर उतरता?' यह किस्सा सुनाकर दत्तात्रेय ने श्रोताओं से पूछा, 'क्या, ऐसे किस्सों को हम 'बाबा वाक्यम प्रमाणम्' न्याय से कबूल करें! क्या ऐसा कभी हो सकता है? ऋषियों का जमाना मानव-जाति के बाल्यकाल का जमाना था। उसी जमाने में जो जीते हैं, वह भले ही ऐसी कहानियों को सच मानें। हम तो बीसवीं शताब्दि में जी रहे हैं। आज हम सृष्टि में कार्य-कारण के सिद्धान्त का साम्राज्य देखते हैं। इस साम्राज्य में कोई ताकत हस्तक्षेप नहीं कर सकती। कहते हैं कि शुक्राचार्य के पास मरे हुए लोगों को जिंदा करने का संजीवनी मंत्र था। क्या आज हम इस बात को स्वीकार कर सकते हैं? मरे हुए को जिंदा शायद विज्ञान कर सके, मंत्र नहीं कर सकता। अगर आप कहें, ईश्वर सर्वशक्तिमान है, उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं। तो मैं कहूंगा। अरेबियन नाइट्स के सुल्तान में और ईश्वर में कोई फर्क नहीं। ऐसे ईश्वर में मेरी श्रद्धा नहीं। अगर आप कहें, पुराण सब सत्ययुग में लिखे गए

थे। सत्ययुग मे ऐसे चमत्कार हो सकते थे। कलियुग में चमत्कारों के लिए गुंजाइश नही है। तो मैं कहूंगा, तब तो कलियुग ही अच्छा है। क्योंकि इस युग मे हम सृष्टि के कार्यकारणभाव की स्थिरता पर विश्वास रख सकते हैं। अब कोई ऋषि, वह चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, सूर्य के उदय और अस्त के नियमों में बाधा नही डाल सकता। अब श्रीकृष्ण की मुरली सुनकर यमुना का नीर बहने से रुक नही सकता।

दत्तात्रेय के लगभग दो साल इसी बुद्धिवाद के बुखार मे गुजरे। इसे 'बुखार' इसलिए कहना चाहिए क्योंकि सत्य की खोज मे जो बौद्धिक नम्रता होनी चाहिए, वह उसमें उन दिनों नही थी और यह किसी बुद्धिवादी मे नही होती। नम्रता के अभाव में बुद्धिवादी लोग अपने दिमाग के दरवाजे भी बंद कर लेते हैं और कभी-कभी जिद्दी भी बन जाते हैं। दत्तात्रेय स्वभाव से गंभीर था। उसने बुद्धि की कसौटी पर एक दिन अपने बुद्धिवाद का भी कस कर देखा। तब उसे आश्चर्य के साथ मालूम हुआ कि यह भी एक तरह का श्रद्धा-मार्ग ही है। बुद्धि ही हमे सत्य की ओर ले जाएगी, यह श्रद्धा इसकी बुनियाद में है। पर बुद्धि तो मनुष्य की उम्र के साथ-साथ बाल, युवा और जरा भी होती है। अपरिपक्व बुद्धि का जो ज्ञान होता है, वह एक तरह का होता है और परिपक्व बुद्धि के ज्ञान का स्वरूप ही कुछ अलग हो जाता है। और बुढ़ापे मे जब बुद्धि जीर्ण हो जाती है, तब का ज्ञान कैसा होगा? शायद जीर्ण ही हो। इसका मतलब यह हुआ कि ज्ञान प्राप्ति के जिस साधन को हम 'सब-कुछ' मानते है, वह बुद्धि ही अपने मे पूर्ण नही है, 'सब-कुछ' नही है।

भौतिक सृष्टि के अलावा मानसिक और भावात्मक सृष्टि एक अलग सृष्टि है। बुद्धिवाद को इसकी न तो जानकारी है, न इसके लिए इसका कोई महत्व है। पर वह भी एक सत्य सृष्टि है। प्रार्थना के द्वारा मध्यरात्रि को हम भले ही सूर्योदय न देख सकें, पर प्रार्थना के द्वारा हम अपने मन मे जरूर प्रवेश कर सकते हैं। मन मे परिवर्तन भी कर सकते हैं और मन की शक्ति का असर भौतिक सृष्टि पर भी हो सकता है।

जब उसके ध्यान में यह आया, तब उसका 'बुखार' उतर गया। वह अपने-आपसे कहने लगा, ईश्वर है या नहीं, ईश्वर ही जाने। हम इतना तो निश्चित रूप से जानते हैं कि अगर ईश्वर हो तो हमारे पास ऐसा कोई साधन नही है,

जिसके द्वारा हम उसे पहचान सकें। क्योंकि ईश्वर की जैसी व्याख्या की जाती है, वैसे ईश्वर को पहचानने की शक्ति हमारी बुद्धि मे नही है। और बुद्धि से बढकर दूसरा कोई साधन हमारे पास उपलब्ध नही है, जिसके द्वारा हम सत्य को पहचान सकें। अज्ञेयवाद की इस भूमिका पर जब वह आ पहुंचा, तब उसके हाथ मे न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानडे के धार्मिक प्रवचनों की एक पुस्तक पडी। उसमे रानडे ने भौतिक सत्य और नैतिक सत्य के बीच का भेद बताया था। पढते-पढ़ते दत्तात्रेय के सामने एक नई सृष्टि खुल गई और धीरे-धीरे उसकी नास्तिकता पिघलने लगी।

महादेव गोविंद रानडे का जीवन काल सन् 1842 से लेकर सन् 1901 तक का है। इस काल के दरमियान उन्होंने सन् सत्तावन का असफल प्रयत्न देखा। गहराई से चिंतन करके उसकी असफलता के कारण ढूंढ निकाले। और देश के सामने एक नया विचार पेश किया, जो पूना और बम्बई की अनेक संस्थाओ के माध्यम से राष्ट्रीय उत्थान का काम करता रहा। पश्चिम के संपर्क मे हमे क्या-क्या सीखना है और राष्ट्र के जीवन मे क्या क्या परिवर्तन करना है, इसका चित्र उनके सामने स्पष्ट था। गिरे हुए राष्ट्र को और आतरिक मतभेदों तथा दकियानूसी सकुचित विचारो के कारण छिन्न-भिन्न हुए समाज का पुनरूज्जीवित करने के लिए उनका आत्मविश्वास जाग्रत करना आवश्यक है, यह महसूस करके उन्होंने 'द राइज आफ मराठा पावर' नामक एक ग्रथ लिखा। और उसमे हिन्द स्वराज्य की स्थापना करने वाले छत्रपति शिवाजी महाराज के जीवन-कार्य का महत्व समझाया। शिवाजी के सर्वांगीण कार्य को महाराष्ट्र के सतो ने किस प्रकार की मदद की, इसका विवरण भी उसमें उन्होने दिया। वे एक महत्व के निर्णय पर आ पहुंचे थे कि भारत की कमजोरी उतनी राजनैतिक नही, जितनी सामाजिक है। इसलिए सामाजिक सुधारो का बढावा देने के लिए उन्होने देश के अन्यान्य नेताओ की मदद से 'सामाजिक परिषद' की स्थापना की थी। और यह पहचानकर कि धर्म सुधार के बिना सामाजिक सुधारो की बुनियाद दृढ नही हो सकती, भाडारकर और मोडक-जैसे देश-हितचिंतको की मदद से उन्होंने 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की। उनके कार्य की तुलना अगर किसी से की जा सकती है, तो वह केवल राजा राम मोहन-

राय से ही की जा सकती है। उनकी प्रज्ञा और प्रतिभा राम मोहन की ही कोटि की थी। राम मोहन के ब्रह्म समाज का आधार उपनिषद, शंकर-वेदात, बौद्ध ग्रंथ और इस्लामी सूफीवाद था। ईसाई युनिटेरियन चर्च का भी कुछ असर उन पर था। रानडे, भाडारकर, माडक के प्रार्थना समाज ने रामानुज के विशिष्टाद्वैत का आधार लिया। वे जितना उपनिषदो का आधार लेते, उससे अधिक एकनाथ तुकाराम जैसे अभेद-भक्ति प्रेरक मराठी संतो के वचनों का आधार लेते थे। वे कहते थे कि प्रार्थना समाज भागवत धर्म का ही एक विशुद्ध रूप है।

काग्रेस की स्थापना मे भी रानडे का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। समाज परिवर्तन की बातें जो करते हैं, उनका रूढिग्रस्त समाज हमेशा विरोध करता आया है। रानडे के भाग्य मे भी यह विरोध लिखा हुआ था। गलतफहमी और निंदा का भी उन्हे शिकार बनना पडा था, पर जिस धीरोदात्त शाति और क्षमावृत्ति से उन्होने निंदा, उपहास और विरोध को सहन किया उसको देखते हुए उनकी तुलना महाराष्ट्र के संतश्रेष्ठ ज्ञानेश्वर से ही की जा सकती है।

इस दूरदर्शी प्रतिभावान, ऋषितुल्य महापुरुष के ऋण से राष्ट्र कुछ अशो तक मुक्त हो सके, इसलिए बड़ी धूमधाम के साथ उनकी जन्म शताब्दी मनाने की एक योजना काका साहब ने बनाई थी और गाधीजी के सामने रखी थी। उसके लिए जो राष्ट्रीय समिति बनाई गई थी, उसके अध्यक्ष स्वयं गाधीजी बनने वाले थे। यह सन् 1942 की बात है। पर इस वर्ष भारत माता स्वतंत्रता की प्रसव वेदना से पीडित थी। इसलिए यह योजना कार्यान्वित न हो सकी। काका साहब को इसका अंत तक खेद रहा।[1]

इसी अरसे मे युवक दत्तात्रेय ने भाडारकर का एक भाषण सुना। उनके भाषण मे उसे तुकाराम-जैसी हृदय की शुद्धता दिखाई दी और नग्न बालक की स्वाभाविकता से उन्होंने जो अपने विचार प्रकट किए थे, उसका युवक दत्तात्रेय पर

1 लेखक के साथ बातचीत मे।

गहरा प्रभाव पडा। सतो के भक्ति मार्ग का रहस्य भाडारकर के कारण ही वह अच्छी तरह समझने लगा। सतवाणी की ओर वह अब नई दृष्टि से देखने लगा। जो भजन वह अब तक अधश्रद्धा मे गाता था, उनका मर्म अब उसके ध्यान मे आने लगा। उसने पहली ही बार यह महसूस किया कि इन सतो का उपदेश स्वर्ग प्राप्ति के लिए नही है, बल्कि इस लोक मे ही जीवन उन्नत करने की प्रेरणा के लिए है। जीवन मे आध्यात्मिकता बढाने की उसकी भूख फिर से जाग्रत हुई।

संत साहित्य पढने का चसका जो उस समय लगा, वह जीवन-भर कायम रहा। इतनी पूर्व तैयारी के बाद ही वह स्वामी विवेकानद की ओर मुडा। यहा से उसके जीवन मे एक नया मोड आया।

विवेकानन्द का प्रभाव

शिकागो की विश्वधर्म परिषद मे स्वामी विवेकानन्द ने वेदात का नगाडा बजाया, उस समय दत्तात्रेय केवल आठ साल का था। इस उम्र मे भी उसने अपने आसपास के माहौल मे विवेकानन्द का प्रभाव अनुभव किया था। उन दिनो घर मे सभी लोग बडे उत्साह के साथ विवेकानन्द के बारे मे बाते करते सुनाई देते थे। उनके उत्साह को देखकर दत्तात्रेय भी उत्साहित हुआ था। उसे यह बताया गया था कि विवेकानन्द ने अमरीका मे जाकर वहा के बड़े-बडे धर्माचार्यों के सामने यह सिद्ध करके दिखाया है कि दुनिया के सभी प्रचलित धर्मों मे यदि कोई धर्म विश्व धर्म बनने की योग्यता रखता है तो वह हिन्दू धर्म ही है। उसने सुना था कि हिन्दू धर्म का श्रेष्ठत्व अब बडे-बडे लोगो ने कबूल किया है, और कई ईसाई अब विवेकानन्द के शिष्य बनकर हिन्दू धर्म को स्वीकार करने लगे हैं। यह सब सुनकर आसपास की तरह दत्तात्रेय का भी धार्मिक अभिमान गरम होकर उष्णता की चरम कोटि तक पहुंच गया था।

अमरीका से विवेकानन्द इंग्लैण्ड और फ्रांस होकर वापिस भारत आए, तब कोलम्बो से अल्मोड़ा तक की यात्रा मे उनके जो स्वागत-समारोह हुए उनके वृत्तात अखबारो मे आते थे। यह वृत्तात और स्वागत-समारोहो मे दिए गए विवेकानद के भाषण पढ़कर दत्तात्रेय के बड़े भाई इस तरह खुश हुए थे, मानो उन्ही की यह दिग्विजय यात्रा हो। इस खुशी का भी दत्तात्रेय पर अद्भुत

प्रभाव पड़ा था। 'हम भी कुछ हैं' इस तरह के स्वाभिमान से उसकी छाती फूल गई थी।

1857 की हार के बाद समूचे राष्ट्र मे एक तरह का नैराश्य व्याप्त हो गया था। इसके बाद लगभग चालीस वर्षों तक इस देश के लोग अपने को राजनैतिक, सामाजिक, शैक्षणिक, औद्योगिक, सास्कृतिक सभी क्षेत्रों में 'हारे हुए' मानते आए थे। लोग आत्म-गौरव पूरी तरह खो बैठे थे। विवेकानन्द की इस दिग्विजय-यात्रा के बाद ही लोगों की ग्लानि दूर हुई थी और बरसों बाद पहली बार भारतवर्ष आत्मविश्वास और स्वाभिमान मे उछल पड़ा था।

देश में इस जबरदस्त परिवर्तन का दत्तात्रेय ने अपने बचपन मे ही उत्कटता के साथ अनुभव किया था। अब रानडे भाडारकर के धार्मिक प्रवचन पढ़ने के बाद उसने विवेकानन्द का साहित्य पढना शुरू किया तो उसे उनके व्यक्तित्व के दूसरे पहलुओं का भी दर्शन हुआ।

उसने सबसे पहले यह देखा कि विवेकानन्द केवल अध्यात्म की बातें करने वाले, केवल ईश्वर-भक्ति, सदाचार, संतोष और नाम-माहात्म्य का उपदेश देने वाले अन्य संन्यासियों-जैसे सन्यासी नही हैं बल्कि अध्यात्म के साथ तेजस्वी पुरुषार्थ, राजनैतिक अस्मिता, भौतिक ज्ञानोपासना और सामाजिक सुधार का समर्थन करने वाले एक देशभक्त भी हैं। विवेकानन्द के पहले किसी ने भी अध्यात्मिकता के साथ देशभक्ति का सम्बंध नही जोड़ा था। विवेकानन्द ही पहले राष्ट्रपुरुष हैं, जिन्होंने अध्यात्म और देशभक्ति का समन्वय करके दिखाया। लोकमान्य तिलक ने विवेकानन्द को 'देशभक्त संत' कहा था। दत्तात्रेय को यह कथन ठीक जंच गया। वह भी मानता था कि विवेकानन्द सत थे, पर अन्य संतों जैसे केवल संत नही, देशभक्त भी थे। और देशभक्त भी अन्य देशभक्तों के जैसे नही, बल्कि संत कोटि के थे।

दत्तात्रेय ने विवेकानन्द के हिन्दू धर्म का स्वरूप समझने का प्रयत्न किया। उसे दिखाई दिया कि विवेकानन्द का हिन्दू धर्म रोटी-बेटी व्यवहार की मर्यादाओं में फंसा हुआ और असंख्य जातियों की उच्च-नीचता की श्रेणी को ही धर्म-सर्वस्व मानने वाला धर्म नही है। इस हिन्दू धर्म को, जिसे हम आज चारों ओर फैला हुआ देखते हैं, उसे विवेकानन्द ने 'किचन रीलिजियन'—चुल्ली का

धर्म कहा है। विवेकानन्द का हिन्दू धर्म स्मृतियों का नही, बल्कि श्रुतियो का है। ईश्वर-भक्ति, सदाचार, सेवावृत्ति, मानवता, निर्भयता, तेजस्विता, उदारता आदि गुणों के समुच्चय को ही विवेकानन्द ने सच्चा हिन्दू धर्म कहा है।

सबसे बड़ी बात जो उसके ध्यान मे आई, वह यह थी कि मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो आत्मबलिदान कर सकता है। हुतात्मा केवल मनुष्यों में ही पैदा हो सकते हैं। क्योंकि मनुष्य केवल शरीर नही है। उसके शरीर मे एक ऐसा अ-शरीरी तत्त्व है, जो सारी दुनिया को इधर-से-उधर फेंक देने की शक्ति रखता है, जो सारी दुनिया के विरोध मे अकेले खड़े रहने की ताकत मनुष्य को प्रदान करता है। इसी अ-शरीरी तत्त्व को आत्मतत्त्व कहते हैं। यही मनुष्य के अन्तर म सुप्त ईश्वरी तत्त्व है। उसी को जाग्रत करना, उसी का साक्षात्कार करना मनुष्य का सर्वोच्च ध्येय है।

दुर्बल मनुष्य यह सिद्धि प्राप्त नही कर सकता।

विवेकानन्द ने ही युवक दत्तात्रेय को अपने ही हृदय के अंदर विराजमान आत्मा की ओर अभिमुख किया। तुम ही अपने मालिक हो, तुम्हारी ही आत्म-शक्ति सारे विश्व मे फैली हुई है, ईश्वर इससे अलग कोई बाहरी आसमानी शक्ति नही है, बल्कि अंतरात्मा की ही वह एक विशाल आवृत्ति है, यह सब दत्तात्रेय को विवेकानन्द की चैतन्यमयी वाणी ने समझा दिया, तब उसमे एक नई श्रद्धा का उदय हुआ और वह आत्मनिष्ठ, ईश्वरनिष्ठ ही नही बल्कि इससे भी बढ़कर जीवननिष्ठ बना।

विवेकानन्द की लगभग सभी उपलब्ध रचनाएं उसने पढी। कर्मयोग, भक्ति-योग, राजयोग, ज्ञानयोग के तो कई पारायण भी किए। पर सबसे अधिक प्रभावित वह उनके निजी पत्रों के संग्रह से हुआ। इन पत्रों में उसे विवेकानन्द का ज्वालामुखी-सा किन्तु मानवता से सम्पूर्ण ओत-प्रोत हृदय देखने को मिला। ओर वह उनका भक्त बन गया। 'काश! विवेकानन्द आज होते तो मैं अपना सम्पूर्ण जीवन उनके चरणों मे समर्पित कर देता।' इस तरह के भाव भी उसके मन में उठे थे।

उनकी जीवनी जब उसने पढ़ी तब उसके ध्यान में और एक बात आई। देश में कई बड़े-बड़े नेता हो गए। आज भी हैं, पर भारत की हर दिशा में,

हर कोने मे जाकर वहां की लोकस्थिति का पूरा अनुभव अगर किसी ने किया है तो वह केवल विवेकानन्द ने । एक अज्ञात साधु के रूप मे वे सब जगह पहुंच गए । सब श्रेणी के लोगों के यहा रहे थे, सबकी रोटी उन्होने खाई थी : मुसलमानों, ईसाइयों, गरीबों और राजा महाराजाओ के यहां भी खाई थी । सज्जन-दुर्जन, महात्मा-दुरात्मा सभी से वे मिले थे । भारत की आत्मा के साथ सम्पूर्णतः एकरूप हुए यही पहले लोकनायक है, यह उसने देखा ।

बचपन मे पाए हुए घुमक्कडी-संस्कारों को अब नए आयाम मिले और भारत-दर्शन के द्वारा भारत-भक्ति की उत्कंठा उसके दिल मे जाग उठी ।

भारतीय संस्कृति के सम्बंध मे उसके दिल मे पहले से ही श्रद्धाभाव था । पर भारत की संस्कृति-जगत को एक नया रास्ता दिखा सकती है, यह तो उसने सबसे पहले विवेकानन्द में ही पाया । भारतीय संस्कृति को प्रतिष्ठित और पुनः स्थापित करके उसके सामने विश्वविजय का जो आदर्श विवेकानन्द ने रखा, उसने दत्तात्रेय को मोहित कर लिया । वह अब भारत का इतिहास, उसका साहित्य, उसका समाजशास्त्र सब-कुछ समझने की कोशिश म लग गया । उसकी भी अब यह एक खोज हो गई थी । इस खोज मे विवेकानन्द की जितनी मदद उसे मिली उतनी ही उनकी शिष्या भगिनी निवेदिता की भी मिली । निवेदिता की 'दी वेब आव इंडियन लाइफ' उसकी प्रिय पुस्तक बनी । इस तरह की भारत-भक्ति की पुस्तक सारी दुनिया मे दूसरी मिलना मुश्किल है, यह जो उसकी उस वक्त राय बनी थी, जिंदगी-भर कायम रही । विवेकानन्द मे उसने श्रीरामकृष्ण परमहंस को देखा, उसी तरह भगिनी निवेदिता मे वह विवेकानन्द को देखने लगा । श्री रामकृष्ण ने उसे वेदांत के अध्यात्म का मर्म समझा दिया तो विवेकानन्द ने इस अध्यात्म का मानव-सेवा मे किस प्रकार विनियोग करना चाहिए, यह सिखाया । पर निवेदिता ने तो वेदांती हिन्दू धर्म का पूरा समाज-विज्ञान ही उसके सामने रख दिया । उसे एक नई दृष्टि दी । धर्म के सभी पहलुओं की ओर समाज-विज्ञान की दृष्टि से देखना उसे निवेदिता ने सिखाया । तीनों से वह इस कदर प्रभावित हुआ कि वह कहने लगा : 'इन तीनों विभूतियो का त्रिवेणी संगम प्रबुद्ध भारत का तीर्थोत्तम प्रयागराज है ।'

विवेकानन्द के प्रभाव में उसका उपनिषदो से परिचय हुआ। भगवद्गीता का जो असर उस पर हुआ था, उससे अधिक उपनिषदों का हुआ। उपनिषद उसकी जिंदगी-भर प्रिय पुस्तकें बनी रहीं।

काका साहब विवेकानन्द को युग-पुरुष मानते थे। रवीन्द्रनाथ, श्रीअरविन्द और महात्मा गांधी—तीनों की जीवन-दृष्टियों और युगकार्य पर विवेकानन्द का स्पष्ट प्रभाव देखते थे। वे यह मानते थे कि विवेकानन्द के माहौल मे ही ये तीनों महापुरुष पनप सके थे। उन्हें इस बात का हमेशा अफसोस रहा कि इस युगपुरुष के दर्शन का न तो उन्हें सौभाग्य मिला, न ही उनकी शिष्या निवेदिता को देखने का मौका मिला।

'तत्ता' की खोज

इसी अरसे का एक ठोस आध्यात्मिक अनुभव है, जो स्वयं काका साहब के शब्दों मे देना उचित है.-

> कालेज मे मैंने ध्यान मे बैठने की आदत डाली थी।...हास्टेल के 23 नम्बर कमरे म मैं रहता था।...अम्यनुअल कान्ट का अध्ययन करता था। एक दिन ध्यान मे वस्तु का शुद्ध स्वरूप कैसा हो सकता है, यह आजमा रहा था। कान्ट ने वस्तु के शुद्ध स्वरूप को 'दैटनेस : थिंग इन इटसेल्फ' कहा है। मैने उसे 'तत्ता' कहा। दिक् काल आदि आयामों को बाद करके, गुणो का छेद उड़ाकर, कार्य-कारणता को भूलकर केवल वस्तु का अनुभव करें तो वस्तु की शुद्ध 'तत्ता' कैसी होगी, इसे समझकर उसको छूना चाहता था। केवल कल्पना मे मुझे संतोष न था। काफी समय तक तो दिमाग मे शास्त्रीय दलीलें चलती रहीं। फिर वस्तु को कुछ अंशों तक छील सका (यानी उसका आवरण हटा सका)। जैसे-जैसे आगे बढ़ा, शरीर पर भी उसका असर होने लगा। प्रथम, बाहर के प्रकाश का भान नष्ट हुआ। इसके बाद जिस मेज पर मैं बैठा था, वह 'बेभान' हो गया। मैं कहां हूं ? मेरे आसपास क्या है, क्या समय हुआ है ? अब तक क्या करता था ? अब क्या करना है ? सब लुप्त हुआ। बस, मैं हूं इतनी ही एक चेतना बाकी रही। गहरे कुएं की

थाह नाप लेने की कोशिश करे, इस इरादे से कुए मे डुबकी मारे, आखे खुली रखकर, हाथ मारकर गहरे पानी मे नीचे उतरते जाए, तब ऊपर का सूर्य प्रकाश कम होने के बाद जो एक प्रकार की घबराहट महसूस होती है, उसी प्रकार का कुछ गभीर अनुभव मुझे हुआ। किसी अपूर्व दैवी पुरुष के सान्निध्य मे हम यकायक पहुचे हो, ऐसा कुछ प्रतीत होने लगा। अब इस स्थिति मे रहू या न रहू, तय नही कर पाया, तब तक उसी स्थिति मे कुछ समय तक रहा। इसके बाद लगा कि इस अनुभव के मध्य बिंदु की ओर जाना चाहिए। कुछ अनिश्चय के बाद, सुई मे जिस तरह धागा पिरोया जाता है, उस तरह मैं अदर जाने लगा। एक बार तो लगा कि अब एक क्षण की ही देर है, उसके बाद मे मध्य बिंदु तक पहुच जाऊगा। उस क्षण का आरम भी हुआ। हृदय म असाधारण आनद की उर्मिया उठी। इतन मे न जाने क्या हुआ, कटहल की गुठली हाथ म पकड रखने की कोशिश करे, तिस पर भी वह जिस तरह सटक कर छूट जाती है, उसी तरह सब सटक गया। क्या हुआ, समझ मे नही आया। थोडी देर के बाद मै अपने कमरे मे अकेला हू, मेज पर बैठा हू इस तरह का भान हुआ। और मुझे बडा आश्चर्य हुआ...उस दिन स्पष्ट रूप से यह ध्यान म आया कि हम जो जीत हैं, उतना ही जीवन नही ह। जीवन का वह मुख्य हिस्सा है, ऐसी भी बात नही। वह तो जीवन का केवल क्षणिक पृष्ठभाग ह। विशाल जीवन बहुत गहरा है। यह ध्यान मे आत ही मेरी वृत्ति म हमेशा के लिए फर्क पडा। मै 'परमार्थी' बना। जीवन मे इसके बाद कई मानसिक क्रातिया हुई, कई प्रमाद आडे आए। फिर भी वह परमार्थिकता कभी भी छूट न सकी।

स्वदेशी

फर्ग्यूसन मे दत्तात्रेय दो साल बिता चुका था। इस अरसे मे उसके आतरिक जीवन मे बडी तीव्र गति से प्रगति हुई थी। अब जीवन प्रवाह को कोई-न-कोई निश्चित दिशा देने का समय आ चुका था। ठीक इसी समय उसके आसपास के माहौल मे 'देश के लिए मर मिटने' की हवाए बहने लगी। सन् 1905 के मध्य मे वायसराय लार्ड कर्जन ने यकायक बगाल प्रात के विभाजन की घोषणा कर दी। मध्य जुलाई से लेकर अक्तूबर मध्य तक के अरसे मे लोकमान्य अपनी

साप्ताहिक पत्रिका 'केसरी' मे एक के बाद एक ऐसे लेख लिखते रहे, जिन्हें पढ़कर पूना के नवयुवकों का खून खौलने लगा। गोखले जैसे नर्म दल के नेता ने भी नवयुवकों से सारी महत्वाकांक्षाएं छोड़कर देश की सेवा के लिए सम्पूर्ण जीवन समर्पित करने का आह्वान किया। (हालांकि उनका उद्देश्य केवल बंगाल के विभाजन को रोकना नही था।) चारों ओर त्याग और बलिदान की ही भाषा सुनाई देने लगी।

दत्तात्रेय इन सारी सरगर्मियों से भला अलिप्त कैसे रह सकता था? उसने 1905 के अत मे जिंदगी का अत्यंत महत्व का एक निर्णय ले लिया। अपनी डायरी में उसने लिखा: 'मैं अपना कोई कैरियर नही बनाऊगा। हो सकता है, मेरे अनजाने मे कोई कैरियर मेरे आसपास अपना जाल बुन ले। पर, जब उसके बारे मे, मैं सचेत होऊंगा, तब यह जाल मैं अपने हाथ से तोड़ डालूगा। सारा जीवन तरह-तरह के अनुसंधानों और प्रयोगों मे ही बिताऊंगा।'

देश के लिए ही जीवन समर्पित करने का यह निश्चय था। केवल सेवा का क्षेत्र निश्चित करना बाकी था। इतने मे बंगाल मे बंग-भंग के विरोध मे एक जोरदार आदोलन शुरू हुआ, जो शुरू-शुरू मे केवल बंगाली आदोलन था, परन्तु वह थोड़े ही दिनों मे समूचे देश का आदोलन बन गया।

महाराष्ट्र मे गुप्त-षड्यत्री दल वासुदेव बलवत फड़के के जमाने से ही मौजूद थे। वे क्रातिकारी लोगो के रूप मे सर्वत्र पहचाने जाते थे। प्लेग-कमिश्नर रैण्ड और आयर्स्ट की हत्या जिन चाफेकर भाइयों ने की थी वे उन्ही मे से एक दल के सदस्य थे। फर्ग्यूसन में विनायक दामोदर सावरकर थे, उनका दल इसी वातावरण में परवरिश पाकर पूना मे कार्यरत होने लगा था। दत्तात्रेय का झुकाव इसी दल के प्रति था। सावरकर के जाज्वल्य देशाभिमान, वक्तृत्व तथा कवित्व आदि गुणों से वह आकर्षित हुआ था। दोनों के विचारो में भी अद्भुत साम्य था। दानों तिलक के भक्त थे, साथ-साथ सुधारवादी आगरकर के भी अनुयायी थे। क्रांतिकारियों के और भी एक-दो दल महाराष्ट्र मे मौजूद थे। पर इन दलों का बंगाली क्रांतिकारियों से अब तक कोई सम्बंध स्थापित नहीं हुआ था। बंग-भग के विरोध मे छेड़े गए आंदोलन ने यह सम्बंध स्थापित किया था। फलस्वरूप कुछ ही महीनों के अंदर अरविंद घोष, उनके भाई बारीन्द्र कुमार घोष, स्वामी विवेकानन्द के भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त, अविनाश भट्टाचार्य,

उल्हासकर दत्त आदि कई बगाली नाम महाराष्ट्र के नौजवानो की जबान पर खेलने लगे। लोकमान्य का इन क्रातिकारियो से सीधा सम्बध नही था। वे उनके आतकवाद को पागलपन ही कहते थे, पर इस विषय मे वे बहुत जाग्रत थे कि देश के इन नौजवानो के उत्साह का पूरा-पूरा लाभ देश को मिलना चाहिए। वे हर तरह से उनको सरक्षण देते आए थे। यही नही, बल्कि अदर से प्रोत्साहन भी देते रहे थे।

पजाब मे लाला लाजपतराय ने भी लगभग तिलक-जैसी ही भूमिका धारण की थी। आर्य समाजी जोश के साथ उन्होने पजाब मे राष्ट्रवाद का झडा ऊचा फहराया था और वहा के क्रातिकारियो को अदरूनी प्रोत्साहन भी दिया था।

और विपिन चन्द्र पाल तो थे ही बगाल के लोकप्रिय नेता। फलत लाल, बाल, पाल की त्रिमूर्ति का नाम सारे देश मे गूजने लगा। भारत के नौजवानो के वे आराध्य बन गए थे।

अक्तूबर 1905, मे पूना मे विदेशी कपडो की एक बडी होली जलाई गई। इस होली के समारोह की अध्यक्षता स्वय लोकमान्य ने की और होली जलाने का सम्मान सावरकर को मिला था। दत्तात्रेय और उसके साथी जीवतराम कृपलानी ने बडे उत्साह के साथ इस कार्यक्रम मे हिस्सा लिया।

स्वदेशी, बहिष्कार और पिकेटिग (धरना) इस नए आदोलन के हथियार थे। तीनो नय शब्द थे। उनकी व्याख्याए अभी तक किसी के मन म स्पष्ट नही थी। पिकेटिग अक्सर शराब की दुकानो पर किया जाता था। कोई शराबी दुकान पर शराब पीने आता, तब पिकेटिग मे लगे स्वयसेवक उसके पास जाते और हाथ जोडकर उनसे अनुरोध करते 'भैया, शराब मत पीओ, छोड ही दो। शराब ने कई परिवार बरबाद किए हैं।' इस अनुरोध के बाद अगर शराबी वापस चला जाता तो स्वयसेवक उसका पीछा छोड देते। पर, अगर वह जिद करने लगता तो स्वयसेवक उसके पैर छूने का बहाना करते और उसके पाव पकडकर उसे गिरा देते। कभी कोई शराबी पीकर दूसरी गली मे चला जाता, तब स्वयंसेवक उसे पकड़ लेते और उसे बुरी तरह पीटकर उसका नशा उतार देते। शराब के पीपे मे स्वयसेवक कभी-कभी पेशाब भी कर देते थे। उन दिनो यह सब शान्तिपूर्ण पिकेटिंग से नाम के चलता था। दत्तात्रेय ने अपने मित्र जीवतराम के साथ ऐसे कई पिकेटिंग मे हिस्सा लिया था।

बहिष्कार के लिए अंग्रेजी शब्द था : बायकाट। यह भी नया शब्द था। उसका अर्थ बहुत कम लोग जानते थे। अच्छी अंग्रेजी जानने वाले भी उसका प्रयोग करते समय गड़बड़ी करते थे। कोई कहता : 'वी हेव टु बायकाट ब्रिटिश गुड्स'। तो कोई कहता, 'वी हेव टु बायकाट स्वदेशी गुड्स'। दोनों विदेशी माल का बहिष्कार करना चाहिए, इसी अर्थ में प्रयुक्त होते थे। पर चूंकि बायकाट शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ था, दोनों गड़बड़ी करते।

असल में बायकाट एक आदमी का नाम था, जिसके साथ लोगों ने सब सामाजिक सम्बंध तोड दिए थे।

सावरकर के हाथों जिस दिन विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई, उस दिन दत्तात्रेय और जीवतराम ने अपने कई साथियों को लेकर पूना के हर घर से विदेशी कपड़े जुटाकर लाने का काम बड़े उत्साह के साथ किया। इससे भी उनको संतोष न हुआ, तब वे रास्ते से गुजरने वाले लोगों के सिर पर की टोपियां छीनकर लाने लगे। जीवतराम को ऐसी शरारतों में बड़ा मजा आता।

उस दिन से दोनों पूना में काफी 'प्रख्यात' हो चुके थे। होली का समारोह सम्पन्न हुआ, फिर भी दोनों जब रास्ते से गुजरते थे, तब लोग उनसे डरते थे और सिर की टोपी उतारकर कोट के अंदर छिपा लेते थे। एक बार एक पुराने देशभक्त रास्ते में गुजर रहे थे और ये दोनों सामने से आ रहे थे। उस देशभक्त पर विदेशी कपड़े का जाकिट था। इन दोनों को देखते ही उन्होंने अपने उत्तरीय के नीचे जाकिट को छिपा लिया।

जीवतराम ने जोरों से ठहाका लगाया और दत्तात्रेय से कहा, 'देखा तुमने ? उधर एक औरत जा रही है।'

होली तो बहिष्कार का एक दृश्य रूप था। बहिष्कार के साथ नेताओं ने स्वदेशी को भी जोड़ दिया था, क्योंकि आंदोलन का उद्देश्य ही देशी उद्योग हुनरों को बढ़ावा देना था। अंग्रेजों ने अपना व्यापार यहां बढ़ाकर देशी उद्योग-हुनर नष्ट कर डाले थे। फलस्वरूप देश के कारीगरों की रोटी छिन गई थी। यह रोटी उन्हें वापस दिलाने की बात स्वदेशी के तत्व में थी। पर कइयों ने स्वदेशी के इस पहलू की लगभग उपेक्षा ही कर डाली थी। वे बहिष्कार की ओर केवल अंग्रेजों को नुकसान पहुंचाने का एक प्रभावी हथियार के रूप में ही देखते रहे। हमारा

बहिष्कार का आंदोलन सफल रहा, तो अंग्रेजों के कल-कारखाने टूट जाएंगे। उनकी शक्ति क्षीण हो जाएगी और हमसे डरकर वे हमारी (याने जो तिलक वगैरह करते आए हैं) बात मानने के लिए मजबूर हो जाएंगे, यही विचार-परंपरा उनकी वृत्ति के पीछे रही। इन्होने विदेशी माल का अर्थ भी केवल ब्रिटिश माल किया था। जापानी या जर्मन माल खरीदने में उन्हे कोई आपत्ति नही थी। वे कहते थे कि आप का स्वदेशी माल जब तैयार होगा, तब वही माल हम खरीदेंगे। पर वह तैयार होने मे ही कई बरस बीत जाएंगे, तब तक प्रतीक्षा करने की हमारी हिम्मत नही है। हमें तो आज ही अंग्रेजों को नुकसान पहुंचाना है। इसलिए जापानी या जर्मन माल खरीदने मे हमे कोई आपत्ति नही है। हमारे इस आंदोलन के कारण अंग्रेजो के दुश्मन मजबूत होते हों तो भले हो। हमारे दुश्मन के दुश्मन हमारे दोस्त हैं, हमारी भारतीय राजनीति हमे यही सिखाती है। वे स्वदेशी और बहिष्कार के बीच फर्क करने लगे। स्वदशी को एक आर्थिक विचार कहने लगे और बहिष्कार को एक राजनैतिक हथियार मानने लगे।

स्वदेशी के इस प्रश्न को लेकर महाराष्ट्र मे उन दिनों काफी बहस चलती रही। युवक दत्तात्रेय यह बहस बड़ी चाव से पढता था। असल मे स्वदेशी आदोलन महाराष्ट्र के लिए नया नही था। लगभग 1897 मे वासु काका जोशी, जो बाद मे सार्वजनिक काका कहलाए, जैसे देशभक्त ने इसी नाम का एक आदोलन पूना मे शुरू किया था, वह एक राजनैतिक हथियार के रूप में ही शुरू किया था। उन दिनों केवल ब्रिटेन से करीब-करीब साठ करोड रुपयो का माल देश में आता था। वासु काका कहते थे, 'आप स्वदेशी को अपनाए, साठ करोड़ रुपये देश के बाहर जाने से रोकिए। अगर आप इसमें सफल रहे तो अंग्रेजी साम्राज्य को जबरदस्त धक्का पहुंचेगा।'

वासु काका स्वयं हाथ-कता, हाथ-बुना मोटा कपड़ा पहनते थे। इसे उन दिनों 'गजी' कहते थे। इस कपड़े का उनका साफा (जिसे मराठी में 'पागोटे' कहते हैं) सिर पर रखे हुए रथ के पहिए-जैसा मालूम होता था। उसे देख कर लोग उनका मजाक करते थे, उनकी हंसी उड़ाते। पर वासु काका का स्वभाव इस कदर चीमड़ था कि वे किसी की परवाह किए बिना धीरज के साथ अपनी बात लोगों को समझाते रहते। स्वयं दत्तात्रेय भी किसी समय इन धुनी लोगों

की इसी तरह मजाक किया करता था। उसके बडे भाई आग्रहपूर्वक स्वदेशी कपडे पहनते थे, तब दत्तात्रेय उनकी हसी उडाता था। एक बार बडे भाई ने उसे कहा था, 'देख दत्तू, अभी तू छोटा है, इसलिए तेरी समझ मे यह बात नही आती। बडा होने पर स्वदेशी की बाते अपने-आप तेरे सामने आ जाएगी और याद रख, तब तू मुझसे भी आगे आएगा।' वैसा ही हुआ। जब स्वदेशी और बहिष्कार आदोलन पूना मे शुरू हुआ, दत्तात्रेय बडे भाई से भी आगे गया। वह तो यह भी कहने लगा कि देश मे बना हुआ कपडा हो इतना ही काफी नही है, बल्कि हमे अग्रेजी ढग के कपडे भी नही पहनने चाहिए। कोट के बदले कुर्ता पहने। टोपी के बदले साफा पहने।

उसके साथियो मे से कई लोग उससे भी आगे चले गए थे। वे कहते थे, 'भैया, कुर्ता भी स्वदेशी नही है। वह तो मुसलमान राज्यकर्ता इस देश मे ले आए। हमारी समाज व्यवस्था मे दर्जी कोई था ही नही। वह भी बाहर से ही आया है। हमारा यहा असली स्वदेशी तरीका और ही था : नीचे धोती, ऊपर उत्तरीय और सिर पर साफा। बस, दर्जी का नाम ही नही था।

इस तरह आर्थिक स्वदेशी ने सास्कृतिक स्वदेशी का रूप धारण किया और स्वदेशाभिमान ने भूतोपासना शुरू कर दी। दत्तात्रेय को भूतोपासना कभी छू न सकी, पर स्वदेशी के सास्कृतिक पहलू की ओर वह अपने आप-आकृष्ट हुआ। ठीक उसी समय उसके हाथ मे आनद कुमारस्वामी की पुस्तके पड़ी। कुमारस्वामी ने भारतीय सस्कृति और स्वदेशी आदोलन का समन्वय कर दिखाया था। उन्होने यह भी बताया था कि कल-कारखानो के द्वारा यूरोप की सस्कृति ने आत्महत्या कर ली है। भारत को यूरोप का अनुकरण नही करना चाहिए। अपने यहा के ग्रामोद्योगो को ही बढावा देकर उसे आगे बढना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी स्वदेशी आदोलन के एक नेता थे। उन्होने अपनी कविताओ और लेखो द्वारा स्वदेशी आदोलन को सास्कृतिक बुनियाद देने का प्रयत्न किया था।

और भगिनी निवेदिता ने तो इस सास्कृतिक धार्मिक स्वदेशी वृत्ति को जीवन-दृष्टि का सार्वभौम रूप दे दिया था।

दत्तात्रेय के विचारों में सांस्कृतिक स्वदेशी ने जीवन दृष्टि का रूप ले लिया। भाषा, साहित्य, रस्म-रिवाज, उत्सव-त्योहार, उद्योग-हुनर जीवन के कई अंगों की ओर वह अब सांस्कृतिक स्वदेशी की दृष्टि से देखने लगा।

सावरकर के दल में

सन् 1905 से लेकर 1907 तक के अरसे में दत्तात्रेय कालेज में शिक्षा भी प्राप्त करता रहा और दूसरी ओर सार्वजनिक जीवन की अनेक प्रवृत्तियों में प्रत्यक्ष हिस्सा लेकर देश-सेवा की दीक्षा भी लेता रहा।

1907 में एक दिन अखबारों में एक खबर आई कि सरकार ने लाला लाजपतराय और सरदार अजीत सिंह को गिरफ्तार कर लिया है और बिना मुकदमा चलाए उनको छ: साल की सजा देकर देश के बाहर की किसी जेल में बंद कर दिया है। कोई कहता था कि उन्हें ब्रह्मदेश के मंडाले किले में रखा है, तो कोई कहता कि उन्हें अन्दमान टापू में भेज दिया है।

सरकारी दमन की बातें लोग हमेशा सुनते आए थे। पर इस खबर से तो सब को यही लगा कि दमन की भी अब हद हो गई है। अखबार कहते थे कि यह गिरफ्तारी अंग्रेजी कानून के अनुसार भी गलत है। किसी ने कोई अपराध किया हो तो सरकार उसे गिरफ्तार कर सकती है, पर गिरफ्तारी के बाद उसे न्यायाधीश के सामने खड़ा करना आवश्यक है। न्यायालय में अपराध सिद्ध हुआ तो न्यायाधीश ही उसे सजा फर्मा सकते हैं। पर इस प्रकार किसी को गिरफ्तार करना, न्यायालय में अपराध सिद्ध किए बगैर सजा फर्माना और जेल में ठूंस देना अंग्रेजी कानून के अनुसार न सिर्फ गलत है, बल्कि नागरिकों के जन्मसिद्ध अधिकारों पर निरा आक्रमण है।

यह सब पढ़कर दत्तात्रेय का खून खौलने लगा। वह कहने लगा, कानून चाहे कुछ भी हो, इतना तो सिद्ध हो ही चुका है कि अंग्रेज न तो अपने कानून की कद्र करते हैं, न अपने न्यायालयों की परवाह। जो स्वार्थत्यागपूर्वक अहर्निश राष्ट्र की सेवा करते आए हैं, ऐसे लाला लाजपत राय और सरदार अजित सिंह-जैसे लोकप्रिय, त्यागी और चारित्र्यशील देशभक्तों को सरकार सजा करे और उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें देश के बाहर किसी जेल में ठूंस दे, यह न सिर्फ

अन्याय है, बल्कि यह राष्ट्र का घोर अपमान भी है। सबसे बड़ी दुख की बात तो यह है कि सरकार इतने बडे देशभक्तों को बिना जाच सजा करने की हिम्मत कर सकती है और हम कुछ भी नही कर पाते। यह हमारी कमजोरी और लाचारी बिलकुल असह्य है।

लोकमान्य तिलक उन दिनों पूना के पास ही सिंहगढ पर रहने गए थे। लालाजी के देश निकाले की खबर मिलते ही वे पूना लौट आए। उसी शाम उन्होने एक सभा आयोजित की और सरकारी दमन के विरोध मे एक तेजस्वी भाषण दिया। यह भाषण सुनने दत्तात्रेय गया था। भाषण ने उसके पुण्य-प्रकोप को और भी प्रज्वलित कर दिया।

फर्ग्यूसन के अपने साथियों से उसने कहा : अब क्रान्ति का काम हमे बिना विलम्ब शुरू कर देना चाहिए और जब तक अंग्रेजो की हुकूमत खत्म नही होती, यही काम करते रहना चाहिए। उस दिन उसने सावरकर के साथ काफी देर तक चर्चा की और उनके दल मे बाकायदा शामिल होने का निश्चय किया।

अपने निश्चय को दृढ करने के लिए उसने छः साल तक चीनी न खाने का व्रत लिया। चीनी छोड देने से देश मे क्रांति होगी या अंग्रेजो का नुकसान होगा, ऐसी बात नही थी। पर 'हम गुलाम है, हमे गुलामी से मुक्त होना है।' इस बात का छः साल तक दिन-रात स्मरण होता रहेगा, यही विश्वास था।

चीनी न खाने के इस व्रत का दत्तात्रेय ने छः साल तक चुस्ती से पालन किया। एक बार बम्बई मे एक डाक्टर ने दवा मे चीनी मिलाकर दी तब उस डाक्टर के सामने ही दवा की बोतल फेंक देने की 'अशिष्टता' दिखाई थी। एक बार वह सागली मे छुट्टिया बिताने गया था। छुट्टियों के बीच मकर सक्रांति का त्योहार आया। महाराष्ट्र मे मकर सक्रांति के दिन लोग एक-दूसरे से मिलते हैं और एक-दूसरे को 'तिल-गुड' के लड्डू देकर कहते है, 'तिलगुड घ्या, गोड-गोड बोला' (तिल गुड़ लीजिए और मीठी-मीठी बाते कीजिए) क्योकि तिल मे स्नेह है और गुड मे मिठास। यह इस सकल्प का चिह्न है कि सबके साथ प्रेम और मिठास रखे। इस वर्ष दत्तात्रेय ने तिल मे गुड़ मिलाकर ही लड्डू बनवा लिए (उन दिनो तिल मे चीनी मिलाकर लड्डू बनाए जाते थे)। पिताजी सागली राज्य मे ट्रेजरी आफिसर थे। उन्हे मिलने उस दिन कई लोग आए थे। पिताजी

को कोई अड़चन महसूस न हो इसलिए जब लोग मिलने आते तब दत्तात्रेय खुद आगे आता और गुडवाले तिल के लड्डू मेहमानों को देकर कहता, इस वर्ष शास्त्रोक्त रीति से तिल के साथ गुड़ मिलाकर लड्डू बनाए गए है। मेहमान कभी-कभी हम देते तो कभी प्रशसा करते। वे इतना ही मानते थे कि इस नौजवान पर स्वदेशी की धून सवार हुई है।

स्वदेशी से वह बहुत आगे चला गया है, यह बेचारे कहा से जाने? इन छ: सालो मे वह जहा भी जाता और लोग उसे कुछ खाने को देते, तब उसे अपने व्रत की बात लोगो को समझानी पड़ती। समाज के लिए और खुद अपने लिए भी यह एक तरह की अच्छी तालीम थी। छ: साल पूरे हुए उस दिन वह हरिद्वार के पास कनखल मे रामकृष्ण मिशन के एक सेवाश्रम मे पहुचा था, वही उसने यह व्रत छोडा।

इन छ: सालो मे देश मे और स्वय दत्तात्रेय के जीवन मे काफी परिवर्तन हो चुके थे और स्वराज्य प्राप्ति के कामो मे दत्तात्रेय कई कठोर त्याग भी कर चुका था।

सावरकर के दल मे शामिल होने का निश्चय किया, उसके दो-चार दिन के बाद फर्ग्यूसन के वि०भ० भट और कृ० गो० खरे दो साथियो ने दत्तात्रेय से पूछा, 'आज रात को हम चतुःशृगी टेकड़ी पर जाने वाले है। क्या आप हमारे साथ आएगे ? अधेरी रात है।'

'कोई बात नही। मै रोज शाम को घूमने चतुःशृगी टेकड़ी पर ही तो जाता हूं। रास्ता मेरा परिचित है।' दत्तात्रेय ने जवाब दिया। 'आज रात को अवश्य चलेगे।'

रात के भोजन के बाद तीनों चल पड़े। चलते-चलते चट्टान से आगे काफी दूर पहुच गए थे। इतने मे एक जगह सामने से तीन आदमी आते दिखाई दिए। इनको देखते ही उन्होंने अपने चेहरे काले कपड़ो से ढक लिए। साथी कहने लगे, 'हे राम! पूना मे आजकल चोरिया होती है। मालूम होता है, वही गुडे आ रहे हैं। चलो, भागो।'

दत्तात्रेय ने कहा, 'नही, खबरदार कोई भागा तो।'

इतने में उन चारों ने इन पर धावा बोल दिया। तीनों को देखते-ही-देखते जमीन पर गिरा दिया। एक आदमी तो दत्तात्रेय की छाती पर जा बैठा और उसे पीटने लगा।

दत्तात्रेय ने पूछा, 'अरे ! हमे क्यों पीटते हो ? हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ?' पर वह तो पीटता ही रहा। दत्तात्रेय ने लेटे-लेटे ही पीटने वाले को लात मारकर गिरा दिया। ज्योंही दत्तात्रेय खड़ा हुआ, चोर भाग गए। साथी कहने लगे, 'चलो बच गए। अब क्या करेंगे, आगे चलेंगे या वापस लौटेंगे ?'

'जैसे तय किया था, वैसे ही करेंगे। आगे चलेंगे।' दत्तात्रेय ने जवाब दिया।

'साथी ने पूछा, आप डर गए थे क्या ?'

'बिलकुल नही।'

'आपको ज्यादा चोट तो नही लगी ?'

'नही, यही तो आश्चर्य है। ये लोग अगर पूना मे डकैतिया डालने वाले गुंडे होते तो हमे देखकर या तो वे भाग जाते या हमारी अच्छी खासी पिटाई करके हमारे हाथ-पैर तोड डालते। इन्होंने ऐसा नही किया। जो मेरी छाती पर आ बैठा था, वह तो मारने का दिखावा करता था। जोरो से हाथ उठाता था। पर उतनी जोर से मारता नही था। मुझे तो इसमे कुछ भेद मालूम होता है।'

पूछने वाला मुस्करा दिया। बोला, 'अच्छा, तो आप समझ गए। वे जो मारने आए थे, चोर-गुंडे नही थे; हमारे ही दल के साथी थे। हम जब किसी को अपने दल मे शामिल कर लेते हैं, तब उसकी पहले परीक्षा लेते हैं। उसे ऐसे ही अंधेरे मे ले जाते है और उस पर हमला करते हैं। वह अगर डरपोक होता है तो वह भाग जाता है या मारने वालो के पैरों मे पड़कर दया की याचना करता है। वह अगर ऐसा करे तो उसे हम अपने दल मे नही लेते। 'यह बातूनी क्रांतिकारी है' कहकर उसे दूर रखते है। जो बहादुरी से सामना करता है, उसी को दल मे शामिल कर लेते हैं। तुम आज खरे उतरे।'

इस तरह 'प्रवेश-परीक्षा मे' उत्तीर्ण होकर दत्तात्रेय अब बाकायदा सावरकर के दल का सदस्य बना। छत्रपति शिवाजी महाराज की तस्वीर के सामने उसने शपथ ली : 'मैं मातृभूमि की मुक्ति के लिए अपना जीवन अर्पित करता हूं।

दल के नेताओं की ओर से जो भी आज्ञा होगी, उसका पालन करूंगा और गुप्तता का भी पूरा-पूरा पालन करूंगा।'

सावरकर के दल का नाम 'रामहरि' था। बिल्कुल निरूपद्रवी नाम था। यह इस दल की एक विशेषता थी, जो दत्तात्रेय को बहुत पसंद आई। दल में शामिल होते ही सबसे पहले वह निशाना लगाने की तालीम लेने लगा। देखते-ही-देखते निशाना लगाने में वह इतना प्रवीण हो गया कि यदि दस निशाने लगाए हों तो नौ ठीक लगते। एकाध निशाना चूक जाता। धीरे-धीरे दल की गुप्त सभाओं में उपस्थित रहने का भी अधिकार उसने प्राप्त कर लिया और विचार-विमर्श में महत्वपूर्ण योगदान देता रहा।

सावरकर से मतभेद

किन्तु थोड़े ही दिनों में इस दल के विषय में उसके भ्रम दूर हो गए और वह निराश हुआ। निराशा का एक कारण यह था कि यह दल गुप्तता के सम्बंध में संजीदा या विशेष गम्भीर नहीं था। इसकी गुप्तता प्रकट थी, लगभग सर्वविदित थी। दत्तात्रेय का आग्रह था कि दल में जो लोग हैं, वे क्रांतिकारी हैं, यह सरकार का तो क्या, उनके अपने घर के लोगों को भी मालूम नहीं होना चाहिए। गुप्तता के अभाव में यह दल अल्पजीवी होगा।

निराशा का दूसरा कारण यह था कि इस दल को अंग्रेजों की शक्ति का कोई अंदाज नहीं था। सावरकर पर इटली के मैजिनी का प्रभाव अधिक था। अंग्रेज अफसरों की हत्याएं करना उनका मुख्य कार्यक्रम था। दत्तात्रेय को हत्याओं में कोई तात्विक आपत्ति नहीं थी। पर उसका कहना था कि हत्याओं से केवल इतना ही सिद्ध होगा कि यहां असंतोष है। पर यह असंतोष देखकर क्या अंग्रेज देश छोड़कर भाग जाएंगे? अंग्रेज कायरों की औलाद नहीं हैं। भारत उनके साम्राज्य के सिर का ताज है। वे आसानी से अपने हाथ से इसे छूटने नहीं देंगे। प्रयत्नों की पराकाष्ठा करेंगे वे भारत नहीं छोड़ेंगे। दस-बीस या पचास-साठ हत्याओं से वे डरकर भाग जाएंगे, ऐसा समझना बिल्कुल अज्ञानता है। छुटपुट हिंसा का यह कार्यक्रम ही पूरी सट्टबाजी का कार्यक्रम है, क्रांति का नहीं। वह अधिक-से-अधिक एक अंध-वायुमंडल ही पैदा कर सकता है

और कुछ नही कर सकता। और इस अंधे वायुमडल का अधिक-से-अधिक फायदा अग्रेज ही उठाएगे, हम नही।

दल मे 1857 के स्वातत्र्य समर की बार-बार दुहाई दी जाती थी। दत्तात्रेय का कहना था कि इतना ही पर्याप्त नही है। 1857 के स्वातत्र्य समर का अधिक गहराई के साथ चितन करना आवश्यक है। इस स्वातत्र्य समर म हम क्यो हारे? क्या हमारे पास पर्याप्त फौज नही थी? क्या हमारे नेता बहादुर नही थे? दत्तात्रेय ने अपने ढग मे इस स्वातत्र्य समर का अध्ययन किया था। उसने यह देखा था कि अग्रेजो की फौज के मुकाबले मे हमारी फौज बड़ी थी, बहादुरी मे भी हमारे नेता अव्वल दर्जे के थे, फिर भी हम हारे। क्योकि हमारा सगठन कमजोर था। हमारे नेताओ मे दूरदृष्टि का अभाव था। हमारा नैतिक चरित्र भी ऊचा नही था, और सबसे बडी बात यह थी कि इस समर के साथ भारतीय जनता का पूरा सहयोग नही था। सहानुभूति भले हो, पर सहयोग का स्थान सहानुभूति नही ले सकती।

1857 मे हिन्दू-मुसलमान एक थे। क्या आज वे एक है? अगर नही हैं, तो क्यो नही है? 1857 मे कई राजा हमारे साथ थे। क्या आज हम उन पर निर्भर रह सकते है? नही रह सकते, तो इसका कारण क्या है?

दत्तात्रेय का कहना था कि इन प्रश्नों के उत्तर हमारे पास होने चाहिए। हमारे इतिहास के बारे मे, हमारे राष्ट्रीय स्वभाव के गुणदोषो के बारे मे, हमारे राजाओ के बारे म खासतौर से 1857 के समर म उनका कितना हाथ था और क्यों था इस विषय मे अग्रेजों का जितना चितन है, उसके सौवे हिस्से का भी हमारा चितन नही है। उसने यह भी देख लिया था कि अग्रेज केवल चितन करके नही रुके। बल्कि इस तरह का कोई विद्रोह फिर कभी न हो पाए, इसलिए उन्होने आवश्यक कदम भी उठाए हैं। इनमे तीन कदम महत्व के है। पहला, हिन्दू और मुसलमानो को उन्होने एक-दूसरे से पूरी तरह अलग कर दिया है। दूसरा, राजाओ को तेजहीन और चारित्र्यभ्रष्ट कर दिया और तीसरा, अपनी फौज का सगठन मजबूत किया है। इस स्थिति मे 1857 जैसा समर इस देश मे फिर से होना असम्भव है।

दल के नेताओं से पहले कभी-कभी यह भी सुनाई देता था कि हम सन्यासियो की एक टोली बनाएंगे। धर्म की बाते लेकर लोगो के पास जाएंगे और लोगों के

हमारे प्रभाव मे आते ही हम उन्हे क्रांति की बातें समझाएंगे। दत्तात्रेय को इसमे कोई आपत्ति नही थी। पर उसका कहना था कि जिस धर्म को लेकर हम लोगों के पास जाएंगे, उस हिन्दू धर्म मे क्रांति के लिए कोई गुंजाइश नही है। वह दुनिया का सबसे ज्यादा 'कन्फरमिस्ट'धर्म है। परिस्थिति के साथ अनुरूप बनकर वह रहता आया है। किसी भी राज्यकर्ता की सेवा करने को वह हमेशा तैयार रहा है। इस धर्म मे जिनकी परवरिश हुई है, उन्हें दबकर रहने की आदत पड़ गई है। यह धर्म राष्ट्रव्यापी उत्थान के लिए मददगार नही हो सकता। धर्म को लेकर लोगो के पास जाना हो तो इस धर्म की एक नई आवृत्ति लेकर ही हमें जाना होगा।

तब दत्तात्रेय के पास क्रांति के लिए कौन-सा कार्यक्रम था? वह तो एक ही कार्यक्रम जानता था। वह था : गुरिल्ला पद्धति द्वारा छापामार युद्ध, पर सावरकर के पास इसकी कोई योजना नही थी।

दत्तात्रेय समय पर सचेत हुआ और दल से अलग हो गया। अलग होने से पहले वह सावरकर से मिला। अपने सारे मतभेद उसने उनके सामने रख दिए और कहा, 'मुझे विश्वास नही है कि आपका दल क्रांति का विशेष कोई कार्य कर सकेगा। एक दो हत्याएं करने मे वह अवश्य सफल होगा, पर उसके बाद पूरा दल तितर-बितर हो जाएगा। जाज्वल्य देशाभिमान, आत्यंतिक त्याग और मारने-मरने की तैयारी, यह आपकी असली पूंजी है। ये बहुत बड़े सदगुण है, इसमे कोई मतभेद नही। इन सदगुणो के अभाव मे कोई कार्य सफल नही हो सकता। पर क्रांति के लिए इतनी ही पूंजी पर्याप्त नही है। अंग्रेजों की तैयारी कितनी है, कैसी है, इसका हिसाब हमारे पास होना चाहिए। अंग्रेजों का मुकाबला करने के लिए उनके जितनी तैयारी हमारी भले न हो, पर हमारी पद्धति की सफलता के लिए जो कौशल चाहिए, परस्पर सहयोग चाहिए, उसका मैं यहा पूरा अभाव देखता हूं। इन कारणों से मैं आपके साथ काम नही कर सकता, मैं दल से अलग होना चाहता हूं। पर अलग होने से पहले आपको इतना वचन दिए देता हू कि मैने दल मे प्रवेश पाते ही गुप्तता की शपथ ली थी, उसका पालन मैं जिंदगी-भर करूंगा। आपको कभी धोखा नही दूंगा। आपको नुकसान हो, आपके कार्य मे बाधा पहुंचे, ऐसा कोई काम मैं नही करूंगा।'

सावरकर ने इतना ही जवाब दिया, 'मुझे बडा दु:ख है, पर मै आपको रोकना नही चाहता।'

पूना मे उन दिनो और एक क्रातिकारी दल था, जो अधिक जिम्मेदारी के साथ काम करता था। दत्तात्रेय इस दल मे शामिल हुआ। इस दल के साथ उसका सन् 1912 तक सम्बंध बना रहा। उसने इस दल के द्वारा महाराष्ट्र बंगाल, पजाब और मद्रास की ओर जो क्रातिकारी दल काम करते थे, उनसे सम्पर्क स्थापित किए। इन सम्पर्को मे महत्वपूर्ण सम्पर्क रहा, बगाल के क्रातिकारी ब्रह्मबाधव उपाध्याय से। ब्रह्मबाधव जी का जीवन बडा अद्भुत था। वे असली हिन्दू थे। खिस्ती धर्म की उन्होंने दीक्षा ली। बाद मे हिन्दू धर्म में आना मुश्किल हुआ, तब उन्होने सन्यास ग्रहण किया और संन्यासी के रूप मे वे क्राति कार्य करते रहे।

जिस दल मे दत्तात्रेय शामिल हुआ, उसका नाम क्या था, उसके नेता कौन थे, इस दल मे रहते हुए उसने क्या काम किया, इन बातो का काका साहब ने कही पर भी जिक्र नही किया है। कोई पूछता तो कहते, 'मुझे इस सम्बध मे कुछ भी कहना नही है।' कारण यह बताते थे कि 'मैंने उस समय सब बाते गुप्त रखने का वचन दिया था। वचन तो वचन ही है, उसका पालन करना जरूरी है।' जब लोग कहते कि 'अब तो हम स्वराज्य मे हैं, अब गुप्त बात कहने मे क्या आपत्ति हो सकती है।' तब जवाब देते, 'वचन तोड़ा नही जाता। भीष्माचार्य ने जिस कारण से ब्रह्मचर्य पालन का व्रत लिया था, उसका बाद मे प्रयोजन नही रहा, जिनके हित मे यह व्रत लिया था, उस सत्यवती ने भी व्रत छोड़ने का आग्रह किया, तब भी भीष्माचार्य नही माने। मेरी भी वृत्ति यही रही है। मै नही मानता कि इससे दुनिया का कोई नुकसान होने वाला है।'

सावरकर से वे अलग क्यो हुए, यह तो ऊपर बताया ही गया है। पर और भी एक कारण था, जिससे वे निराश हुए थे। वे कहते थे, क्रातिकारियो के जीवन मे संतों के ढंग की भले ही न हो, पर वीरों के ढग की तेजस्विता और चारित्र्य-शुद्धि तो आवश्यक है ही पर यहां यह आग्रह कतई न था। उल्टे, क्राति के नाम पर चारित्र्य की शिथिलता को दरगुजर करने की वृत्ति ही अधिक

दिखाई देती थी। नेताओं का ही चरित्र शिथिल था। इससे भी मैं निराश हुआ था।[1]

दत्तात्रेय ने क्रांति के लिए ही अपना जीवन समर्पित किया था। पर वह यह भी जानता था कि क्रांति का जाप करने मे क्रांति नही होती। क्रांति की पूर्व तैयारी के लिए दूसरा कोई ठोस रचनात्मक काम हाथ मे लेकर चलाना आवश्यक है। वह इसकी खोज मे था, इसी समय उसे स्वामी विवेकानन्द का एक अप्रकाशित निजी पत्र पढ़ने को मिला। उसमे स्वामी जी ने लिखा था : 'देशोद्धार के सम्बंध मे मैने कई बार कई तरह से विचार करके देखा। हर बार मुझे एक ही उत्तर मिला, वह यही था कि शिक्षा ही उसका एकमात्र मार्ग है।' यह पत्र पढते ही दत्तात्रेय की सभी दुविधाए दूर हुई। उसे लगा, मानो स्वयं विवेकानन्द उसे कह रहे है, 'बस, यही एक काम हाथ मे लो।'

बाबू अरविंद घोष उन दिनो 'वंदे मातरम्' मे नियमित रूप से लिखते थे। दत्तात्रेय वह पढ़ता आया था। अब तक उसे विपिनचन्द्र पाल के 'न्यू इंडिया' मे प्रकाशित होने वाले तेजस्वी लेखो का पोषण मिलता आया था। वह अब अरविंद बाबू के आध्यात्मिक और राजनैतिक तेज से ओतप्रोत लेखो पर मोहित हो जाए तो आश्चर्य नही। इसी अरसे मे विपिनचन्द्र पाल ने मद्रास मे छ. व्याख्यान दिए थे, जिनका विषय था : 'नया राजनैतिक तेज'। मद्रास की एक प्रकाशन संस्था ने ये व्याख्यान पुस्तक रूप मे प्रकाशित किए थे। दत्तात्रेय को ये भाषण इतने पसंद आए कि उसने पुस्तक की एक हजार प्रतियां मंगवा ली और बी० ए० की अंतिम परीक्षा देने जब वह बम्बई गया, तब परीक्षार्थी विद्यार्थियो को उसने सब प्रतिया बेच डाली। उन दिनो बी० ए० की परीक्षा का बहुत बड़ा महत्व था। इस परीक्षा मे जो 'फर्स्ट क्लास' आता था, उसकी प्रतिष्ठा सारे बम्बई प्रान्त मे बढ़ती थी। दत्तात्रेय फर्स्ट क्लास मे आ सकता था। पर उसने सोचा, मुझे नौकरी तो करनी नही है। देश सेवा ही करनी है। देश सेवा मे क्लास की क्या कीमत है? बस, पास हुआ तो काफी हुआ। लोकमान्य ने उसे यही कहा था। इसलिए परीक्षा के पेपर तीन के बदले दो घंटों

1 लेखक के साथ बातचीत से।

में लिखकर बचा हुआ एक घंटा उसने पाल बाबू की पुस्तक बेचने में खर्च किया।

परीक्षा के बाद मुजफ्फरपुर में पहला बम फटा। इससे माणिकतला बम-केस शुरू हुआ। बारीन्द्र कुमार घोष इस षड़यंत्र के नेता थे। अतः वे गिरफ्तार कर लिए गए। बारीद्र कुमार अरविन्द बाबू के भाई थे। अतः अरविन्द बाबू को भी गिरफ्तार कर लिया गया। अरविन्द बाबू के बचाव के लिए पैसे इकट्ठे किए जा रहे थे। दत्तात्रेय के हाथ में जब पैसों की अपील पड़ी, उसने पाल बाबू की पुस्तक बेचकर कमीशन की जो रकम कमाई थी, पूरी अरविन्द बाबू की बहन के नाम भेज दी।

अरविन्द बाबू उसके आराध्य बन गए थे। उनके जीवन में क्रांति-कार्य के जितना ही शिक्षा कार्य के लिए स्थान था। बडौदा की बड़ी नौकरी छोड़कर वे बंगाल नेशनल एजूकेशन नामक संस्था द्वारा चलाए जाने वाले विद्यालय में शिक्षा का कार्य करने के लिए कलकत्ता गए थे। अरविन्द बाबू के लेखों में भी कई जगह उसने शिक्षा कार्य के महत्व के बारे में पढ़ा था। लोकमान्य तो हमेशा उसका महत्व समझाते आए थे। इन सब कारणों से दत्तात्रेय ने दृढ़ विचार करके निश्चय किया : 'अब यह जीवन राष्ट्रीय शिक्षा के लिए ही समर्पित है।'

केवल राष्ट्रीय शिक्षा का तरीका निश्चित करना बाकी था। वह दो तरीके जानता था। एक अध्यापन का और दूसरा, पत्रकारिता का। पत्रकारिता को वह व्यापक शिक्षा का अंग मानता था। अंतिम निर्णय लेने के लिए वह लोकमान्य के पास गया। लोकमान्य ने कहा, 'दोनों तरीके साथ-साथ चलने चाहिए।'

'अध्यापन के प्रति मेरी रूचि है। मैं अंग्रेजी दूसरी में पढ़ता था, तब से लेकर अब तक अपने साथी विद्यार्थियों को पढ़ाता आया हूं। अध्यापन का मुझे थोड़ा सही, पर अनुभव है। पत्रकारिता का कोई अनुभव नहीं है। क्या आप अपने 'केसरी' या 'मराठा' अखबारों में से किसी एक में काम देकर मुझे यह तालीम देंगे?'

लोकमान्य ने कहा, 'अवश्य', और एक चिट्ठी लिखकर उन्होंने उसे नरसिंह चितामण केलकरजी के पास भेज दिया। केलकरजी उन दिनों 'मराठा' के संपादक मंडल के प्रमुख थे। यह लोकमान्य का अंग्रेजी पत्र था। दत्तात्रेय उसमें लग

गया। केलकरजी के विद्या-व्यासंग उनकी साहित्य-रसिकता आदि गुणो से दत्तात्रेय मोहित भी हुआ। दो-एक महीने उसने वहां काम किया। इतने मे घर से चिट्ठी आई : 'मां बहुत बीमार है, जल्दी चले आओ।'

छुट्टी लेकर दत्तात्रेय घर चला गया।

लोकमान्य ने अपनी चिट्ठी में मराठी रिवाज के अनुसार दत्तात्रेय का जिक्र दत्तोपंत कालेलकर के रूप में किया था। 'काका साहब' बनने तक महाराष्ट्र मे वे दत्तोपंत कालेलकर के नाम से ही पहचाने जाते थे।

राष्ट्र-सेवा की दीक्षा

गंगाधरराव देशपांडे के साथ

मां के साथ मे आठ-दस दिन रहकर लौटने के इरादे से दत्तोपंत छुट्टी लेकर शाहपुर गए थे। पर वहां पहुंचने पर मालूम हुआ कि मां क्षय रोग से पीड़ित है। आठ-दस दिन तो क्या, आठ-दस महीनो के बाद भी लौट सकेंगे या नहीं, इसका कोई भरोसा नही है।

डा० पुरूषोत्तम शिरगावर का इलाज चल रहा था। दत्तोपंत ने उनसे पूछा, 'क्या बुढ़ापे मे भी क्षय रोग होता है ?'

'हां' शिरगांवकरजी ने जवाब दिया और मा के पीहर के भिसे परिवार के किन-किन लोगों को यह रोग हुआ था और वहा से वह कहां-कहां गया, यह इतिहास बताकर उन्होने कहा, 'आपके बड़े भाई बाबा भरी जवानी में गुजर गए, इसका कारण क्षय रोग ही था। आपके दूसरे भाई केशव को लकवा हुआ, उसके मूल मे भी यही रोग है। अब मा इस रोग से पीड़ित है। अगर मेरी सुनेंगे तो मैं आपको बताना चाहता हू कि आपको भी यह रोग हो सकता है। आप अभी से अंडा खाना शुरू कर दे। अंडा न खाना हो तो कम-से-कम काड लीवर आइल तो आपको लेना ही होगा।'

दत्तोपंत ने कहा, 'मुझे किसी भी परिस्थिति मे मासाहार नही करना है। खैर, मा के बारे में आपकी क्या राय है ?'

'आप पढ़े-लिखे हैं। मैं आपको कोई विश्वास नही दिला सकता।' डाक्टर ने जवाब दिया।

डाक्टर का यह जवाब सुनते ही दत्तोपंत ने तुरन्त निर्णय ले लिया। 'मराठा' का काम छोड़ दिया और वे मां की तीमारदारी में लग गए।

उन दिनों गगाधरराव देशपाण्डे बेलगांव में राष्ट्र सेवा का अड्डा जमाकर बैठे थे। लोकमान्य के दाहिने हाथ माने जाते थे। उन्होंने अपने साथी गोविंदराव

यालगी के साथ लोकमान्य के लोक-जागृति के सभी कार्यक्रम बेलगांव मे शुरू कर दिय थे। स्वाभाविक रूप मे ही दत्तोपत का उनके यहां आना-जाना शुरू हुआ था।

पहली ही मुलाकात मे दत्तोपंत की बुद्धिमत्ता और निश्चयी स्वभाव से गंगाधरराव प्रभावित हुए। उन्होंने गोविंदराम यालगी से कहा, 'यह नौजवान बड़ा बुद्धिमान है। उम्र के हिसाब से इसका वाचन भी विशाल है, चिंतन भी काफी गहरा है और स्वभाव से बडा निश्चयी मालूम होता है। इसको पकड़कर किसी काम मे लगा देना चाहिए।'

दूसरी ही मुलाकात में गंगाधरराव ने दत्तोपंत से पूछा, 'आजकल आप क्या करते हैं ?'

'फिलहाल तो मा की तीमारदारी मे व्यस्त हू। पर राष्ट्र-सेवा का कोई काम आपके पास हो तो मै समय निकाल लूगा।'

बेलगांव मे उन दिनों कुछ नौजवानों ने गणेश विद्यालय नामक एक राष्ट्रीय शाला शुरू कर दी थी। वे अपने को तिलक पंथी मानते थे और राष्ट्रीय वृत्ति वाले एक हैडमास्टर की खोज मे थे। गंगाधरराव ने जब दत्तोपंत की सिफारिश की, तब वे बड़े खुश हुए और दत्तोपंत इस विद्यालय मे आठ रुपये महीने वेतन पर काम करने लगे।

इसी अरसे मे वे एक स्थानीय सज्जन के घनिष्ट सपर्क मे आए। उनका नाम था : नागेशराव गुणाजी। वैसे, नागेशराव उनके लिए बिल्कुल अपरिचित नही थे। बड़े भाई के मित्र के रूप में वे उनके यहां अक्सर आया करते थे। उम्र मे वे दत्तोपंत से लगभग दस साल बड़े थे। बेलगांव मे वे वकालत करते थे। लगभग सोलह साल वकालत करने के बाद यह व्यवसाय अच्छा नही है, कहकर उन्होंने वह छोड़ दी थी। साहित्य के प्रति उनका अनुराग था। इसलिए साहित्य-सेवा मे ही उन्होंने अपना जीवन लगा दिया था। दत्तोपंत को जब मालूम हुआ कि नागेशराव श्रीरामकृष्ण, विवेकानंद और भगिनी निवेदिता के बड़े भक्त हैं तो दत्तोपंत ने उनके यहां आना-जाना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे दोनों गहरे मित्र बने। दोनो ने मिलकर बेलगांव मे विवेकानन्द के विचारों का प्रचार करने वाली 'नव वेदांती समाज' नामक एक संस्था भी शुरू कर दी। दोनों मराठी संत-साहित्य का अध्ययन करने लगे। ठीक उन्ही दिनों उनके

हाथ में विवेकानन्द की ही परम्परा के, पर अपने ढंग के दूसरे एक वेदांती संन्यासी स्वामी रामतीर्थ की पुस्तकें पड़ी। इन पुस्तकों से दोनों मित्र इतने प्रभावित हुए कि दोनों ने निश्चय किया कि रामतीर्थ की पुस्तकों का मराठी में अनुवाद होना ही चाहिए। रोज शाम के समय दत्तोपंत साईकिल पर नागेशराव के यहां जाते थे और रामतीर्थ की रचनाओं का अनुवाद करते थे। अपने हाथ से लिखने की दत्तोपंत को एक प्रकार की अरुचि थी। इसलिए लिखने का काम अधिकतर नागेशराव ही करते थे। कभी-कभी रामतीर्थ के एकाध विचार को लेकर दोनो गहरी चर्चा मे भी उतर जाते थे। इस तरह रामतीर्थ के व्याख्यानो और लेखो के दो संग्रह उन्होंने मराठी मे तैयार भी किए और प्रकाशित भी। इस साहित्य सहयोग के कारण दोनों एक-दूसरे के इतने नजदीक आए कि अपने बीच के उम्र के अंतर को भी वे भूल गए।

रामतीर्थ साहित्य के परिशीलन का एक असर यह हुआ कि उसने दत्तोपंत के मन मे हिमालय के प्रति एक असाधारण आकर्षण पैदा किया। जिंदगी मे एक बार तो सारा हिमालय देख लेना चाहिए, इस तरह की एक उत्कट इच्छा उनके मन मे जाग्रत हुई।

मा की तीमारदारी, गणेश विद्यालय मे अध्यापन-कार्य; नागेशराव गुणाजी के साथ साहित्य सेवा और मराठी के सत-साहित्य का परिशीलन इन प्रवृत्तियों के साथ-साथ दत्तोपंत ने एक और काम हाथ मे लिया। रात के समय पिताजी को वे अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढ़कर सुनाते। पिताजी को पुस्तके पढने का खास शौक नही था। वे अखबार भी नही पढ़ते थे। रात के समय जागने की तो उन्हें कतई आदत नही थी। आठ, साढे आठ बजे वे बिस्तर पर लेट जाते और नौ बजने तक खर्राटे भी लेने लगते। सुबह बहुत जल्दी उठते, पर रात को जागते रहना उनके लिए कठिन था। पर अब जब पत्नी ही बीमार पड़ी थी, जल्दी सोना उनके लिए कठिन हो गया था। बडी देर तक जागते रहने की उन्होने आदत डाल ली थी। दत्तोपंत ने इस समय का सदुपयोग करने के लिए उन्हें पुस्तकें पढ़कर सुनाने का सिलसिला शुरू कर दिया। मराठी के आद्य उपन्यासकार हरि नारायण आपटे का 'उषा:काल' उपन्यास जो उन दिनों महाराष्ट्र में बहुत ही लोकप्रिय हुआ था, सबसे प्रथम हाथ में लिया। रात के भोजन के बाद दोनो मां की बगल के कमरे मे जाकर बैठ जाते और निशीथकाल

तक 'उषाःकाल' पढ़ते रहते। 'उषाःकाल' की विशेषता यह है कि जहां एक अध्याय समाप्त होता है, वहीं आगे क्या हुआ—यह जानने की उत्सुकता पाठक के मन में जाग्रत होती है और वह आगे का अध्याय पढ़ने लगता है। कई दिनो तक यह सिलसिला चलता रहा। पिताजी के लिए यह बिलकुल नया अनुभव था। उन्होंने एक बार बेटे से कहा भी —'दत्तू, मैंने अभी तक कोई उपन्यास नही पढ़ा था। उपन्याम गंदे होते हैं, यही ख्याल मन में था। तूने ही मेरे मन में उपन्यासों के प्रति रुचि पैदा की। अब अच्छे-अच्छे उपन्यास मुझे लाकर दे, मैं पढ़ लूंगा।'

पुस्तकों के साथ-साथ दत्तोपत ने पिताजी को अखबार भी पढकर सुनाना शुरू कर दिया। देश में उन दिनों जो सरकारी जुल्म होते थे, उमके समाचार महाराष्ट्र के लोकप्रिय दैनिक 'ज्ञानप्रकाश' में आते रहते थे। दत्तोपंत इन समाचारों की पार्श्वभूमि जानते थे। इसलिए वे पिताजी को यह पार्श्वभूमि बता देते और फिर कहां क्या हुआ, यह पढकर सुनाते। जुल्म के ममाचार सुनते-सुनते एक दिन पिताजी का पुण्य-प्रकोप जाग्रत हुआ और वे बोले, 'यह मब सहा नहीं जा सकता। क्या, इन लोगों को पूछने वाला देश में कोई नही है ? इन अन्यायों का प्रतिकार होना ही चाहिए।'

अनायास मिला हुआ इतना सुदर मौका दत्तोपंत क्यो खोते ? उन्होंने पिताजी से कहा, 'असल में यह काम देश के नौजवानों का है। पर दुर्भाग्य की बात यह है कि किसी भी नौजवान को उसके मां-बाप यह काम करने नही देते। सभी मां-बाप यही चाहते हैं कि अपने बेटे पढ़ें, अच्छी नौकरी करें और सुखी रहें। इस हालत में खतरा उठाएगा कौन ?'

पिताजी कुछ नही बोले, वे ममझ गए। पर इस संवाद का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने उस दिन से अपने दत्तू को यह करो या यह मत करो कभी नही कहा। जब रहा नहीं गया तब जिंदगी मे एक बार—केवल एक ही बार— उन्होंने कहा, 'देखो दत्तू, तेरे देश-सेवा के संकल्प से मैं तुझे परावृत्त करना बिलकुल नहीं चाहता। मैं इतना ही चाहता हूं कि तू एल० एल० बी० कर ले। चाहे तो पैसे मत कमा। पर कानून के ज्ञान से देश-सेवकों के बीच तेरी प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी। तू जिनके नाम लेता है, वे सभी देशभक्त एल० एल० बी० हैं न ?'

दत्तोपंत ने मन-ही-मन कहा, 'देश सेवा करने की पिताजी अनुमति नहीं देंगे, यह जो मन में फिक्र थी वह तो दूर हुई। एल० एल० बी० का बाद में देखा जाएगा। फुर्सत मिले तो कर भी लेंगे।' और वे निश्चितता के साथ गंगाधर राव के साथ काम करने लगे।

गंगाधर राव एक बुजुर्ग नेता थे। दत्तोपंत की ओर वे वात्सल्यभाव से देखते थे। वे जन-जाग्रति के तरह-तरह के कार्यक्रम चलाते आए थे। कभी गणेशोत्सव तो कभी शिवाजी उत्सव, कभी शंकराचार्य जयंती तो कभी श्रीकृष्ण जयंती, इस तरह हर हफ्ते कुछ-न-कुछ मनाते ही रहते थे। दत्तोपंत को भी उन्होंने अपने इन उत्सवों में बुलाना शुरू कर दिया था। कभी-कभी उन्हें वे भाषण देने को भी कहते। एक बार शंकराचार्य जयंती के अवसर पर दत्तोपंत ने 'शंकराचार्य का राष्ट्र-संगठन का कार्य' इस विषय पर एक सुंदर भाषण दिया, जिसे सुनकर स्वयं गंगाधरराव काफी प्रभावित हुए थे।

> एक बार, दक्षिण अफ्रीका में भारतीय मजदूरों के बीच काम करने वाले गांधी नाम के किसी जैन बैरिस्टर के काम को समर्थन देने के लिए भी गंगाधरराव ने एक सभा आयोजित की थी। उसमें भी दत्तोपंत ने भाषण दिया था। गांधी को जैन समझने का कारण उनकी अहिंसा नहीं थी। उनकी अहिंसा से तो बाद में परिचय हुआ। पर दत्तोपंत ने स्वामी विवेकानन्द के जो निजी पत्र पढ़े थे, उनमें एक जगह गांधी नामक एक सज्जन का जिक्र आया था, जिन्होंने विश्व धर्म परिषद में जैन धर्म का प्रतिनिधित्व किया था। यही गांधी दक्षिण अफ्रीका में बैरिस्टरी करते होंगे और वहां के भारतीय मजदूरों की ओर से दक्षिण अफ्रीका की सरकार के खिलाफ लड़ते होंगे, यह ख्याल था।[1]

ऐसे ही एक उत्सव में दत्तोपंत ने 'स्वामी विवेकानन्द का युग-कार्य' इस विषय को लेकर एक भाषण दिया। उसमें एक जगह उन्होंने कहा, 'विवेकानन्द ने अमरीका में जाकर वेदांत का जब बम फेंका, तब भारत जाग्रत हुआ।' गंगाधरराव सभा के अध्यक्ष थे। उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण में इस बम का

1. लेखक के साथ बातचीत से

जिक्र किया और कहा, 'आजकल पुलिसवाले इधर-उधर बम ढूंढ़ते फिरते हैं। हमारा असली बम किस प्रकार का है, यह आपको दत्तोपंत कालेलकर ने अच्छी तरह समझा दिया है।' लोगों को लगा, गंगाधरराव ने अपनी लाक्षणिक शैली में हमें एक क्रांतिकारी नवयुवक का परिचय करा दिया है, जो बम बनाना जानता है और जो हमारे बेलगांव का ही नवयुवक है।

बस, दूसरे दिन से एक ओर बेलगांव के क्रांतिकारी विचारों के नौजवान दत्तोपंत की ओर आकृष्ट हुए तो दूसरी ओर पुलिस के लोग उनकी गतिविधियों पर निगरानी रखने लगे। यह समाचार जब उनके ससुर के यहां पहुंचा, वहां सभी घबड़ा गए, सभी कांपने लगे। उन्हें विशेष दुःख तो इस बात का था कि वे दत्तोपंत को कुछ कहने की हिम्मत नहीं करते थे। क्योंकि बोलने मे दत्तोपंत निस्पृह थे। एक सुनते तो दो सुना भी देते थे। कुछ दिन पहले दामाद को सचेत करने के लिए ससुर ने कुछ कहा था तब उन्होंने उन्हें मुंहफट जवाब दे दिया था, 'क्या आप देश में कायरों की संख्या बढ़ाना चाहते है?'

ससुर ने काफी सोच-विचार कर अंत में दत्तोपंत के पिताजी से ही कह दिया, 'आपको मालूम है न कि आपके बेटे की गतिविधियों पर पुलिस की निगरानी है? और जिस विद्यालय में महीने में आठ रुपये के वेतन पर वह काम कर रहा है, वह विद्यालय भी पुलिस की नजर पर चढ़ गया है।'

पिताजी ने इतना ही जवाब दिया, 'दत्तू हमेशा मेरी बात सुनता आया है। इतना बड़ा हुआ, बी० ए० पास किया, पुस्तकें लिखने लगा, भाषण देने लगा, फिर भी शाम को घूमने जाता है, तब आज भी वह मुझे कहकर जाता है। मन लगाकर मेरी और अपनी मां की सेवा करता है। मेरे दूसरे पुत्रों ने मुझे जैसा निराश किया, वैसा इसने नहीं किया। वह परीक्षा में कभी फेल नहीं हुआ। हमेशा क्लास लेकर ही पास हुआ। बी० ए० पास हुआ है। इसलिए दो-सौ, ढाई-सौ आसानी से कमा सकता था। पर वह छोड़कर केवल आठ रुपयों पर संतुष्ट है तो वह समझ-बूझकर ही यह त्याग करता होगा। वह निकम्मा तो नहीं है, न ही गैरजिम्मेदार है। वह जो काम करता है, वह बुरा है, ऐसा तो आप भी नहीं कहेंगे। फिर मैं उसे क्यों टोकूं? हां, मैं यह तो कबूल करता हूं कि विद्यालय में जहां वह काम करता है, यह काम स्वीकारने से पहले उसने मुझे कुछ नहीं पूछा, न ही कुछ कहा। यह एक ही बात ऐसी है,

जिसके बारे मे उसने मुझे कुछ भी नही पूछा । पर पूछता तो भी मै उसे मना न करता । गंगाधरराव देशपाडे-जैसे जिम्मेदार आदमी जिसके पीछे हैं, उसकी चिंता करने का कोई कारण नही है । हमने अपने समय के आदर्शो के अनुसार काम किया । ये नई पीढी के लोग हैं, वे अपने आदर्शो के अनुसार आगे चलेगे । हम अपने आदर्श इन पर लादें यह न तो उचित है, न अच्छा ही । मुझे इतना विश्वास है कि उसके हाथो किसी का बुरा नही होगा, न ही वह कोई अनुचित काम करेगा ।'

पिताजी के ये उद्गार जब पुत्र ने सुने, उसका हृदय धन्यता से लबालब भरकर उछलने लगा । वे पिताजी की ओर से बिल्कुल निश्चित हो गए । एक ही व्यक्ति ने एकात म उन्हे आडे हाथो लेने की हिम्मत की । वह थी : उनकी पत्नी लक्ष्मीबाई, पर उस जमाने मे इस भारतवर्ष मे ऐसा एक भी पति पैदा नही हुआ था, जो अपनी पत्नी की बातो पर ध्यान देता । दत्तोपत ने तो अपने कान ही बंद कर लिए थे ।

लोकमान्य को सजा

बेलगाव आये दत्तोपंत को लगभग छः महीने हो गए थे । वे एकाग्रता स मा की तीमारदारी मे लगे थे । तीमारदारी मे उन्होने कोई कमी नही रहने दी । उसमे बहुओं को भी दस्तदाजी नही करने दी । सारी सेवा उन्होने अपने ही हाथ मे ले ली थी । फिर भी मा की सेहत म कोई सुधार दिखाई नही दिया । छठवे महीने मे तो उनकी सेहत दिन-ब-दिन गिरती ही गई । सबको चिंता होने लगी । सेहत इतनी गिर गई थी कि मा के कानो मे मोतिया के जो फूल थे, वे भी उनको भारी मालूम होने लगे । इसलिए उतारने पड़े । पिता-पुत्र दोनों उनके बिस्तर के पास बैठे रहते । छठवे महीने मे करीब बीस दिन, दिन-रात उनके बिस्तर के पास बैठे रहे । एक दिन दत्तोपत ने मा की आखो मे आंसू बहते हुए देखे ।

'मां, तू क्यो रो रही है ?'

'क्या बताऊं', मां ने रोते-रोते जवाब दिया, 'तुम दोनो इतनी सेवा करते हो, समय पर दवाइयां देते हो, मेरे पास बैठकर सारी रात जागते रहते हो;

सेवा में कोई कमी नहीं रहने देते। इसलिए लगता था कि मैं अच्छी हो जाऊंगी। पर आज मेरा विश्वास उड़ गया है। लगता है, इतनी उत्कट सेवा के बावजूद तुम मुझे बचा नहीं सकते।'

और रोते-रोते ही मां ने एक गीत गाना शुरू कर दिया —'सोडूनिया पिल्लें कशी जाऊं मी वना ? (बच्चों को छोड़कर कैसे जाऊं मैं वन में)' उसी दिन शाम के समय डाक्टर आए। तब दत्तोपंत ने उससे पूछा, 'आपको क्या लगता है ?'

'आई कांट गिव यू होप' डाक्टर ने जवाब दिया। दत्तोपंत समझ गए कि अब डाक्टर ने भी आशा छोड़ दी है। उसी रात एक विचित्र घटना घटी। बरामदे की बगल में जो बड़ा कमरा था, उसमें हवा और प्रकाश का प्रमाण ज्यादा था। इसलिए मां का बिस्तर इस कमरे में लगाया गया था। रात के लगभग दो बजे थे। पिता-पुत्र दोनों मरीज के पास बैठे थे। अचानक दरवाजे पर एक हल्की थपकी सुनाई दी। मां सो गई थीं और दत्तोपंत ने बत्ती भी मंद कर दी थी। थपकी सुनते ही उनके मन में प्रश्न उठा, इस समय कौन आया होगा ? देखने के लिए उन्होंने दरवाजा खोला। इतने में बाहर से एक काला-कलूटा नाटा आदमी अंदर घुसा। उसके हाथ में एक कांसे की पतली और लम्बी रस्सी की गेंडली थी। अंदर घुसते ही उसने यह गेंडली जमीन पर पटक दी और उसका एक छोर हाथ में पकड़कर वह फिर से उसे लपेटने लगा। रस्सी लपेटते समय वह अपने एक पांव पर दूसरा पांव रखकर, फिर दूसरे पांव पर पहला पांव रखकर डोलता रहा। एक मिनिट भी नहीं हुआ होगा, उसे देखकर दत्तोपंत का सारा शरीर कांपने लगा। सिर के बाल भी मानो सीधे हो गए। एक ओर मां की चिंता-या यों कहें, बिल्कुल निराशा, कई दिनों का रात्रि का जागरण, इस पर मध्यरात्रि के समय धुंधले प्रकाश में इसके यह हावभाव। दत्तोपंत घबड़ा गए। भूत पर उनका बिश्वास नही था और यह चोर भी नहीं था। फिर यह कौन था ? क्षण-भर लगा, 'हमें सूचना देने के लिए यमराज ने तो इसे यहां नहीं भेजा ?' खुशकिस्मती से मां दीवार की ओर मुंह करके सो रही थी। इसलिए इसको देख नहीं सकी थी। दत्तोपंत के मन में केवल एक क्षण के लिए दुविधा रही। दूसरे ही क्षण उन्होंने हिम्मत बांध ली। उस आदमी की बांह को पकड़कर उन्होंने उसे बाहर धकेल दिया और दूसरे ही क्षण दरवाजा बंद कर दिया।

पिताजी कुर्सी पर बैठे चुपचाप देख रहे थे। दरवाजा बंद करके दत्तोपंत ने जब उनसे कहा, 'कोई पागल था।' तब पिताजी ने जवाब में केवल 'हूं' कहा। शायद वे भी इसी निर्णय पर आए थे कि यमराज की ही यह सूचना है।

दूसरे दिन दोनों मां को अंदर के कमरे मे ले गए। पर उस दिन से मां की सेहत इतनी तेजी के साथ गिरने लगी कि पिता-पुत्र दोनों ने सारी आशाएं छोड़ दी।

18 जून 1908 के दिन मां ने दुनिया से विदा ली।

दत्तोपंत को लगा कि उनके जीवन का एक अध्याय अब समाप्त हुआ है। अब बेलगांव मे रहने का कोई प्रयोजन नही रहा। जिस गणेश विद्यालय मे वे पढ़ा रहे थे उसके संस्थापक शिक्षकों से भी वे उकता गए थे। हालांकि वे सब अपने को तिलक पंथी कहलाते थे, देश स्वतंत्र होना चाहिए, इस राय के भी थे, पर उनकी राष्ट्रीयता दकियानूसी थी। छत्रपति शिवाजी और उनके गुरू स्वामी रामदास का गुणगान करना, अंग्रेजों की निंदा करना, गोखले-जैसे नरम दल के लोगो के प्रति तिरस्कार व्यक्त करना, सुधार-पंथी लोगो के प्रति कुत्सित-भाव रखना और राजनीति तो हम महाराष्ट्रीय ही जानते हैं, इस तरह की शेखी बघारना बस इन्ही बातो मे उनकी राष्ट्र-भक्ति समाप्त हो जाती थी। स्वभाव से वे समाज की खुशामद करने वाले थे। और अपनी राष्ट्रभक्ति में संतोष मानते थे। दत्तोपंत उनसे उदास हो गए थे। इसलिए गंगाधरराव से चर्चा करके उनकी सम्मति से उन्होने गणेश विद्यालय का काम छोड़ दिया।

नया कोई काम हाथ मे आया नही था। इसलिए सोचा, चलो एल० एल० बी० कर लें। पिताजी को तो संतोष होगा और पूना जाकर मराठा मे फिर से शरीक होने के बदले एल० एल० बी० करने के लिए बम्बई चले गए।

बेलगांव में उन दिनों 'परीक्षक' नाम का एक अखबार निकलता था। वह राष्ट्रीय वृत्ति का ही माना जाता था। इसलिए दत्तोपंत ने उससे सम्पर्क स्थापित किया, पर इसके सम्पादक मंडल को व्यापक राष्ट्रीयता से ज्यादा स्थानिक राजनीति में रूचि थी और दत्तोपंत को स्थानिक राजनीति से लगभग नफरत-सी थी। अतः परीक्षक से विशेष सहयोग न हो सका। 'चिकित्सक' नामक दूसरा एक अखबार वहां से प्रकाशित होता था। उसके सम्पादक के आग्रह

से उन्होंने उसमें दो-तीन लेख लिखे थे। पर इसकी अपनी कोई नीति नहीं थी। मंगेशराव तेलंग के जमाने में उसमें जो जोश था, अब नही रहा था। मतलब, बेलगांव में कोई आकर्षण ही नही रहा था।

बम्बई आते ही पहले चार-छः दिन उन्होंने नीद का कर्ज अदा करने में ही बिता दिए। कई दिनो से वे ठीक तरह से सो भी नहीं पाए थे।

रहने के लिए उन्होंने गिरगांव का मुहल्ला पसंद किया। वहां प्रार्थना-समाज के सामने कांट्रेक्टर बिल्डिंग मे ऊपर की मंजिल पर एक कमरा किराये पर लिया और वहा रहने लगे। वहां से कुछ ही अंतर पर माधवाश्रम में, जो महाराष्ट्रीय भोजन के लिए अच्छा होटल माना जाता था, भोजन के लिए जाने लगे और रोज दोपहर को फोर्ट में जाकर कानून के अध्ययन के लिए लॉ-क्लास मे उपस्थित रहने का सिलसिला शुरू कर दिया।

प्रार्थना-समाज घर के सामने ही था। उसके कार्यक्रमों मे हिस्सा लेना अभी शुरू भी नही किया था, इतने मे उन्हे लोकमान्य तिलक की गिरफ्तारी के समाचार मिले। इस समाचार से देश का सारा वातावरण यकायक गरम हो गया। यह दिल दहलाने वाला समाचार था। उसे सुनकर देश का कोई भी राष्ट्रवादी खामोश या तटस्थ रह नही सकता था। गिरफ्तारी के बाद जिस दिन लोकमान्य के विरूद्ध बम्बई के हाई कोर्ट मे मुकदमा शुरू हुआ, उस दिन मानो राष्ट्रवादी भारतवर्ष के सभी रास्ते उसी दिशा में चलने लगे। सभी ओर के देशभक्त बम्बई मे जमा हो गए थे। लोगो का पुण्य-प्रकोप इतना प्रज्वल्लित हो उठा था कि हाई कोर्ट की रक्षा के लिए न्यायाधीश को पुलिस की मदद मांगनी पड़ी थी। लगभग ढाई सौ पुलिस और पुलिस विभाग के अफसर कोर्ट के चारो ओर तैनात कर दिए गए थे। मुकदमे के दरमियान लोकमान्य को जेल से कोर्ट मे लाना और कोर्ट से फिर जेल मे ले जाना कठिन प्रतीत होने लगा। इसलिए न्यायाधीश ने लोकमान्य को कोर्ट मे ही बंदी रखने का प्रबंध किया था। इस प्रकार 13 जुलाई 1908 की सुबह से लेकर 17 जुलाई की शाम तक, फिर 19 जुलाई की शाम से लेकर 22 जुलाई की रात तक लोकमान्य पुलिस के बंदोबस्त के बीच कोर्ट मे ही बंदी रहे।

मुकदमे मे लोकमान्य ने अपनी पैरवी खुद ही की थी। बचाव का उनका भाषण लगातार छः दिन तक चलता रहा। यह भाषण सुनने के लिए जो अनेक देशभक्त न्यायालय में उपस्थित थे, उनमे दत्तोपंत भी एक थे।

दत्तोपंत ने इससे पहले लोकमान्य के कई रूप देखे थे। सभी उन्हें लुभावने मालूम हुए थे। पर इन छः दिनों मे न्यायालय मे उन्होंने उनका जो रूप देखा, वह आज तक देखे हुए उनके सभी रूपो मे सबसे अनोखा, सबमे अधिक लुभावना और सबसे अधिक प्रेरणादायक था। वे केवल वीर नहीं, महावीर-जैसे उन्हें प्रतीत हुए।

इन छः दिनो मे वम्बई के मिल मजदूरों ने हड़ताल की थी और हड़ताल के दरमियान उन्होंने इधर-उधर उधम भी मचाया था। फलस्वरूप मजदूर और पुलिस के बीच जो झगड़े-टंटे हुए, उनमे कई पुलिसवाले घायल हुए थे। उस समय इन मजदूरों के बीच जाकर उन्हें उधम मचाने के लिए प्रोत्साहित करने का काम जिन नौजवान देशभक्तों ने बडी लगन के साथ किया, उनमे एक दत्तोपंत भी थे। उन्होंने घायल मजदूरों की सेवा भी की। इतना ही नही, बल्कि घायल मजदूरों के जख्मों को पट्टी बांधने के लिए जब कपड़ा न मिला, तब उन्होंने बिना हिचकिचाहट अपनी धोती भी फाडकर दी। पिताजी ने उन्हे एक सितार भेंट दी थी। नीलकंठ बाबाजी रानडे नामक एक देश-भक्त ने जब मजदूरों की मदद के लिए निधि जमा करना शुरू किया, तब दत्तोपंत ने अपनी सितार बेच डाली और जो पैसे मिले, इस निधि मे जमा कर दिए।

22 जुलाई 1908 के दिन रात के पौने दस बजे जस्टिस दावर ने लोक-मान्य को छः साल के कारावास की सजा फरमाई। यह सजा फरमाते समय उन्होंने जब कहा कि आप जिस देश के प्रति प्रेम करने का दावा करते हैं, उस देश के बाहर आपको छः साल तक रखना मैं उचित समझता हूं, तब न्यायालय मे उपस्थित दत्तोपंत का खून खोलने लगा। उनको लगा, काश ! इस वक्त मेरे हाथ में एकाध बम होता तो मै जस्टिस दावर पर वह फेंक देता। दूसरे ही क्षण उन्हें लोकमान्य की धीर व गम्भीर आवाज सुनाई दी —

Inspite of the verdict of the jury, I maintain that I am innocent. There are higher powers than this Court that rule the destiny of men and Nations, and it seems to be the will of the Providence that the cause I represent should prosper more by my suffering than by my remaining free.

'इस फैसले के बावजूद मै अपने को अभी भी निर्दोष समझता हू । इस दुनिया मे इस न्यायालय से भी श्रेष्ठ शक्तिया काम करती है, जो लोगो का और राष्ट्रो का भाग्य निर्धारित करती है। जिस कार्य का मै प्रतिनिधित्व करता हू, वह मेरे मुक्त रहने की बजाय मेरे कारावास के कष्टो से अधिक पनपे, फूले-फले, यही सभवत: नियति की इच्छा है ।'

दत्तोपत ने लोकमान्य के ये शब्द सुने, तब उन्होने उनकी ओर देखा। उन्हे वहा योगारूढ स्थिति मे खडा एक अवतारी पुरुष दिखाई दिया। लोकमान्य की यह तेजस्वी मूर्ति कई दिनो तक उनकी आखो के सामने तैरती रही और उनकी वह धीर-गभीर आवाज भी कई दिनो तक उनके कानो मे गूजती रही।

अब केवल कानून का अध्ययन करना उनके लिए कठिन हो गया।

'राष्ट्रमत' की जन्म-कथा

24 जून 1908 को लोकमान्य गिरफ्तार कर लिए गए थे। पाच दिन के बाद, 29 जून को 'राष्ट्रमत' का पहला अक प्रकाशित हुआ। राष्ट्रवादी पक्ष का यह पहला ही दैनिक पत्र था। उसके जनक स्वय लोकमान्य तिलक थे। पहले ही अक के साथ यह पत्र खूब लोकप्रिय हुआ था और उसकी आवाज महाराष्ट्र के दूर-दूर के देहातो तक पहुच गई थी। उसकी प्रतिष्ठा का काका साहब एक मजेदार किस्सा सुनाते थे 'मैं गिरगाव के अपने कमरे के बाहर वरामदे मे अखबार की प्रतीक्षा मे खडा था। इतने में एक लड़का नीचे रास्ते पर 'राष्ट्रमत ...राष्ट्रमत' पुकारता दौडता हुआ आया। मैंने ऊपर से ही उसे पुकारा : 'अय राष्ट्रमत, इधर एक राष्ट्रमत देते जाना ! ऐसी पुकार सुनते ही ये लड़के रुक जाते हैं। पुकारने वाले को देखते है, दौडकर अखबार देने ऊपर आते हैं और पैसे लेकर चले जाते हैं, पर इस लडके ने ऐसा नही किया। मेरी पुकार सुनकर वह रुका और बडे गर्व के साथ कहने लगा, 'ऊपर आकर देने के लिए मैं ज्ञानप्रकाश नही हू, मैं राष्ट्रमत हू। आप अगर राष्ट्रमत चाहते है तो नीचे आकर ले जाइए।' अर्थात्, मुझे राष्ट्रमत लेने नीचे ही जाना पड़ा।[1]

'राष्ट्रमत' की अपनी जन्म-कथा है :

1. लेखक के साथ वातचीत से।

गरम दल के लोगो का अब तक कांग्रेस की ओर ध्यान नही गया था। बल्कि यह कहना होगा कि कांग्रेस को उन्होने कभी महत्व ही नही दिया था। बंग-भंग के कारण देश मे असाधारण लोक-जाग्रति उत्पन्न हुई, उसके बाद ही इन लोगों को लगा कि कांग्रेस को अपने हाथ मे लेना चाहिए। यह एक अखिल भारतीय मंच है। अतः 1906 में कलकत्ते मे कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उसमे इन लोगों ने उसे हाथ मे लेने का अपने ढंग का प्रयत्न किया। उन्होने अध्यक्ष के लिए लोकमान्य का नाम सुझाया। पर नरम दल के नेताओं ने अध्यक्ष के लिए दादाभाई नौरोजी का नाम सुझाकर गरम दल के नेताओ का पासा उलट दिया। दादाभाई देश के बुजुर्ग नेता थे। उनके नाम का विरोध करना गरम दल के लोगों को उचित न लगा।

दादाभाई ने समय की माग को पहचानकर 'स्वराज्य प्राप्त करना ही काग्रेस का ध्येय है,' इस तरह की नि.संदिग्ध घोषणा की और नरम दल तथा गरम दल दोनों को शात किया। कांग्रेस के मंच से स्वराज्य की घोषणा पहली ही बार इस अधिवेशन मे हुई थी।

कलकत्ता अधिवेशन में ही गरम दल के लोगो ने अगले साल का अधिवेशन नागपुर मे बुलाने का प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव पास हुआ। कलकत्ते मे जैसे दादाभाई का नाम सुझाकर तिलक को अलग रखने मे नरम दल के नेता सफल हुए थे, वैसे नागपुर मे संभव नही था। नागपुर मध्यप्रात का हिस्सा था। मराठी प्रदेश था और लोकमान्य के प्रभाव के क्षेत्र मे ही था। नागपुर में तिलक के हाथ में कांग्रेस जाएगी इस डर से सर फिरोजशाह मेहता जैसे नेताओने कलकत्ता अधिवेशन के बाद तरह-तरह की चालबाजियां खेलकर अगला अधिवेशन नागपुर के बदले सूरत मे बुलाना तय किया। सूरत बम्बई प्रान्त का एक शहर था और कांग्रेस का एक नियम था कि जिस प्रात मे अधिवेशन बुलाया जाता है, उस प्रांत का नेता उस अधिवेशन का अध्यक्ष नही बन सकता। इस चालबाजी के कारण तिलक इस अधिवेशन के भी अध्यक्ष नही बन सके।

इससे काग्रेस मे जो झगड़ा हुआ, वह 'सूरत कांग्रेस' के नाम से काग्रेस के इतिहास में पहचाना जाता है।

गुजरात मे उन दिनों राजनैतिक जाग्रति विशेष नही थी। गोकुलदास पारेख जैसे चंद गुजराती सज्जन राजनीति मे हिस्सा लेते थे, पर वे बम्बई के रहने

वाले थे और बम्बई मे रहने वाले सभी सर फिरोजशाह मेहता के तंत्र से चलने वाले थे। सर फिरोजशाह का विश्वास था कि गरम दल वाले सूरत मे सफल नही होंगे, पर सूरत मे उनका यह विश्वास भग हो गया और कांग्रेस के ही भंग होने का खतरा पैदा हुआ।

सूरत से लौटते ही बम्बई मे लोकमान्य ने अपने साथियों मे कहा कि अब महाराष्ट्र और गुजरात दोनो जगह राष्ट्रीय विचारो का जोरों से प्रचार होना आवश्यक है। इस संकल्प की पूर्ति की दिशा मे पहले कदम के रूप मे उन्होने मराठी में 'राष्ट्रमत' नामक एक दैनिक पत्र शुरू किया।

राष्ट्रमत के प्रथम सम्पादक सीताराम दामले थे। (मराठी के प्रसिद्ध कवि केशवसूत के भाई) और गणपतराव मोडक तथा नारायणराव सरदेसाई सम्पादकीय विभाग मे उनके साथी के रूप मे नियुक्त किए गए थे। तीनो के बीच शुरू मे ही एक राग नही था। फिर नई समस्याए खडी हो गईं। राष्ट्रमत का प्रेस अच्छा नही था। प्रेस मे जो मशीन थी, वह हाथ से चलानी पडती थी। इसलिए राष्ट्रमत की माग के अनुसार उसकी प्रतियां निकल न पाती थी। सबसे चिंता की बात यह थी कि आय म राष्ट्रमत का खर्च ज्यादा था। मतलब, लोकप्रियता के बावजूद राष्ट्रमत की स्थिति उसके प्रारम्भ म ही डावाडोल हो गई थी।

बम्बई म लोकमान्य का मुदकमा चल रहा था, उन दिनो गगाधरराव देशपाडे बम्बई आए थे। वे लोकमान्य के प्रमुख साथियो मे से एक थे। लोकमान्य से वे जेल मे दो-तीन बार मिलने गए, तब एक मुलाकात मे लोकमान्य ने उनसे कहा, 'राष्ट्रमत तो मैने शुरू कर दिया, पर उसकी ओर ध्यान देना अब मेरे लिए सम्भव नही है। यह प्रयोग असफल नही होने देना चाहिए। आप मेरी ओर से राष्ट्रमत की ओर विशेष ध्यान देगे तो मुझे खुशी होगी। मै चाहता हू कि आप उसे अपनी प्रवृत्ति माने।' गंगाधरराव के लिए यह एक तरह का आदेश ही था।

जहा से राष्ट्रमत निकलता था, वही गणपतराव मोडक रहते थे। वे गगाधरराव के मित्र थे और बम्बई मे गगाधरराव उन्ही के यहा ठहरते थे। लोकमान्य तिलक के इस अतिम आदेश की बात गंगाधरराव ने गणपतराव से की।

तब गणपतराव बोले, 'मेरी समझ मे नही आता कि आप इस मामले मे किस तरह हस्तक्षेप कर सकते हैं। राष्ट्रमत नेशनल पब्लिशिंग कम्पनी लिमिटेड की ओर से चलता है। इस कम्पनी के अपने शेयर होल्डर्स हैं और चिंतामण राव वैद्य तथा अण्णासाहब नेने जैसे बड़े-बड़े लोग इसके डाइरेक्टर्स है।'

गंगाधरराव असमंजस मे पड गए। उनको भी लगा कि राष्ट्रमत के कारोबार मे इस वक्त दिलचस्पी लेना एक तरह की अनाधिकार चेष्टा ही होगी, फिर लोकमान्य की इच्छा चाहे जो रही हो। उन्होंने यह बात दिमाग से निकाल दी, ओर वे बेलगाव चले गए।

लोकमान्य का छः साल की सजा देने वाले जस्टिस दावर पर गंगाधरराव को भी गुस्सा आया था। अब उन्होंने कही से सुना कि महाराष्ट्र के क्रांतिकारियों के बीच दावर की हत्या करने की योजनाए चल रही है। नासिक, पुणे ओर कोल्हापुर की ओर के क्रांतिकारी दलो मे गगाधररावजी का घनिष्ठ सम्बध था। दावर की अगर हत्या हो जाए तो वह इष्ट ही है, इस राय के स्वय गगाधरराव भी थे। और कुछ नही हो पाया तो कम-से-कम सरकार की दमन नीति को रोक लगाने मे तो यह हत्या कामयाब होगी, ऐसा उनका खयाल था। वे ऐसे कृत्यो के खतरे जानते थे। क्रांतिकारियो का प्रयत्न 'असफल' हुआ तो सरकारी दमन नीति क्या भयानक रूप लेगी, इसका भी उन्हे खयाल था। दावर की हत्या के प्रयत्नो का पता सरकार को लग गया है, यही नही, बल्कि दावर की रक्षा का पूरा बदोबस्त भी सरकार ने किया है, यह उन्हे मालूम था। फिर भी खतरा मोल लेने के पक्ष मे ही उनके मन का झुकाव था। इसलिए वे कुछ 'तय करने के लिए' बम्बई मे रूक गए थे। थोड़े ही दिनों मे वे इस नतीजे पर आए कि ये योजनाएं निराशा से उत्पन्न केवल दु:साहस के आसार ही हैं। उनका कुछ विशेष महत्व नही है। एक तो लोगों को सरकारी दमन नीति असह्य होने लगी थी और दूसरे, राष्ट्रीय पक्ष के नेता इन नौजवानों के हाथ मे ठोस रचनात्मक काम देने मे संपूर्णतः असफल रहे। लोकमान्य के जो बहुत नजदीक के साथी पूना, बम्बई मे थे, उनसे गंगाधररावजी ने विचार विनिमय शुरु किया। किसी के पास कोई कार्यक्रम नही था। उल्टे उन्हें यह सुनने को मिला कि जब तक लोकमान्य सजा पूरी करके लौट नही आते, तब तक हमे कुछ भी नही करना चाहिए। यही नही, बल्कि हमें

बिल्कुल निष्क्रिय रहना चाहिए, जिससे सरकार को यह विश्वास हो जाए कि हमने सब-कुछ छोड़ दिया है। हमे निष्क्रिय और खामोश देखकर सरकार लोकमान्य को छः साल के पहले ही छोड सकती है। लोकमान्य के साथियो से इस तरह की राजनीति की गगाधरराव को काई उम्मीद न थी और स्वय उनके पास भी नौजवानो को देने के लिए कोई कार्यक्रम नही था। इसलिए दो-ढाई महीने बम्बई, पूना की ओर रहकर वे वापस बेलगाव चले गए। स्वदेशी बहिष्कार-जैसे कई कार्यक्रम उन्होने वहा चलाए थे। उन्ही को अधिक तीव्रता से चलाने के इरादे से वे लौटे थे।

कुछ ही दिनो मे बम्बई से गणपतराव मोडक का तार आया: 'पैसो की अडचन के कारण राष्ट्रमत बद करने की नौबत आ गई है। आप फौरन बम्बई चले आए।'

बेलगाव से ही राष्ट्रमत के लिए कुछ पैसा इकट्ठा करके गगाधरराव तुरत बम्बई चले गए। वहा जाकर देखा तो सीताकात दामले राष्ट्रमत छोड़कर चले गए थे। नारायणगाव सरदेसाई सम्पादक पद सभालकर बैठे थे। बाकी का सारा कारोबार अस्तव्यस्त था। कर्ज भी बढ गया था। गगाधरराव ने तुरत सारा कारोबार अपने हाथ मे ले लिया। सारा कर्ज अदा किया। राष्ट्रमत का दफ्तर और प्रेस गिरगाव की भटवाडी म था। वहा स उठाकर वे उसे गिरगाव बैंक रोड के नाके पर, जहा एक जमाने मे भाऊ दाजी लाड रहते थे, उस मकान मे ले गए। इस मकान के मालिक मनमोहनदास रामजी नामक एक सेठजी थे, जो लोकमान्य के मित्र समझे जाते थे। गगाधरराव को यह उम्मीद थी कि सेठजी चूकि लोकमान्य के मित्र हैं। (उन्ही के सहयोग से लोकमान्य ने एक स्वदेशी स्टोर्स खोला था) और चूकि राष्ट्रमत भी लोकमान्य का ही अखबार है, इसलिए सेठजी नाम-मात्र के किराय पर मकान राष्ट्रमत को देगे, पर सेठजी सेठजी ही थे। अपना स्वधर्म छोडने को तैयार नही थे। महीने के तीन-सौ रुपये किराये पर ही उन्होने मकान दिया। राष्ट्रमत को यहा लाने के बाद गगाधर राव ने नई मशीन खरीदी। साल-भर के लिए पर्याप्त स्याही खरीद कर रखी और समय पर कागज भी जितना चाहे उतना मिलता रहे, इसका प्रबंध किया। खुद भी उसी मकान मे रहने लगे।

अब सवाल सम्पादकीय विभाग का रह जाता था। केलकर, खाडीलकर जैसे अनुभवी सम्पादक मिल जाते तो वे निश्चित हो जाते। पर यह सभव नही

था । बाबा साहब सोमण कुछ दिन बाद मदद के लिए आए । वे शिवराम पंत परांजपे के 'काल' मे काम करते थे, पर यह अंतरिम व्यवस्था थी ।

इतने मे सरकार ही उनकी मदद के लिए दौड आई । यवतमाल, अमरावती जैसे स्थानो मे राष्ट्रीय शालाए चलती थी, वह सरकार ने बंद कर दी । फलस्वरूप अच्छे-अच्छे शिक्षक 'मुक्त' हुए । इनमे स एक अमरावती के वामनराव जोशी (जो बाद मे वीर वामनराव के नाम से महाराष्ट्र मे प्रख्यात हुए) बम्बई आये थे । वे गगाधरराव से मिलने राष्ट्रमत मे आए थे, गगाधररावजी ने उन्हें वही रख लिया । वे बिना पारिश्रमिक लिए राष्ट्रमत के लिए स्वयं स्फूर्ति से लिखने लगे । इनके बाद नागपुर से गोपालराव ओगले आए (जो बाद मे नागपुर के 'महाराष्ट्र' के सम्पादक बने थ) पूना से दत्तोपत आपटे और हरिभाऊ फाटक आए । (दोनो ने बाद मे गोवा मे दादा वैद्य की मदद से 'आल्मैद कालज' नामक एक राष्ट्रीय पाठशाला चलाई थी) इनके अलावा और भी दो-तीन युवक आए । सभी त्यागी, तेजस्वी, देशभक्त युवक थ । गगाधर राव ने इन सबको राष्ट्रमत मे अतर्लीन कर लिया । फलस्वरूप, सभी एक ही मकान मे रहने लगे, एकत्र ही भोजन करने लगे । आपस मे काम बाटकर सारा दिन काम मे व्यस्त रहत । वेतन का कोई नाम न लेता था । (हालाकि गंगाधरराव उन्हे पाच रुपये महीना जेब खर्च के लिए देते थे) । सभी एक-दूसरे मे इतने ओतप्रोत होकर रहने लगे कि एक दिन एक बगाली सज्जन ने इसकी तारीफ करते हुए कहा, यह तो 'राष्ट्रमठ' है । उसने इसका राष्ट्रमठ नाम रख दिया । स्वाभाविक रूप से गगाधरराव मठपति कहलाए ।

गगाधरराव ने राष्ट्रमत अपने हाथ मे ले लिया है और इस बहाने राष्ट्र सेवको का एक खासा आश्रम स्थापित कर लिया है, यह दत्तोपत को मालूम नही था ।

वे एक दिन बम्बई के टाउन हाल मे एक सभा मे गए थे । बडौदा नरेश सयाजीराव गायकवाड़ इस सभा के अध्यक्ष थे और गोखले मुख्य वक्ता थे । विषय था, अस्पृश्यता की समस्या । दत्तोपत को इस विषय मे रूचि थी । इसलिए वे इस सभा मे उपस्थित थे । सयाजीराव ने अपने भाषण मे वहा कहा, मैने अपने राज्य में अस्पृश्यता गैर कानूनी घोषित कर दी है । राज्य से तो वह निकाल ही दी है । पर अब अनुभव से मुझे यह प्रतीत होने लगा है कि कानून द्वारा अस्पृश्यता को निकालना आसान है, पर समाज से उसका उच्चाटण

करना कठिन है। अस्पृश्यो के लिए मैने पाठशालाए खोली है, पर अस्पृश्यो की इन पाठशालाओं मे पढाने के लिए मुझे कोई हिन्दू शिक्षक नही मिलते। फलस्वरूप मुझे इस काम के लिए मुसलमानो की नियुक्ति करनी पडती है।'

दत्तोपत के लिए यह एक नई बात थी। एक प्रकार का रहस्योद्घाटन था। घर लौटते ही उन्होने इस पर एक लेख लिखा और राष्ट्रमत को भेज दिया।

दूसरे दिन वह प्रकाशित होगा, ऐसी उन्हे उम्मीद थी। पर वह प्रकाशित नही हुआ। तीसरे, चौथे दिन भी प्रकाशित नही हुआ। क्या हुआ, लेख प्रकाशित क्यो नही हुआ, कुछ समझ मे नही आया। किसी ने मानो चपत लगा दी हो, इस तरह का दत्तोपत का दुख हुआ। पाचवे दिन देखते है तो लेख सम्पादकीय स्तभ मे छपकर आया है। लेख को काफी प्रतिष्ठा दी गई है।

उसी दिन उन्हे गगाधरराव का बुलावा आया। वे तुरत उनसे मिलने राष्ट्रमत मे गए।

'यहा आप कहा रहते है?' गगाधरराव ने पूछा।

'यही पास मे... काट्रेक्टर बिल्डिग मे।'

'और क्या करते है?'

'वैसे, मै एल० एल० बी० कर रहा हू।'

'वह तो यहा रहकर भी आप कर सकते हैं। आप काट्रेक्टर बिल्डिग का कमरा छोड़ दीजिए और यही मेरे कमरे मे आकर रहिए। यही एल० एल० बी० का अध्ययन भी कीजिए और राष्ट्रमत मे मुझे मदद भी दीजिए। महाराष्ट्र के अच्छे-अच्छे नौजवान यहा इकटठा हुए हैं। आपका उनके साथ परिचय करा दूगा।'

उसी शाम दत्तोपत अपना बिस्तर-बोरिया लेकर राष्ट्रमत मे बल्कि 'राष्ट्रमठ' मे शरीक हो गए।

राष्ट्रमत

राष्ट्रमत का वायुमडल दत्तोपत को बहुत पसद आया। महाराष्ट्र के लगभग सभी हिस्सो के नौजवान देशभक्त यहा एकदिल होकर काम मे लग गए थे।

वामनराव जोशी तो मानो स्वयभू नेता थे। नेतृत्व के सभी गुण उनमे थे। वे उत्तम लेखक, उत्तम चिंतक, उत्तम वक्ता और उत्तम सगठक थे। किससे क्या काम लेना चाहिए, ठीक समझ लेते थे और उससे वह काम लेते भी थे। हरिभाऊ फाटक तो मा की तरह हर एक की चिंता करते थे। हर एक ने खाना खाया है या नही, सकोचशील स्वभाव के सदस्य को नाश्ता मिला है या नही, ऐसी छोटी-छोटी बातो मे ध्यान देते थे। प्रेम और प्रसन्नता के साथ हर एक से दोस्ती करते थे, हर एक का निजी जीवन समझने का प्रयत्न करते थे और प्रेम से सारा वायुमडल सुगधित रखते थे। सभी उन्हे 'मा' कहके पुकारते थे।

हरिभाऊ बाल ब्रह्मचारी थे। बाल ब्रह्मचारी अक्सर घमडी होते हैं। अपने को कोई विशेष आदमी समझते है और कुछ हद तक देहरक्खु भी होते हैं। दूसरे की सेवा करने की बात उन्हे कभी सूझती नही, पर हरिभाऊ बिल्कुल उल्टे स्वभाव के थे; नम्र, निगर्वी और सेवा-परायण थे।

काका साहब लिखते हैं

> सन् 1969 मे 93 साल की उम्र मे उन्होने अपनी जीवन यात्रा पूरी की, तब तक वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही रहे। उनका नम्र, निगर्वी, सेवा-परायण स्वभाव आखिर तक बना रहा। राष्ट्रमत बद होने के बाद वे गोवा गये थे। अपने साथी दत्तोपत आपटे के साथ वहा उन्होने आल्मेद कॉलेज नाम की एक राष्ट्रीय शाला चलाई थी। गोवा मे रहना कठिन हो गया तब वे पूना आए। पूना के सार्वजनिक जीवन मे ओतप्रोत हुए। उनके इर्दगिर्द सेवको का एक बड़ा मडल हमेशा जमा रहता था। 1922 मे पूना के ससून अस्पताल मे कर्नल मेडाक के हाथो गाधीजी का जब अन्त्रपुच्छ का आपरेशन हुआ, सरकार ने आपरेशन के समय उपस्थित रहने के लिए दो स्वजनो का नाम सुझाने को कहा था। तब गाधीजी ने निष्ठावान, त्यागी और पवित्र मित्र के रूप मे हरिभाऊ का एक नाम सुझाया था।

इन सब साथियो मे दत्तोपत की सबसे अधिक घनिष्टता जिनसे स्थापित हुई वे थे गोपालराव ओगले। वे पूरे साहित्य रसिक थे। पत्रकारिता को मिशन मानते थे। लोगो को बेचैन करने वाले लेख लिखते थे। वैसे महाराष्ट्र बेचैन ही था। ओगले के लेखो से और अधिक बेचैन हो जाता था।

जब सूरत काग्रेस के बाद लोकमान्य तिलक ने वन्हाड की ओर दौरा किया था, तब वहा एक जगह स्वामी आनदानन्द नाम धारण करने वाला एक गुजराती युवक उनसे आ मिला था। राष्ट्रमत की एक गुजराती आवृति निकालने की लोकमान्य सोच रहे थे, इसी सिलसिले मे उनसे इस युवक ने भेंट की थी। लोकमान्य ने उसे दादा साहब खापर्डे के पास भेज दिया था, जो गुजराती भाषा जानते थे। खापर्डे ने उसे वामन राव जोशी के पास भेज दिया था। वामनराव जब बम्बई मे आकर राष्ट्रमत मे काम करने लगे, तब यह युवक भी उनके पीछे-पीछे बम्बई आ गया। कादेवाडी की ओर उसकी एक बहन रहती थी। उसके यहा ठहरा था और वहा से राष्ट्रमत मे अक्सर आया करता था। वह मराठी बहुत सुदर बोलता था। सुदर मराठी बोलने वाले कई गुजराती होते है। पर मराठी के ज और च के जो खास उच्चारण हैं, वहा अक्सर सभी गडबडी करते हैं। यह नौजवान स्वामी ज और च के उच्चारण मे तो बहुत सतर्क रहता था। पता ही नही चलता था कि वह असली गुजराती है। गगाधरराव उसके प्रति खास वात्सल्यभाव रखते थे। गगाधरराव ने इसका दत्तोपत से परिचय करा दिया।

दत्तोपत ने सहज ही उससे पूछा, 'आपने धर्म के बारे म कौन-सी पुस्तक पढी है ?'

'देश को स्वतत्र कराना, यही एक धर्म हम जानते है,' उसने तेजस्विता के साथ जवाब दिया।

'वह तो ठीक। पर आपने सन्यास ग्रहण किया है। आप धर्म के बारे मे कुछ जानते ही होगे और उसका प्रचार भी करते होगे,' दत्तोपत ने कहा।

'धर्म का प्रचार हम क्यो करें ? धर्म ने ही तो देश को कायर बना दिया है। हमारा धर्म से कोई वास्ता नही है। न ही ब्रह्म-माया आदि से हमे कुछ लेना-देना है।' उसने फिर से उसी तरह जवाब दिया।

दत्तोपंत को इस युवक सन्यासी के प्रति प्यार महसूस होने लगा और उन्होने उसे कहा, 'आपको किसने कहा कि देश की स्वतंत्रता के लिए धर्म बाधक है ? आपने स्वामी विवेकानन्द का नाम सुना है ? वे धर्म का एक शुद्ध रूप लोगो के सामने रखते थे। वे देश की स्वतत्रता के पुजारी थे। सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय शिक्षा मे विश्वास रखते थे। वे जिस मोक्ष का प्रतिपादन करते थे, वह

पारलौकिक मोक्ष नही था, बल्कि इसी जीवन मे, यही पाने के लिए था। मोक्ष यानी स्वतंत्रता।'

स्वामी बोले, 'तब तो हमे कोई आपत्ति नही।'

दत्तोपंत ने गंगाधरराव से कहकर विवेकानन्द के ग्रंथ इसको लाकर दिए।

'युवक' कहने लायक भी स्वामी की उस वक्त उम्र नही थी। वे शार्ट कोट पहनते थे। अंग्रेजी ढग के बाल रखते थे और ऐसे दीखते थे, मानो कालेज मे जाने वाला कोई किशोर हो।

इन स्वामी आनद से काका साहब का जो सम्बध यहा जुडा, वह जिदगी-भर बना रहा। राष्ट्रमत बद होने पर काका साहब बडौदा गए। वहा स्वामी भी उनके साथ आए थे। दोनो ने हिमालय की यात्रा साथ मे की थी। दोनों गाधीजी के आश्रम मे भी एक साथ शरीक हुए थे। दोनों का सगे भाई से अधिक घनिष्ट सम्बंध था। दुर्भाग्य से उत्तरकाल मे कुछ गलतफहमी के कारण स्वामी काका साहब से दूर हो गए। इतने दूर हो गए कि काका साहब का नाम भी लेना उन्होने छोड़ दिया। पर यह बात बहुत आगे की है, यथा-स्थान बताई जाएगी।

गगाधरराव ने यहा एक नई प्रथा शुरू कर दी थी। शाम के समय वे सबको अपने कमरे मे बुला लेते और तरह-तरह के विषयो को लेकर बहस चलाते। राष्ट्रमत की नीति क्या होनी चाहिए, किन-किन विषयो की उसमे चर्चा आनी चाहिए, यह सब इसी तरह की बहस करके ही उन्होने तय किया था। बाबू अरविन्द घोष के 'वदेमातरम्' का आदर्श राष्ट्रमत ने अपने सामने रखा था। यही नही, बहस करने के बाद ही यह आदर्श तय किया गया था। सामाजिक विषयों के बारे मे हमे प्रगतिशील रहना चाहिए, यह भी बहस के बाद तय किया गया। इस बहस के अनुसार अत्यजोद्धार शीर्षक से एक लेखमाला भी उसमे शुरू कर दी। सरकारी नीतियो की आलोचना करना ही पर्याप्त नही है, समाज की कमजोरियो को भी दूर करना आवश्यक है, इस निर्णय पर सभी सामूहिक रूप से आ गए थे। स्वराज्य पाना ही पर्याप्त नही है, स्वराज्य के लिए लोगों को योग्य भी बनाना है, इस बारे मे सभी एक राय हो गए थे।

विचारों का आदान-प्रदान कार्यकर्ताओ की तालीम का एक महत्त्वपूर्ण अंग बनाया गया था

राष्ट्रीय पक्ष के जो नेता बाहर से आते, यही गंगाधरराव के पास ठहरते थे। इसके कारण राष्ट्रमत—बल्कि राष्ट्रमठ राष्ट्रीय पक्ष का बम्बई मे एक केन्द्र बन गया था। रावबहादुर जोशी, कृष्णाजीपत खाडीलकर, नरसिंह चितामण केलकर, वासूकाका जोशी, बाबा पराजपे, काका पाटिल, माधवराव अणे-जैसे कई नेता उन दिनो राष्ट्रमठ मे आकर गगाधरराव के मेहमान के रूप मे रहे।

दत्तोपंत का इन मबसे यही परिचय बढा। केलकर और खाडीलकर से उनका पहले ही परिचय था, पर यहा जो परिचय हुआ, वह ज्यादा ठोस था और ज्यादा गहरा था।

गंगाधरराव का महाराष्ट्र के करीब-करीब सभी क्रातिकारी दलो से सम्बध था। उनके नेता भी कभी-कभी यहा आते। उनकी जब गगाधरराव से चर्चाए शुरू होती, तब दत्तोपत कमरे मे बाहर चले जाते। एक-दो बार ऐसा ही हुआ तब तीसरी बार गगाधरराव ने उनको टोका, 'क्यो बाहर जाते हो, भाई? तुम्हे मैने अपने कमरे मे स्थान दिया है, इसका मतलब ही यह है कि मेरा तुम पर पूरा भरोसा है। तुमसे मुझे कुछ भी छिपाना नही है। अगर छिपाने जैसी कोई बात होती तो मै तुम्हे अपने कमरे मे रहने भी न देता। ...बाहर मत जाओ। सब सुनो।'

इस विश्वास और अपनत्व के कारण दत्तोपत को धन्यता तो महसूस हुई, पर उन्होने कहा, 'गुप्त बाते जानने का कुतूहल हर एक मे होता है। पर मै इस नतीजे पर आया हू कि जरूरत से ज्यादा गुप्त बाते सुनना न सिर्फ अनावश्यक हैं, बल्कि खतरनाक भी हैं। क्रातिकारी प्रवृत्तियो को वह खतरे मे डाल सकता है।'

गगाधरराव ने एक ही वाक्य मे उनकी सारी दलीले काट डाली। उन्होने कहा, 'आपको तालीम की दृष्टि से यह सब सुनना आवश्यक है।'

गगाधरराव सबके साथ समानभाव से पेश आते थे, सबके साथ खाते-पीते थे, सबके साथ हसी-मजाक करते थे। पर उनकी भूमिका असल मे पिता-जैसी थी। काका साहब लिखते है :

> उन दिनो मेरी देशभक्ति जितनी गहरी थी, उतना ही अपना कार्य-शक्ति पर मेरा अविश्वास असाधारण था। अपने प्रति अविश्वास होना मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। उससे मुझे बचाने का काम गंगाधरराव ने ऐसे

मौके पर किया, जब मैं अपने मेवा-जीवन का प्रारंभ ही कर रहा था।... उनके प्रति मैं कृतज्ञ हू।'

काका साहब ने उनको लगभग अपने गुरू-जैसा ही माना था। हालाकि वैसा स्पष्ट जिक्र नही किया है, पर परवर्ती काल मे जब भी उन्होने कोई नया काम शुरू किया है, वे उनका आशीर्वाद मागने के लिए गए हैं और उन्होने हर समय, हर कदम पर उन्हे आशीर्वाद दिए है। काका साहब कहते थे कि 'यह मेरे जीवन की धन्यता है।'

आश्रमी जीवन का किमी को अनुभव नही था। पर राष्ट्रमठ का वातावरण लगभग आश्रम-जैसा था। सभी समान थे। एकत्र खाते थे, एकत्र काम करते थे। यही नही, जेब खर्च के रूप मे जो पाच रुपये हर एक को मिलते थे, सभी एकत्र करते थे और महीने के अत मे जिमके घर अधिक परेशानी हो, वहा भेज देते थे। हा, कपडे-धोना, बर्तन माजना, झाडू लगाना आदि काम करने के लिए नौकर रखे गए थे। भोजन बनाने के लिए रसोइया भी रखा था। इतनी ही एक खामी इस सामूहिक जीवन मे रह गई थी। समय पर कोई स्नान नही करता था। जब समय मिले, नहा लेते। इतना ही नही, सूखने के लिए रखी गई धोतियो मे से, जो जिमके हाथ मे आती, उसे वह पहन लेता और पुरानी एक कोने मे फेक देता। -गोपत का किमी की धोती पहनने की आदत नही थी। उन्हे यह शिथिलता पसद भी नही थी और बर्दाश्त भी नही होती थी। इसीलिए इस एक प्रश्न को लेकर उनकी और उनके इन अच्छे-अच्छे साथियो के बीच कभी-कभी तू-तू, मै-मे हुआ करती थी। इसस भी बदतर और एक बात पर उन्हे असतोष था। राष्ट्रमठ का पाखाना कभी साफ नही रहता था। गगाधरराव को भी ये खामिया चुभने लगी। परिणामत वह स्वय नौकरो के साथ कपड़े धोने, बर्तन माजने, झाडू लगाने के कामो मे हाथ बटाने लगे। यही नही, पाखाना भी दिन मे दो तीन बार धोने लगे। फलस्वरूप सभी ने अपनी पुरानी आदते छोड़ दी। धीरे-धीरे सभी इन मामलो मे स्वावलम्बी बन गए। आश्रमी जीवन का कोई आदर्श सामने नही था। आश्रमी जीवन का ख्याल भी किसी को नही था। आवश्यकता के कारण सभी यह काम करते थे और अनजाने मे ही एक प्रकार का आश्रमी जीवन जीने लग गए थे। गगाधरराव इससे भी आगे जाना चाहते थे। उन्होने एक दिन सभी कार्यकर्ताओ के सामने एक

प्रस्ताव रखा। कहा, आपमे से जो शादीशुदा हैं, हर एक पारी-पारी से अपनी पत्नी को यहा ले आए और मठ की सारी व्यवस्था उसको सौप दे। एक की पत्नी सबकी भाभी। वह जब इस काम से थक जाए, तब उसे घर या मायके भेज दे और उसकी जगह दूसरे की पत्नी आए। इस व्यवस्था के कारण आपके ही बीच नही, बल्कि आपके परिवारो के बीच भी कौटुबिक भाई-चारा बढेगा।'

सबको यह योजना पसद आई थी, पर यह अमल मे आने से पहले ही देश का वातावरण तग होता गया। कब किस वक्त राष्ट्रमत पर सरकारी ओर से डाका पडेगा, कहा नही जा सकता था। खुफिया पुलिस के लोग गिद्धो की तरह राष्ट्रमत के चारो ओर मडराने लगे थे।

हिरासत में

लगता था, लोकमान्य की कडी सजा को देखकर महाराष्ट्र हिम्मत हार गया है, निराश होकर खामोश बैठ गया है। वास्तव मे यह खामोशी ऊपरी थी। अदर-ही-अदर महाराष्ट्र सुलग रहा था।

इस अदर-ही-अदर जलते महाराष्ट्र के साथ गगाधरराव का काफी घनिष्ठ सम्बध था। कई दल के लोग उनके पास आते रहते थे और अपना अदरूनी असतोष उनके सामने प्रकट करते थे। जरूरत के वक्त न बोलने वाले भी कभी-कभी उनसे आकर कहते थे, 'बस, हमसे अब सहा नही जाता। हम तो कुछ-न-कुछ करके ही रहेगे।'

ऐसे वातावरण मे सन् 1909 की जुलाई मे अचानक एक दिन खबर आई कि मदनलाल ढीगरा नामक एक पजाबी युवक ने लदन मे सर कर्जन वाइली नाम के एक अग्रेज की हत्या कर डाली है, जो लदन मे स्थित भारतीय विद्यार्थियो के बीच जासूसी का काम करता था। साथ-साथ उसने लाल काका नामक एक भारतीय को भी, जो वाइली की मदद के लिए दौडा था, गोली से उडा दिया है। इस घटना को छः महीने भी नही हुए थे, यहा नासिक मे कलेक्टर जैक्सन की हत्या हुई। यह माना जाने लगा कि इन दोनो हत्याओ के पीछे सावरकर का हाथ है। फलस्वरूप सावरकर से सम्बधित लोगों की गिरफ्तारियों का सिलसिला जोर शोर मे शुरू हुआ। स्वयं सावरकर को भी, जो उन दिनो लदन मे थे, गिरफ्तार कर लिया गया।

इन हत्याओं से राष्ट्रमत का कोई सीधा मम्बंध नही था। पर गिरफ्तार हुए लोगों मे से कइयों को गगाधरगाव काफी नजदीक से जानते थे। उनके सम्बध मे वे अलिप्त या तटस्थ रह नही मकने थे। इन नौजवानो के बचाव के लिए कुछ-न-कुछ करना, अपना परम कर्तव्य मानकर वे उनके बचाव की तैयारी मे लग गए।

बम्बई मे उन दिनो काका पाटिल नामक एक सज्जन वकालत करते थे। वे गगाधरराव के घनिष्ट मित्रो मे म एक थे। बचाव के काम मे उनकी सलाह और मदद लेना गगाधरगाव ने उचित समझा। पुलिम वालो ने क्रातिकारियो के बारे मे जो जानकारी इकट्ठी की थी, वह काका पाटिल ने बडी होशियारी के साथ निकाल ली थी। इम सिलसिले म वे राष्ट्रमत मे अक्मर आया करत थे। उनकी होशियारी मे दत्तोपत काफी प्रभावित हुए थे। काका पाटिल जब राष्ट्रमत मे आते, दत्तोपत उनसे तरह-तरह के प्रश्न पूछते। इमलिए कुछ प्यार मे और कुछ मजाक मे दत्तोपत को उन्होंने 'चेटर बॉक्म' कहना शुरू किया था।

पुलिम वालो को क्रातिकारियो के सम्बध मे जो जानकारी मिली थी, वह मब काका पाटिल जेल मे क्रातिकारियो के पाम भेजना चाहते थे, ताकि बचाव के ममय वह उनके उपयोग मे आ मके। उनके पास यह जानकारी भेजना वे निहायत जरूरी भी ममझते थे। पर यह सभव कैस हो? एक ही रास्ता था: जिसका इन हत्याओ के साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे कोई मम्बध नही है, ऐमा कोई नौजवान नासिक जाए, वहा पुलिम वालो की नजर मे पडे और अपन को गिरफ्तार करवा ले, तभी यह सभव था पर ऐमी हिम्मत कौन करे?

दत्तोपत बोले, 'मै यह काम करूगा। मुझे य हत्याए कतई मान्य नही है, फिर भी जो गिरफ्तार कर लिए गए है, उनमे कई मेरे निजी मित्र है। उनको बचाने के लिए यह खतरा उठाने की मेरी तैयारी है।'

काका पाटिल बडे खुश हुए। गगाधरराव ने कहा 'हो मकता है, पुलिम वाले आपको भी इस षडयत्र मे फमा ले और आपको भी मजा दे।'

'मुझे यह खतरा मालूम है, पर उमे मोल लेने की मेरी तैयारी है।' दत्तोपन ने जवाब दिया।

मब तय हुआ। कब जाना, कहा जाना, किम तरह पुलिमवालो की नजर मे पडना, सब-कुछ काका पाटिल और गगाधरराव ने दत्तोपत को बता दिया।

अंदर जाकर क्रांतिकारियों को क्या कहना, यही बताना बाकी था। गाड़ी मे चढ़ते समय ही काका पाटिल वह बतानेवाले थे।

दत्तोपंत ने सब तैयारी की। छोटे-से सूटकेस मे अपने कपड़े रख लिए। गीता की एक प्रति उनके पास हमेशा रहती थी, वह भी साथ मे ले ली और वे चल पड़े। गाडी छूटने के लिए एक घंटा बाकी था। वे सीधे काका पाटिल के सामने जाकर उपस्थित हुए और बोले, 'अब बताइए, मुझे उन्हें क्या कहना चाहिए।'

पर काका पाटिल ने अचानक विचार बदल दिया। उन्होंने कहा, 'अभी नही जाना है। अभी कुछ जानकारी प्राप्त करना बाकी है। पूरी जानकारी मिल जाएगी, तब मै आपको बता दूंगा। आपकी जाने की तैयारी है, इतना ही मेरे लिए काफी है।'

गंगाधरराव की भी यही राय रही। फलस्वरूप जाना स्थगित हो गया। काका साहब कहते है :

> कितनी बड़ी हिम्मत करके मै जाने के लिए तैयार हुआ था। राष्ट्र-कार्य मे अपने जीवन का सदुपयोग हो रहा है, इस विचार से ही मेरे दिल मे एक तरह का उफान-सा आ गया था। पर, प्रस्थान के समय ही सारे उत्साह पर पानी फेर गया। क्या करूं, कुछ समझ मे नही आया। जिद करना चाहता था, पर व्यर्थ था। मै निराश हुआ।

दो या तीन दिन के बाद दोपहर के समय दत्तोपंत अपने कमरे मे कुछ पढ़ रहे थे। इतने मे किसी ने आकर कहा, 'बाहर कोई आए है। कहते है, 'आपसे जरूरी काम है। बाबा साहब सोमण के कोई रिश्तेदार है।'

'अंदर भेज दीजिए उनको।' दत्तोपंत ने कहा।

दो-एक क्षणों मे एक सज्जन अन्दर आए। अपरिचित थे। कुछ घबड़ाए हुए मालूम होते थे। कहने लगे, 'के० जी० खरे को गिरफ्तार कर लिया गया है। अभी पुलिस कमिश्नर के दफ्तर मे हैं। आपको उन्होंने बुलाया है।'

दत्तोपंत को बड़ा आश्चर्य हुआ। के० जी० को वे जानते थे। फर्ग्यूसन मे वे उनके सहपाठी थे। वहा एक ही क्लब में खाना खाते थे। देश के लिए मर मिटने का उनका निश्चय था, इसीलिए उन्होंने शादी नही की थी। कहते थे कि

अत में किसी-न-किसी दिन फांसी के तख्त पर लटकना है। फिर किसी की बेटी को विधवा बनाने का कार्य मै जान-बूझकर क्यो करू ?' दत्तोपत को के० जी० के प्रति केवल आदर ही नही, आत्मीयता भी थी। वे सावरकर के दल के थे और षड्यत्र की रचना मे सावरकर से अधिक विख्यात थे। पर दत्तोपंत का उनसे पहले जैसा सम्बध नही रहा था। जब से सावरकर का दल छोडा, उन्होंने उस दल के अपने घनिष्ट मित्रो मे भी अपने को दूर रखा था। के० जी० बम्बई मे ही रहते थे। उनसे ज्यादा मिलना तो नही होता था, पर जैक्सन की हत्या के दूसरे ही दिन वे मिले थे। कहते थे, हत्या तो हमारे दल ने की है। अब दल के सभी लोगो को गिरफ्तार करने का सिलसिला जोरशोर के साथ शुरू होगा। इसलिए बम्बई मे रहना अब खतरनाक सिद्ध होगा। मै बम्बई के बाहर कही जाऊगा। कहा जाना है, यह बताया नही था। पूछना क्रातिकारियो की आचार-सहिता म बैठता नहीं था। एक-दो दिन के बाद खबर मिली कि पुलिस वालो ने उनके घर की तलाशी ली है। यही नही घर की जमीन और दीवारें भी खोदकर देखी, पर कुछ नही मिला। के० जी० भी नही मिले, वे बम्बई के बाहर चले गए थे।

इस बात को दो दिन ही हुए थे, इतने मे आज यह सज्जन खबर लाए कि के० जी० को गिरफ्तार कर लिया है।

के० जी० किसी-न-किसी दिन गिरफ्तार कर लिए जाएगे, इसम दत्तोपत को कोई सदेह नही था। इसलिए गिरफ्तारी पर कतई आश्चर्य नही हुआ। आश्चर्य इसी बात का हुआ कि के० जी० ने दत्तोपत को क्यो बुलाया ? दत्तोपत उनके दल के नही थे। फिर भी, पकड़े जाने पर बुलाना किसी भी क्रातिकारी दल की आचार सहिता मे नही था। खैर, बुलाना ही था, तो किसी अपरिचित आदमी को क्यो भेजा ? क्रातिकारियो मे इतनी सतर्कता बरती जाती है कि परिचित आदमी को भी 'मै इन्हे पहचानता नही' कहने का नियम है। सावरकर के दल का भी यही नियम था।

दत्तोपत को क्षण-भर के लिए लगा, मैने इनका दल छोड़ दिया, इस बात का कइयों को गुस्सा है। इसका बदला लेने के लिए तो किसी ने यह कदम नहीं उठाया ? हो सकता है। गुप्त दलो मे कभी-कभी ऐसा होता हे। कोई किसी के पास मदद मांगने जाता है और वह मदद देने से इकार करता है, तब क्रांति-

कारी को गुस्सा आ जाता है और वह मन ही मन कहता है, अच्छा जी कभी आपको इसका प्रायश्चित करना होगा। मै आपको सबक सिखाऊगा और जब मौका मिलता है, तब वह सबक सिखा भी देता है। पकडे जाने पर वह पुलिस को कहता है, यह काम मुझे फला आदमी ने करने को कहा था या फलां आदमी ने मुझे यह पिस्तौल दिया था। सभी जगह इस तरह 'बदला लेने' के प्रयत्न हुए हैं और दत्तोपंत तो एक ऐसे शख्स थे, जिन्होंने एक दल मे काम किया था और कुछ समय बाद वह दल छोड दिया था।

एक क्षण के लिए यह सारी मीमासा दत्तोपत के मन मे चली। दूसरे ही क्षण उन्होने सोचा, ऐसे ही मौके पर मनुष्य की कसौटी होती हैं। हो सकता है, के० जी० को सचमुच मेरी मदद की जरूरत हो। बुलाने पर न जाना, मित्र-द्रोह होगा। कायर भी माना जाऊगा। अत: उन्होने उस सज्जन से कहा, चलिए, कहा चलना है ?

'मै भी चलता हू आपके साथ।'

दत्तोपत को फिर सदेह हुआ, यह पुलिस का आदमी तो नही है ? 'दूसरे ही क्षण उन्होने दिमाग से यह सदेह निकाल दिया और वे उसके साथ चल दिए। ट्राम पकडकर गिरगाव से धोबी तलाब और धोबी तलाब से क्राफर्ड मार्केट जाकर वे पुलिस कमिश्नर के दफ्तर म गए। वहा सी०आई०डी० का एक सब इंस्पेक्टर बैठा था। उससे पूछा, 'क्या मै के०जी० खरे से मिल सकता हू ?'

'क्या काम है ? मालूम है न कि वे गिरफ्तार कर लिए गए हैं ?'

'जी, इसीलिए तो आया हू।

'अच्छा, ऐसा है ? तो फिर बैठो। तुमको भी मैं गिरफ्तार करता हू। अब बताओ, पिस्तौल कहा है ?'

'मुझे क्या मालूम, मुझे तो खरे से मिलना है।'

सब इंस्पेक्टर बोला, 'तुम्हारी यह टालमटोल यहा नही चलेगी। छिपाते क्यो हो ? बताओ, पिस्तौल कहां है ?'

'जिनके पास होगा, उनसे पूछिए।'

'ठीक है । चलो अंदर, कहकर इस्पेक्टर ने दत्तोपंत को एक कमरे मे बद कर दिया । जो सज्जन साथ आए थे उनको भी दूसरे कमरे मे रख दिया । दत्तोपत कमरे मे बैठे-बैठे आगे की सोचने लगे थे । इतने मे दरवाजा खुला और पुलिस ने खरे को अंदर धकेलकर दरवाजा फिर से बद कर दिया । दत्तोपत को देखते ही खरे बोल उठे, 'आप ? आप यहा कैसे ?'

'आपने बुलाया इसलिए आया हू ।'

'मैने नही बुलाया । मै गिरफ्तार कर लिया गया हू ।'

'मै भी गिरफ्तार हू ।'

दत्तोपत को अब विश्वास हुआ, यह अवश्य किसी की चाल है । या तो पुलिस की होगी या खरे के दल के किसी की । अब मुझे सतर्क रहना होगा । हम दोनो को एक कमरे मे लाकर रख दिया है, इसका मतलब है कि पुलिस हमारी बाते सुनना चाहती है । कही छिपकर सुनते होगे ।

वे तुरन चुप हो गए और खरे को भी चुप रहने का इशारा किया । इतने मे एक दूसरा पुलिस अफसर आया और दोनो को साथ म देखकर बोला अरे इन दोनो को एकत्र किसने लाकर रखा ? फिर खरे की ओर मुडकर बोला, चलो मेरे साथ और खरे को लेकर वह चला गया ।

दत्तोपत अब अकेले रहे । सोचने लगे, अब क्या करना होगा ? इतने मे कोट की जेब म उनका हाथ गया । वहा एक कागज मिला । राष्ट्रमत मे मदद करने वालो के कुछ नाम उस पर लिख हुए थे । हे राम ! अब इसी क्षण अगर वे तलाशी कर ले तो ये नाम उनको मिल जाएगे और ये सब लोग गिरफ्तार कर लिए जाएगे । और फिर...मालूम नही, इसमे से क्या-क्या निकलेगा ! बाहर निकलते समय गडबडी मे कोट पहन लिया । जेब मे क्या है देखा नही ! दत्तोपत को अपने आप पर गुस्सा आया । फिर जेब मे हाथ रखकर अगुलियो की मदद से उन्होने कागज के टुकडे-टुकडे कर डाले । टुकडो को बिल्कुल ममल डाला । टुकड़े कपास-जैसे बन गए, तभी सतोष हुआ । कई लोग सकट से बच गए, कहकर खामोश हो रहे ।

थोडी देर बाद इंस्पेक्टर फिर से आया और उन्हें पुलिस कमिश्नर के पास ले गया । एक गोरा अफसर था । उसने नाम पूछा, कहा रहते हो, क्या करते हो,

आदि कई प्रश्न पूछे। नाम-ठाम तो सही-सही बता दिया। पर क्या करते हो ? और कहां रहते हो ? इन प्रश्नो के जवाब झूठ दिए, कहा, 'मै आग्रेवाडी मे रहता हू और एल०एल०बी० की पढाई करता हू।'

आग्रेवाड़ी मे एकाध साल पहले रहे थे, इसलिए वहा की जानकारी पूरी थी राष्ट्रमत का सम्बध बताना नही था, इसलिए एल० एल० बी० की बात कह दी थी। हालाकि एल एल. बी. की पढाई उसी दिन छोड दी थी, जिस दिन राष्ट्रमत मे प्रवेश किया था।

'खरे से क्या काम था ? उससे क्या सम्बध है ?'

'हम दोनो फर्ग्यसन मे साथ पढते थे। जब पता चला कि वे गिरफ्तार कर लिए गए है, तब लगा, उनके खाने-पीने का प्रबध हुआ है या नही, इसकी पूछताछ करनी चाहिए।

'इट इज नन आफ यार बिजनेस। वह हमारा काम है।'

'फिर भी मिलना चाहता हू।

'क्यो ?'

'व जामिन देकर छूटना चाहते हो ता यह जानकारी उनके रिश्तेदारो को तो देनी चाहिए न, जिससे कोई जामिन रह सके।'

'कौन हैं उनके रिश्तेदार ? कहा रहते हैं वे ?'

'यह मालूम होता तो मै यहा क्यो आता ?'

गोरा एक टक देखता रहा। फिर बोला, 'यू मे गा नाऊ।'

'खरे से मिले बिना ही चला जाऊ ?'

'डू यू वाट टु बि अरस्टड अगेन ?'

'आल आई वाट इज टु सी मिस्टर खरे।'

'नो, यू कैन नोट। यू मस्ट गो नाऊ।'

एक देशी अफसर वहा बैठा था। वह मराठी मे बोला, 'जा पाहू...सुटलात ते नशीब समजा।' (भागो यहा से। तुम छूट गए, यह तकदीर समझो अपनी)।

एक क्षण मे दत्तोपत ने निर्णय लिया। अब जाना चाहिए।

क्राफर्ड मार्केट मे चलकर व धोबी तलाब तक गए। इतने म देखा कि एक आदमी, जिसको कमिश्नर के दफ्तर मे देखा था, पीछे-पीछे आ रहा है। दत्तोपत मन-ही-मन बोले, 'अच्छा, तो अब आपसे वास्ता है। कोई बात नही।' गिरगाव जाने वाली एक ट्राम दौडती जा रही थी। दत्तोपत ने झट से वह पकड ली। उस आदमी ने भी वही किया। दत्तोपत आगे की ओर बैठे थे। वह पीछे की ओर बैठा था। चिरा बाजार और ठाकुरद्वार के बीच के रास्ते पर सामने से आती एक ट्राम दिखाई दी। दत्तोपत चलती ट्राम मे चलती ट्राम पकडने की कला सीख गए थे। उन्होंने झट से यह सामने वाली ट्राम पकड ली। वह पुलिस का आदमी उतर न सका न ही वह यह ट्राम पकड सका। धोबी तलाब उतरकर दत्तोपत ने कालबादेवी की ओर से ट्राम पकड ली और कालबादेवी उतरकर भुलेश्वर की एक गली मे से ठाकुरद्वार गए। अब उनके पीछे वह आदमी नही था, पर दूसरा कोई हो सकता था। ठाकुरद्वार पर 'मासिक मनोरंजन' का कार्यालय था। उसके सम्पादक काशीनाथ मित्र से अच्छा परिचय था। अत उनके दफ्तर मे जा बैठे और इधर-उधर की बाते करते-करते उनसे कह दिया, आज मै गिरफ्तार हुआ था। उन्हें यह बताने का उद्देश्य यही था कि आज फिर से गिरफ्तार कर लिए गए तो किसी को मालूम होना चाहिए कि आज पुलिस वाले उनका पीछा कर रहे थे। वही बैठकर उन्होने बेलगाव के अपने मित्र नागेशराव गुणाजी को एक पत्र मे गिरफ्तारी की बात लिख दी।

शाम होने आई तब पैदल घूमते-घूमते चौपाटी पर गए और अधेरा छाने पर चूहे की तरह चुपचाप राष्ट्रमठ म घुसे। गगाधरराव को सब बता दिया। उन्होने तुरत आग्रवाडी के अपने एक मित्र को बुलाकर कहा, 'कोई पूछने आए तब कह देना कि वे हमारे यहा रहते हैं।' पूछने कोई नही आया। पर चार-पाच दिन दत्तोपत राष्ट्रमठ के बाहर नही गए।

जो आदमी बुलाने आया था उसे दो-चार दिन हिरासत मे रहना पडा। फिर उसे निकम्मा आदमी समझकर पुलिस ने छोड दिया। गगाधरराव के भी अपने आदमी थे, जो पुलिस वालो के बीच जासूसी करते थे। इनमे से एक ने आकर गंगाधरराव को बताया कि पुलिस कमिश्नर कह रहा था : दोनो मे से एक तो

निकम्मा था। पर — दी अदर यग मेन वाज़ क्वाइट चिक्की फेलो। सो आई लेट हिम आफ —'वह जो दूसरा नौजवान था, बड़ा ढीठ था, इसलिए मैने उसे जाने दिया।'

राष्ट्रमत बंद हुआ

जेक्सन की हत्या के बहाने जो लोग गिरफ्तार कर लिए गए थे, उनमे से अनंत कान्हेरे, कृष्णाजी कर्वे और विनायक देशपांडे को फांसी की सजाए हुई। सावरकर अंदमान के कारावास मे बद कर दिए गए।

दूसगे को तरह-तरह की मजाए फरमाई गईं।

'राष्ट्रमत' ने इन नौजवान देशभक्तो के बचाव के काम मे महत्वपूर्ण हिस्सा लिया था। बचाव के लिए सबूत इकट्ठा करने मे स्वयं गंगाधरराव व्यस्त रहे थे। इस प्रक्रिया मे हमारे क्रांतिकारियो की एक बहुत बड़ी कमजोरी उनके ध्यान में आई। उन्होंने तंग आकर एक दिन कहा, 'हमारा दुर्भाग्य यह है कि हमें इन लोगो से सही रिपार्ट कभी नही मिलती। अफवाहों का ही विवरण ज्यादा मिलता है। जो विवरण हमारे पास आते हैं, उनमें से सत्य ढूढ़ते-ढूढ़ते नाकों दम आ जाता है। पुलिस वाले अपने अफसरों को जो रिपोर्ट देते हैं, वह इनसे अच्छी होती है। हमारे ये देशभक्त देश के लिए प्राण न्योछावर कर देते हैं, पर इतनी छोटी-सी कमजोरी दूर नही करते।'

फिर दत्तोपत की ओर इशारा करके कहने लगे, 'आप मे से यही एक नौजवान है, जिसकी रिपोर्ट पर पूरा विश्वास किया जा सकता है।'

जो हो, 'राष्ट्रमत' इस केस मे अलिप्त नही रहा। इसी अरसे मे सावरकर ने अपनी 'ने मजसी ने परत मातृभूमीला, सागरा, प्राण तल्मल्ला (अय सागर, मेरे प्राण तड़प रहे है, मुझे वापस अपनी मातृभूमि की ओर ले चलो) यह विला-पिका 'राष्ट्रमत' के पास भेजी और राष्ट्रमत ने वह प्रकाशित करने की धृष्टता की। फिर इन नौजवान देशभक्तों के बचाव के लिए निधि इकट्ठा करने की सोची गई। इसकी अपील भी 'राष्ट्रमत' ने प्रकाशित की। परिणाम जो होना था वही हुआ। सरकार ने 'राष्ट्रमत' से दो हजार रुपयो की जमानत मांगी।

सवाल दो हजार रुपयों का नहीं था। दो हजार तो क्या, बीस हजार भी आसानी से इकट्ठा किए जा सकते थे। 'राष्ट्रमत' में अपील छापते तो दूसरे ही दिन इकट्ठा हो जाते। पर जमानत के बाद 'राष्ट्रमत' को अपनी नीति बदल देनी पड़ती। डर के मारे उसे सम्भल-सम्भल कर लिखना पड़ता। पुरानी पीढ़ी के देशभक्तों की राय थी कि 'राष्ट्रमत' को किसी भी हालत मे बंद नही होने देना चाहिए। लोकमान्य द्वारा शुरू किया गया यह अखबार है। छह साल की सजा पूरी करके जब तक लोकमान्य वापस न लौटें, तब तक 'राष्ट्रमत' चालू रखना चाहिए। भले ही वह अपना सुर बदल ले, सौम्य या नर्म कर ले पर चलता रहे। दत्तोपंत-जैसे नई पीढ़ी के देशभक्तो की राय थी कि इस तरह 'राष्ट्रमत' को जिंदा रखने के बजाय उसे मरने देने में ही उसकी शान है। यदि हम अपना सुर नर्म करते हैं तो इसमे हमारी बेइज्जती है। सरकार ने आज दो हजार की जमानत मांगी है, कल सरकार चाहे तो किसी भी बहाने जमानत जब्त कर सकती है या फिर पांच या दस हजार रुपये की मांग कर सकती है। सरकार को रोकने वाला कौन है? अंत मे तग आकर हमे 'राष्ट्रमत' किसी-न-किसी दिन बंद करना ही पड़ेगा। इस हालत मे बेहतर यही है कि हम बाइज्जत आज ही उसे बंद कर दें, इसी मे हमारी शान है।

इन नौजवानों-जैसी ही गंगाधरराव की भी राय थी। फलस्वरूप, 'राष्ट्रमत' बंद कर दिया गया। मशीन, टाइप वगैरह सब बेच डाला। जो-कुछ कर्ज था वह अदा कर दिया गया और सभी पुरुषार्थ के नये क्षेत्रों की खोज में एक-दूसरे से अलग हो गए। पर सभी जाते समय यहा से कुछ लेकर ही गए। 'राष्ट्रमत' देशसेवको की एक तरह की छावनी थी, एक तरह का आश्रम था या यूं कहें—एक तरह का विद्यालय था। 'राष्ट्रमत' से जो सलग्न हुए थे, सभी काम करते-करते सीखते थे। गंगाधरराव ने वहां एक छोटा-सा पुस्तकालय खड़ा किया था। इसका सबसे अधिक लाभ दत्तोपंत ने उठाया था। इस पुस्तकालय मे पढ़ने लायक एक भी ऐसी पुस्तक नही बची थी, जो दत्तोपंत ने न पढ़ी हो। इसके अलावा रोज चर्चाएं चलती, जिनमे राष्ट्रहित और जीवन के कई पहलुओ की मीमांसा होती रहती। दत्तोपंत ने इस चर्चा सत्र में भी सबसे ज्यादा हिस्सा लिया था। एल० एल० बी० करने वे बम्बई आए थे और 'राष्ट्रमत' में शरीक होकर देशसेवा की तालीम पाकर गए। स्वयं गंगाधरराव भी यहां से जाते समय

कुछ लेकर ही गए। वे अपनी आत्मकथा मे लिखते हैं :

> मैं अपने जीवन मे जिसे आनंद का काल कह सकूं तो यही एक ऐसा काल है, जो मैंने 'राष्ट्रमत' मे बिताया। लोकमान्य की सजा के कारण राष्ट्रीय पक्ष मे जो उदासी फैली, उन दिनो मै कुछ कर सका इस बात का मुझे संतोष है। इससे मुझे अच्छी शिक्षा भी मिली, मेरे जीवन को एक पक्का मोड़ मिला, कई मित्रों का मै संग्रह कर सका; दृष्टि मे व्यापकता आई, परिश्रम करने की आदत पडी और दूसरों की इज्जत करते हुए काम करने से क्या लाभ है, इसका अनुभव हुआ।[1]

आतरिक जीवन मे सभी समृद्ध होकर ही यहा से गए। 'राष्ट्रमत' का अंतिम सम्पादकीय लेख दत्तोपत ने ही लिखा। पुरानी प्रथाए तोडकर नई प्रथाए शुरू करने की उन्हे आदत पड गई थी। कभी किसी का देहात हो जाता तो 'उसका स्वर्गवास हो गया'— यह लिखने की मराठी अखबारो की आदत थी। दत्तोपत कहते कि जो गुजर जाता है, वह स्वर्ग मे जाता ही है, ऐसा नही है। फिर हिंदू समाज तो पुनर्जन्म मे भी विश्वास करता आया है। इसलिए किसी के देहांत पर 'उसका स्वर्गवास हो गया' यह कहना गलत है। मराठी मे प्रचलित दूसरे एक नए शब्द की मदद लेकर वे लिखते कि फला को कल 'देवाज्ञा हुई'। इसी के अनुकरण मे एक नया शब्द बनाकर उन्होने 'राष्ट्रमत' के बद होने का दुखद समाचार देते हुए लिखा कि उसे 'राजाज्ञा' हुई है, इसलिए पाठको की सेवा मे वह अब हाजिर नही हो सकेगा।

'राष्ट्रमत' के बद करने पर आगे क्या करना है, कहा जाना है, कुछ तय नही कर पाए थे। ठीक इसी समय 'राष्ट्रमत' के कार्यालय मे एक सज्जन पधारे। उनकी सूरत और आखे देखते ही दत्तोपंत को लगा, यह कोई भव्य पुरुष हैं।

'क्या, गंगाधरराव हैं ?' उन्होंने पूछा।

'जी।' दत्तोपत ने जवाव दिया।

'कहां हैं ?'

1. 'माझी जीवन कथा' पृ० 165

'आप बैठिए। मै अभी बुला लाता हू।' कहकर दत्तोपत ने उन्हें बैठने के लिए एक आरामकुर्सी दी और वे गगाधरराव को बुलाने प्रेस मे गए।

गगाधरराव के आते ही दोनो ने एक-दूसरे को गले लगाया और दोनो बाते करने बैठ गए।

'सुना है, आपके यहा कालेलकर नाम के एक युवक है।' आगतुक ने पूछा।

दत्तापत बगल मे ही खड़े थे। उनकी ओर अगुली से निर्देश करके गगाधरराव ने कहा, 'यही कालेलकर है।' और दत्तापत से कहा, 'यह ब० केशवराव देशपाडे है, जिनके बारे मे मैने आप लोगो को कई बार बताया है।'

केशवराव दत्तोपत की ओर मुडे और कहने लगे, 'बडौदा मे हम श्री गगनाथ भारतीय सर्व विद्यालय नाम की एक राष्ट्रीय शाला चला रहे हैं। क्या आप हमारे यहा आकर काम कर सकेगे?'

दत्तोपत ने एक क्षण के लिए भी विचार किए बिना जवाब दिया, 'जी, आपके हाथ के नीचे काम करने का अवसर मिलना मै अपना सौभाग्य समझता हू।'

दत्तापत ने यह जो बिना हिचकिचाहट जवाब दिया, उसके पीछे तीन प्रमुख कारण थे।

'राष्ट्रमत' मे किसी-न-किसी विषय को लेकर हमेशा बहस चला करती थी। गगाधरराव की इसमे विशेष रुचि थी। कभी-कभी कृष्णाजीपत खाडीलकर जैसे बुजुर्ग भी उसमे हिस्सा लेते थे। ऐसी ही एक बैठक मे एक दिन महाराष्ट्र के गुण-दोषो पर बहस चली। खाडीलकर भी उस दिन उपस्थित थे। दत्तापत के मन मे महाराष्ट्र के सतो के बारे मे नितात भक्तिभाव था। महाराष्ट्र के इतिहास का भी उन्हे काफी अभिमान था। महाराष्ट्र का मानस सकुचित नही है, प्रातीय नही है, इस विषय मे उन्हे कोई सदेह नही था। फिर भी महाराष्ट्र के बाहर महाराष्ट्रीयो के बारे मे अच्छी धारणा सुनने को नही मिलती, इस बात का उन्हे दुःख था। बगाली क्रातिकारियो से उन्होने सुना था कि हमारे मां-बाप बचपन मे जब हमे डराना चाहते थे तब कहते थे —देखो मराठा आ गया है। वह तुम्हे उठाकर ले जाएगा। बंगाल, उडीसा जैसे प्रदेशो मे महाराष्ट्रीयो की ऐसी छाप क्यो पड़ी? गुजरात मे भी महाराष्ट्र के प्रति ऐसी ही कुछ धारणा है। वे समझते हैं कि महाराष्ट्रीय लोग सिर्फ लूटना जानते है। दत्तोपत के अत्यधिक आदरणीय

शिवाजी महाराज के बारे मे भी गुजरातियों का यही ख्याल था। यही नही, अभी-अभी 1906 मे सूरत काग्रेस मे लोकमान्य ने जो रूख अख्तियार किया था, उसका भी गुजरातियों ने वैसा ही अर्थ लगाया था। महाराष्ट्र ने अवश्य ही कुछ गलतियां की हैं, कुछ अन्याय किए हैं, पर महाराष्ट्र की प्रतिमा इस तरह कलकित नही होनी चाहिए। दत्तोपंत के मन मे बार-बार यही आया करता था कि महाराष्ट्र की इस गलत प्रतिमा को उज्ज्वल करने का काम किमी को तो करना ही होगा। यह काम बहुत महत्व का है।

अभी बग-भग के कारण जो आदोलन हुआ, उसने भारत मे एक नया वायु-मंडल पैदा कर दिया था। भारतमाता, भारतवर्ष जैसी सकल्पनाएं जोर-शोर के साथ आगे आई थी। दत्तोपंत यह महसूम करने लगे थे कि प्रात-प्रात के बीच की दु:खद स्मृतिया लुप्त करने का यही अच्छा अवसर है। भारत के सभी प्रदेशो के बीच भाई-चारे और सद्भावना की वृद्धि करने के लिए कोई ठोस रचनात्मक कार्य की आवश्यकता है। एक ही कार्य उनको सूझा वह यह कि एक प्रदेश के लोग दूसरे प्रदेश मे जाए, वहा के लोगो के साथ घुल-मिल जाए, एक रूप हो जाएं।

उस दिन की बहस मे दत्तोपत ने यही विचार रखा और कहा, 'महाराष्ट्रीयों का सबसे बडा दोष यही है कि उन्हे महाराष्ट्र को छोडकर दूसरे किसी प्रदेश का पर्याप्त परिचय नही है। महाराष्ट्रीय महाराष्ट्र के बाहर कही जाते हैं, तब भी महाराष्ट्रीय ही बने रहते हैं।'

'तो क्या करना चाहिए?' गगाधरराव ने पूछा।

'महाराष्ट्र मस्ट एक्सपोर्ट इटसेल्फ' दत्तोपत ने जवाब दिया। हम दूसरे प्रदेशों मे जाए। दो-चार साल के लिए नही, बल्कि हमेशा के लिए जाए। जिस प्रदेश मे जाए, उस प्रदेश की पूरी तौर से अपनाए। उस प्रदेश की भाषा सीखें और उस प्रदेश के लोगो की आकांक्षाओं के साथ एकरूप हो जाएं और उनकी सेवा करे। यानी महाराष्ट्रीय बंगाल में जाकर बगाली बने; गुजरात मे जाकर गुजराती बनें और देश मे भारतीयत्व की एक मिसाल पेश करें, जिससे बगाली महाराष्ट्र मे आकर महाराष्ट्रीय बनेंगे, गुजराती कर्नाटक मे जाकर कन्नड़ बनेंगे और पंजाबी गुजरात मे जाकर गुजराती बनेंगे।

गंगाधरराव बोले, भारत को मजबूत बनाने का यही एकमात्र रास्ता है, इसमें कोई शक नही। इस मजबूत रास्ते पर आप ही पहल क्यों न करें ? आप ही एक नमूना पेश क्यों नही करते ?

दत्तोपंत के लिए यह चुनौती-सी थी। उन्होंने उत्तेजित होकर जवाब दिया, 'हां, मैं ही एक मिसाल पेश करूंगा।'

यही कारण था कि जब केशवराव देशपांडे ने बड़ौदा आने का निमंत्रण दिया तो उन्होंने बिना हिचकिचाहट के उसको स्वीकार कर लिया।

गुजरात को अपना कर काका साहब सवाई गुजराती तो बने ही, पर दूसरे प्रदेशों मे जाकर सेवा-कार्य करने का उनका यह विचार दिन-ब-दिन दृढ़ होता गया। उन्होंने यहां तक कहना शुरू किया कि निष्काम राष्ट्रसेवक को अपने प्रदेश मे सेवा के लिए रहना ही नही चाहिए। बंगाली युवक पंजाब में जाकर सेवा-कार्य करे। उत्तर प्रदेश के सेवक महाराष्ट्र में जाएं। मद्रासी युवक हिमालय मे सेवा करें। यही नही, उनका दृढ़ विश्वास था कि अंतर-प्रांतीय एकता मजबूत करने का यही एकमात्र उपाय है। वे कहते थे :

> हम प्रांतीयता को राष्ट्रीय रोग कहते हैं, पर इस रोग को मिटाने की एकमात्र दवा का नाम सुनते ही खामोश बैठ जाते है। दवा लिए बिना रोग कैसे दूर होगा? शादिया और निष्काम सेवा इन दो क्षेत्रों में दूर के लोगों को नजदीक लाने की कोशिश होनी चाहिए, तभी समाज मे परिवर्तन होगा।

दूसरा कारण कुछ विचित्र-सा था।

कुछ समय पहले बड़ौदा में महाराष्ट्र साहित्य परिषद का अधिवेशन हुआ था। गंगाधरराव अपने कृष्णाजीपंत खाडीलकर और नरसोपंत केलकर जैसे बुजुर्ग पत्रकार और साहित्यिक मित्रों के साथ इस अधिवेशन मे शरीक हुए थे। वहां से लौटने पर महाराष्ट्र में कार्यकर्ताओं की जो पहली बैठक हुई, उसमें गंगाधर राव ने इस अधिवेशन की बातें बताई थी। केशवराव देशपांडे का नाम दत्तोपंत ने पहले पहल इसी बैठक में सुना था। उनके गंगनाथ विद्यालय के प्रयोग से गंगाधरराव काफी प्रभावित हुए थे। इस बैठक मे उन्होंने उसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी।

कुछ समय के बाद दत्तोपंत ने अपने एक क्रांतिकारी मित्र वामन शास्त्री दातार से भी सुना था कि केशवराव अपने इस गगनाथ विद्यालय के लिए एक अच्छे हेड मास्टर की खोज मे है। क्षणभर के लिए स्वयं दत्तोपंत का मन ललचाया था। पर वे स्वय दूसरे एक उतने ही महत्व के प्रयोग मे —राष्ट्रमत मे —व्यस्त थे। इसलिए उनको केशवराव के राष्ट्रीय शिक्षा के इस प्रयोग म हिस्सा लेने की अपनी इच्छा को दबाना पडा था। उन दिनो जबलपुर की ओर के लेले उपनाम के एक युवक से दत्तापत का परिचय हुआ। लेले एल० एल० बी० की पढाई करते थे और दत्तोपंत के पास अक्सर आया करते थे। दोनों के बीच गहरी दोस्ती हो गई थी। दत्तोपंत ने उन्ही को ललचाना शुरू किया, 'तुम क्यो नही जाते ? एल० एल० बी० तो देश को हर साल नए-नए मिलते रहेगे। राष्ट्र-सेवक मिलना मुश्किल है। आखिर हमे क्या सिर्फ पेट ही भरना है ? देश की आज जो हालत है, उसे सुधारने के काम हम नही करेंगे तो कौन करेगा ?'

लेले बड़ौदा जाने के लिए तैयार हुए। गंगाधरराव से ही सिफारिश-पत्र लेकर दत्तोपत ने उन्हे बडौदा भेज दिया था। एल० एल० बी० की पढाई छोड कर लेले गंगनाथ विद्यालय मे सेवा-कार्य करने लगे, यह जब उनके बड़े भाई को मालूम हुआ, वे गुस्से म आगबबूला हो उठे। अपने भाई मे ज्यादा उमंग उकसाने वाले दत्तोपत पर उन्हे गुस्सा आया। उन्होंने दत्तापत को धमकिया देना शुरू किया —मैं सरकार को बता दूगा कि तुम लोग सरकार के विरुद्ध काम करते हो, इत्यादि।

दत्तोपत ने मन-ही-मन कहा, भाई की पढाई के पीछे इन्होने काफी त्याग किया है। भाई अगर उन्हे निराश करे तो उन्हे दोष नही दिया जा सकता। मेरा भी क्या दोष है ? राष्ट्रसेवा करने के लिए हम परदेश से लोगो को नही ला सकते। यह तो इसी देश के युवकों का काम है। राष्ट्र-सेवा की धुन मे मैं खुद पागल हो गया हू। दूसरो को पागल करने का काम तो मै करूगा ही। मेरा भी दोष नही है। दो पीढ़ियो के बीच का यह अतर है। इस विचार से दत्तोपत खामोश रहे।

पर लेले के बड़े भाई खामोश नही रह सकते थे। उन्होने जब देखा कि दत्तोपंत धमकियों की परवाह नही करते, उन्होंने अपने भाई पर ही तरह-तरह के दबाव डालना शुरू किया। अंत मे लेले तग आ गए और उन्होने गंगनाथ विद्यालय का काम छोड़ दिया।

लेले कच्चे सिद्ध हुए, इस बात का दत्तोपंत को विषाद था । इतना ही नहीं, मेरा ही यह दोष है, मैने मजबूत आदमी को नही भेजा, इस तरह का पश्चाताप भी उन्हें होने लगा था और क्षतिपूर्ति की दृष्टि से मुझे ही यह काम कभी-न-कभी अपने हाथ मे लेना होगा, इस निर्णय पर वे आ गए थे। अब जब स्वय केशवराव उन्हें बुलाने आए, वे इंकार कैसे कर सकते थे ? उन्होंने तुरंत हा कर दी ।

तीसरा एक कारण था, जो बिलकुल व्यक्तिगत था । दत्तोपत अरविंदबाबू के भक्त बन गए थे । वे इस निर्णय पर आ गये थे कि एक क्रांतिकारी के रूप मे और एक आध्यात्मिक पुरुष के रूप मे श्री अरविंद देश की सबसे बडी विभूति है । श्री अरविद के प्रति उनके मन मे एक असाधारण आकर्षण उत्पन्न हुआ था। कभी-न-कभी उनके संपर्क मे आने की इच्छा उनके मन मे बलवती होती जा रही थी । केशवराव श्री अरविंद के घनिष्ठ मित्र भी थे और उनके योग-मार्ग के अनुयायी भी । श्री अरविद के पास जाने के लिए केशवराव का सिफारिश-पत्र पाने की योग्यता प्राप्त करने की इच्छा उनके मन मे उत्पन्न हुई थी । इसलिए भी उन्होंने केशवराव का 'हा' कह दिया था।

'तब आप बड़ौदा कब आ सकेंगे ?' केशवराव ने पूछा ।

'अभी तो विद्यालय में गरमी की छुट्टिया शुरू होगी ।' दत्तोपत ने जवाब दिया, 'मै अब यहा से शाहपुर जाऊगा । वहा का कुछ काम निपटाकर एकाध हफ्ते के लिए गोवा जाऊगा और वहा से सीधा बडौदा आ जाऊगा । गरमी की छुट्टिया पूरी होने से पहले ही बडौदा पहुच जाऊगा ।'

'अच्छा तो मैं आपकी प्रतीक्षा करूगा ।' केशवराव ने सतोष व्यक्त करते हुए कहा । दत्तोपत का बडौदा जाने का निर्णय सुनकर गगाधरराव निश्चित हो गए ।

पिता की मृत्यु

जीवन संगिनी जब चल बसती है, तब वृद्धो का जीवन शुष्क और एकाकी बन जाता है । दत्तोपंत के पिताजी का जीवन भी इसी तरह एकाकी बन गया था । वे उदास हो गए थे । उन्हे किसी चीज में रस नही रहा था । नौकरी मे थे, तब तक व्यस्त रहे । अब नौकरी से भी निवृत्त हो गए थे । समय काटने के लिए उनके पास कोई काम ही नही रहा था । बेलगुंदी मे उन्होने एक बगीचा और खेत खरीदा था । वही एक छोटा-सा मकान भी बनवाया था । वे इस मकान

में रहते थे और सारा दिन खेती का काम करते थे। उम्र के हिसाब से बहुत ज्यादा मेहनत करते थे।

दत्तोपंत ने उन्हें कभी चुभने वाली कोई बात नही कही थी। पर एक बार उनसे रहा नही गया और वे बोले, 'मेरी समझ मे नहीं आता, आप इतना परिश्रम क्यो करते हैं ?'

'यह तो तुम लोगो के लिए करता हू। मुझे थोड़े ही यह सब साथ मे लेकर जाना है।'

पिताजी के इस जवाब से दत्तोपंत और भी नाराज हुए और बोले, 'इस तरह कमाया हुआ पैसा कम-से-कम मुझे तो नही चाहिए। आपने मुझे पढ़ाया, वही मेरे लिए काफी है। उसी पूजी को लेकर मै अपना जीवन बिता सकूगा। इतना परिश्रम करके आप जो जायदाद रखना चाहते हैं, उससे मुझे तो नफरत हो रही है।'

दत्तोपंत ने तो यह प्रेम से कहा था, पर पिताजी को वह सुनकर बड़ा आघात लगा। उनकी आखो में आसू आ गए और बोले, 'तुम्हे मेरे परिश्रम की कोई कद्र ही नही ?' पिताजी की आखो मे अ.सू देखकर दत्तोपंत की भी आंखे गीली हो गईं। क्या चाहा और क्या हो गया, इस तरह का उन्हे दु ख हुआ। उनके पास एक ही इलाज था, वही उन्होंने आजमाया। वे पिताजी की दुगुनी सेवा करने लगे।

एक बार की बात है। दत्तोपत ने पिताजी से कहा, 'आपने जो-कुछ कमाया, सब अपने परिश्रम से कमाया है। आपके पिताजी ने आपको कुछ भी नही छोडा था। अब एक काम कीजिए। आपके पीछे आपके पुत्रो के बीच जायदाद के लिए कोई टंटे-बखेड़े न हों, इसलिए जीते जी आप ही सारी जायदाद पुत्रो को वांट दीजिए। मैं अपने लिए यह नही कह रहा हूं। आप मुझे कुछ भी न दे। पर आपके पीछे आपके परिवार की बदनामी नही होनी चाहिए। इस-लिए मैने यह सुझाव आपके सामने रखा है।'

पिताजी कुछ देर के लिए खामोश रहे। फिर बोले, 'जमीन और मकान तो यही रहेगे, कही भाग नही जाएंगे। उसका हर एक को जो हिस्सा कानूनन मिलना चाहिए, वह मिलेगा। हां, कुछ नकदी बाकी रहेगी। वह मैं तुम लोगों के बीच बाट दूंगा। दो-दो हजार हर एक को मिलेंगे। बस, संतोष हो गया ?'

दत्तोपंत को बुरा लगा, वे बोले, 'मुझे न तो जमीन का हिस्सा चाहिए, न मकान का। न ही दो हजार की मुझे जरूरत है। मेरा अपना जीवन-ध्येय निश्चित हो गया है, मैं यहां रहूंगा भी नही। मेरे बारे में आप निश्चित रहिए, मैं इतना ही चाहता हूं कि आपके पीछे आपके बेटे कोर्ट मे न जाए।'

पिताजी की उम्र ही ऐसी थी कि वे कोई निर्णय नही ले पाते थे और वसीयतनामा लिखकर रखना तो उन्हें अशुभ और अभद्र-सा लगता था। उन्होंने कुछ भी नही किया।

अचानक एक दिन उन्हें क्या महसूस हुआ, वही जानें। एक कागज लेकर उन्होने अपना वसीयतनामा लिख डाला और वह दत्तू के हाथ में रख दिया। उसमे उन्होने बाबा के बच्चो को (बाबा गुजर चुके थे) और अण्णा को बहुत कम हिस्सा रखा था। बाकी भाइयों के लिए ज्यादा रखा था। दत्तोपंत ने कहा, 'इसमे कोई शक नही कि सारी जायदाद आपकी ही है। उसका चाहे जैसा बटवारा करने का आपको हक भी है, पर अण्णा को कम देना उचित नही है। वह भी आपका ही बेटा है। भले आप उससे नाराज हो या भले ही वह आपसे अलग हो गया हो। बाबा के ऊपर आपका जो गुस्सा है, वह आप उसके बच्चों पर उतारें, यह भी कतई उचित नही है, उल्टे, बच्चे छोटे हैं, इसलिए तो उन्हे ज्यादा देना चाहिए था।'

पिताजी को बाबा और अण्णा दोनों ने निराश किया था। यही नही, दोनों ने उनका अपमान भी किया था। उन्ही का पक्ष दत्तू ले रहा है, यह उन्हें सहन नही हुआ। उन्होंने वसीयतनामा फाड़ डाला। दूसरे एक कागज पर नया वसीयतनामा लिख डाला। उस पर तारीख डाली, हस्ताक्षर किया और वह दत्तू के हाथ मे देकर कहा, अब इसमे कोई परिवर्तन नही होगा।

नये वसीयतनामे मे उन्होंने बाबा के बच्चों और अण्णा को ज्यादा हिस्सा दिया था। बाकी के बेटो को कम छोड़ा था। दत्तू को सबमे कम।

दत्तोपंत ने कहा, 'आपको भले गुस्सा आया हो। आपका गुस्सा मेरे लिए आशीर्वाद है। वह मेरा कुछ बुरा करने वाला नही है। मुझे इस बात का सतोष है कि आपके इस वसीयतनामे के कारण घर में आपके पश्चात टंटे-बखेड़े नही

होंगे। आपके पश्चात आपके बेटे कोर्ट में जाएं, यह आपका दुर्लौकिक मुझे टालना था। मेरा हेतु सफल हुआ।'

हम भारतीय लोग वसीयतनामे के बारे में अधिकतर उदासीन ही रहते हैं। हो सकता है, हमने वसीयतनामे के लिए मृत्यु-पत्र शब्द प्रचलित किया, इसीलिए हमारे मन में उसके बारे में अरुचि पैदा हुई हो। अपनी मृत्यु की बात सोचते ही मनुष्य को दुःख होता ही है। काका साहब कहते थे कि मृत्यु-पत्र के बदले वसीयतनामे के लिए हम इच्छा-पत्र या व्यवस्था-पत्र ऐसे ही कोई शब्द प्रचलित करें। पर रोमन लोगों की तरह हम भी यह आग्रह रखें कि कोई भी मनुष्य वसीयतनामा बनाए बिना दुनिया न छोड़े। वसीयतनामा किए बिना जिनकी मृत्यु होती थी, उनकी रोमन समाज में प्रतिष्ठा नहीं रहती थी। इसी तरह हमारे यहां भी होना चाहिए, क्योंकि जिन लोगों ने आलस्यवश या स्वभाव की शिथिलता के कारण वसीयतनामे नहीं बनाए उनके कुटुम्ब में उनकी मृत्यु के बाद निरपवाद रूप से अव्यवस्था हुई है, ऐसा अनुभव है और इस कारण परिवार के अच्छे-अच्छे लोगों को काफी भुगतना भी पड़ा है। वसीयतनामे का उद्देश्य इस अव्यवस्था को टालना ही है।

खैर, पिताजी का लिखा हुआ मृत्यु पत्र दत्तोपंत ने अपने कब्जे में ले लिया और नाना (गोदू) को सौंप दिया।

कुछ ही दिनों बाद बगीचे में काम करते समय पिताजी के पांव में एक खूंटी लग गई और उनके पैर में घाव हो गया। उस दिन से बुखार आने लगा। इलाज के बावजूद घाव भरने के बजाय बढ़ता ही गया। डाक्टर कहने लगे, इन्हें मधुमेह है, इसलिए घाव बढ़ता जा रहा है। तबीयत दिन-ब-दिन खराब ही होती गई। ऐसी नाजुक स्थिति में एक दिन अचानक उन्होंने कहा, 'दत्तू तू जो कहता था, वह सही था। मुझे समय पर मृत्यु-पत्र बनाना चाहिए था। आज ही स्टैंप पेपर ले आ। डाक्टर और एक-दो प्रतिष्ठित रिश्तेदारों के सामने ही मृत्यु पत्र बनाऊंगा और उस पर डाक्टर और उन रिश्तेदारों के गवाह के रूप में हस्ताक्षर ले लेंगे। वरन् अण्णा तुमसे लड़ने लगेगा और मेरी लापरवाही से नाहक तुमको भुगतना पड़ेगा।'

दत्तोपंत ने मन ही मन सोचा, काश! यह सब आपको पहले सूझता। अब तो बहुत देर हो गई। फिर प्रकट रूप में पिताजी से कहा, 'आप निष्कारण चिंता

करते हैं। आप पहले बीमारी मे अच्छे हो जाएं, बाद मे आपकी इच्छानुसार सब-कुछ करेंगे।'

'ठीक है, जैसी तेरी इच्छा। मैं तो तैयार हूं।' पर अच्छे होने के कोई चिन्ह दिखाई न दिए।

अण्णा रत्नागिरि मे थे। उन्हें बुलाएं या न बुलाएं इस उलझन मे अब दत्तोपंत पड़े। नाना कहने लगे, 'अण्णा को देखते ही पिताजी को गुस्सा आएगा और उनकी तबीयत और भी खराब हो जाएगी।'

'खराब होने मे अब बाकी क्या रहा है?' दत्तोपत बोले 'अण्णा को न बुलाना हमे शोभा नहीं देगा, शायद महगा भी पड़ेगा। मेरी तो पक्की राय यही है कि उन्हे कम-स-कम तार तो भेजना चाहिए, चाहे वह आए या न आएं।'

दत्तोपंत स्वयं तार कर आए।

पिताजी को वेदांत के प्रति पहले कोई रुचि नही थी। कुलदेवता मंगेश की भक्ति करना, पुरुषसूक्त, रुद्र, पवमान आदि मत्रों से मंगेश की पूजा करना, किसी का बुरा न चाहना और ईश्वर ने जिस स्थिति मे रखा है, उसी मे सतोषपूर्वक रहना, इसमे उनका सारा धर्म आ जाता था। शिवरात्रि, श्रावणी सोमवार, गुरुद्वादशी के दिन व्रत रखते थे। कभी दान करते थे। कोई कुछ मागे तो जहा तक संभव होता, इंकार नहीं करते थे। खुद किसी से कुछ भी न मांगते। इस आग्रह मे अंत तक वे पक्के रहे। किसी के यहां खाने को नही जाते थे। कोई प्रशसा करे तो उन्हें वह बर्दाश्त न होती। पुराने रिवाज, जहां तक संभव हो, नही तोड़ने चाहिए, यह उनकी स्वाभाविक वृत्ति थी। सावंतवाड़ी के रघुनाथ बापू रागणेकर ने उन्हें राजयोग की दीक्षा दी थी। इसलिए शुरू-शुरू मे वे ध्यान करने बैठते थे, पर बाद मे उन्होंने वह छोड़ दिया था। पूजा करते समय उसमे वे लीन हो जाते, यही उनका ध्यान था। नवग्रहस्तोत्र बड़ी मधुर आवाज मे बोलते थे। गीता से उनका परिचय नहीं था। स्वामी विवेकानन्द की रचनाओं के साथ गीता ने घर में प्रवेश किया था। दत्तोपंत जब गीता के भक्त बने, उन्होंने अपने प्रचारक स्वभाव के कारण पिताजी से भी उसकी चर्चा शुरू कर दी। कर्मकाण्ड, भक्ति, उपासना, सबकी परिणति अंत में ज्ञान में होनी चाहिए, यह उन्हें समझा दिया। चर्चा में कभी-कभी गीता के श्लोक आ जाते थे। एक रोज

पिताजी ने कहा, 'गीता के बारे में बचपन से सुनता आया हूं। एक बार तेरे साथ पूरी गीता पढ़ना चाहता हूं। पुत्र ने उसी दिन बड़े टाइप वाली गीता की एक प्रति उन्हें लाकर दी। उन्हें संस्कृत नहीं आती थी, पर कुछ स्तोत्र कंठस्थ किए थे। इसलिए गीता की संथा लेते समय उन्हें कोई खास कठिनाई प्रतीत नहीं हुई। बीच-बीच में अर्थ पूछते। गीता के शब्दार्थ में उन्हें खास रूचि नहीं थी। गीता की मदद से वे जीवन का रहस्य खोलना चाहते थे। इसलिए उनके प्रश्न हमेशा जीवन लक्ष्यी ही होते थे। काका साहब लिखते हैं :

> मैं उनको गीता का अर्थ समझाता था और वे अपने प्रश्नों द्वारा गीता से क्या पाना चाहिए, यह मुझे सिखाते थे। जीवन-दृष्टि की मुझे दीक्षा दे रहे थे।

पिताजी की तबीयत अच्छी थी, उन दिनों दोनो ने साथ मे दो बार गीता पढ़ी। परिणाम यह हुआ कि ईश्वर हृदय मे है, यही नही बल्कि अंतर्यामी आत्मा ही परमात्मा है, पिताजी की यह निष्ठा दृढ़ हो गई और कर्मकाण्ड का उनका आग्रह ढीला पड़ गया। उनके जीवन मे एक प्रकार का संतोष दिखाई देने लगा। सीधी सरल भोली भक्ति की स्वच्छ भूमिका पर गीता के वेदाती संस्कार बहुत ही सुंदर ढंग से खिल उठे।

अब की बीमारी की अवस्था मे उन्हें पुत्र के मुह से फिर से गीता सुनने की इच्छा हुई और पुत्र ने बड़े भक्तिभाव से उनकी यह इच्छा पूर्ण की। इसमे पिता-पुत्र दोनों पहले से अधिक एक-दूसरे के निकट आ गए। पिताजी को अपने मनोभाव व्यक्त करने की आदत नही थी। पर अब बीच-बीच मे कभी अपने जीवन का सिंहावलोकन करके भावावेश मे आ जाते और अपनी गलतिया बता देते। एक गलती का उन्हें हमेशा पश्चात्ताप हुआ करता था। अपनी मां के साथ उनका बर्ताव अच्छा नही था। कहते, मैं अच्छा बर्ताव कर सकता था। वह हमेशा दान किया करती थी, अपात्र को भी दान दे देती। इससे मुझे गुस्सा आता था, क्योंकि मैं अपनी ही दृष्टि से क्या योग्य है, क्या नही है, यह तय करता था। अब लगता है, वह जो मांगती थी वह उसे देना चाहिए था। बेचारी खुश रहती। मैं उसे टोकता रहता। इससे वह दुःखी रहती।

पिताजी के इस पश्चात्ताप की धारा में पुत्र के पश्चात्ताप की भी धारा आ मिली। दत्तोपंत भी अपने बचपन मे अपनी दादी को सताया करते थे। बुढ़ापे मे दादी की कमर झुक गई थी। फिर भी दर्शन के लिए वह मंदिर जाया करती थी। लोग हंसी-मजाक करते, तब दत्तोपंत को दादी पर ही गुस्सा आता और वे भी उसे आड़े हाथों लेते।

गीता-पाठ में बीच-बीच में ऐसे प्रसंग आते।

अंतिम चार दिनों में पिताजी की तबीयत बहुत खराब हो गई। अधिकतर बेसुध अवस्था में रहने लगे। तब भी दत्तोपंत ने गीता पाठ मे विघ्न नही पड़ने दिया। उल्टे, रोज एक बार पूरी गीता एक ही बैठक में पूरी करने का सिलसिला शुरू कर दिया। पिताजी कभी सुनते, कभी न सुनते।

चौथे दिन डाक्टर ने कहा, आज की रात कसौटी की है। विशेष ध्यान रखना होगा। डाक्टर के कथन का अर्थ स्पष्ट था। दत्तोपंत समझ गए, उनका प्रेम अंधा नही था। उनको ऐसा नहीं लगा कि पिताजी और एक-दो दिन जीवित रहें तो अच्छा है। उल्टे, उनकी वेदनाओं को देखकर उन्हें यही लगा कि इनसे वे जल्दी मुक्त हो जाएं तो अच्छा। वे अपने मित्र नागेशराव गुणाजी के यहां गए। अंतिम संस्कारों की सारी जिम्मेदारी उनको सौंप कर आए। लौटने पर देखा, तबीयत बिल्कुल ही खराब हो गई है। उन्होंने तुरंत गीता हाथ मे ली और वे पढ़ने लगे। एक ही बैठक मे एकाग्रता के साथ पूरी गीता पढ़ डाली। उस दिन उन्हें पहली ही बार यह महसूस हुआ कि गीता दिमाग से अधिक अब उनके हृदय मे उतर गई है। गीता का सही बोध उसी दिन उन्हें हुआ।

पिताजी का कृपाछत्र सिर पर से खिसक गया। उसी क्षण गीता का यह बोधछत्र उनके जीवन पर छा गया। काका साहब लिखते है :

> आज गीता मेरे लिए केवल एक ग्रंथ नहीं है, बल्कि एक जीवित व्यक्ति है। तटस्थ व्यक्ति भी नहीं, बल्कि मुझे अपने कब्जे में लेकर रास्ता दिखाने वाला, फिर भी मुझे सम्पूर्ण रूप से स्वतंत्र रखने वाला एक मंगलमूर्ति व्यक्ति है।···मैं जीवनधर्मी हूं, जीवनोपासक हूं, जीवन परायण हूं। मृत्यु को भी मैं जीवन का एक ही महत्वपूर्ण साधन मानता हूं। मृत्यु में भी जीवन की ही जीत देखता हूं। मुझे गीता ने ही यह जीवन दृष्टि दी है।

माघ पूर्णिमा की मध्यरात्रि के कुछ क्षण पहले 10 फरवरी, 1910 को पिताजी ने इस दुनिया से विदा ली। शाहपुर बेलगुदी की इस छोटी दुनिया से दत्तोपत का मन पहले ही उचट गया था। अब तो माता-पिता दोनों चल बसे थे। यहा के जीवन के प्रति अब उन्हे किसी प्रकार का आकर्षण नही था। अण्णा समय पर आ गए थे। उन्हाने और दूसरी भाभियों ने दूसरे ही दिन जायदाद के हिस्से के लिए आपस मे तू-तू, मै-मै चलाकर मृत्यु का गाभीर्य ही नष्ट कर डाला। उसे देखकर दत्तोपत का मन शाहपुर बेलगुदी की दुनिया से बिलकुल ही विरक्त हो गया। उन्होने उसी दिन निर्णय ले लिया : 'अब इस दुनिया से मै किसी भी प्रकार का सम्बध नही रखूगा।'

मानसिक और शारीरिक दोनो प्रकार की थकावट उन्हें महसूस होने लगी और उन्हे आराम के लिए गावा जाने की इच्छा हुई। नागेशराव गुणाजी से उन्होने पूछा, 'क्या कुछ दिनो के लिए गोवा चलेगे?' उन्होने जवाब दिया, 'चलिए'।

पत्नी अब तक यही रहती थीं। उनकी गोद मे पिछले आठेक महीनो से एक बालक खेल रहा था। पत्नी से उन्होंने कहा, 'अब यहा से कुछ दिनो के लिए मै गोवा जाऊगा। एकाध महीना वहा बिताकर सीधे बडौदा जाऊगा। वहा हमारे लिए मकान मिलते ही तुझे बुला लूगा। एकाध महीने से ज्यादा समय नही लगेगा।'

पिताजी के लेनदन के कुछ व्यवहार बाकी थे, वे सब निबटा लिए और कुछ ही दिनो मे गुणाजी के साथ वे गोवा के लिए रवाना हुए।

शाहपुर बेलगुदी की दुनिया से उन्होने हमेशा के लिए विदा ली।

पिताजी की व्यवस्था के अनुसार जमीन के कुछ टुकड़े उनके हिस्से मे भी आए थे। पत्नी की मृत्यु तक यह टुकड़े उनके पास थे। बाद मे उन्होने उसका एक ट्रस्ट बना दिया और ट्रस्ट की ओर से बेलगुदी मे एक हरिजन आश्रम खोला, जो अब तक चलता है। अपनी और अपने बेटो की मा के नाम पर आश्रम का सयुक्त नाम राधा-लक्ष्मी रखा।

गोवा में

अंग्रेज दुनिया के चाहे किसी भी कोने में रहते हों, उनका आकर्षण हमेशा इंग्लैंड की ओर ही रहता है। वैसा ही महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल के सारस्वतों का गोवा के प्रति हमेशा असाधारण आकर्षण रहा है। सारस्वत पृथ्वी के चाहे किसी भी हिस्से में रहते हों, गोवा का स्मरण होते ही वे एक तरह से गृह-विरही से हो जाते हैं।

दत्तोपंत का भी गोवा के प्रति हमेशा असाधारण आकर्षण रहा। इसका कारण केवल यह नहीं था कि उनका कुलदेव गोवा में है। प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से भी उन्हें गोवा हमेशा आकर्षक लगा है। भारत के कश्मीर, केरल और कामरूप इन तीनों नितांत सुंदर प्रदेशों से गोवा ने अपने लिए कुछ-न-कुछ सौंदर्य इकट्ठा कर लिया है, उन्हें हमेशा ऐसा ही महसूस हुआ है।

इससे पहले उन्होंने दो बार गोवा देखा था। पहली बार सन् 1899 मे, जब उनका सारा परिवार महीने-सवा महीने के लिए वहां मंगेश की सेवा मे जाकर रहा था। उस समय उम्र छोटी थी। गोवा की समस्याओं को समझने जितनी नहीं थी। दूसरी बार वे 1908 मे गए, उस समय वे गणेश विद्यालय में काम करते थे, तब भी नागेशराव गुणाजी उनके साथ थे।

इसके बाद वे दो बार और गोवा गए। पहली बार उस समय जब हिमालय मे जाने के लिए चल पड़े थे और दूसरी बार, राष्ट्रभाषा प्रचार के सिलसिले मे जब देश-भर में घूमते थे। गोवा मुक्त होने के बाद वे दो बार और गोवा गए। पर हमेशा कहते रहे : 'गोवा इतनी बार देखा, फिर भी मुझे अभी तक नही लगता कि मैंने आंखें भरकर गोवा देखा है।'

अबकी बार भी गुणाजी साथ में थे। गोवा मे डोंगरी नामक एक गांव में कृष्ण भट्ट बांदकर के सुपुत्र मुकुंदराज रहते थे। वे गुणाजी के मित्र थे। गुणाजी कृष्ण भट्ट की मराठी-कोंकणी कविता के भक्त थे। गुणाजी के कारण ही दत्तोपंत को कृष्ण भट्ट की और सोहिरोबा आंबिए की कविता का परिचय हुआ था। दोनों गोवा के संत थे।

गुणाजी ने गोवा के एक और सत्पुरुष से उनका परिचय करा दिया, वे थे बौद्ध साहित्य के प्रकांड पंडित साधु धर्मानंद कोसंबी। यह परिचय घनिष्ट मैत्री में परिणित हुआ था।

गुणाजी के कारण अबकी बार वे कुछ दिन डोंगरी और कुछ दिन मंगेशी मे लगभग एक महीना रहे। इस एक महीने मे गोवा की प्राकृतिक शोभा के साथ-साथ उन्होंने गोवा के जन-जीवन का भी गहराई के साथ निरीक्षण किया और वे इस नतीजे पर आए कि राजनैतिक दृष्टि से भले ही यह प्रदेश पिछले चार सौ सालों से देश से अलग रहा हो, पर भारत मे जितने भी सामाजिक, सांस्कृतिक प्रश्न हैं, सभी यहां छोटे प्रमाण मे मौजूद है। उनका प्रमाण भले ही छोटा हो, उनकी तीव्रता कतई कम नही है।

मराठी मे गुत्थी के लिए शब्द है 'गोवें'। और मराठी लोग गोवा को भी गोवें कहते हैं। दत्तोपंत को लगा कि इस प्रदेश की समस्याओ के लिए यह नाम ठीक सूचक है। इस प्रदेश मे समुद्र की खाडियो की जैसी एक गुत्थी सब जगह दिखाई देती है, वैसी ही यहां के सांस्कृतिक जीवन मे भी एक गुत्थी है। हिन्दू, इस्लामी और ईसाई तीन सांस्कृतिक प्रवाहों ने यहां का जन-जीवन प्रभावित किया है। यहां के हिन्दू मदिरो के स्थापत्य मे भी यह प्रभाव दिखाई देता है। यहां और भी एक सांस्कृतिक प्रभाव बह रहा है, आरामप्रिय भोग-प्रधान लेटिन संस्कृति का।

यह प्रदेश केवल उच्चकोटि के कलाकार और स्वामीभक्त दफ्तरशाह ही पैदा कर सकता है। प्राणवान तेजस्वी राष्ट्रीय नेतृत्व वह देश को नही दे सकता। वह खुद अपनी समस्याएं भी हल नही कर सकता, क्योंकि प्रदेश के लोगो मे स्वाधीन-भाव नही है। वह हमेशा दूसरो के अधीन ही रहा है। दूसरो के मातहत काम करने की इसे आदत पड़ गई है।

यहां की भाषा कोंकणी उन्होंने कारवार में बहुत सुनी थी। उसके माधुर्य से वे वही बचपन मे परिचित हुए थे। अब उनका इस भाषा की ओर विशेष ध्यान गया। उन्होंने सुना कि इस श्रवण-मधुर और संस्कारी भाषा मे किसी साहित्य का अबतक निर्माण नहीं हुआ है। क्यों नहीं हुआ, इसके कारण वे ढूंढ़ने लगे। क्या इन लोगों में साहित्यिक शक्ति नही है? सोहिरोबा और कृष्ण भट्ट तो यहीं के हैं। उनकी कवित्व-शक्ति महाराष्ट्र के किसी भी बड़े संत कवि से कम नही है। फिर सुना कि इन लोगों ने पुर्तगाली और लेटिन-जैसी भाषाओं मे भी बहुत लिखा है। मतलब, कोंकणी भाषा संस्कारी लोगों की भाषा है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनोभाव व्यक्त करने की इस भाषा की आंतरिक क्षमता देश की किसी भी

साहित्य-समृद्ध भाषा से कम नहीं है। सस्कारी लोगो की भाषा संस्कारी ही होनी चाहिए। फिर भी इस भाषा मे कोई साहित्य नही है, तो इसका मतलब यही हो सकता है कि इन लोगो को अपनी भाषा में लिखने का न कभी अवसर मिला, न कभी प्रेरणा हुई। उनको हमेशा अपने शासकों की ही भाषा मे लिखने की इच्छा हुई। यह स्वामीभक्त दफ्तरशाही मनोवृत्ति का ही लक्षण है।

गोवा की सांस्कृतिक गुत्थी का कारण ढूढते-ढूढ़ते उन्हें इस गुत्थी को सुलझाने का हल भी मिल गया। उन्होंने मन-ही-मन कहा, ये लोग अब तक राजाभिमुख रहे, इन्हें प्रजाभिमुख करना होगा। इन्हे कोंकणी का महत्व समझाना होगा। कोंकणी मे जब तक तेजस्वी साहित्य का निर्माण नही होगा, तब तक यह समाज तेजस्वी नही होगा। भाषा की समस्या केवल साहित्यिक नही है, बल्कि उसका एक सास्कृतिक व सामाजिक पहलू भी है, इस बात की ओर उनका पहले-पहल यही ध्यान गया।

उन्होने कल्पना भी नही की होगी कि पैंतीस साल बाद वे यह विचार, गोवा के लोगों के सामने रखेगे, उन्हे कोकणी मे साहित्य-निर्माण करने की प्रेरणा देगे और इसके बदले मे अपने प्रिय महाराष्ट्र का रोष मोल लेना होगा। पर, यह बाद की कथा है।

बड़ौदा की ओर

गोवा से बबई जाकर वे तुरत बडौदा के लिए रवाना हुए। रात की ट्रेन थी। काफी भीड़ थी। किसी भी डिब्बे मे खाली जगह नही मिली। तब हिम्मत करके एक डिब्बे मे घुस गए। पर किसी ने बैठने के लिए जगह नही दी। सामान रखने की जगह पर कई लोग बिस्तर लगाकर लेट गए थे। दत्तोपत चाहते तो इनसे बहस या लड़ाई करके अपने लिए जगह बना लेते, पर मन मे विचार आया कि जिन लोगों की सेवा करने के लिए जा रहा हूं, उनसे प्रारंभ मे ही बहस या लड़ाई करना उचित नही है। आखिर एक ही रात का सवाल है। ट्रेन सुबह जल्दी ही बड़ौदा पहुंच जाएगी, अतः खड़े-खड़े ही रात बिता दूंगा।

उन्होने खड़े-ही-खड़े रात बिताई। दरवाजे के पास ही खड़े थे। मन मे एक ओर नए प्रदेश के बारे मे कौतुहल था, तो दूसरी ओर कुछ डर भी था—लोग कैसे होंगे? क्या वे मुझे पूरी तरह अपना सकेंगे?

अपनी कुछ कमजोरियों से वे पिछले दो-तीन वर्षो से परिचित हो गए थे। एक तो यह कि वे स्वभाव से काफी सकोचशील हे। समाज मे घुलमिल जाने की कला उन्हे अब तक नही आई है। व्यक्तित्व ही कुछ ऐसा है कि लोग जल्द ही गलत-फहमियां कर बैठते हैं। चर्चा-बहस करत-करत वे कभी आवेश मे आ जाते हैं और न बोलने-जैसी बात बोल जाते हैं। इमसे दूसरे दुखी होकर उनसे दूर चले जाते हैं।

अपने इस स्वभाव दोष को सुधारने की उन्होने जब-जब कोशिश की, उसका परिणाम उल्टा ही हुआ। गलतफहमिया और ज्यादा ही बढी।

सबसे बडा दोष उनमे यह था कि लोगो के चेहरे उनके ध्यान मे नही रहते थे। कुछ समय पहले का किस्सा है : उनके बड़े भाई की बेटी की शादी थी। चूकि बड़े भाई गुजर चुके थे, इसलिए कन्यादान का काम दत्तोपत को करना पडा था। शादी मे कन्या के पिता को जो-कुछ करना पडता है, वह सब उन्होने लगन के साथ किया था। सारी जिम्मेदारिया निभा ली थी। दामाद के पांव भी धोए थे।

कुछ समय बाद दत्तोपंत बेलगाव मे किसी से मिलने जा रहे थे। रास्ते मे सामने की ओर से एक सज्जन आत दिखाई दिए। सामने वाले ने दत्तोपंत को नमस्कार किया। बदले मे दत्तोपत ने भी उन्हें नमस्कार किया। वे पहचान नही पाए थे कि जिनको उन्होने नमस्कार किया वे उनके दामाद थे, जिनके कुछ दिन पहले उन्होने पांव धोए थे। मन-ही-मन 'पता नही कौन है' कहकर वे आगे चल दिए।

दामाद के ध्यान मे यह बात आ गई। उनको दु:ख हुआ और जाकर उन्होने यह बात घर के लोगों को बता दी। धीरे-धीरे वह शिकायत के रूप मे दत्तोपत के कानों मे आई। उन्हें भी दु:ख हुआ, पर क्या करते ? मानसिक दोष जो है। चाहे जितनी कोशिश करे, मिटता ही नही है। उन्होंने दामाद को कहलवा भेजा, 'आप तो हमारे दामाद हैं, आपका आदर करना मेरा कर्तव्य ही है। जो-कुछ हुआ उसके लिए मुझे अफसोस है। मैं आपसे क्षमा चाहता हूं। पर क्या करूं ? मैं मजबूर हूं। आपसे फिर कही मुलाकात हुई और आप कौन हैं यह बताने वाला मेरे पास कोई न रहा, तो मै आपको यह विश्वास नही दिला सकता हूं कि फिर से मुझसे यह गफलत नही होगी। आपका अपमान करने की मेरी

कतई इच्छा नही थी । पर आप अपमानित हो सकते हैं । इसलिए मैं जैसा हूं, वैसे ही मुझे आपको स्वीकार करना होगा ।'

मन मे एक ओर सर्वांगीण राष्ट्र-सेवा करने का निश्चय था । सनातनी रूढ़ि परायण समाज के विरुद्ध लडने का मन मे जोश भी था, दूसरी ओर ऊपर बताए हुए स्वभाव दोष थे । ऐसा विचित्र व्यक्तित्व लेकर वे गुजरात की सेवा के लिए बडौदा जा रहे थे । कैसे होगा, कहा तक मैं सफल हूगा ? इस तरह की एक दुविधा उनके मन मे थी ।

अचानक उनका ध्यान खिडकी से बाहर आकाश की ओर गया । अरे ! यह क्या ? यह इतनी चमकीली पूछ किसकी है ? धूमकेतु की तो नही ? हा, यह धूमकेतु ही तो है । आश्चर्य के मारे वे उसकी ओर ताकते रहे । प्रि-मैट्रिक मे बेलगाव मे पढते थे तब खगोल की पाट्य पुस्तक हाथ मे आई थी । उसमे धूमकेतु के चित्र देखे थे । पर धूमकेतु इतना अद्भुत हो सकता है, इसकी तो कल्पना भी न थी । आधे आकाश मे वह फैला हुआ था और कितना सुदर दीखता था ! यह हेली नाम का धूमकेतु था ।

उसकी ओर देखते-देखते उनके दिमाग म प्रकाश और अधेरे की एक नई व्याख्या तैयार हुई । वे कहने लगे, जिसमे दीखता है, वह प्रकाश है और जिसमे नही दीखता, वह अधेरा है, यह व्याख्या यदि सही है तो कहना होगा कि दिन मे शुभ्र अधेरा फैलता है, इसलिए केवल हरी पृथ्वी और नीला आकाश ही दीखता है और रात के समय काला प्रकाश फैलता है इसलिए अनत कोटि ब्रह्माड सर्वत्र फैला हुआ दीखता है ।

यह सब क्या है, क्या मतलब रखता है, यह जानने की उनमे जिज्ञासा जाग्रत हुई । इस विषय मे गहराई मे उतरने की उन्हें एक प्रकार की भूख-सी लगी । बेलगाव के हाई स्कूल मे एक दूरबीन थी । उसकी मदद से उन्होने चन्द्र का पृष्ठ-भाग देखा था, गुरू के उपग्रह देखे थे और शनि का वलय भी देखा था । पर उस वक्त आज की जैसी तीव्र जिज्ञासा जाग्रत नही हुई थी । उन्होंने ट्रेन मे खडे-खड़े ही निर्णय ले लिया : बड़ौदा पहुंचते ही वहा के प्रसिद्ध पुस्तकालय से इस विषय की सारी पुस्तकें लाकर पढ डालूगा ।

थोड़े ही दिनो मे उनकी यह जिज्ञासा तृप्त हुई । बडौदा मे केशवराव देशपाडे से मिलने मंगलूर के एक कवि आए थे, जिनका नाम मजेश्वर गोविंद पै था । वे

कोंकणी भाषी थे, पर कन्नड़ भाषा के कवि थे। उनसे न केवल परिचय हुआ, बल्कि प्रगाढ़ मैत्री भी हो गई। उन्हे इस विषय मे रुचि थी। उन्होंने काका साहब को (दत्तोपंत यहां आते ही काका साहब बन गए थे) रात के आकाश में मुख्य सितारों का परिचय करा दिया। उनके देशी और विदेशी नाम भी बताए और 'खगोल चित्रम' नाम की एक पुस्तक भेंट मे दी, जिसमे पूरे आकाश का नक्शा था।

यह विषय ही ऐसा है कि उसका प्रारंभिक परिचय होने के बाद आदमी खामोश नही बैठ सकता। वह गहराई मे उतरता है। यही नही, बल्कि वह दूसरो को भी उसका शौक लगा देता है। काका साहब ने बड़ौदा मे आकाश का पूरा नक्शा पढ डाला। उसके कोने-कोने का परिचय प्राप्त कर लिया और दूसरो को भी उसका शौक लगाने का काम शुरू कर दिया। धीरे-धीरे यह बात शहर मे फैल गई। फलस्वरूप कई नौजवान और किशोर रात के समय उनके पास आने लगे। इनमे तेरह-चौदह साल की उम्र का एक महाराष्ट्रीय लड़का भी आता था, जिसका नाम था, विनायक नरहर भावे। बड़ी जिज्ञासा से प्रश्न पूछता था और काका साहब उसकी जिज्ञासाए तृप्त करते थे। दोनो ने कल्पना भी नही की होगी कि दोनों किसी दिन महात्मा गाधी के आश्रम के सदस्य होने वाले हैं और एक विशाल आध्यात्मिक परिवार के स्वजन बनने वाले है।

यही विनायक नरहर भावे आगे चलकर आचार्य विनोबा भावे के नाम मे प्रख्यात हुए।

काका साहब ने खगोल विद्या का शौक बाद मे गुजरात मे कई लोगो को लगाया। फलस्वरूप गुजरात मे अन्य कई उपलब्धियों के साथ आकाशी-सौदर्य के गद्य-कवि के रूप मे भी वे पहचाने जाने लगे। उन्होंने इस विषय पर जो लिखा है, उसके आरंभ मे ही प्रकाश और अंधेरे की जो व्याख्या बम्बई से बड़ौदा आते हुए ट्रेन मे तैयार हुई थी, वह रख दी है।

ट्रेन सुबह बड़ौदा पहुंची। सफेद रेशमी पारसी फैशन का कोट, अंदर बटन से लगाया हुआ कालरवाला शर्ट, महीन धोती, कोट के ऊपर रेशमी किनार का उत्तरीय और सिर पर जरी की किनार का रेशमी साफा—इस वेशभूषा मे वे स्टेशन पर उतरे। सामान में पुस्तकों से भरा हुआ एक ट्रंक था और दूसरा ट्रक कपड़ों का था। एक अच्छा खासा फोल्डिग टेबल और एक फोल्डिग चेयर भी

थी। उनको लेने के लिए स्टेशन पर एक महाराष्ट्रीय नौजवान आया था, जो पहले गंगनाथ विद्यालय का विद्यार्थी था और अब शिक्षक बन गया था। नाम पूछा तब पता चला कि इस नौजवान को यहां मामा फड़के कहते हैं। मामा को इन नए आचार्य का ठाठ और सामान देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, कुछ हंसी भी आई।

शिक्षकों में इस पर केवल चर्चा ही नहीं, बल्कि बड़ी हंसी मजाक भी चली। बाद में संस्था के आदर्शों के अनुसार काका साहब ने अपनी पोशाक और रहन-सहन में परिवर्तन कर लिया।

मामा उन्हें स्टेशन से सीधे घुड़दौड़ के रास्ते काशी विश्वनाथ के मंदिर में, जहां गंगनाथ विद्यालय चलता था, ले गए और कहा, थोड़ी देर में वामन शास्त्री दातार आएंगे, वे आपका रहने आदि का प्रबंध करेंगे, तब तक आप यहीं बैठे रहिए। वामन शास्त्री से पहले ही परिचय था। वे संस्था के संचालकों में से एक थे। उन्हीं की मांग पर दत्तोपंत ने अपने मित्र लेले को इस संस्था में भेजा था। उन्होंने ही दत्तोपंत के बारे में केशवराव देशपांडे को कहा था और उन्हीं के कहने से गंगाधरराव से दत्तोपंत की मांग करने के लिए केशवराव राष्ट्रमठ में आए थे। दातार बड़ौदा में वैद्यराज के रूप में प्रख्यात थे। उनकी यहां बड़ी प्रतिष्ठा थी और बोलते भी थे किसी नेता की तरह। कुछ देर में दातार आए और दत्तोपंत को तुरंत केशवराव देशपांडे के यहां ले गए। स्टेशन यार्ड के सामने एक पारसी की बड़ी कोठी में केशवराव रहते थे। उनके घर के लोग गरमी के कारण अपने गांव कोल्हापुर गए थे, इसलिए केशवराव अकेले ही रहते थे। वामन शास्त्री जब दत्तोपंत को उनकी कोठी में ले गए, तब केशवराव घर में थे। वामन शास्त्री ने अंदर प्रवेश करते ही केशवराव से कहा, 'साहब! (केशवराव को बड़ौदा में सभी इसी नाम से पुकारते थे) हम कालेलकर को आपको गोद देने के लिए ले आए हैं।'

साहब ने बड़े प्रेम से स्वागत किया और कहा, 'फिलहाल गर्मी की छुट्टियों के कारण विद्यालय बंद है। वह शुरू होगा तब तक आपको यहीं मेरे यहां रहना है।'

उन्होंने दत्तोपंत को उनका कमरा दिखा दिया। स्नान के लिए पानी आदि की व्यवस्था कहां है, बता दिया और नाश्ता दिलाकर वे अपने दफ्तर चले गए।

केशवराव उन दिनो बड़ौदा में कलेक्टर के ओहदे पर थे।

दत्तोपंत को यहां कोई कठिनाई महसूस नही हुई। वे आराम से रहे।

वे बेलगांव, पूना, बम्बई की आबोहवा से परिचित थे। बडौदा की गर्मी की उन्हें कल्पना भी नही थी। एक तो इस गर्मी के कारण और दूसरे यात्रा की थकावट के कारण वे दोपहर का भोजन करके सो गए।

शाम का समय हुआ। केशवराव के दफ्तर से लौटते ही कोठी के बाहर बगीचे मे जमीन पर पानी छिड़का गया और कुर्सिया रख दी गई। थोड़ी देर मे एक चपरासी ने दत्तोपंत के कमरे का दरवाजा खटखटाया और कहा, 'आपको साहब बाहर बुला रहे है।'

बाहर बैठे-बैठे बहुत बातें हुई। बातों के द्वारा नये आदमी को पहचानने का केशवराव का यह अपना तरीका था और दिल खोलकर बाते करके केशवराव को अपना पूरा परिचय देने का दत्तोपत के लिए यह सुदर अवसर था। तब से शाम होते ही साहब के सामने उपस्थित रहना दत्तोपंत का एक दैनिक कर्म हो गया। जब तक वे बडौदा मे रहे, यह सिलसिला जारी रहा। इससे दोनो एक-दूसरे के बहुत निकट आ गये थे।

गंगनाथ की जन्मकथा

बड़ौदा पहुचते ही दत्तोपत ने अपने आसपास के वातावरण का निरीक्षण करना शुरू किया। जो शक्तिया बडोदा की दुनिया मे काम कर रही थीं, उन्हे पहले पहचान लिया।

सबसे पहले बडौदा के नरेश श्री सयाजीराव गायकवाड़ की ओर उनका ध्यान गया। लगा, यह देश के उन पाच-सौ, साढे पाच-सौ नरेशो मे से नही है, जो एशओ-आराम मे जीवन बिता रहे हैं। उन सबमे ये बिल्कुल अनोखे हैं। शीलवान हैं, पढ़े-लिखे हे, प्रजाहित-चिन्तक है और काफी प्रगतिशील है। बड़ौदा राज्य को आधुनिकतम बनाने के प्रयत्नों मे ही हमेशा संलग्न रहते हैं। उन्होने अपने राज्य मे प्राथमिक शिक्षा मुफ्त और अनिवार्य बना दी है और दूर-दूर के देहातो तक पाठशालाओ का जाल फैला दिया है। अस्पृश्यो के लिए खास पाठशालाएं खोल दी। इन पाठशालाओं के लिए जब उन्हे हिन्दू शिक्षक नही मिले, तब उन्होने

मुसलमान शिक्षक नियुक्त किए, पर पाठशालाएं आग्रहपूर्वक चलाईं। अस्पृश्यों के पुरोहितों को शिक्षा मिले, इसलिए खास पाठशालाएं खोल दी। इस वक्त लगभग ढाई-सौ अस्पृश्य बड़ौदा प्रशासन में कर्मचारी के तौर पर काम करते हैं।[1] अपने राज्य में अंतर-जातीय विवाह और विवाह-विच्छेद-जैसे कानून भी बनाने की उन्होंने हिम्मत दिखाई और सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह देखी कि राज्य का पूरा प्रशासन स्थानीय गुजराती भाषा मे चला रहे है।

चूंकि इससे पहले राजा मराठा थे, इसलिए यहां का प्रशासन भी मराठी में चलना था। सयाजीराव ने मराठी का व्यवहार अपनी निजी कचहरी तक ही सीमित रखा। बाकी का सारा कारोबार आग्रहपूर्वक प्रजा की भाषा गुजराती में चलाया। उनसे पहले प्रशासन मे महाराष्ट्रीय लोग ही भर्ती किए जाते थे, सयाजीराव ने यह भी बदल दिया। देश में जहां पर भी कोई बुद्धिमान-होशियार नौजवान दिखाई दिया, उसे वे बडौदा ले आए और उसे योग्य स्थान पर बिठा दिया। रोमेश चन्द्र दत्त जैसे एक आई० सी० एस० अफसर, जो कांग्रेस के अध्यक्ष रह चुके थे, थोड़े समय पहले यहां के दीवान थे। वे केवल कार्यकुशल प्रशासक ही नही, बल्कि एक बड़े विद्वान भी थे। ऐसे कई विद्वानो को उन्होने अपने राज्य में अलग से आश्रय दिया था। काजी शहाबुद्दीन, पेस्तनजी जहांगीर, अम्बालाल साकरलाल जैसे कुशल प्रशासक बडौदा मे बड़ी योग्यता के साथ अलग-अलग महकमों को संभाल रहे थे। सन् 1893 मे सयाजीराव यूरोप की यात्रा पर गये थे। वहा इग्लैंड मे उनकी नजर मे एक तेजस्वी बगाली नौजवान आया, जो शिक्षा-दीक्षा से नखशिखान्त अंग्रेज बन चुका था। सयाजीराव ने इस नौजवान की योग्यता को परख लिया और उसे वहां से बड़ौदा ले आए। इस नौजवान का नाम था, अरविंद घोष। केशवराव देशपांडे इंग्लैंड में अरविंद बाबू के सहपाठी थे. दोनो गहरे मित्र भी थे। अरविंद के आग्रह के कारण सयाजीराव केशवराव को भी बड़ौदा ले आए। पहले वे असिस्टेंट कलेक्टर के स्थान पर थे, फिर आबकारी विभाग के कलेक्टर बन गए थे।

बाहर से लोगों को लाकर उन्हें राज्य के प्रमुख पद देने की सयाजीराव की नीति से उनके पुराने मराठा सहयोगी नाराज हो गये। वे उनकी काफी आलोचना

1. डा० अम्बेडकर को स्कालरशिप देकर पढ़ाई के लिए अमरीका भेजने वाले सयाजीराव ही थे।

करते थे, कई तो चिढ भी गए थे। हमने खून बहाकर आपको यह राज्य दिलाया और अब हमारी राजनिष्ठा की कद्र नही होती, इस तरह की शिकायते भी उन्होने की। तब सयाजीराव ने उन्हे जवाब दिया, 'भाइयो! राजनिष्ठा के दिन अब नही रहे है, राजाओ के लिए प्रजानिष्ठ होने के दिन आ गए है।' इसमे सब निरुत्तर हो गए थे। सयाजीराव सिर्फ अपनी गद्दी संभालना नही चाहते थे, बल्कि देश के सामने एक अच्छे कल्याणकारी राज्य का उत्तम नमूना पेश करने की ख्वाहिश भी रखते थे। प्रगतिशील कानूनो के द्वारा वे एक ओर पुरानी जीर्णशीर्ण समाज-व्यवस्था को बदलना चाहते थे तो दूसरी ओर परम्परा से चलता आया मराठाओ का ठेका तोड कर वे अपने राज्य को प्रशासन की दृष्टि से आधुनिकतम बनाना चाहते थे। तीसरी ओर देशी रियासतो मे अग्रेजो का जो बार-बार हस्तक्षेप हुआ करता था, उससे वे अपने राज्य को दूर रखना चाहते थे।

सयाजीराव देशभक्त भी थे। अपनी मर्यादा मे रहकर वे राष्ट्रीय-आदोलन को सब तरह से सहायता देने की इच्छा रखते थे। कई क्रातिकारी देशभक्तो ने गुप्त रूप मे उनके राज्य मे आश्रय लिया था। उन्हे अग्रेजो से बचाने की वे हर तरह की कोशिश करते थे।

उनकी तेजस्विता से लॉर्ड कर्जन जैसे तानाशाह भी परिचित थे। सभी देश-भक्त उनकी इज्जत करते थे। कभी-कभी आपस मे कहते थे कि जब भारतवर्ष स्वतत्र होगा तब सयाजीराव को हम बडौदा के नरेश नही रहने देगे, बल्कि भारत का पहला राष्ट्राध्यक्ष बनाएगे।

जिस गगनाथ विद्यालय मे दत्तोपत हेड मास्टर के रूप मे काम करने आए थे, वह केवल मामूली विद्यालय नही था वह क्रान्तिकारियो की एक प्रयोगशाला थी। इसके पीछे अरविंदबाबू की प्रेरणा थी। अरविंद बाबू बड़ौदा मे थे, तब केशवराव उन्ही की कोठी पर रहते थे। अरविंद बाबू दिव्य-दर्शन दृष्टा थे और केशवराव कुशल सगठक थे। दोनो ने एक योजना बनाई थी, जिसको उन्होने 'भवानी मदिर योजना' नाम दिया था। दोनो देवी के उपासक थे, सप्तशती का नियमित पाठ करते थे। सप्तशती के सात सौ श्लोक हैं। हरएक श्लोक के प्रतिनिधि के रूप मे एक सैनिक इस हिसाब से वे सात सौ शाक्त सैनिको का एक सघ निर्माण करना चाहते थे, जो समय आने पर सारे देश मे क्राति की

मशाल प्रज्वलित करने वाला था। दोनों को बंकिम बाबू के आनंदमठ उपन्यास से यह प्रेरणा मिली थी। अरविंद बाबू इस योजना की ओर दिव्य आदेश के रूप मे देखते थे। उन्होंने यह योजना एक पुस्तिका के रूप मे लिख भी डाली थी। केशवराव पर इसकी धुन सवार हो गई थी। इस योजना को लेकर देश के नेताओं से विचार-विनिमय करने के लिए वे देश-भर का एक चक्कर लगा आए थे। सन् 1905 मे पंढरपुर में एक औद्योगिक प्रदर्शनी आयोजित हुई थी, जिसमे वहां महाराष्ट्र के लोकमान्य तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, चिंतामण राव वैद्य, अण्णासाहब विजापुरकर जैसे मनीषी इकट्ठा हुए थ। केशवराव ने इस योजना के बारे मे उनसे भी विचार-विनिमय किया था। सभी ने इस योजना का स्वागत किया था। महाराष्ट्र के एक धनिक ने आर्थिक सहायता देने का अभिवचन भी दिया था, बशर्ते कि भवानी-मंदिर महाराष्ट्र मे ही कही खड़ा किया की जाए। केशवराव के लिए यह शर्त स्वीकार करना कठिन था, क्योंकि वे बड़ौदा में रहते थे और बडोदा से दूर स्थित मंदिर का सचालन करना उनके लिए असभव था।

भवानी-मदिर का वाह्य स्वरूप शुरू मे एक राष्ट्रीय विद्यालय जैसा ही रहने वाला था। विद्यालय मे शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो, विद्यार्थियो को शारीरिक, नैतिक और धार्मिक शिक्षा मिले, भाषा, गणित, भूगोल, विज्ञान आदि हमेशा के विषयो के अलावा भारत का इतिहास भारतीय दृष्टिकोण से पढाया जाए, योगासन, व्यायाम, फौजी कवायद भी चले। विद्यार्थी और शिक्षक आस-पास के गांवों में फैलें, वहां प्रौढ़ शिक्षा के वर्ग चलाए, तरह-तरह के ग्रामोद्योगो के द्वारा गांव को संगठित करें इस तरह का एक कार्यक्रम बनाया गया था। पर यह सारा कार्यक्रम भवानी-मदिर के असली चेहरे को छिपाने के लिए ओढा हुआ एक आवश्यक नकाब ही था। उसका असली उद्देश्य विद्यालय के द्वारा धीरे-धीरे भारत की स्वतंत्रता के लिए जीवन समर्पित करने वाले क्रांतिकारियो का एक संघ खड़ा करना था।

भवानी-मंदिर की धुन अरविद के भाई बारीन्द्र कुमार पर भी सवार हुई, तब उसके लिए अनुकूल स्थान ढूंढ़ते-ढूढ़ते लगभग छः महीने तक वे भारत का चक्कर लगाते रहे। घूमते-घूमते वे नर्मदा के तट पर पहुंचे। वहा चादोद नाम का एक अत्यंत रमणीय स्थान उन्हे मिल गया। वहां कई मालदार मठाधिपति अपने-अपने मठ चला रहे थे। उन्ही मठों के बीच उन्ही की मदद से विद्यालय

के रूप में एक नया मठ चलाने के उद्देश्य से उन्होंने वहां के मठाधिपतियों से विचार-विनिमय शुरू किया। इन मठाधिपतियों ने न केवल इस योजना का स्वागत किया, बल्कि उसे कार्यान्वित करने के लिए आर्थिक सहायता देने का भी अभिवचन दिया। शर्त एक ही थी कि विद्यालय के अंदरूनी कारोबार में हिस्सा लेने का उनको भी अधिकार मिले। केशवराव इस शर्त को मंजूर करने के लिए तैयार नही थे। इसलिए वे दूसरा स्थान ढूंढ़ने लगे। सौभाग्य से उन्हें चांदोद में ही एक पहाड़ी पर स्थान मिल गया, जहां गंगनाथ नामक एक मठ चलता था। इसके मठाधिपति ब्रह्मानंदजी नामक एक साधु थे, जो आत्मज्ञान-संपन्न माने जाते थे। वे केशवराव और बारीन्द्र कुमार को आर्थिक सहायता देने के लिए तैयार हुए। फलस्वरूप ब्रह्मानंदजी की मदद से उन्ही के मठ में 7 मई 1907 के दिन 'गंगनाथ भारतीय सर्व विद्यालय' की स्थापना हुई।

प्रारंभ तो हुआ। केशवराव कई अच्छे-अच्छे देशभक्त नौजवानों को जुटाकर ले आए और उन्हें यहां शिक्षक के रूप मे स्थानापन्न कर दिया। उन दिनों किसी राष्ट्रीय विद्यालय में शिक्षक बनने के लिए किसी को शिक्षाशास्त्र में प्रशिक्षित होना आवश्यक नही था। शिक्षक पढ़ा-लिखा हो, चारित्र्यवान हो, स्वाभिमानी हो और विद्यार्थियों को देशभक्ति का चसका लगाने की तड़प रखता हो, इतनी ही योग्यता काफी मानी जाती थी। केशवराव इस तरह के अच्छे-से-अच्छे शिक्षक जुटा सकने में सफल हुए।

पहले ही वर्ष विद्यालय मे लगभग चालीस विद्यार्थी भर्ती हुए। भाषा, गणित, भूगोल आदि विषयों के साथ-साथ वे देशभक्ति के कुछ गीत भी सीखते थे और दंड-बैठक, लाठी-बनेठी-जैसी कुछ शारीरिक शिक्षा भी लेने लगे।

उन दिनों स्वयं बारीन्द्र कुमार उनके बीच आकर रहे थे। कुछ समय बाद इस विद्यालय को चांदोद से हटाकर बड़ौदा लाने के लिए केशवराव मजबूर हुए। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि इस बीच ब्रह्मानंदजी का देहांत हो गया। उनकी गद्दी पर उनके शिष्य केशवानंद आए, जो यों तो उत्साही थे, विद्यालय की प्रवृत्तियों में काफी रुचि भी रखते थे,स्वयं विद्यार्थियों को योगासन वगैरह सिखाते भी थे, पर विचारों में रूढ़िवादी थे। पूजा अर्चना, गद्दी के प्रति निष्ठा, धार्मिक उत्सव ऐसी ही बातों में अधिक विश्वास रखते थे। क्रांतिकारी राष्ट्रवाद से वे प्रभावित नही थे।

केशवराव ने सोचा, विद्यालय अगर इसी तरह चला तो उसका उद्देश्य ही खत्म हो जायेगा। इसलिए उसे गगनाथ से हटाकर बडौदा मे ही लाना उन्होने उचित समझा।

विद्यालय को बडौदा मे लाने का दूसरा कारण यह था कि इस बीच वग भग के विरुद्ध देश मे एक बडा आदोलन चला और उसमे अरविन्द तथा बारीन्द्र दोनो गिरफ्तार हो गए। फलस्वरूप उनकी भवानी-मदिर की योजना भी सरकार के हाथ लग गई। यह योजना अब तक केवल क्रातिकारियो के बीच ही प्रचारित हुई थी, सरकार को उसकी कोई जानकारी नही थी। केशवराव न सोचा, जो कुछ होना हो, अपनी आखो के सामने ही हो। इसलिए गगनाथ विद्यालय को गगनाथ से हटाकर वे बडौदा ले आए। अभ्यकर नामक एक विद्यार्थी की उन्हे मदद मिली। वह एक ही रात म विद्यालय को चादोद से बडौदा ले आया और बडौदा मे रेमकोर्स के पास जहा काशी विश्वेश्वर का एक बडा मदिर है, वहा स्थापित कर दिया।

गगनाथ मठ के महत केशवानद विद्यालय को अब तक आर्थिक सहायता देत रहे थे। अब चूकि विद्यालय बडौदा चला गया था अत: उन्होने सहायता देना बद कर दिया। इसलिए विद्यालय का सारा आर्थिक बोझ केशवराव दशपाडे को ही उठाना पडा। वे विद्यालय के प्राण थे। वे अपनी तनख्वाह स हर महीन लगभग तीन सौ रुपये विद्यालय के खर्च के लिए देते थे। इसके सिवा वे हर रविवार को विद्यालय के विद्यार्थियो और शिक्षको को लेकर घर-घर भिक्षा मागने जाते थे और मुट्ठी-मुट्ठी भर अनाज इकट्ठा करके विद्यालय का दत थे।

विद्यालय के सचालन के लिए उन्होने सात सदस्यो की एक समिति बनाई थी और पाच सदस्यो का एक नियत्रण बोर्ड नियुक्त किया था। सभी सदस्य बडौदा के ही निवासी थे, बडौदा राज्य की नौकरी म भी थे। इसलिए अग्रेजो की नजर उस पर नही पड़ेगी, यही उम्मीद उन्होने रखी थी। उन्हे एक ओर अग्रेजो की वक्र दृष्टि से विद्यालय को बचाना था तो दूसरी ओर अकर्मण्य निर्जीव समाज मे जान फूककर उसे भवानी मदिर के आदर्शो की ओर ले चलना था। बडा मुश्किल काम था। बड़ी सावधानी से वे आगे बढते थे।

वग-भग के कारण देश मे असाधारण जागृति फैली थी, किन्तु उसके बावजूद देश के मध्यम वर्ग की मनोवृत्ति मे कोई विशेष फर्क नही पडा था। यह बडी

विचित्र मनोवृत्ति है। उसे केवल धर्म की ही चिंता है। सरकार भले ही विदेशी हो, जब तक धर्म के मामलों में वह हस्तक्षेप नही करती, तब तक उसकी नौकरी करने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। अंग्रेज ईसाई हैं, ठीक है। ईसाइयों के प्रति वे पक्षपात रखते है, यह स्वाभाविक ही है। ईसाई धर्म के प्रचार मे रुचि रखते हैं, भले रखें। पर हिन्दू, मुसलमानो को तो अपने-अपने धर्म के अनुसार चलने देते है। फिर उनकी नौकरी करने मे क्या आपत्ति है ? सरकारी नौकरी के कई लाभ हे। एक तो अच्छी तनख्वाह मिलती है, दूसरी ओर समाज मे प्रतिष्ठा बढती है। लोगो के कुछ काम भी आसानी से किए जा सकते हैं। फिर देशभक्ति के नाम पर जान खतरे मे डालने मे क्या बुद्धिमानी है ? यही साधारण रूप मे लोगो के सोचने का तरीका था। ऐसे वायुमडल मे किस प्रकार क्राति की जा सकती थी ?

केशवराव पूरी तरह जानते थे कि हमे फिलहाल क्राति नही करनी है, बल्कि क्रांति की पूर्व तैयारी ही करनी है। क्राति की पूर्व तैयारी करना यही गंगनाथ विद्यालय का उद्देश्य था। इसलिए वे सावधानी से कदम उठाते रहे।

फिलहाल विद्यालय मे शिक्षा का ही काम चलता था। साधारण रूप मे जो शिक्षा दूसरे विद्यालयो मे दी जाती है, वही यहा दी जाती थी। कताई-बुनाई आदि कुछ उद्योग भी पढाई के साथ जोड दिए गए थे। थोड़ी फौजी तालीम दी जाती थी। यह तालीम बड़ौदा राज्य के सरसेनापति जनरल नाना साहब शिंदे स्वय देते थे। राजद्रोह की कोई प्रवृत्ति नही चलती थी। हा, विद्यालय के शिक्षक सभी देशभक्त थे, क्योकि देशभक्ति से ओतप्रोत शिक्षक ही चुनकर लाए गए थे और उन्ही के हाथो मे विद्यालय सौपा गया था।

काका साहब बने

गंगनाथ विद्यालय ने अपने सामने उपनिषद् कालीन आश्रमो का आदर्श रखा था। यह उम्मीद रखी गई थी कि जो विद्यार्थी विद्यालय मे भर्ती होगा, वह न केवल पढाई करेगा, बल्कि शिक्षकों के निकट सम्पर्क मे भी आएगा, उनके जीवन का भी निरीक्षण करेगा और उनके गुणो का अपने जीवन मे समावेश करेगा। विद्यार्थियों और शिक्षको के बीच यह कौटुबिक सम्बंध स्थापित हों, इसलिए केशवराव ने विद्यालय मे शिक्षको को मामा, नाना, अण्णा आदि महाराष्ट्रीय घरेलू

नामों से पुकारने की एक प्रथा शुरू कर दी थी। गंगनाथ विद्यालय के सभी शिक्षकों को इस तरह के नाम मिल चुके थे। हेड मास्टर के (आचार्य के) रूप मे आए हुए दत्तोपंत ही नए थे। इसलिए गर्मियों की छुट्टियां समाप्त होने पर जब विद्यालय का नया सत्र शुरू हुआ, दत्तोपन को 'काका' के नाम से पुकारना तय किया गया। काका के माने हैं चाचा।

इस तरह गंगनाथ विद्यालय में प्रवेश करते ही सबसे पहले दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर, काका कालेलकर बन गए। उनका दत्तोपंत नाम छूट गया और यह नया नाम उनको हमेशा के लिए चिपक गया। जीवतराम कृपलानी, स्वामी आनंद, नागेशराव गुणाजी, गंगाधरराव देशपांडे जैसे उनके पुराने साथी और मित्र भी उन्हें अब काका के ही नाम से पुकारने लगे। उत्तर भारत मे जिस प्रकार नाम के बाद 'जी' लगने की प्रथा है, उसी प्रकार महाराष्ट्र मे नाम के बाद राव, पंत या साहब लगाने की प्रथा है। इस प्रथा के अनुसार काका कालेलकर कुछ समय के बाद काका साहब कालेलकर बन गए। काका साहब यानी काकाजी।

इसके बाद केशवराव ने अपने घर शिक्षको की एक बैठक बुलाई और उनसे नए सत्र का अभ्यास क्रम तैयार करने को कहा। कौन से विषय किस वर्ग मे किस रूप में पढ़ाए जाएं, किन विषयों की ओर विशेष ध्यान दिया जाए और कौन-कौन से विषय किन को सौंप दिए जाएं, इस सम्बंध में शिक्षको ने आपस मे काफी चर्चा की और विषय बांट लिए। विद्यालय के तीन प्रमुख विभाग थे। एक था शिक्षा विभाग, जिसमे साधारण शिक्षा दी जाती थी। दूसरा था, छात्रालय विभाग, जो आश्रम के रूप मे चलाया जाता था और तीसरा था उद्योग विभाग, इसमें फिलहाल सुतारी और बुनाई पढ़ाई जाती थी। काका साहब को यह तीसरा विभाग सौंपा गया। केशवराव का इस विभाग की ओर विशेष ध्यान था और वे इसको काफी बढ़ाना चाहते थे। काका साहब को न तो इस विभाग मे कोई दिलचस्पी थी, न ही वे उसका महत्व समझ सके थे। वे तो यही मानते आए थे कि शिक्षा तो वही होती है, जिसे पाने पर मनुष्य विद्वान् बनता है और राष्ट्रीय शिक्षा तो वही है, जो मनुष्य को विद्वान् बनाने के साथ-साथ देशभक्त और क्रांतिकारी बना देती है। विद्यार्थी विद्वान बने, लेखक बनें, पत्रकार बनें और अंत में क्रांति के लिए खुद तैयार हों और दूसरों को भी तैयार करें, इसी तरह की शिक्षा प्रदान करने के कार्य को ही वे राष्ट्रीय शिक्षा-कार्य

मानते आए थे। केशवराव स्वयं क्रांतिकारी थे और अरविन्द बाबू तो बहुत बड़े क्रांतिकारी सिद्ध हो चुके थे। दोनों की भवानी-मंदिर की योजना का उद्देश्य देश मे क्राति के लिए सैनिक तैयार करना ही था और गगनाथ विद्यालय तो भवानी-मंदिर का ही एक रूप था। फिर केशवराव ने यह क्या किया ? सुतारी और बुनाई जैसा काम उन्होने काका साहब को क्यों सौपा ? काका साहब की समझ मे यह बात नही आई। उनको अपने-आप पर गुस्सा भी आया। मन-ही-मन उन्होंने कहा, पढ़ाई के विषय हम आपस मे चुन रहे थे, उसी समय मुझे भी अपना प्रिय विषय चुन लेना चाहिए था। मामा फड़के ने जब अपने लिए इतिहास विषय चुन लिया, तभी अगर मै भी कह देता कि यह विषय मै अच्छी तरह पढ़ा सकूगा तो संभवतः यह विषय मुझे मिल जाता। पर मैंने इतना ही कहा कि विद्यार्थियों पर राष्ट्रवादी सस्कार डालने के लिए विदेशी मैजिनी की जीवनी पढ़ाने की कोई आवश्यकता नही है। हम अपने ही इतिहास के प्रेरक प्रसग चुन सकते है। इतना ही कहकर मै खामोश रहा। समय पर जो बोलना चाहिए, वह संकोचवश मै बोल नही पाता, इसी का यह परिणाम है। अब पछताने से क्या लाभ ?

दिमाग मे और भी एक शका मडराने लगी, उद्योग विभाग मे आज जो शिक्षक हैं, वे बिल्कुल नालायक हैं, इस तरह की आलोचना कई दिनो से सुनता आया हूं। उन्हे नौकरी से निकाल देने का अप्रिय काम करने के लिए तो यह विभाग मुझे नही सौपा गया है ? हो सकता है।

आखिर वे केशवराव के पास गए और उन्ही के सामने उन्होने अपना असंतोष प्रकट किया। केशवराव बोले, हमे क्राति तो करनी है। क्रांति का सकल्प दृढ़ता के साथ मन मे रखो। अनुकूल समय आएगा, उसकी प्रतीक्षा में रहो। उससे पहले किसी तूफान को न्यौता नही देना है। मनुष्य-बल, बुद्धि-बल और कार्य-कुशलता का बल बढ़ाते रहो। आज तुम्हें यह कार्यक्रम फीका मालूम लग रहा होगा, पर यही महत्व का कार्यक्रम है। क्रांति हवा मे नही होती। बग-भंग के कारण जो आंदोलन चला वह आम जनता की सहभागिता के अभाव में देखो कैसे हवा में उड़ गया। इसी से सबक लेकर यह नया रचनात्मक कार्यक्रम हमने हाथ में लिया है। रचनात्मक कार्यक्रमो के द्वारा हम जब तक आम जनता को अपने साथ में नहीं लेते, तब तक देश में कोई क्रान्ति नहीं हो सकती। अरविन्द बाबू का भी यही कहना है।

काका साहब को मानो एक नई दृष्टि मिल गई और वे उद्योग विभाग की ओर विशेष दिलचस्पी से ध्यान देने लगे। फिर भी आरंभ मे वे एक बडी गलती कर ही बैठे।

हर संस्था मे एक आतरिक राजनीति चलती है, वैसी इस सस्था मे भी चलती थी, इसका उन्हे कोई ख्याल नही था। आचार्य के रूप मे वे यहा आए, उससे पहले यह संस्था चलाने का भार वासुदेवराव देशपाडे नामक एक तपस्वी के कधो पर था। उनको सभी यहा नाना के नाम स पुकारत थे। स्वभाव से वे काफी उग्र थे। उन्हे जब गुस्सा आता, तब वे आपे मे बाहर हो जाते थे और विद्यार्थियो को कडी-से-कडी सजा भी फरमा देते थे। कभी-कभी तो दो-दो तीन-तीन दिन के उपवास की भी सजा फरमाते थे और खुद भी उन दिनो उपवास करते थे। काका साहब ने जब उनके कंधो का भार अपने कधो पर ले लिया, वासुदेवराव को छात्रालय के व्यवस्थापक का काम दिया गया। पुस्तकालय और वाचनालय की व्यवस्था मामा फडके के सुपुर्द कर दी गई।

मामा यहा पहले एक विद्यार्थी के रूप मे भर्ती हुए थे। वे रत्नागिरी के थे। सावरकर से प्रेरणा पाकर उन्होने रत्नागिरी मे अभिनव भारत नामक एक वाचनालय चलाया था। सावरकर से उनका पत्र-व्यवहार भी था। पुलिस विभाग को यह मालूम हो गया था, इसलिए पुलिस विभाग की काली सूची मे उनका नाम दर्ज हो गया था। उनको देशभक्ति के कई गीत कठस्थ थे। विद्यार्थियो को वे यह गीत बड़े चाव से सिखाते थे। उनम देशभक्ति की बातें भी लगातार किया करते थे। उन्हे साहित्य के प्रति असाधारण रुचि और भक्ति थी। उनकी ऐसी कई योग्यताओ को देखकर सस्था ने उनको शिक्षक के तौर पर नियुक्त किया था। वाचनालय और पुस्तकालय की व्यवस्था का काम मिलने पर वे खुश थे।

काका साहब सस्था मे नए थे। मामा और नाना की बनती नही, इस बात का उन्हें कोई ख्याल नही था। व्यवस्था का जो काम जिसे सौपा गया हो, उस काम में उसी का अधिकार होता है, यही वे मानते आए थे। दूसरे के काम मे कोई हस्तक्षेप न करे, यह सस्था मे अनुशासन की दृष्टि से बिलकुल आवश्यक है, यह मानते थे। इसलिए जब डाक हाथ मे आती तब सारे अखबार वे मामा को सौप देते थे और मामा अखबारों को यथा स्थान तुरंत रख देते

थे। हेड मास्टर होते हुए भी काका साहब मामा के कामों में हस्तक्षेप नहीं करते थे। अखबार पढ़ने की इच्छा हो तो वाचनालय मे जाकर औरों के साथ ही बैठकर पढ़ते थे।

एक दिन डाक नाना के हाथ मे पहुंच गई। उन्होंने अखबार मामा को सुपुर्द करने के बदले अपने ही पास रख लिए और खोलकर पढ़ना शुरू कर दिया। काका साहब को यह पसंद नहीं आया। उन्होंने नाना से कहा, 'नाना, आपने यह अच्छा नही किया। आपको मामा से पूछकर ही अपने पास अखबार रखने चाहिए थे।' नाना एकदम गुस्सा हो गए। बोले, 'हू इज़ मामा ?' (मामा कौन होते हैं ?)

काका साहब ने कहा, 'जो भी हो, हमने ही तो उन्हें पुस्तकालय के व्यवस्थापक के रूप में नियुक्त किया है। उनकी व्यवस्था हम न सम्भाले तो कैसा होगा ?'

क्षण-भर के लिए नाना निरुत्तर हो गए। फिर बोले, 'हां, मैं भूल गया था कि अब मैं हेडमास्टर नही हूं।'

फिर थोड़ी देर रुक कर बोले, 'यहां बड़ौदा मे निवृत्त दीवान को भी सरकार की ओर से एक चपरासी मिलता है और उसका खास ख्याल रखा जाता है।'

काका साहब कहते हैं :

> मेरे टोकने से उनको कितना बुरा लगा है, इसका अगर मुझे ख्याल होता तो मैं इस तरह का प्रसंग न आने देता। पर मैं तो कालेज के डिबेटिंग क्लब मे और अखबार के सम्पादक मंडल में तालीम पाकर यहा आया था। तात्विक चर्चा के रूप में मैंने तपाक् से प्रत्युत्तर दिया, हां निवृत्त दीवानों का खास ख्याल रखा जाता है, इसमें कोई शक नहीं। पर उन्हें कोई अधिकार नहीं दिया जाता।

नाना ने क्षण-भर के लिए उनकी ओर देखा और तुरंत सिर झुकाकर कहा, 'आपकी बात सही है। मैं स्वीकार करता हूं।'

काका साहब ने मान लिया कि उनकी बात नाना के गले उतर गई है और नाना शांत हो गए हैं।

पर बात ऐसी नहीं थी। नाना उसी क्षण से काका साहब के प्रति कटु हो गए और हमेशा के लिए कटु रहे।

नाना के छात्रालय मे शिक्षक और विद्यार्थी मिलकर लगभग सौ लोग भोजन करते थे। ब्राह्मण, बनिये, क्षत्रिय, शूद्र, आदिम् निवासी, सभी जाति के ये लोग थे। रसोई बनाने के लिए मद्रासी ब्राह्मण रखे गए थे, जो पाक-कला मे कुशल माने जाते थे और जो पुरानी रूढ़ धर्मनिष्ठा मे कट्टर थे। परोसने का काम विद्यार्थियों और शिक्षकों मे जो महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे, वे ही करते थे। गुजराती ब्राह्मण तो रसोई घर मे पांव भी नही रख सकते थे, परोसने की बात तो दरकिनार रही। उनके स्पर्श से ही अन्न अपवित्र हो जाता था और महाराष्ट्रीय ब्राह्मण विद्यार्थियों को यह सहन नहीं था।

इस धर्म रिवाज की ओर काका साहब का ध्यान पहले तो नही गया। पर जब गया, उनका दिल जल उठा। आहार के बारे मे वे एक ही भेद को मानते थे : वह था, शाकाहार और मासाहार का। किसके हाथ का पकाया हुआ है, कौन परोसता है और पंक्ति मे कौन बैठा है, इसकी उन्हे कोई परवाह नही थी। बड़ौदा महाराष्ट्रीयों के कब्जे म है, ठीक है। महाराष्ट्रीय लोग अपने को यहा दूसरों से श्रेष्ठ मानते हो, तो भले मानें। राजनीति मे यह भेद चल सकता है। पर धर्म मे भी यह भेद घुस जाए, यह बात उनकी समझ से परे थी।

उन्होंने तुरंत कह दिया, मै तो एक दिन के लिए भी यह रिवाज यहा चलने नही दूंगा। गुजराती ब्राह्मण भले ही यह अन्याय सहन करे, मै सहन नही करूंगा।

वे सीधे केशवराव के पास गए और उनसे पूछा, 'हिन्दू धर्म चातुर्वर्ण्य है या अनंतवर्ण्य ? हम स्वराज्य चाहते हैं। इसलिए सामाजिक एकता का दृढ़ करना चाहते है, या सारे सामाजिक ऊंच-नीच भेदभाव कायम रखकर हम स्वराज्य पाना चाहते हैं ?'

'क्या हुआ यह तो बताओ, भाई।' केशवराव के पूछा।

काका साहब ने गंगानाथ विद्यालय के छात्रालय मे जो रिवाज चल रहा था, उसकी बात कही।

बड़ी मधुर मुस्कान के साथ केशवराव ने जवाब दिया, 'यहां महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों का वर्चस्व है और सनातनी समाज ने यह मंजूर किया है। इसलिए मैंने यह रिवाज चलने दिया है। मैं स्वयं इस रिवाज में बदलाव नहीं करूंगा।

पर, तुम अगर अपनी हिम्मत से यह रिवाज बदलना चाहोगे तो मैं तुम्हें नहीं रोकूंगा। तुम्हारा समर्थन ही करूंगा। फिर चाहे जो परिणाम हो और चाहे गंगनाथ विद्यालय ही बंद हो जाए।

काका साहब को लगा, मेरे जीवन का यह दिन धन्य है। संतोष के साथ उन्होंने केशवराव से कहा, 'हम तो एक बड़ा साम्राज्य तोड़ने की तैयारी में लगे हुए हैं। अपने ही समाज की एक अनिष्ठ रूढ़ि तोड़ने में एक अत्यंत महत्व की संस्था की बलि देनी पड़े तो उसके लिए भी हमें तैयार रहना चाहिए। पर संस्था आपकी है। आपकी सम्मति के बिना मैं कुछ नहीं कर सकता। जिम्मेदारी मैं उठाऊंगा। आपका नैतिक समर्थन मेरे पीछे हो इतना ही मेरे लिए काफी है। मैं और कुछ नहीं चाहता।'

इस प्रकार पहले अपने हाथ मजबूत करके काका साहब ने दूसरे दिन कह दिया, 'कल से परोसने का काम गुजराती ब्राह्मण विद्यार्थी करेंगे।'

सुधार बिलकुल छोटा था। जातियां तोड़ने की बात इसमे नहीं थी। न ही अब्राह्मणों के हाथ का खाना खाने की बात थी, केवल ब्राह्मण-ब्राह्मणों के बीच का प्रादेशिक भेदभाव दूर करने की बात थी। पर इसका परिणाम ऐसा हुआ कि मानो गंगनाथ विद्यालय पर बम गिर पड़ा हो। सबसे पहले मद्रासी ब्राह्मण रसोइए इस्तीफा देकर चले गए। सबको काका साहब ने एक-एक महीने का वेतन देकर विदा किया। उनकी जगह गुजराती ब्राह्मण रसोइए नियुक्त किए गए। यह ब्राह्मण पाककला में उतने निपुण नहीं थे, जितने मद्रासी ब्राह्मण थे। वे जो पकाते थे वह किसी को पसंद नहीं आता था। रसोई बनाने का काम गुजराती, ब्राह्मण कर रहे हैं, यह देखकर महाराष्ट्रीय ब्राह्मण विद्यार्थी कहने लगे, 'हम तो गुजराती ब्राह्मणों के हाथ का नहीं खा सकते।'

काका साहब ने कहा, 'यहां रहना है तो खाना पड़ेगा।' और मन-ही-मन कहा, 'ईश्वर का नाम लेकर शुद्ध हिन्दू धर्म के नाम से मैंने यह कदम उठाया है। पीछे हटना ही नहीं है, भले सभी विद्यार्थी चले जाएं।' वही हुआ। एक के बाद एक सभी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण विद्यार्थी चले गए। विद्यार्थियों में इन्हीं की संख्या बड़ी थी। उनकी हिजरत से छात्रालय वीरान-सा मालूम होने लगा, पर काका साहब अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। इतने में संस्कृत के शिक्षक चिंतामण

शास्त्री जोशी आकर कहने लगे, 'काका साहब, मैं भी छात्रालय मे भोजन नही कर सकता ।'

काका साहब इस आघात के लिए तैयार नही थे । उनका तो मानो दिल ही टूट गया । गिड़गिड़ाकर बोले, 'आबा (जोशी जी को सभी इसी नाम से पुकारते थे) मैं आपको खोना नही चाहता । आप मेरे यहां भोजन कीजिए ।' (काका साहब अब तक अपने परिवार के साथ अलग मकान मे रहने लगे थे) मै महाराष्ट्रीय ब्राह्मण हूं । पर हा, गौड़ सारस्वत हूं । वहां महाराष्ट्र मे आपके जैसे कोकणस्थ ब्राह्मण हम जैसे सारस्वतों के यहां खाना नही खाते । पर आपको आपत्ति नही होनी चाहिए । मैं शाकाहारी ही हू । अगर आपत्ति हो तो उटगी-कर शास्त्री के यहा खाइए । वे कर्नाटकी ब्राह्मण हैं । तीसरा पर्याय यह है कि आप अपने हाथ से बनाकर खाइए । पर कृपया विद्यालय न छोड़ें ।'

शास्त्री जी अपने हाथ से बनाकर खाने लगे ।

काका साहब का एक प्रिय विद्यार्थी था, जो महाराष्ट्रीय था । वह अब तक छात्रालय मे टिका हुआ था । वह भी एक दिन आकर कहने लगा, 'मुझे तो गुज-राती ब्राह्मण के हाथ का खाने मे कोई आपत्ति नही है, पर घर के लोगो को है । वे तो विद्यालय से मुझे उठाकर दूसरे स्कूल मे भर्ती कराने की बातें करते हैं ।'

काका साहब ने कहा, 'छात्रालय के नियमो को बदला नही जाएगा । तू या तो मेरे यहा आ जा या शास्त्री जी के पास चला जा । उन्हे तेरी मदद भी होगी ।'

दो ही दिन मे विद्यालय सुनसान हो गया । बडौदा मे सब जगह खलबली मच गई । घर-घर मे यही एक चर्चा चलती रही । पर काका साहब दृढ रहे । अंत में उनकी दृढता की विजय हुई । एक सप्ताह के अंदर ही दो महाराष्ट्रीय विद्यार्थी लौट आए । दो चार दिनो मे और कई आए । कुछ ही दिनों के अंदर संस्था पहले के जैसी ही चलने लगी । तकलीफ इतनी ही हुई कि नए रसोइयो को तालीम देने मे काका साहब को काफी मेहनत उठानी पड़ी ।

पर एक बड़ी हानि हुई । नाना के मन मे काका के प्रति पहले से ही जो कड़-वाहट पैठ गई थी, वह अब और बढ़ गई और वे गगनाथ छोडकर चले गए ।

काका साहब कहते हैं :

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में हिन्दू समाज कितना पिछड़ा हुआ और रूढ़िग्रस्त था और हम जैसे क्रांति में विश्वास रखने वालों को समाज में रहकर उसको धीरे-धीरे आगे बढ़ाने के लिए कितना धैर्य रखना पड़ता था, इसका यह एक उदाहरण था ।

मामा फड़के

नाना के जाने के बाद प्रश्न उपस्थित हुआ : अब छात्रालय की व्यवस्था किसको सौंपी जाए ? विद्यालय मे जो काम करते थे उनके अपने-अपने काम थे । इसलिए राष्ट्रीय वृत्ति के एक आदमी की खोज शुरू हुई ।

एक दिन केशवराव ने ही काका साहब से पूछा, आप बेलगांव के अपने मित्र गुणाजी को क्यों नहीं बुलाते ?

सुझाव सुनकर काका साहब खुशी से उछल पडे । गुणाजी का और उनका साहित्य सहयोग बेलगांव में शुरू हुआ था । दोनो एक-दूसरे के घनिष्ट मित्र बन चुके थे । वे अगर यहां आएं तो साहित्य की सेवा का भी काम अच्छी तरह से हो सकेगा, यों सोचकर उन्होंने केशवराव का सुझाव सहर्ष स्वीकार कर लिया और गुणाजी को तुरंत पत्र लिखा ।

गुणाजी उधेड़बुन में पड गए । उनके सिर पर परिवार की जिम्मेदारिया थी । इन जिम्मेदारियों से वे उदासीन नही रह सकते थे । इन जिम्मेदारियों का बोझ एक राष्ट्रीय संस्था पर डालना कहां तक उचित होगा ? और एक राष्ट्रीय संस्था का कमाऊ-खाऊ वेतन लेकर परिवार के लोगों को किफायतशारी का जीवन बिताने को कहना कहां तक सम्भव होगा ? इस असमंजस मे वे कोई निर्णय नही ले पाए । उन्होंने जवाब ही नही भेजा ।

गुणाजी के जवाब की प्रतीक्षा करते-करते केशवराव और काका साहब दोनों थक गए । केशवराव को लगा कि शायद काका साहब को ही विशेष उत्साह नहीं है, इसलिए वे आग्रह नही करते । केशवराव ने जब अपना यह संदेह काका साहब के सामने प्रकट किया, तब काका साहब को दुःख हुआ । उन्होंने गुणाजी को अल्टीमेटम जैसा पत्र लिखा, तब गुणाजी का प्रांजल जवाब आया : 'मुझे

गंगनाथ विद्यालय में काम करने मे बडी खुशी होगी। पर मैं परिवार को अड़चन में डालना नही चाहता। आप अपने कार्यकर्ताओं को जो वेतन देते हैं, उससे दुगुना वेतन अगर मुझे दे, रहने के लिए मकान, आने-जाने का किराया और एक साल का आश्वासन दे सकें तो अपने परिवार को लेकर बड़ी खुशी से आऊगा।'

केशवराव ने तुरंत जवाब भिजवाया : 'आ जाइए।'

गुणाजी अपने परिवार को लेकर आ गए। साथ मे गोवा के रामभाऊ कामत और नारायण कड़कडे नामक दो साथियों को भी ले आए। रामभाऊ के साथ उनकी विधवा बहन शातावाई थी, जो रामभाऊ की तरह सत-साहित्य मे रुचि रखती थी। साफ-सुथरे ढंग से रहती थी। रामभाऊ मराठी संत-साहित्य मे पारंगत थे, पर अवतारवादी अधिक थे और नारायण कडकडे कुछ योगासन जानते थे। गुणाजी उनको मजाक मे योगीराज के नाम से पुकारते थे, पर बहुत गैर-जिम्मेदार व्यक्ति थे।

केशवराव ने गुणाजी के साथ रामभाऊ और कडकड़े को गगनाथ विद्यालय मे समाविष्ट कर लिया। तीनो छात्रालय मे रहने लगे।

गुणाजी के आगमन से काका साहब का और उनका साहित्य सहयोग भी बढ़ा। काका साहब ने इन दिनो अमरीका के नीग्रो नेता बूकर टी वाशिंगटन की दो पुस्तके पढ़ी थी। एक थी : 'अप फ्राम स्लेवरी' और दूसरी थी : 'माई लार्जर एजूकेशन'। दोनो से काका साहब बहुत प्रभावित हुए थे। गुणाजी के सहयोग मे उन्होने दोनो पुस्तको का मराठी अनुवाद कर डाला। यही नही, इनमे से 'माई लार्जर एजूकेशन' के हर अध्याय पर अपना स्वतंत्र मनन भी लिखवाया और दोनों पुस्तकें प्रकाशित करवा ली। मराठी संत-साहित्य का अध्ययन मनन-चिंतन भी अब अधिक उत्कटता के साथ होने लगा।

रोज शाम को केशवराव के यहां जाना काका साहब का नित्यक्रम था। इन बैठकों मे दोनों के बीच देश के प्रश्नो को लेकर काफी चर्चाएं हुआ करती थी। देश की असहाय स्थिति और सरकारी दमन नीति से दोनो व्याकुल थे। ऐसी ही एक चर्चा मे एक दिन काका साहब उत्तेजित होकर बोले, 'यह सब सहा नही जाता। हमें अपने अधिकारो के लिए सरकार से लड़ते रहना चाहिए।' लड़ने की मस्ती केशवराव में कम नही थी। पर वे बंग-भंग के आंदोलन का परिणाम

देख चुके थे। देशवासियों की प्रतिकार-शक्ति बिलकुल रसातल को जा पहुंची है, इस नतीजे पर भी वे आ चुके थे। इसलिए उन्हें फिलहाल किसी भी प्रकार की लड़ाई में रुचि नहीं थी। लोगों की प्रतिकार-शक्ति बढ़ाने के दूसरे रचनात्मक उपाय खोजने मे वे फिलहाल संलग्न थे। आम जनता के लिए उपयोगी हो सकें ऐसे उद्योग खड़े करना, इन उद्योगों मे खुद प्रवीण होना, दूसरों को भी प्रवीण करना, इन उद्योगों के द्वारा विविध प्रकार के लोगों से परिचय बढ़ाना और गुणी लोगों का संग्रह करना—ऐसे ही काम मे वे अपना दिमाग चलाते थे। काका साहब के मुह से जब यह लडने की बात निकल पड़ी तब वे अकुलाकर बोले, 'आप सरकार के पास उसके ही विरुद्ध शिकायतें लेकर जाना चाहते हैं क्या? आप जो न्याय चाहते हैं, वह क्या इसी सरकार से आपको मिलेगा? यह मत भूलना कि आप आज गुलाम हैं। गुलामो को कोई अधिकार नहीं होता, उनका आज एक ही अधिकार है: गुलाम रहने का। यह लड़ने-वडने की बात दिमाग मे निकाल दो। सिर नीचा करके चुपचाप लोगों की सेवा करते रहो, सेवा के द्वारा आम जनता का विश्वास सम्पादन करो, मनुष्य-बल बढ़ाओ। फिलहाल यही कार्यक्रम हमे चलाना है, वरना राष्ट्र मे शक्ति प्रकट नही होगी। बिना शक्ति के क्या लड़ाई करेंगे हम? फिलहाल तो चुपचाप सब-कुछ सहना होगा। आवश्यक हुई तो हार भी कबूल करनी होगी। अपनी कार्य-शक्ति और बहादुरी बढ़ाने के बारे मे सरकार के मन मे किसी भी प्रकार का संदेह पैदा न होने दें।'

केशवराव के दिल मे ज्वालामुखी भभक रहा था, पर उनका दिमाग हिमालय की तरह शांत था। यह एक अद्भुत मिश्रण था।

गंगनाथ विद्यालय पर सरकार की वक्रदृष्टि न पडने पाए, इसलिए वे सब तरह की सावधानी बरतते आए थे।

पर सूरज को क्या घने बादल कभी छिपा सके हैं? गंगनाथ विद्यालय के स्वयं शिक्षकों का त्यागी समर्पित जीवन, उनका भूतकाल, केशवराव की क्रांतिकारी मनोवृत्ति और बाबू अरविन्द घोष से उनकी घनिष्ट मैत्री, यही असलियत गंगनाथ विद्यालय पर सरकार की वक्रदृष्टि पड़ने के लिए पर्याप्त थी। एक दिन अंग्रेजों के खुफिया विभाग का एक अफसर बड़ोदा आया। गंगनाथ विद्यालय भी देखने आया। यहां क्या पढ़ाया जाता है, शिक्षक कौन हैं, कहां से आए हैं, पाठ्य पुस्तकें कौन-सी लगाई गई हैं, सबकी उसने जांच-पड़ताल की। ऊपर से

तो उसे सब-कुछ निर्दोष मालूम हुआ। राजद्रोह का उसे यहा कोई नामोनिशान नही मिला। पर यहां कुछ भी आपत्तिजनक नही है, यह कहने के लिए वह अफसर भोला नही था। उसने सरकार को अपनी गुप्त रिपोर्ट दे दी और गंगनाथ विद्यालय की ओर सजग रहने की सरकार को सलाह भी दी। केशवराव को भी उसने सलाह दी कि आपकी संस्था ऊपर से भले ही निर्दोष मालूम हो, पर सस्था के उद्देश्यों से सरकार अपरिचित नही है। शिक्षको के भूतकाल स भी सरकार परिचित है। इनमे मामा फड़के को तो सरकार बहुत अच्छी तरह से जानती है। वे उग्र क्रांतिकारी है। उनका सावरकर से घनिष्ट सम्बंध है। उन्होने जो जगह-जगह भाषण दिए थे, उनकी रिपोर्ट भी हमारे पास है। अच्छा होगा कि यदि आप उन्हे सस्था से अलग कर दे। यदि उन्हे आप अलग नही कर सकते हो तो कम-से-कम उनको इतिहास पढाने का काम न दे।

केशवराव चिंतित हुए। उन्होंने मामा को ही बुलाकर पूछा, 'इस हालत मे हमे क्या करना चाहिए, आप ही बताइए।'

तेजस्वी मामा ने जवाब दिया, 'मै नही चाहता कि मेरे कारण सस्था की हानि हो। आप मुझे कल के बदले आज ही मुक्त कर दें।'

मामा ने उसी क्षण केशवराव के हाथ मे त्याग-पत्र थमा दिया और केशवराव ने मजबूरी से त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया। सस्था के व्यवस्थापको मे बड़ौदा रियासत के कुछ अधिकारी भी थे, उनके भी कुछ दवाब के कारण केशवराव को मामा का त्याग-पत्र स्वीकार करना पडा।

खुफिया पुलिस का एक अफसर आया, सस्था मे भेंट की, इधर-उधर की बातें की, सलाह दी और संस्था अपने एक अच्छे से-अच्छे कार्यकर्ता को खो बैठी, यह सब काका साहब से सहा नही गया। वे सख्त नाराज हो गए। उन्होने अपनी नाराजगी साथियों के सामने प्रकट कर दी। उनकी नाराजगी के समाचार दातार शास्त्री ने केशवराव के पास पहुचा दिए। शाम को नित्य-क्रम के अनुसार काका साहब जब मिलने गए, केशवराव ने उनसे पूछा, 'क्या यह सच है कि आप नाराज हो गए हैं?'

'जी।'

'मैंने तो आपसे कहा था कि हमें फिलहाल नहीं लड़ना है। मामा का इस्तीफा स्वीकार करके मुझे थोड़े ही खुशी हुई है, पर मैं क्या करूं? फिलहाल यह अन्याय हमे सहना ही होगा।'

'मैं आपकी भूमिका जानता हूं।' काका साहब ने जवाब दिया, 'पर मेरी भूमिका बिलकुल अलग है।'

'आपकी क्या भूमिका है?' केशवराव ने पूछा।

बताता हू, कह कर काका साहब ने अपनी दलील पेश की और कहा, हम सभी शिक्षको को सरकार अच्छी तरह जानती है। आज मामा को हटाने की सलाह सरकार ने आपको दी, कल और किसी को हटाने की देगी। फिर गंगनाथ विद्यालय ही बंद करने की सलाह देगी। मै मामा को अपने किले की सबसे बाहर की दीवार मानता हूं। यह दीवार तोड़ने मे सरकार को सफलता नही मिलनी चाहिए थी। बाहर की दीवार से जब तक लड सकते थे, हमें लड़ना चाहिए था। जब तक सरकार का ध्यान बाहर की दीवार पर है, भीतर की सभी दीवारे सुरक्षित थी। इसलिए मुझे लगा कि हमने यह बाहर की दीवार तोड़ने दी, अच्छा नही किया। अब दूसरी दीवार पर धावा बोल दिया जाएगा। मामा के बारे में सरकार के मन में जो गलतफहमी है, उसे दूर करने के लिए हम तैयार हैं, इस तरह का कुछ जवाब देकर 'अशुभस्य कालहरणम्' की नीति का हमें आश्रय लेना चाहिए था। अब तो पूरी संस्था ही खतरे मे है।

केशवराव बोले, 'आपका यह दृष्टिकोण समझ मे आता है। पर अब तो देरी हो गई है।'

खैर, मामा संस्था से मुक्त तो हो गए और बड़ौदा के अपने एक मित्र भवसुखराम शुक्लजी के यहा रहने के लिए चले गए। पर न केशवराव, न ही काका साहब उनको खोना चाहते थे। इसलिए काफी प्रयत्नों के बाद दोनों ने मामा को एक सज्जन के यहां, निजी शिक्षक का काम दिला दिया और तात्कालिक चिंता तो दूर हुई, आगे देखा जाएगा, इस तरह संतोष कर लिया।

मामा उस सज्जन के यहा गए। एक जवान लड़की को पढ़ाने का काम था। पहले ही दिन एक घंटा पढ़ाने के बाद मामा उस लड़की के पिताजी से मिले और बोले, आपने अपनी जवान बेटी को पढ़ाने का काम मुझ-जैसे एक जवान को

सौंपा है, इसमें मुझ पर और केशवराव जैसे मेरे अभिभावकों पर आपका विश्वास प्रकट होता है। इसलिए मैं आपका आभारी हूं। पर मेरी पक्की राय है कि किसी युवक को किसी युवती को पढ़ाने का काम नही करना चाहिए। इसलिए कल से मैं आपकी बेटी को पढ़ाने के लिए नही आऊंगा।

बड़ी मुसीबत से मिली नौकरी मामा ने उसी क्षण छोड़ दी। केशवराव बहुत नाराज हुए। काका साहब को तो लगभग गुस्सा ही आ गया, पर क्या करते? मामा जैसे चरित्रवान देश-सेवक के प्रति दोनों उदासीन नही रह सकते थे।

काफी सोचने के बाद काका साहब ने मामा से कहा, 'देखिए मामा, यूरोप के कई विद्वान हिन्दू धर्म को ब्राह्मण-धर्म कहते है। उनका उद्देश्य चाहे जो रहा हो, उनकी बात तो सही है। वेदकाल से चले आए इस सनातन धर्म म जो भी कुछ भव्य, उदात्त, दिव्य दिखाई देता है, उसके लिए केवल ब्राह्मण ही (कुछ हद तक क्षत्रिय भी) जिम्मेदार हैं और इस सार्वभौम धर्म मे जो दोष, कमजोरिया, विकृतिया दिखाई देती हैं उनके लिए भी हम ब्राह्मण ही विशेष रूप मे जिम्मेदार हैं। फलस्वरूप इस धर्म को सुधारने की जिम्मेदारी भी ब्राह्मणो पर आ पड़ती है। पुरानी स्मृतिया पढ़ता हू, तब हिन्दू धर्म की भव्यता और ब्राह्मण आदर्श की लोकोत्तर धार्मिकता देखकर गौरव का अनुभव करता हू। पर जब शूद्रो की वर्तमान हालत देखता हूं, खास तौर से अत्यजो के प्रति हमी ब्राह्मणो ने जो अत्याचार किए है, उनके बारे मे सोचता हूं, तब घृणा अनुभव करता हू। अत्यज आज जिस स्थिति में हैं, उसके लिए हम ब्राह्मण सबसे अधिक जिम्मेदार हैं। यह पाप धोने का काम हमे ही करना होगा। आप यदि अत्यजों की सेवा मे लग जाएं, तो आपका ब्राह्मण-जन्म सफल होगा।

मामा खुशी के मारे उछल पडे। बोले, आप तो मेरे दिल की ही बात कह रहे हैं। मैं भी कहता आया हूं कि 'त्रयाणाम धूर्तानाम्' ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यो ने षड्यंत्र रचकर अत्यजों पर अन्याय किया है।

मामा का यह उत्साह देखकर काका साहब खुश हो गए। बोले, सयाजीराव ने अंत्यजों के लिए पाठशालाए खोल दी हैं। पर उनकी यही व्यथा है कि इन पाठशालाओं मे पढ़ाने के लिए उन्हे हिन्दू शिक्षक नही मिलते। मुसलमानों को नियुक्त करना पड़ता है। क्या आप इनमे से किसी एक पाठशाला मे काम करने के लिए तैयार हैं?

'जी, तैयार हूं।'

'केशवराव से इस संबंध में बातें करूं ?'

'जी, अवश्य कीजिए।'

काका साहब ने केशवराव से बात की। केशवराव बेहद खुश हुए। उन्होंने तुरंत शिक्षा विभाग के अधिकारी को चिट्ठी लिख दी। मामा यह चिट्ठी लेकर शिक्षा विभाग में गए। राज सयाजीराव का था सही, पर राज चलाने वाले छोटे-बड़े नौकर सनातनी थे। अंत्यजों की पाठशाला में एक ब्राह्मण पढ़ाने जाएं, यह उनके लिए असह्य था। उन्होंने तरह-तरह के रोड़े अटकाना शुरू कर दिया। नाम पूछा तब वह महाराष्ट्रीय मालूम हुआ। इसलिए पहले गुजराती भाषा की परीक्षा ली। फिर 'क्वालिफिकेशन' पूछी। मामा के पास प्रचलित शिक्षा का अभाव, यही एक क्वालिफिकेशन थी। यह क्वालिफिकेशन की बात शिक्षा विभाग के लिए अनुकूल आई। मामा काफी भटके, पर नौकरी नहीं मिली। बडौदा का सारा शिक्षा विभाग मामा को यह नौकरी न मिले, इस प्रयत्न में लग गया। अंत में केशवराव को दीवान के पास जाना पड़ा। उन दिनों मि० सेडन नाम के एक अंग्रेज आई० सी० एस० बडौदा नरेश के दीवान थे। केशवराव ने उनसे कहा, 'मामा फडके का किस्सा आपके कानों तक पहुंच गया है। हमने उनको गंगनाथ विद्यालय से मुक्त कर दिया है, पर ऐसे युवक को बेकार भटकने देना खतरनाक है। उन्हें अंत्यजों की पाठशाला में नौकरी देना, इसी में बुद्धिमानी है।

केशवराव की दलील इस अंग्रेज के दिमाग मे बैठ गई। उसकी सिफारिश से मामा को महीनों बाद नौकरी मिली। मासिक दस रुपये का वेतन लेकर वे एक अंत्यज पाठशाला मे अंग्रेजी पढाने लगे। एक महीने के अंदर ही उनका तबादला अंत्यजों की प्रमुख पाठशाला में हुआ और उन्हें पच्चीस रुपये मासिक वेतन मिलने लगा।

अब सवाल पैदा हुआ, मामा रहें कहां ? बड़ौदा के कर्मकांडी सनातनी लोगों की एक गली में वे रहते थे। अब यह मालूम होने के बाद कि वे अंत्यजों की पाठशाला में पढ़ाने जाते हैं, उनको इस गली में रहने कौन दे ? काका साहब ने मामा को कहा, 'देखिए मामा, अब समाज से टकराव लेना होगा। आप जहां फिलहाल रहते हैं, उस गली के लोग आपको अब वहां रहने नहीं देंगे। आपको चाहे जो बलिदान देना पड़े, पर इसी गली में ही रहना चाहिए और साथ-साथ अंत्यजों

की खुले आम सेवा करके सेवा की एक उत्तम मिसाल पेश करनी चाहिए। आप अंत्यजों की सेवा भी न छोड़ें और यह गली भी न छोड़ें। समाज के सामने आपको नम्र भी रहना है और दृढ़ भी रहना है।'

'इसके लिए आप क्या उपाय सुझाते हैं ?' मामा ने पूछा।

'मैं एक ही उपाय सुझाता हूं।' काका साहब ने जवाब दिया। 'आप जब पाठशाला से लौटकर आएं तब गली के सब लोग देख सकें, इस प्रकार रास्ते के किनारे स्नान करें। इसके बाद ही घर में प्रवेश करें। कोई आपत्ति नहीं उठाएगा। लोग चाहे गुस्सा हों, पर आपको गली से बाहर निकाल नहीं सकेंगे। काका साहब कहते हैं :

> आज इस बात पर कोई विश्वास नहीं करेगा कि स्नान करके घर में प्रवेश करने की सलाह काका साहब ने दी थी और मामा ने वह मान ली थी। दोनों उन दिनों भी आज जैसे ही कट्टर सुधारक थे। पर हम समाज को साथ लेकर सुधार करते थे। इसीलिए हमने यह नीति अपनाई थी। इस नीति के कारण ही लोग यह मानने लगे कि मामा अंत्यज सेवा की अपनी निष्ठा में दृढ़ हैं और समाज के भावों-मनोभावों की भी कद्र करके समाज को चाहने वाले हैं। उन दिनों यही नीति हम अपना सकते थे। आज अगर मुझे कोई पूछे तो मैं कहूंगा, अंत्यजों को छू लिया इसलिए स्नान करना यही बड़ा पाप है। अंत्यजों को जान-बूझकर छूना ही पुराने पाप का प्रायश्चित है।

मामा का काम देखने के लिए एक बार काका साहब उनकी पाठशाला में गए थे। साथ में बच्चों के लिए मिठाई ले गए। मिठाई का पुड़ा उन्होंने मामा के हाथ में रखा तब वे बोले, 'मिठाई के बदले आप किताबें देते तो अच्छा होता।'

काका साहब ने जवाब दिया, 'किताबों का महत्त्व मैं भी जानता हूं। लड़कों को मिठाई खिलाने के भी मैं विरुद्ध हूं। पर यह सब अंत्यज विद्यार्थी है। बेचारों के बाप-दादाओं ने भी शिक्षा का नाम नहीं सुना था। शिक्षा के प्रति उनके मन में आकर्षण कहां से हो और किताबों का महत्त्व वे क्या जानें ? वे तो इतना ही याद रखेंगे कि हमारी पाठशाला में एक ब्राह्मण शिक्षक थे, उनके एक ब्राह्मण मित्र ने हमें मिठाई खिलाई थी। इतना ही उन्हें याद रहे यही मैं चाहता हूं।'

कितनी अजीब बात है ! जिन मामा को सरकार ने राजद्रोही सिद्ध करके गंगनाथ विद्यालय से मुक्त करने के लिए केशवराव को बाध्य किया था, उन्ही मामा के विरुद्ध उन्ही के एक साथी ने आकर एक दिन काका साहब से कहा, 'काका साहब आप जानते हैं कि मामा अंग्रेजों के सी० आई० डी० के आदमी हैं ?'

'आपको किसने बताया ?' काका साहब ने आश्चर्य से पूछा ।

'आप क्या पूछते हैं ? वे रंगे हाथ पकड़े गए हैं । उन्होंने फलां भाई के विरुद्ध मे पुलिस विभाग को रिपोर्ट दी । फलस्वरूप पुलिस के लोग उनके यहां आए, उनके मकान की तलाशी ली । उनके यहा राजद्रोही पुस्तके मिली, जो जब्त कर ली गई हैं ।'

यह सब सुनकर काका साहब को बडा आघात लगा । क्या, मामा ऐसे धोखे-बाज हो सकते हैं ? उन्होंने अपने आपसे पूछा और खुद ही अपने आपको जवाब दिया, 'कभी नही ।' दूसरे दिन मामा उनके यहां आए । काका साहब ने उनसे पूछा, 'मामा यह सब क्या है ? क्या आप सी० आई० डी० के आदमी है ?'

मामा आश्चर्यचकित होकर काका साहब की ओर देखते रहे । फिर जब काका साहब ने पूरा तोहमतनामा उनको सुनाया, मामा जोर से हस पड़े ।

बात ऐसी थी मामा को साहित्य का असाधारण शौक था । पुस्तकें देखकर पागल हो जाते थे । राष्ट्र-कार्य मे लगे हुए आदमी के पास पुस्तकें खरीदने के लिए पैसे कहां से आए ? इसलिए मामा एक सज्जन के यहां गए, जो पुस्तके बेचते थे और उनसे कुछ पुस्तकें मागी, जिन पर सरकार ने प्रतिबध लगाया हुआ था । मामा जैसे राष्ट्र सेवक को पुस्तके देने मे उस सज्जन को आपत्ति नही थी । इसलिए मामा ने जो किताबें मांगी थी, सब इकट्ठा करके ब्राउन पेपर में ठीक बांधकर उनको दे दी । मामा ने पूरा बंडल लाकर घर मे रख दिया था, उसे खोला तक नहीं था । खोलने के लिए समय नही मिला था ।

और मामा पर यह इल्जाम था कि उन्होंने पुस्तकों के राजद्रोही हिस्सों पर निशान लगाकर पुलिस को सौंप दी हैं ।

मामा सीधे उस सज्जन के यहां गए, जिन्होंने उनके विरुद्ध काका साहब से शिकायत की थी । उन्हें अपने घर ले आए और पुस्तकों का बंडल उनके हाथ में

सौपकर कहा, 'चलिए, पुस्तक विक्रेता के यहा जाकर और उन्ही से स्पष्टीकरण मागेंगे।'

पुस्तक विक्रेता ने कहा, 'यह बडल तो मैंने जैसा बाधा था, वैसा ही है, किसी ने खोला तक नही है।'

बात साफ तो हो गई, पर मामा के बारे मे जो कानाफूसी शुरू हुई थी वह फैलती ही रही। कानाफूसियों पर हमारा झट विश्वास बैठ जाता है। हमारा यह राष्ट्रीय स्वभाव है। मामा को बरसो तक कई लोग सी०आई०डी० के ही आदमी मानते रहे। यहा तक कि कुछ साल बाद वे गाधीजी के आश्रम मे शरीक हुए, तब भी किसी ने आकर गांधीजी से कहा, 'आप मामा को नही जानते, वे सी० आई० डी० के आदमी हैं।'

गांधीजी का ऐसी बातो पर कभी विश्वास नही था। वे मनुष्यो को अच्छी तरह परख लेते थे। उन्होने जवाब दिया, 'भले हो, मुझे कोई आपत्ति नही है। मेरे पास छुपाने का है ही क्या ?'

फिर एक दिन उन्होने काका साहब से पूछा, 'मामा के बारे म लोग जो बोलते है, इसका कारण क्या है ?'

काका साहब ने सारा किस्सा गाधीजी को सुना दिया।

गृहस्थी

विद्यालय का पहला सत्र शुरू होते ही काका साहब, जो केशवरावजी के यहा ठहरे थे, अलग रहने लगे। विद्यालय के नजदीक ही संस्था की अपनी जमीन थी। उस जमीन पर उनके लिए एक मकान बनवाया गया। मकान काहे का, टीन की छप्परवाली एक छोटी-सी कुटिया ही थी। उसके भी दो हिस्से बनाए गए थे। एक मे काका साहब रहने लगे, दूसरे मे अन्य एक शिक्षक। इस कुटिया मे प्रवेश करते ही काका साहब ने अपने भाई नाना को (गोंदू को) चिट्ठी लिखी और पत्नी तथा छोटे शंकर को बड़ौदा बुला लिया।

विवाह के बाद पहली बार उन्होने अपनी स्वतंत्र गृहस्थी यही बसाई और गंगनाथ विद्यालय की प्रथा के अनुसार काका की पत्नी यही काकी कहलाई।

काकी उस जमाने की सारस्वत समाज की अन्य महिलाओं जैसी थी। विशेष पढ़ी-लिखी नही थी। अपनी मातृभाषा मराठी भी वह अच्छी तरह से लिख नही सकती थी। इस पर उनका पाला ऐसे एक पति से पड़ा था, जो वेदांत और देशभक्ति के आदर्शों से अनुप्राणित थे और जो आम पतियों से बिलकुल अलग कोटि के थे। काकी को पति के आदर्शों के प्रति विशेष आकर्षण नही था। यही नही, बल्कि एक प्रकार की अश्रद्धा ही थी। कुछ बातें उनकी समझ मे नही आती थी और कुछ बातें उन्हे पसद भी नही थी। फलस्वरूप पति-पत्नी के बीच शुरू से ही एक प्रकार का अतर बना रहा, जो दिन-ब-दिन बढ़ता ही गया था। इससे परस्पर अनुकूल होने के लिए दोनो को काफी सहन करना पडता था। काका साहब कहते है

> जहा तक मुझे याद है, कालेज के पहले वर्ष की छुट्टियो मे मैं पूना से घर लौटा, उसी समय मै काकी को कुछ-कुछ पहचान सका। उस समय तक काकी से मेरी बातचीत तक नही हुई थी। हुकम के रूप मे मै कभी कुछ उसे कह देता, पर वह तो बेचारी कुछ भी बोल न पाती थी। दूसरे वर्ष पूना लौटते ही नाना (गोदू) के द्वारा मैने उससे पत्र-व्यवहार शुरू किया। उसके बिलकुल छोटे जवाब आते और उसमे भी मराठी की काफी अशुद्धिया रहती। मैन सोचा, छुट्टियो मे मै घर लौटूगा तब उसे पहले मराठी पढाऊगा। मराठी के अच्छे साहित्य के प्रति उसके मन मे रूचि पैदा करूंगा, धीरे-धीरे कविताओ तक ले चलूगा। मैंने काफी प्रयत्न किए, पर मेरे सभी प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए। मैं निराश होता गया। मैंने देखा कि पढ़ाई तो होती नही, उल्टे पढ़ाई के कारण मन मे जो निराशा पैदा होती है, वह हमारे बीच के सम्बधो का स्वाभाविक रस ही सुखा देती है। इसलिए मैंने उसे पढ़ाने के सारे प्रयत्न छोड़ दिए। बार-बार फेल होने पर विद्यार्थी जैसे स्कूल ही छोड़ देते हैं, वैसा ही कुछ मुझे महसूस हुआ और मै उसके प्रति विरक्त हो गया। इस विरक्ति के कारण हम दोनो के बीच एक बड़ी खाई पैदा हो गई। बाद में मुझ पर देश-सेवा की धुन सवार हुई, उससे तो वह कभी भी एकरम न हो सकी। आखिर काफी सोचकर मैंने तय किया कि वैवाहिक जीवन और देश-सेवा का आदर्श, दोनो का मेल बैठना कठिन है। मैंने उससे ज्यादा उम्मीदें नही रखी थी। मामूली संस्कारी रसिकता की

ही उम्मीद रखी थी। वह भी जब मुझे मुश्किल-सी मालूम हुई, मैंने अपने सारे स्वप्न छोड़ दिए और उसकी भूमिका पर उसे जिस तरह संतोष हो उसी तरह पेश आने का निश्चय किया। मेरी इस निराग्रही वृत्ति के कारण हम दोनों के बीच कुछ शांति स्थापित हो सकी। काकी का संकोच दूर हुआ और वह अपनी शक्तिके अनुमार मेरी भूमिका समझने की और उसे अपनाने की कोशिश भी करने लगी।[1]

पति-पत्नी का जीवन स्वाभाविक रूप से परस्पर इतना ओत-प्रोत होता है कि उनके बीच के अतर भी धीरे-धीरे दूर हो जाते हैं और जो अंतर रह जाता है उसकी दोनों को इतनी आदत पड़ जाती है कि अंतर-सा दिखाई नही देता है। विवाह का मतलब केवल परस्पर उत्कट प्रेम ही नही, बल्कि एक-दूसरे को समझकर परस्पर अनुकूल होना भी है। परस्पर अनुकूल होने की कला हस्तगत करने में ही वैवाहिक जीवन की मफलता निर्भर है। काका साहब ने अपनी ओर से काकी के अनुकूल बनने के लिए अपने जीवन मे कुछ परिवर्तन अवश्य किए, पर काका के अनुकूल बनने के लिए काकी को जो कष्ट सहन करने पड़े, उसकी कल्पना भी करना कठिन है। काकी के बचपन की दुनिया अलग कोटि की थी। शाहपुर के सर्राफों के वायुमंडल में उनकी परवरिश हुई थी। प्रेम, सुख, कौटुंबिक जीवन, कुटुंब की प्रतिष्ठा आदि हर बात मे उनकी कल्पनाए अलग कोटि की थी। उन्होंने कई तरह के स्वप्नों का सेवन किया था। सभी स्वप्नों का विसर्जन करना, नई परिस्थिति को सह लेना, उसे निभा लेना और 'यही जीवन अच्छा है' इस तरह अपने को समझाना और इस नए जीवन का रसास्वाद लेना, यह उनके लिए एक तरह का पुनर्जीवन ही था।

पुनर्जन्म से पुनर्जीवन के कष्ट अधिक होते हैं।

यहां बड़ौदा में घर में कोई बुर्जुग नहीं था, इसलिए यहां वाद-विवाद के लिए दोनों को काफी गुंजाइश मिलने लगी। कभी-कभी तो दोनों के बीच इतनी गरमागरम बहस हुआ करती कि अगर कोई पराया आ जाता तो उनकी बहस सुनकर उसे यही लगता, वे लड़ तो नही रहे हैं?

1. लेखक के साथ बातचीत से।

कुछ दिनों मे काका साहब अपनी मौसी को बडोदा ले आए । मौसी को काशी-यात्रा की धुन लगी थी, पर किसके साथ यह यात्रा करे ? काका साहब ने कहा, मुझे काशी जाकर पिताजी की अस्थियो का विसंजन करना है, तब तुम्हें भी साथ में ले चलूगा । तब तक तुम बडोदा मे मेरे यहां रहो । मौसी के लिए यह एक बहुत बडा प्रलोभन था, इसलिए वह बड़ोदा आ गई थी । इस बीच एक बार केशवरावजी के घर के लोग द्वारकाजी की यात्रा करने गए थे । उनके साथ काका साहब ने मौसी को भेज दिया था । इससे मौसी बहुत खुश थी । क्योकि शाहपुर के उसके रिश्तेदारों मे काशी यात्रा करके आए हुए कोई-न-कोई थे, पर द्वारिका की यात्रा किया हुआ कोई नही था । मौसी ही अकेली थी ।

एक दिन काका साहब ने मौसी की आखो मे आसू देखे । काका साहब को बडा आश्चर्य हुआ । सास और बहू के बीच अनबन तो नही हुई ? काका साहब दुविधा मे पड गए । पूछा, पर मौसी ने कुछ भी नही बताया । आखिर जब काका साहब पीछे पड गए तब मौसी ने कहा, मै तुम्हे बताना नही चाहती थी । पर अब सहा नही जाता, इसलिए बता देती हू । तुम जब पढ़ाने चले जाते हो, तब तुम्हारे पीछे यहां तुम्हारी पत्नी गुस्से मे आकर छोटे शकर को पीटने लगती है । मुझसे यह सहा नही जाता । बच्चे तो ईश्वर के दिए हुए अनमोल रत्न हैं । उन्हे प्रत्यक्ष उनकी मा पीटे यह कैसे सहा जायेगा ? शकर को भले ही उसने जन्म दिया हो, पर क्या वह मेरा कोई नही है ? इतना कहकर मौसी सिसक-सिसक कर रोने लगी ।

काका साहब ने काकी से कहा, 'मौसी ठीक ही कह रही हैं । बच्चों को पीटना वैसे भी बुरा ही है । पर कम-से-कम मौसी का तो लिहाज रखो और शकर को पीटना छोड़ दो ।'

काकी ने प्रत्युत्तर नही दिया । पर उन्हे मौसी पर गुस्सा आया । दूसरे दिन भोजन के समय शकर ने बाल-सुलभ कुछ शरारत की और काकी ने उसे काका साहब के सामने ही पीट दिया । शंकर जोरो से रोने लगा । काका साहब झल्ला उठे । बोले, 'मैने तुम्हे एक बार बता दिया था कि बच्चों को पीटना नही चाहिए, फिर भी तुम समझती नही । ईश्वर बच्चे इसलिए देता ह क्योंकि वह चाहता है कि मां-बाप उनकी हंसी-खेल मे हिस्सा ले और उन्हे बड़ा करे । तुम अगर शकर को समाल नहीं सकती तो मैं चाहूंगा कि ईश्वर उसे उठा ले ।' और

काका साहब खाना आधा छोड़कर उठ गए। बस, इस प्रसंग को लेकर दोनों के बीच गरमागरम बहस हुई। मौसी घबड़ा गई। उन्हें लगा, यह क्या हो गया ?

पर इस गरमागरम बहस का नतीजा अच्छा ही निकला। काकी की शंकर को पीटने की आदत हमेशा के लिए छूट गई। उन्होंने बाद में कभी भी बच्चों को नहीं पीटा।[1]

ऐसे वातावरण में भी काका साहब को काकी के स्वभाव के कुछ अनोखे पहलू देखने को मिले।

घर खर्च के लिए काका साहब सस्था मे माहवार केवल चालीस रुपये लेते थे। इसलिए पाई-पाई का हिसाब करके खर्च करना पड़ता था। घर मे पति-पत्नी, मौसी और छोटे शंकर के अलावा रोज नाश्ते या भोजन के लिए कोई-न-कोई विद्यार्थी या शिक्षक रहता ही था। काकी को पाई-पाई का हिसाब रखकर खर्च करने की आदत नही थी। वह खर्चीली नहीं थी, पर यह कमाऊ-खाऊ जीवन-पद्धति उनके लिए बिलकुल नई थी। एक दिन घर में लाए हुए चावल खत्म हो गए। काकी ने चावल खरीदने के लिए काका साहब से पैसे मांगे। काका साहब बोले, 'वेतन तो दस दिन के बाद मिलेगा, मेरे पास पैसे नहीं हैं। अगर तुम कहती हो तो मैं किसी से कर्ज लेकर तुम्हें दे दूंगा।'

'कर्ज ?' काकी गुस्से मे झल्ला उठी। 'फिर कभी आपके मुह से मैं यह शब्द सुनना नही चाहती। जिस घर मे कर्ज की बला घुसती है, उस घर से लक्ष्मी चली जाती है। आप जितने पैसे देंगे, उतने मे मैं निभा लूंगी। आपने देश-सेवा का व्रत लिया है, इससे घर मे जो गरीबी आ गई है, वह तो हमारी शान बढ़ाने वाली है। उसे मैं दैन्य नही मानती। कर्ज की बात कभी न करना, समझे ?' काका साहब कहते हैं :

> काकी की यह वृत्ति देखकर मैं तो खुशी के मारे उछल पड़ा। मैंने मन-ही-मन कहा, तुम्हारा इतना ही सहयोग मुझे मिला तो मैं बड़ी-से-बड़ी मुसीबतें खुशी से झेल लूंगा। उस दिन की धन्यता मै कभी नहीं भूल सका। काकी की इस वृत्ति के लिए मेरे मन मे उनके प्रति कृतज्ञता का भाव हमेशा के लिए रह गया।

1. लेखक के साथ बातचीत से।

काकी स्वभाव से बडी स्वाभिमानी थी। उसकी भी एक झलक काका साहब को इन्हीं दिनो देखने को मिली। उनके पडोस मे एक दिन उटगीकर शास्त्री रहने के लिए आए। गगनाथ विद्यालय मे वे सस्कृत पढाते थे और सस्कृत के बड़े विद्वान थे। सस्कृत काका साहब का बडा प्रिय विषय था। सस्कृत के कारण दोनो के बीच घनिष्ट मैत्री स्थापित हो गई थी। उटगीकर शास्त्री रोज नाश्ते के लिए काका साहब के यहा आया करते थे। काका साहब उन्हे अग्रेजी 'लॉजिक' पढाते थे और उटगीकर शास्त्री काका साहब को उपनिषदो का अर्थ बताते थे।

नाश्ते के बाद दो घटे तक यह क्रम चलता था।

काका साहब के यहा चाय नही बनती थी, पर काफी चलती थी और उटगीकर शास्त्री को काफी बहुत प्रिय थी। काकी उन्हे रोज दो कप काफी पिलाया करती थी।

एक दिन दोनो के बीच 'लोकसग्रह' शब्द की व्याख्या पर बहस चली। उटगीकर शास्त्री बाले, 'समाज हमेशा रूढिवादी हाता है। उसे कभी छेडना नही चाहिए। हम अपने जीवन मे सुधार करना चाहे तो चुपचाप कर ले। पर समाज को सुधार करने की बात करेगे तो उसकी सहानुभूति हम खो बैठेगे। यही लोकसग्रह का अर्थ है।'

चर्चा के सिलसिले मे उन्होने कहा, 'अब यही देखिए, मै हू देशस्थ ब्राह्मण। आप हैं गोड सारस्वत। महाराष्ट्र, कर्नाटक मे सारस्वतो के यहा दशस्थ ब्राह्मण चाय-काफी भी नही लेते। यहा बडौदा मे आपके यहा काफी लेने म मुझे कोई आपत्ति नही है। पर कर्नाटक मे अगर मुझसे कोई पूछे, क्या आप काका साहब के यहा चाय-काफी पीते थे तो मै साफ कह दूगा, 'नही तो, मै काका साहब के यहा कुछ भी नही लेता था। लोक सग्रह के लिए मुझे यह झूठ बोलना होगा।'

काका साहब ने उनसे लोकसग्रह शब्द का केवल अर्थ पूछा था। लोकसग्रह के लिए झूठ बोलना कहा तक उचित है, इस प्रश्न की चर्चा नही छेडी थी। इसलिए वे कुछ न बोले। उन्होने विषय बदल दिया।

दूसरे दिन हमेशा की तरह उटगीकर शास्त्री नाश्ते के लिए आए। आते ही लाजिक और उपनिषद का सिलसिला शुरू हुआ। काकी ने काका साहब के

सामने नाश्ता लाकर रख दिया। पर उटगीकर शास्त्री को काफी नही दी। उन्होंने पूछा, 'क्यो, आज काफी नही पिलानी है ?'

काकी ने अपना गुस्सा चौबीस घटो तक दबाए रखा था। वह एकदम बोल उठी, 'नही, चोरी-चुपके मै आपको कुछ भी नही पिलाऊगी। चोरी-चुपके खिलाने-पिलाने मे मेरा अपमान होता है।'

काकी का गुस्सा देखकर काका साहब दंग रह गए। उन्हे 'काफी पिलाओ', यह कहने की भी उनमे हिम्मत नही रहा। उटगीकर शास्त्री भी काकी का पुण्य प्रकोप समझ गए। उनके विचारो मे परिवर्तन होने पर और जब विचारो के अनुसार आचरण करने की उनकी हिम्मत बढी तभी काकी न उन्हे काफी पिलाई। यह तभी हुआ जब उटगीकर शास्त्री अपना परिवार ले आए और दोनो परिवारो के बीच गहरा सम्बध स्थापित हुआ।

एक दिन सुबह-सुबह मौसी रोती हुई काका साहब के पास आकर कहने लगी, 'दत्तू, आज ही मुझे शाहपुर भेज दे।'

'क्यो, क्या हुआ ?' काका साहब ने आश्चर्य से पूछा।

'आज मैंने स्वप्न मे वत्सला को देखा है, वह बहुत बीमार है और मुझे पुकार रही है।' मौसी ने जवाब दिया।

'तू कभी उसे पत्र नही लिखती, न ही वह लिखती है। स्वाभाविक रूप मे तुझे उसकी चिन्ता है। यही चिन्ता स्वप्न मे तूने इस रूप मे देखी है। इससे अधिक स्वप्न का महत्व नही है।' काका साहब ने समझाया।

'नही रे, उसकी चीख मैने सुनी है। मुझे आज ही उसके पास पहुच जाना है।'

काका साहब फिर से समझाने लगे, 'यहा रहने की तेरी इच्छा ही न हो तो मै तुझ पर जबरदस्ती नही करूगा। पर तू यहा आई थी, काशी-यात्रा का सकल्प लेकर। अभी जब छुट्टिया शुरू होगी मै तुझे काशी ले चलूगा। वही से सीधे बेलगाव जाकर तुझे छोड़कर लौटूगा। ठीक है ?'

'नही, नही, मुझे द्वारका-यात्रा का मौका मिला वही मेरे लिए काफी है। अब मुझे मत रोक। मुझे अपनी वत्सला के पास जाने दे।'

काका साहब ने आखिरी पासा फेंक कर कहा, 'मैं आज ही बेलगांव नाना को तार करके तार से ही वत्सला के समाचार मंगवा लेता हूं। ठीक है ?'

'नहीं, मुझे मत रोक। वरना मैं पानी की बूंद तक नहीं लूंगी।'

काका साहब हार गए। उन्होंने बम्बई और पूना में अपने मित्रों को तार दिए। जहां गाड़ियां बदलनी पड़ती हैं, वहां योग्य गाड़ी मे मौसी को बिठाने का प्रबंध किया और मौसी को बड़ौदा से बम्बई जानेवाली गाड़ी में उमी दिन बिठा दिया।

दूसरे दिन बेलगांव से पत्र आया : वत्सला बहुत बीमार थी। उसका देहांत हो गया है। उसके अंतिम क्षणो में वह मां को लगातार पुकार रही थी। काका साहब कहते हैं :

> मैंने टैलिपैथी के किस्से पुस्तकों में पढ़े थे। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव था। जहां अत्यंत उत्कट प्रेम होता है, वहां इच्छाएं और वासनाएं रेडियो की लहरों की तरह अपने प्रियजनों के पास पहुंच ही जाती होगी।

काकी की बीमारी

बड़ौदा में काका साहब का पूरा समय बंधा हुआ रहता था। तड़के पांच के पहले ही वे बिस्तर छोड़ देते और प्रणव जाप तथा ध्यान में एकाध घंटा बिताते थे। इसके बाद उनका स्वाध्याय शुरू हो जाता। कभी उटगीकर शास्त्री के साथ वेद उपनिषदों का अध्ययन चलता तो कभी गुणाजी के साथ मराठी संत-साहित्य का परिशीलन चलता। गीता उनकी प्रिय पुस्तक थी। उन्होंने वह कंठस्थ कर ली थी। अकेले होते तब गीता का चिंतन-मनन चलता रहता। इसके बाद वे विद्यालय में अध्यापन के लिए जाते। लगभग सारा दिन वहीं विद्यार्थियो और शिक्षकों के बीच बिताते। अध्यापन भी उनके अध्ययन का ही क्षेत्र था। वे कहते हैं :

> मां-बाप जिनसे निराश हो चुके है, ऐसे ही विद्यार्थी मेरे हिस्से में आए थे। उन पर काबू पाना, उन्हें विद्या और सेवा का स्वाद चखाना, आदर्शों के पीछे पागल बनने में ही जीवन की सफलता है, यह उन्हें समझाना, यही उन दिनों मेरा मुख्य आनंद था। इन नटखट विद्यार्थियों को पढ़ाने के तरह-तरह के प्रयोग करने के बाद मैं इस निर्णय पर आ गया कि शिक्षा-कार्य में कोई एक पद्धति सभी जगह समान रूप में सफल नहीं हो सकती। आत्मा

का हनन करने वाली सभी पुरानी गलत पद्धतियां छोड़ दें। उसके बाद विषय, प्रसंग, व्यक्ति, उम्र, समाज, स्फूर्ति, आवृत्ति हर एक का विचार करके हर क्षण और हर प्रसंग पर पद्धतियां बदलनी चाहिए। कोई खास पद्धति शास्त्रसिद्ध है और दूसरी सब असिद्ध हैं, ऐसा नहीं है। शिक्षा-कार्य में पढ़ाई करने वाले विद्यार्थी के मानस का विचार करना जितना आवश्यक है, उतना ही शिक्षक के मानस, उसके गठन, उसकी जानकारी और कुशलता का भी विचार करना आवश्यक है। इस निश्चय के बाद मैं और एक निर्णय पर आया कि पाठ्य पुस्तकें चाहे जितनी सुंदर हों, शिक्षा-कार्य मे शिक्षक की हमेशा आवश्यकता रहने वाली है। शिक्षा-कार्य में शिक्षक का सान्निध्य, उसकी प्रेरणा और सहानुभूति ही महत्त्वपूर्ण है। इसलिए ग्रंथो के अध्ययन के बजाय मौखिक शिक्षा का ही अधिक महत्व है। श्रोत शिक्षा ही सच्ची शिक्षा है। इतनी योग्यता और अधिकार पाने के लिए शिक्षक का ज्ञान और चारित्र्य आदर्श रूप होना चाहिए।[1]

मतलब अध्यापन का कार्य भी उनके अध्ययन का एक क्षेत्र था। सारा दिन शिक्षा के प्रयोगों मे व्यस्त रहने के बाद वे घर लौट आते थे और शाम को केशवरावजी के यहां जाते थे। वहां पर तरह-तरह की चर्चाएं चलती थीं। केशव राव से मिलने के लिए तरह-तरह के लोग आते थे, उनमे परिचय होता था और देश मे कहां क्या चल रहा है, इसकी जानकारी भी मिलती थी।

फिर, रात को घर लौट आते थे। तब भी साथ में कोई-न-कोई विद्यार्थी या शिक्षक रहता ही था। उससे भी काव्य-शास्त्र-विनोद चलता रहता था।

इस वातावरण का काकी पर भी कुछ असर हुआ। उन्होंने एक दिन काका साहब से पूछा, 'आप सारी दुनिया को पढ़ाते हैं, मुझे क्यों नही पढ़ाते ?'

काका साहब अवाक् होकर उनकी ओर देखते रहे। क्या यही वह काकी है, जिससे बाज आकर उसे पढ़ाने के सारे स्वप्न मैंने छोड़ दिए थे—उन्होंने अपने-आपसे पूछा और दूसरे ही क्षण काकी को जवाब दिया, 'क्यों नही ? बड़ी खुशी से तुझे पढ़ाऊंगा।'

1. लेखक के साथ बातचीत से

'तो मुझे अंग्रेजी सिखाइए।'

'पहले मराठी अच्छी तरह सीख लो। बाद मे अंग्रेजी सिखाऊंगा। ठीक है?'

काका साहब ने अपनी समय-सारिणी मे तुरत बदल कर दिया। केशवरावजी के यहां से लौटने के बाद का सारा समय काकी के लिए रख छोड़ा। काकी को उन्होंने पहले आधुनिक मराठी कवि की कविताए पढाना शुरू कर दिया। केशवसूत, बालकवि और रेवरेण्ड तिलक की कविताए रोज एक के बाद एक पढाते रहे। काकी ने बचपन म रामविजय, हरिविजय-जैसी पुराने ढग की पुस्तके पढ़ी थी। उन्हे आधुनिक मराठी कविता की कोई जानकारी नही थी। काका साहब ने उनकी इस विषय मे दिलचस्पी बढा दी। काकी को केशवसूत की 'भृ गा दग अहा होशी। गुगत धाव बनी घेशी।' कविता तथा बालकवि की 'आनदी आनद गडे' और रेव० तिलक की 'सुशीला', 'बनवासी फूल' जैसी कविताए बहुत पसद आई। कई तो उन्होने कठस्थ भी कर ली और बीच-बीच मे गुनगुनाने भी लगती। उनकी सबसे अधिक प्रिय कविता थी 'राजहस माझा निजला।' वह काका साहब से बार-बार यही कविता पढने को कहती थी और हर बार रो पडती थी। काका साहब पूछते, 'तू अगर आसू नही रोक सकती तो यही कविता बार-बार पढने को क्यो कहती है?'

'मुझे मालूम नही, पर यह कविता मुझे रुलाती है इसलिए बहुत पसद है।' वह जवाब देती थी।

काका साहब शाम के भोजन के बाद रोज घुडदौड़ के रास्ते घूमने जाते। तब काकी को भी साथ ले जाते। चादनी रात हो तो वडी देर तक घूमते रहते। तब भी कविता का दौर चलता रहता। काका साहब कहते हैं

> उस समय के आनद का स्मरण होते ही आज भी मन आह्लादित हो उठता है।

काका रोज काकी को मराठी कविताए पढाते हैं, यह खबर जब रामभाऊ कामत की बहन शान्ताबाई को मिली, तब उनको लगा, काश! काका मुझे भी कुछ पढ़ाते। शान्ताबाई को पढने का बहुत शौक था। रामभाऊ और गुणाजी से उन्होंने काका साहब की विद्वता और अध्यापन कौशल के बारे मे बहुत-कुछ सुना था। वह जिज्ञासु थी। सीधे जाकर काका साहब से पूछती तो काका साहब

सभवतः उनके लिए कुछ समय अवश्य निकाल लेते। पर वह स्त्री सुलभ विनय मे काकी के पास गई और कहा, 'मेरा एक काम था। क्या काका साहब मेरे लिए एकाध घंटा दे सकेंगे ? पूछकर बताओगी ?'

काकी ने तुरंत जवाब दे दिया, 'पूछने की कोई आवश्यकता ही नही है। वे कभी हा नही कहेंगे। उनके पास कोई स्त्री आकर बातें करे, यह उन्हे बिलकुल पसद नही है। मैं पूछने जाऊगी तो उल्टे मुझे ही डाटेंगे।'

उसी दिन रात को घुडदौड के रास्ते घूमते-घूमते काकी ने यह बात काका साहब को बताई। काका साहब बोले, 'यह तूने अच्छा नही किया। पढाने के बारे मे मैने आज तक किसी को ना नही कहा है। फिर, शान्ताबाई तो रामभाऊ की बहन हैं और रामभाऊ मेरे घनिष्ट मित्रो म एक है। उनको अगर यह मालूम हुआ तो कितना बुरा लगेगा।'

काकी एकदम बोल उठी, 'मुझ शान्ताबाई के बारे मे कुछ भी कहना नही है। वह अच्छी ही है। पर आपको एक बात बता देना चाहती हूं आमतौर से सभी विधवाए ऊपर-ऊपर स भोली-भाली दिखाई देती ह, पर सभी को अदर मे पुरुष-सहवास की भूख रहती है। पढना-वढना तो केवल बहाना होता है। वह असल मे पुरुष का सहवास ही चाहती है। उन्हे पढना ही है तो किसी पुरुष के पास क्यो जाए ?'

'फिर किसके पास जाए ?' काका साहब ने पूछा।

'यह मुझे मालूम नही। पर आपको एक बात साफ बता दती हू। आपके पास कोई पराई स्त्री आकर बैठे यह मुझे बिलकुल पसद नही है। कोई पराई स्त्री जब आपकी ओर ताकती रहती है, तब मुझे लगता है कि वह अपनी अपवित्र आखो से मेरी पवित्र मूर्ति भ्रष्ट कर रही है और मेरे लिए यह असह्य है। फिर आपकी मर्जी।' काका साहब कहते है ·

> मै समझ गया। काकी के अंतिम वाक्य से मेरी सपूर्ण जीवन-दृष्टि जाग्रत हो गई। मैने मन-ही-मन कहा, पति-पत्नी प्रेम का अर्थ ही है ईर्ष्या और मत्सर। उसकी बुनियाद ही है परस्पर स्वामित्व। सास और बहु के बीच जो टटे होते हैं, उनकी बुनियाद मे भी यही मनोभाव होते हैं। मैने काकी

से कहा, नारी के विकास में स्वयं नारी ही अड़चन पैदा करे, यह दुर्भाग्य की बात है। पर आज तेरे ध्यान मे यह बात नही आएगी। आज मैं इतना ही कहूंगा कि अब तक नारी ने पुरुष की ईर्ष्या के सामने सिर झुकाया। अब हम पुरुषों को नारी की ईर्ष्या को पहचानकर उसके सामने सिर झुकाना होगा। तुझे संतोष मिले इसलिए मै इसी नियम का पालन करूंगा। पर ध्यान रखना। इस नीति से नारी का कभी भी उद्धार नही होगा। एक *अन्याय से दूसरा अन्याय कभी साफ नही होता।* तूने जो शान्ताबाई को कहा, उसको मैं शिरोधार्य मानता हूं।'[1]

काका साहब मानो किसी ऋषि की तरह काकी को मानस-शास्त्र, प्रेम शास्त्र और समाज शास्त्र समझाने लगे। पर ये सारी बातें काकी के गले उतरने की उन्हे आशा नही थी, इसलिए उन्हे निराशा भी नही हुई।

कुछ दिनो के बाद काकी अचानक बीमार पड़ी। डाक्टर कहने लगे, 'पेट का मोह रखेंगे तो मा-बच्चा दोनों को खो बैठने की नौबत आ सकती है। आपकी इजाजत हो तो मै अरगॉट दूगा।'

'मै तो इस मामले मै कुछ भी नही समझता। आप जो उचित समझे, करे।' काका साहब ने जवाब दिया। पर अरगॉट देने की जरूरत ही नहीं पड़ी। उससे पहले ही स्राव शुरू हुआ और काकी की सेहत बिलकुल खराब हो गई। वह करीब-करीब बेहोशी में रहने लगी। काका साहब की ठसाठस भरी हुई समय सारिणी मे और तीन काम बढ गए: काकी की सेवा करना, छोटे शकर को संभालना और रसोई बनाना। विद्यालय के विद्यार्थी और साथी मदद के लिए दौड़ आते थे, फिर भी काका साहब बहुत थक गए। कभी-कभी मन मे आता, कितना सुखी ससार था। किसी की नजर तो नही लगी। जो हो, इस तरह का संकट दुश्मनो पर भी कभी न आए।

बीमारी मे काकी का लगातार आग्रह रहा, मुझे शाहपुर ले चलिए। वहां की हवा से मै अच्छी हो जाऊंगी। सेहत में कुछ सुधार दीखने ही डाक्टरों की इजाजत से काका साहब काकी को शाहपुर ले गए। बड़ौदा से बम्बई, बम्बई से

---

1. लेखक के साथ बातचीत से।

पूना और पूना से बेलगांव जैसा काफी लम्बा सफर था। बीमार काकी को लेकर इस तरह का लम्बा सफर करना एक तरह से साहस ही था। बेलगाव पहुचने पर मालूम हुआ कि शाहपुर मे प्लेग की बीमारी फैली है। इसलिए काकी के मायके के सब लोग बड़गाव गए हैं। इसलिए वे काकी को लेकर बेल-गात्र से बड़गांव गए।

बीमारी के कारण काकी का मन बड़ा नाजुक बन गया था और उनकी *छोटी छोटी इच्छाए भी काफी बलवती हो गई थी।*

काकी को लगा कि बीमारी में काका साहब ने उनकी कितनी और किस प्रकार की सेवा की, यह अपने मायके के लोगों को मालूम होना चाहिए। इसलिए बडगाव पहुंचने पर दो दिन तक उन्होने काका साहब से पूरे काम आग्रहपूर्वक कराए।

राजनैतिक सरगर्मियां

काका साहब अक्सर कहा करते थे :

> *गंगनाथ विद्यालय का इतिहास ब० केशवराव देशपांडे की देशभक्ति उनके स्वार्थ-त्याग और अंत मे उनके बलिदान का इतिहास है।*

वाकई ऐसा ही था। केशवराव इस सस्था के मानो प्राण थे। उन्होने शिक्षको के रूप मे देश के उत्तमोत्तम राष्ट्र-सेवको को यहां इकट्ठा किया था। इन राष्ट्र-सेवको की श्रद्धायुक्त सेवा गगनाथ विद्यालय को मिली थी। अपना सारा बुद्धि-कौशल अजमाकर इन्होंने यहा शिक्षा के तरह-तरह के प्रयोग किए थे। इन प्रयोगो के पीछे अपना हृदय उडेल दिया था। कई भूले भी हुई थी। फलस्वरूप उनके बीच कभी-कभी मतभेद भी हुए थे। फिर भी उन्होने यहां जो दिया और पाया उसका राष्ट्रीय मूल्य, काका साहब के शब्दो मे 'बहुत बड़ा है।'

> अपने बारे में मैं इतना अवश्य कह सकता हूं 'गंगनाथ मे मैंने जो-कुछ पाया उसी के कारण बाद मे महात्मा गाधी के विचारों को समझने मे और उनके रचनात्मक कार्यक्रम को अपनाने मे मुझे कोई कठिनाई महसूस नही हुई। मैं गांधी जो को उनके विचारों और कार्यक्रमो के साथ आसानी से अपना सका। यह कहते मुझे कतई संकोच अनुभव नही होता कि मेरे हाथों देश

की जो-कुछ सेवा हो पाई है, वह एक तरह से गगनाथ की प्रवृत्ति का ही व्यापक रूप है। केशवराव बड़े संतोष के माथ जो कहते थे कि हमारे गगनाथ के बीज देश के अनेक प्रदेशो मे बोये गये है, वह बिलकुल सच है। गंगनाथ मे इस ममय जो लोग काम करते थे, उनमे से लगभग मभी बाद मे गाधीजी के मार्ग-दर्शन मे देश मे इधर-उधर काम करने लगे। मभी को हमेशा यही महसूस होता रहा कि वे गगनाथ का ही काम अधिक व्यापक रूप मे और अधिक गहराई के साथ कर रहे हैं।[1]

एक दिन की बात है, गरमी के दिन थे। दिन ढल चुका था। रात के करीब 8 बजे थे। बड़ौदा के बाजार म एक दुकान पर दो शरीफ लडकिया कुछ खरीद रही थी। उमी ममय ब्रिटिश रेसिडेंसी के दो गोरे सिपाही वहा से गुजरे। अचानक उनकी नजर इन लडकियो पर जा पडी और वे रूक गए। एक तो गोरे, फिर जवान। दोनो ने उन लडकियो से छेडछाड शुरू कर दी। वही बगल मे एक नौजवान खडा था। इस तरह भरे बाजार मे खुले आम दो गोरे सिपाही हमारी बहनो की इज्जत लूटने की कोशिश करे, यह उससे सहा नही गया उसने उन सिपाहियो को पहले चेतावनी दी, पर जब देखा कि वे चेतावनी की परवाह नही कर रहे हैं, उसने जेब से पिस्तौल निकाली और दूसरे ही क्षण उन सिपाहियो पर धडाधड गोलिया चला दी। दोनो खून से लथपथ जमीन पर लुढक गए। यह दृश्य दखकर सारा बाजार स्तभित हो गया।

नौजवान खुद ही पुलिस के अधीन हो गया। पिस्तौल तुम्हारे पास कहा से आई, किसने दी, तुम्हारे साथी कौन हैं? आदि प्रश्न पूछे गए तब उस नौजवान ने बडी तेजस्विता से जवाब दिया: जिन पर मैने गोलियां चलाई वे मेरे दुश्मन नही थे, न ही जिन लडकियो से वे छेडछाड कर रहे थे, मेरी परिचित थी। पर जब देखा कि मेरे देश की बहनो से छेड़छाड करते समय इन गोरे सिपाहियो को कोई शर्म मालूम नही होती, तब मुझसे सहा नही गया। इसलिए पहले मैंने उन्हे चेतावनी दी और जब देखा कि चेतावनी का उन पर कोई असर नही होता, मैने गोलिया चलाई। बस इससे ज्यादा मै कुछ नही कहूगा। आपके दूसरे किसी भी प्रश्न का जवाब नही दूगा, फिर भले ही आप चाहे सो करे।

1. लेखक के साथ बातचीत से।

कोर्ट ने हत्या के बारे मे उसे निर्दोष ठहराया। पर उसने गैर कानूनी रूप से पिस्तौल रखी थी, इस अपराध के लिए उसे दस महीने की कैद की सजा दी गई।

यह नौजवान गंगनाथ विद्यालय का एक विद्यार्थी था। गंगनाथ विद्यालय पर अंग्रेजों की पहले से ही वक्रदृष्टि थी और चूकि केशवरावजी इसके प्राण स्वरूप थे, इसलिए उन पर सबसे अधिक थी। केशवरावजी को किसी-न-किसी बहाने अपने कब्जे में लेने के लिए अग्रेज अधीर हो उठे थे। 1908 में जब अरविंदबाबू गिरफ्तार कर लिए गए, अग्रेजो ने केशवरावजी का अपने कब्जे म लेने का एक प्रयत्न किया था, पर उसमे वे सफल नही हुए थे। क्योकि केशवरावजी एक ओर बडौदा नरेश सयाजीराव गायकवाड के एक अत्यत विश्वासपात्र अधिकारी थे और दूसरी ओर अग्रेज उनके विरुद्ध कोई ठोस सबूत न जुटा सके। अग्रेजो का प्रतिनिधि, जिसे रेसिडेंट कहते थे, बडौदा मे ही बैठा था। वह बडौदा नरेश सयाजीराव पर परोक्ष-अपरोक्ष रूप से दबाव डालने के हर तरह से प्रयत्न करता आया था। उसका नाम था, मिस्टर कॉब, बड़ा ही दुराग्रही आदमी था। इन्ही दिनो अरविंदबाबू की एक पुस्तक 'मुक्ति कोन पथे' का गुजराती अनुवाद बड़ौदा मे कईयो के हाथ म पहुच गया था। अग्रेज सरकार ने मूल पुस्तक गैर-कानूनी घोषित कर दी थी। कॉब साहब का कहना था कि इस पुस्तक के मुद्रण और वितरण के पीछे रियासत के दो बड़े अधिकारियों का हाथ है। इनमे से एक है मेहसाणा के कलेक्टर खासेराव जाधव और दूसरे नवसारी के कलेक्टर बं० केशवराव देशपाडे। पर इस मामले मे भी वह कोई सबूत पेश नही कर सके थे। वह दोनों की ओर केवल दात गडाए बैठा था और मौके की ताक मे था। उसी की सलाह से वायसराय लार्ड मिन्टो ने सयाजीराव को एक पत्र लिखा था, जो परिपत्र के रूप मे देश की सभी रियासतो के राजाओ और महाराजाओ के पास भी भेजा गया। उसका आशय था, सुना है कि राजद्रोही लोग आजकल अलग-अलग रियासतो मे आश्रय पाकर तोड़-फोड़ का काम करने लगे है। उनकी प्रवृत्तियो की ओर जो निगरानी रखनी चाहिए थी, दुर्भाग्य से रखी नही जाती। न ही उनकी प्रवृत्तियों को कुचलने की कोई कोशिश की जाती है। इस ओर आपका ध्यान खींचना चाहता हूं।

लार्ड मिन्टो को जवाब लिखने के लिए सयाजीराव ने यह पत्र अपने दीवान रोमेशचंद्र दत्त को सौप दिया। दीवान साहब ने अंग्रेज रेसिडेंट कॉब साहब से

पूछा, 'हमारे पास तो कोई सबूत नही है। क्या आपको इस बारे में कुछ जानकारी है ?' कॉब साहब ने सीधे गंगनाथ विद्यालय की ओर अंगुली-निर्देश किया। पर यह तो केवल संदेह था, आरोप था, सबूत नही था। इसलिए सयाजीराव ने वायसराय को जवाब भेजा : 'आपने जिसका जिक्र किया है वैसी कोई राजद्रोही प्रवृत्ति बड़ौदा रियासत में नहीं चलती। हो सकता है, हमें इसकी कोई जानकारी न हो। इसलिए आप को जवाब लिखने से पहले हमने रेसिडेंट साहब से पूछा कि क्या आपको इस बारे में कोई जानकारी है ? उन्होंने जानकारी देने के बारे में अपनी असमर्थता प्रकट की और अंग्रेजी अखबारों में जो-कुछ आजकल प्रकाशित हो रहा है उसकी ओर हमारा ध्यान खींचा। अखबारों में जो आता है, वह हमारी जानकारी के अनुसार केवल गपशप है। हम आपको आश्वासन दिलाना चाहते हैं कि इन मामलों मे आप इस रियासत के बारे में निश्चित रहिएगा।'

सयाजीराव का यह जवाब गुप्त था। पर एंग्लो इंडियन पत्रों मे वह प्रकाशित हुआ और इन पत्रों ने सयाजीराव के विरुद्ध शोर मचाना शुरू कर दिया।

इन्ही दिनों बम्बई सरकार के खुफिया विभाग के चंद पुलिस बिना सूचना दिये राष्ट्रद्रोही लोगो की तलाश मे चुपचाप नवसारी आए। केशवरावजी नवसारी के कलेक्टर थे। उन्होंने इसको बम्बई सरकार का अतिक्रमण माना। असल मे वह अतिक्रमण ही था। क्योंकि रियासतों और अंग्रेज सरकार के बीच जो समझौता था उसके अनुसार वे बिना सूचना दिए रियासत में आ नहीं सकते थे। केशवरावजी ने जब आपत्ति उठाई, तब बम्बई सरकार के पोलिटिकल सेक्रेटरी को इस अतिक्रमण के लिए बड़ौदा रियासत से माफी मांगनी पड़ी।

अंग्रेजी अखबारों के अनुसार केशवरावजी का यह बहुत बड़ा अपराध था। एक तरह का राजद्रोह ही समझिए। इस घटना को लेकर भी एंग्लो इंडियन पत्रों ने शोर मचाना शुरू कर दिया था।

इसी वातावरण में गंगनाथ विद्यालय के एक विद्यार्थी ने दो गोरे सिपाहियों की हत्या कर दी। बस, इस घटना ने आग में घी डालने का काम किया।

अब किसी-न-किसी मामले में स्वयं सयाजीराव को फंसाकर उन्हें बदनाम करने की योजनाएं अंग्रेज सरकार की ओर से बनने लगीं। केशवरावजी के एक मित्र बं० कोलासकर का एक संस्मरण ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं :

'एक दिन बम्बई के एक बड़े पुलिस अफसर ने मुझसे कहा, केशवराव देशपांडे आपके मित्र हैं न ? उनसे कहिए, मैं जिस तरह का चाहता हूं, उस तरह का एक बयान वे लिखकर मुझे दे दे । मै उन्हें लाखों रुपये दिलवा दूंगा । अब हमें छोटे-छोटे शिकारों में दिलचस्पी नही है । सयाजीराव-जैसो का शिकार करने मे ही बहादुरी है । मैने देशपांडे साहब को यह सूचित कर दिया तब उनका पुण्य प्रकोप जाग उठा । उन्होने उस नीच पुलिस अफसर को धिक्कारते हुए मुझको लिखा : 'उनसे कहिए, ऐसे घटिया काम करने के लिए मैंने जन्म नही लिया है। सयाजीराव के खिलाफ झूठा बयान देने के लिए मै नमक हराम नही हूं ।'

सयाजीराव को बदनाम करने के लिए देश में कोई न मिला, तब अंग्रेज दफ्तर-शाहों ने कौड़ी कीमत के एक अंग्रेज को प्रोत्साहित किया और उसने इंग्लैंड की एक अदालत मे अपनी पत्नी के खिलाफ एक मुकदमा दायर किया कि उसका सयाजीराव से अनैतिक सम्बध है, इसलिए वह उससे तलाक चाहता है । उस गोरी महिला ने भी कबूल किया कि सयाजीराव से उसका अनैतिक सम्बध है । अदालत ने सयाजीराव को लिखा कि आपके खिलाफ इस तरह का मुकदमा दायर हुआ है, आप चाहे तो अपना बचाव कर सकते हैं । अदालत तटस्थता से न्याय देगी ।

सयाजीराव का खून खौल उठा । उन्होंने अदालत के अधिकार को ही चुनौती देकर कहा, मै ब्रिटिश प्रजाजन नही हूं । मै एक स्वतंत्र राजा हूं । मेरे खिलाफ मुकदमा चलाने का आपकी अदालत को कोई अधिकार नही है ।

सयाजीराव की दलील लाजवाब थी । इंग्लैंड की किसी भी अदालत को आस्ट्रिया के या रूस के राजा को अदालत मे हाजिर होने का हुक्म देने का अधि-कार नही था। भारतीय रियासतों के राजाओं का कानूनन यही स्थान था । फलस्वरूप, मुकदमा खारिज हो गया ।

मजे की बात है । अदालत मे मुकदमा खारिज होते ही उस अंग्रेज महिला ने जाहिर कर दिया कि यह सारा मामला सयाजीराव को परेशान करने के इरादे से ही खड़ा कर दिया गया था । उसका सयाजीराव से कोई सम्बंध नही था ।

सयाजीराव निर्दोष सिद्ध हुए, पर उन्होंने अपने को स्वतंत्र राजा माना यह अंग्रेजी दफ्तरशाही के लिए असह्य था । वह उन्हे पदच्युत करने के मौके की प्रतीक्षा करने लगी ।

बारह दिसम्बर उन्नीस सौ ग्यारह को सम्राट जार्ज पंचम के राज्यारोहण का समारोह दिल्ली मे आयोजित किया गया था। कई दिनों से उसकी जोर-शोर के साथ तैयारियां चल रही थी। इस समारोह की ओर सारी दुनिया का ध्यान खीचने के लिए इंग्लैंड के अखबारो मे बड़े लम्बे-लम्बे लेख आने लगे थे।

इस मौके पर अंग्रेज सरकार ने दो बहुत महत्व की घोषणाएं की। एक, जिसके कारण देश मे असतोष की लहर फैली थी, वह बंगाल का विभाजन रद्द कर दिया गया है। फलस्वरूप दोनो बंगाल फिर से जुड़ गए और दूसरी, अंग्रेजो की राजधानी जो अब तक कलकत्ते मे थी, दिल्ली मे लाई गई। समारोह मे उपस्थित रहने के लिए सयाजीराव को भी निमंत्रण था।

सुबह दस बजे तोपो की सलामी मे सम्राट जार्ज पचम और साम्राज्ञी मेरी आसन पर जा बैठी। फिर अभिवादन का कार्यक्रम शुरू हुआ। सबसे पहले वायसराय साहब सम्राट और साम्राज्ञी के सामने गए और उन्होंने झुककर उन्हें अभिवादन किया। उनके बाद अलग-अलग प्रातो के अंग्रेज गवर्नरो ने अभिवादन किया। फिर, भारतीय रियासतो के नरेशो की बारी आई। इनमे सबसे पहले हैदराबाद के निजाम आगे आए। दूसरा स्थान था बड़ोदा के नरेश सयाजीराव का। सूचना यह थी कि अभिवादन करने वाला व्यक्ति अभिवादन करने के बाद लौटते समय सम्राट की ओर पीठ न करे। बल्कि सम्राट की ओर मुह करके पीछे पाव लौटे। सयाजीराव पीछे पाव नही लौटे। लौटते समय वे एक खम्बे से टकराए। इसलिए उन्होने पीठ फेर ली और वे अपनी जगह पर आ बैठे।

दूसरे दिन सुबह नामदार गोपाल कृष्ण गोखले सयाजीराव से मिलने उनकी छावनी मे आए और बताया कि सरकारी परिमडल आपके बारे मे क्षुब्ध हो उठा है। लोग कहते है कि आपने जानबूझ कर सम्राट का अपमान किया है। मेरी सलाह है कि आप वायसराय से मिलकर जो गलतफहमी हुई है, उसे दूर करे।

यह सुनकर सयाजीराव स्तभित हो गए। वे एक सस्कारी पुरुष थे। सम्राट का अपमान करना उनकी सस्कारिता मे बैठ नही सकता था। उन पर चार इल्जाम लगाये गए थे—

1. वे अपने सभी गहने पहनकर नही आए।
2. हाथ मे तलवार लेने के बदले छोटा डंडा लेकर आए।

3. उन्होंने केवल सम्राट को अभिवादन किया, साम्राज्ञी को नहीं किया।

4. लौटते समय सम्राट की ओर पीठ फेरकर लौटे।

इस घटना को लेकर 'लदन टाइम्स' ने एक सम्पादकीय लेख लिखा और सयाजीराव पर हमला किया। सन् 1905 से लेकर अब तक उन्होंने जो अपराध किए (राजद्रोही लोगो को आश्रय देना वगैरह) उनकी एक लम्बी फेहरिस्त उसमें छपी। 'लंदन टाइम्स' का यह सम्पादकीय लेख यहां के 'पायोनीयर' जैसे एग्लो-इंडियन अखबारो मे उद्धृत किया गया और सयाजीराव के विरुद्ध देश में एक मुहिम ही शुरू कर दी गई। यही माना जाने लगा कि सयाजीराव को पदच्युत करने की यह पूर्व तैयारी शुरू हो गई है।

इस मुहिम के अगुआ थे बडौदा स्थित अग्रेज रेसिडेंट कॉब साहब। उन्होने सयाजीराव से दो मागें की। एक केशवराव देशपाडे को नौकरी से तुरत मुक्त कर दे और दूसरी, गगनाथ विद्यालय बद कर दें।

गंगनाथ विद्यालय पर संकट

केशवरावजी सयाजीराव के ईमानदार अधिकारी थे। बिना कारण वे उन्हे नौकरी से मुक्त नही कर सकते थे। खुद उन पर सकट आ पडा है इसलिए उससे बचने के लिए वे अपने एक निष्ठावान साथी की बलि दे ही नही सकते थे। उन्होने कॉब साहब से कहा, केशवराव मेरे विश्वासपात्र अधिकारी हैं। यदि उनके विरुद्ध आपके पास कोई सबूत हो तो आप वह मुझे दे दे, मै अपनी कौसिल को जाच करने को कहूगा।

काब साहब ने अपना आरोप-पत्र पेश कर दिया और सयाजीराव ने उसकी जाच करने का काम अपनी कौसिल को सौप दिया। कौसिल के अध्यक्ष मि० सेडन नामक अग्रेज सज्जन थे, जो बड़ौदा के दीवान थे। उन्होंने कर्त्तव्यनिष्ठा से जांच की और केशवरावजी को निर्दोष घोषित किया।

काब साहब को इससे संतोष नही हुआ। उन्होने कहा, सेडन साहब पक्षपाती हैं, इसलिए उन्होने चश्मपोशी का ही काम किया है। फिर से निष्पक्ष जांच होनी चाहिए। काब साहब के दिमाग मे जो मल घुस गया था उसे दूर करने के इरादे से सयाजीराव ने तेरह सदस्यों का एक नया जाच-कमीशन

नियुक्त किया। ठीक इसी समय मिस्टर सेडन की जगह गुप्ता नाम के एक देशी सेवा-निवृत्त आई० सी० एस० सज्जन दीवान के तौर पर नियुक्त किए गए। फलस्वरूप यह गुप्ता साहब कमीशन के अध्यक्ष हुए। उनकी मदद में मनुभाई मेहता नाम के एक गुजराती भाई भी आए (जो बाद में बड़ौदा के दीवान हुए)। दोनों हद से ज्यादा राजनिष्ठ थे। कमीशन के अन्य ग्यारह सदस्यों ने केशवराव को निर्दोष घोषित किया पर इन दोनों ने 'माई-बाप' अंग्रेज जैसा चाहते थे वैसा ही केशवरावजी के विरूद्ध में निर्णय दे दिया।

सयाजीराव परेशानी में पड़ गए। फिर भी उन्होंने एक ओर केशवराव के पक्ष में अपना निर्णायक मत देकर दूसरी ओर अपने ढंग का एक कदम उठाया और केशवरावजी का उन्होंने रेवेन्यू विभाग से न्याय विभाग में तबादला कर दिया।

फिर भी काब साहब के षड़यंत्र सयाजीराव को परेशान करने के लिए चलते ही रहे। पहले वे अकेले थे, अब स्वयं दीवान गुप्ताजी की उन्हें मदद मिलने लगी। दोनों रोज कोई-न-कोई झूठमूठ बात सुनाकर सयाजीराव को सताते रहे। इधर खुफिया पुलिस की भी बड़ौदा में भरमार शुरू हुई। कोई केशवराव से मिलने जाता तो उसके पीछे वे लग जाते। केशवरावजी का पत्र-व्यवहार भी सेंसर होने लगा। केशवराव तंग आ गए। उनको लगा, सयाजीराव बड़े हैं, इसलिए उन्होने मुझे संरक्षण दिया है। पर मेरे कारण ही अंग्रेज दफ्तरशाही उन्हें त्रस्त कर रही है। उनको इन परेशानियों से मुक्त करना क्या मेरा कर्तव्य नहीं है?

काफी सोच-विचार करने के बाद उन्होंने अपना त्याग-पत्र सयाजीराव के पास भेज दिया और सयाजीराव ने बड़े दु:ख के साथ उसको स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार सन् 1912 में केशवरावजी नौकरी से मुक्त हुए।

बाद की घटनाएं अत्यंत दु:खदाई हैं। सयाजीराव ने उन्हें पेंशन देने के बदले ग्रच्युइटी (आनुतोषिक) के रूप में दस हजार रुपये दिए। केशवराव बड़ौदा में ही रहना चाहते थे। इसलिए जिस मकान में वे रहते थे, वह उन्होंने खाली कर दिया और वे दूसरा मकान ढुंढ़ने लगे। पर लोगों पर अंग्रेजों का इतना भय छाया हुआ था कि उन्हें किराए पर भी मकान देने के लिए कोई तैयार नहीं

हुआ। उन्होंने मकान खरीदना चाहा, पर बेचने के लिए भी कोई तैयार नहीं हुआ। अंत में उनके परम स्नेही खासेराव जाधव ने बड़ौदा से लगभग चार मील की दूरी पर सयाजीपुरा में थोड़ी-सी जमीन और एक टूटी-फूटी कुटिया उन्हें दिलवा दी। उसकी मरम्मत करके वे सयाजीपुरा में रहने लगे।[1]

इतनी बड़ी उल्टा-पल्टी के बाद गंगनाथ विद्यालय का और क्या होता? उसके सभी संचालक बड़ौदा राज्य मे किसी-न-किसी अधिकार पर थे। वे सब घबड़ा गए थे। वे कहने लगे, गंगनाथ को बंद करने का हुक्म मिले, उससे पहले ही हम स्वयं उसे बंद कर दें, इसी मे बुद्धिमानी है।

काका साहब उनसे नाराज हो गए। बोले, गंगनाथ ने तो कोई गुनाह नहीं किया है? उसे हम स्वयं बंद क्यों कर दें? आप सब संचालक चाहें तो त्यागपत्र दे दें और सस्था से अलग हो जाएं। हम शिक्षक और विद्यार्थी मिलकर अपनी हिम्मत पर विद्यालय चलाएंगे। विद्यालय तो जनता के आश्रय मे ही चलता आया है। हमारे विद्यार्थी न तो सरकारी नौकरी में जाने वाले है, न सरकारी परीक्षाओं में बैठने वाले हैं। फिर क्यों डरना चाहिए?

संचालक कहने लगे, भाई, इसमे सरकार का संदेह दूर नही होगा। वह कहेगी, इन्होंने त्याग-पत्र दिया यह तो केवल दिखावा है, ढोंग है। अदर से सब संस्था चला रहे हैं। जब तक संस्था बंद करके उसके पैसे हम दूसरे कामों मे नही लगाते, सरकार को विश्वास नही होगा कि हमने सस्था छोड़ दी है।

काका साहब ने कहा, मै आपके पैसे नही चाहता। न ही मेज-कुर्सी आदि फर्नीचर चाहता हूं। आप सब अपने साथ ले जाएं। मुझे केवल विद्यालय का नाम चाहिए। बाकी सारी जिम्मेदारी मैं उठा लूगा। संचालक कहने लगे, इससे तो केशवराव और सयाजीराव दोनों मुसीबत में पड़ जाएंगे। क्या आपको ख्याल नहीं कि दोनों पर कितना बड़ा संकट आ पड़ा है।

संचालकों मे से केवल केशवराव और खासेराव जाधव काका साहब के पक्ष में रहे। जिस कुटिया में काका साहब रहते थे, वह गंगनाथ की ओर से उन्हें

1. लेखक के साथ बातचीत से।

भेंट देकर काका साहब को विद्यालय चलाने देने के लिए वे तैयार हुए थे । काका साहब की दृढ़ता की दोनों ने कद्र की ।

पर जिनके भरोसे वे विद्यालय चलाना चाहते थे, उन साथियों ने ही काका साहब को अपंग बना दिया ।

मामा फड़के पहले ही संस्था से अलग हो गए थे । पुराने शिक्षकों में से बापूराव वाईकर अगर संस्था में होते तो अवश्य काका साहब का साथ देते । पर वे कुछ महीनों पहले ही अपनी माली हालत सुधारने के उद्देश्य से संस्था से अलग होकर केशवरावजी की ही मदद से और कहीं नौकरी करने लगे थे । काका साहब को नागेशराव गुणाजी के सहारे की उम्मीद थी । वे उनके साहित्यक साथी भी थे और घनिष्ट मित्र भी, पर संस्था से उनका इकरार था । उसके अनुसार उन्होंने केशवरावजी से पूरे साल का वेतन मांगा और वह लेकर बेलगांव वापस चले गए । और तो क्या, अध्यात्ममार्गी रामभाऊ कामत भी डरकर गांवा लौटने की बात करने लगे । काका साहब को यह देखकर बड़ा दुःख हुआ । जब निकटतम साथी ही संकट के समय सहारा छोड़ दें, तब किसके भरोसे संस्था चलाने की हिम्मत करे ? अन्य साथियों में कोई माई का लाल ऐसा नहीं निकला जो कह दे, काका साहब, आप मत डरिए, हम आपके साथ हैं । अपवाद केवल अनंतबुवा मर्ढेकर का था । उन्होंने ही धीरज के साथ कहा, चाहे जो संकट आए, मैं आपको नहीं छोड़ूंगा । अनंतबुवा को छोड़कर बाकी के सब शिक्षक गंगनाथ छोड़कर चले गए ।

फिर भी काका साहब हिम्मत नहीं हारे । उन्होंने विद्यार्थियों से कहा, हमारी कसौटी चल रही है, हमें हिम्मत नहीं हारनी है, हम साथ रहेंगे । मुट्ठी-मुट्ठी अनाज भिक्षा मांगकर लाएंगे । मुट्ठी अनाज देने वाले गरीब लोग श्रद्धावान होते हैं । उनके सहारे मैं अन्य जगह से भी मदद ले आऊंगा । पर ये विद्यार्थी भी उन्हीं के खून के थे, जो सरकार से डरने का अपना स्वधर्म छोड़ नहीं सकते थे । उन्होंने कहा, सरकार नाराज है । हमें सरकार का डर है ।

सरकार हमारा क्या कर सकती है ? हम थोड़े ही उसके आश्रित हैं । काका साहब ने उनको धीरज बंधाने का प्रयत्न किया । कई विद्यार्थी तो ऐसे थे, जिनका शिक्षा के अलावा अन्न-वस्त्र का बोझ भी विद्यालय उठाता आया था ।

बिल्कुल गरीब परिवार के थे। फिर भी उनका कोई-न-कोई रिश्तेदार सरकार का आश्रित था। वे भी काका साहब के साथ रहने के लिए डरने लगे।

उच्च वर्ग की पामरता और गरीब वर्ग की यह निष्काम डरपोक वृत्ति को देखकर काका साहब बहुत दुखी हुए। हाथ मे भले ही एक पाई न हो, सचालक भले ही संस्था को छोड़ दें, शिक्षको की संख्या भले ही कम हो जाए, फिर भी केवल विद्यार्थियों के बल पर विद्यालय चलाने और बढ़ाने की हिम्मत काका साहब रखते थे। पर जब देखा कि एक भी विद्यार्थी उनके साथ रहने के लिए तैयार नही है, वे निराश हो गए।

कुछ विद्यार्थी सरकारी पाठशालाओ मे दाखिल होना चाहते थे। काका साहब ने सोचा इनकी आगे की पढ़ाई का तो प्रबध कर दू। वे शिक्षा विभाग के मुख्य अधिकारी के पास गए और उनसे पूछा, क्या आप इन विद्यार्थियो को सरकारी पाठशालाओ मे ले सकेंगे?

अधिकारी ने जवाब दिया, आप अगर गगनाथ विद्यालय की ओर से पूछने आए हो तो मै आपसे बात भी करने के मिए तैयार नही हूं। हर एक विद्यार्थी व्यक्तिगत रूप मे अपनी-अपनी अर्जी भेज दे। हर एक पर स्वतंत्र रूप से विचार किया जाएगा।

काका साहब अपना-सा मुह लेकर रह गए। वे अपने को सब तरह से परास्त मानने लगे। कितनी श्रद्धा-भक्ति के साथ उन्होने यहा अपना शिक्षा का प्रयोग चलाया था! कितने सुदर-सुदर स्वप्नो को संजोया था। किन्तु सारे स्वप्न मटिया-मेट हो गए।

क्राति के नाम से देश मे जो-कुछ चल रहा था वह भी सारा निराशाजनक था। काका साहब अब भी यही मानते थे कि देश अगर स्वतंत्र होगा तो सशस्त्र क्रांति के द्वारा ही होगा। पर सशस्त्र क्रांति एक चीज है और इक्की-दुक्की हत्या बिलकुल अलग चीज है, यह समझाने पर भी क्रांतिकारी समझते नही थे। वे यही मानते थे कि इन इक्की-दुक्की हत्याओं से ही अंग्रेज घबड़ा जाएंगे। हां, घबडा तो जाएंगे, पर क्या वे इतने घबड़ा जाएगे कि देश छोड़कर भाग जाएंगे? इतने कमजोर और बुजदिल अग्रेज न कभी थे, न हैं। अच्छा, आज तक हमने जो हत्याएं की वह किनकी की? कर्जन वाइली और जैक्सन जैसों की ही न? कहते हैं कि कर्जन वाइली लंदन मे भारतीय विद्यार्थियों के बीच जासूसी करता था।

पर यह भी सुनने में आया है कि वह भारतीय विद्यार्थियों को मदद भी करता था। जो हो, उसकी हत्या करके हमें क्या मिला ? मदनलाल ढ़ींगरा जैसे एक तेजस्वी नौजवान को हम खो बैठे, यही न ? क्या मदनलाल का हमारे क्रांति-कार्य में दूसरा कोई अच्छा उपयोग नहीं किया जा सकता था ? जिसकी कोई कीमत नहीं थी ऐसे कर्जन वाइली की हत्या के लिए हमने कितनी बड़ी कीमत चुका दी ! क्या यह घाटे का व्यवहार नहीं है ? जैक्सन की हत्या के लिए भी हमने बहुत बड़ी कीमत चुकाई है। क्या, इसकी आवश्यकता थी ? सुना है, जैक्सन दुष्ट अंग्रेजों में से नहीं था। बड़ा विद्वान था। संस्कृत भाषा का पंडित था। प्रचीन भारत का प्रेमी था। कभी कोई कठोर शब्द उसके मुंह से नहीं निकला, इतना अच्छा आदमी था। डा० भांडारकर जैसे की भी जैक्सन के बारे में यही राय थी। उसकी हत्या करके हमें क्या मिला ? हमने क्या पाया ?

जबसे सावरकर से अलग हुए तभी से काका साहब सभी क्रांतिकारी साथियों से यही कहते आए थे कि इक्की-दुक्की हत्याओं का रास्ता क्रांति का रास्ता नही है, बल्कि क्रांति के मार्ग में रुकावटें डालने का रास्ता है। क्रांति बहुत बड़ी चीज है। बिना योजना के, बिना व्यापक संगठन के क्रांति हो ही नही सकती। वे अपने साथियों को यह समझाते थे, तो सभी आदर के साथ उनकी बात सुन लेते थे, पर करते वही थे, जो करते आए थे। समझ में नहीं आता था कि ऐसा क्यों होता है ? क्या मैं जो कह रहा हूं, वह अव्यावहारिक है ? क्यों मैं केवल स्वप्नदर्शी हूं ? व्यावहारिक क्रांतिकारी नही हूं ?

पिछले लगभग छह सालों में उनका देश के कई क्रांतिकारियों से सम्बंध रहा था। कई तो घनिष्ठ मित्र भी बने थे। सेनापति बापट को ही लीजिए। कितने अच्छे आदमी हैं ! निर्भय, निःस्पृह, नम्र ओर निर्मल। डेक्कन कालेज के होशियार विद्यार्थियों मे गिने जाते थे। सरकारी छात्रवृत्ति पाकर वे इंगलैंड गए, पर देश की आजादी सिर पर सवार हुई थी। पढ़ाई के बदले बम बनाने का विज्ञान सीख आए। 1908 में मुजफ्फरपुर में जो बम फटा, उन्हीं का बनाया हुआ था। पर...

बेचारे भागे-भागे फिरते हैं। निराश तो नहीं हुए, पर तंग आ गए हैं। आंखिर कितने दिन ऐसे छिपकर भटरगश्ती करते रहेंगें ? बड़ौदा में वे अनेक बार उनके यहां आकर रहे थे। कहते थे, क्रांति का संगठन ऐसे चोरी-चोरी हो ही नहीं सकता।

क्रांतिकारियों में एक तरफ सेनापति बापट जैसे निर्भय और निर्मल लोग हैं तो दूसरी तरफ आबा साहब रामचंद्र जैसे चंट भी हैं। ऊपर से भोले-भाले, आडम्बर-हीन, त्यागी दीखते हैं। पर अंदर से पूरे चालबाज हैं। औद्योगिक क्रांति के द्वारा राजनैतिक क्रांति करने की कई योजनाएं उन्होंने बनाई और कइयों को धोखा दिया। गंगाधररावजी और केशवरावजी-जैसे मनीषी भी उनके भुलावे में आ गए और बाद में पछताए। सेनापति बापट को उन्हीं ने पकड़वा दिया। मतलब, पुलिस से भी उनका मेल था। अभी-अभी केशवरावजी को नौकरी से जो हाथ धोना पड़ा, उसमें भी आबा साहब रामचन्द्र का हाथ था। क्रांतिकारी अगर सतर्क रहते तो ऐसे धोखेबाज लोग उनके बीच घुस ही न पाते। पर, सतर्कता और क्रांतिकारिता की हमारे यहां माना दुश्मनी ही है। कई तो जबान से ढीले थे। कोई योजना बनाए तो कुछ ही दिनों में सरकार को उसका पता लग जाता। क्रान्ति की सारी प्रवृत्तियां छिछली सिद्ध हुई। ऐसी प्रवृत्तियों से भारत स्वतंत्र हो ही नही सकता। इन प्रवृत्तियों की न तो कोई दिशा है, न ही कोई दिशा दिखाने वाला है। न कोई नियंत्रण है, न ही नियंत्रण में रखने वाला कोई है। देश नेतृत्वहीन है। तिलक मंडाले मे सड़ रहे हैं। अरविंदबाबू सब-कुछ छोड़कर पांडिचेरी में योग-साधना में लीन हो गए हैं। विपिनचन्द्र पाल थके-मांदे मालूम होते हैं। हां, गोखले जरूर कुछ-न-कुछ बोलते रहते हैं। पर उनकी राजनीति हमारी राजनीति न कभी थी और न है।

क्या, भारत माता को स्वतंत्र देखने के स्वप्न भी मटियामेट हो गए हैं? ठीक इसी समय किसी ने आकर उन्हें बताया कि अंग्रेज सरकार ने उन्हें भी गिरफ्तार करने के लिए वारंट निकाला है।

काका साहब को चारों ओर अंधेरा-ही-अंधेरा दिखाई देने लगा। अंतर्मुख होकर वे अपनी निराशा के विरुद्ध लड़ते रहे। इस निराशा के अंधेरे में अचानक उनकी आंखों के सामने हिमालय आ खड़ा हुआ। जब से रामतीर्थ की रचनाओं का मराठी में अनुवाद किया था, तभी से उसके प्रति उनके मन में असाधारण आकर्षण पैदा हो गया था। स्वामी आनंद, जो राष्ट्रमत के समय से उनके घनिष्ट मित्र बने थे, हिमालय में ही रहते थे और कई बार उन्हें वहां बुलाया करते थे। आध्यात्मिक साधना ने दिल में जब-जब जोर पकड़ा, हिमालय जाने की उनकी इच्छा भी उतनी ही बलवती हो उठी। अब जब इस अंधेरे में उन्हें हिमालय का स्मरण हुआ, उन्हें लगा, यह ईश्वर की ही योजना होनी चाहिए।

> मालूम होता है, मैं सारे सांसारिक बन्धन छोड़ दूं, सारी ऐहिक प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाऊं और अध्यात्म साधना के लिए हिमालय चला जाऊं, यही ईश्वर की इच्छा है। वरना मेरे चारों और वह ऐसी निराशा ही निराशा न खड़ी कर देता। अध्यात्म साधना का मेरा संकल्प फलीभूत हो इसीलिए उसने मुझे यह मदद भेज दी है। निराशा के द्वारा ही वह मुझे इन सांसरिक बन्धनों से मुक्त करना चाहता है।

उन्होंने हिमालय जाने का निश्चय कर लिया। वे केशवरावजी से विदा लेने के लिए गए। उनके सामने उन्होने अपना यह निश्चय प्रकट किया और उनसे आशीर्वाद मांगा। बोलते-बोलते वे रो पड़े। केशवरावजी ने कहा, संकल्प तो शुभ है। कठिनाइयां, मुसीबतें सहते-सहते संकटों का सामना करने का अभ्यास हो ही जाएगा।

'कठिनाइयों या मुसीबतो का डर होता तो हिमालय में जाने का संकल्प ही न किया होता,' काका साहब ने उन्हें जवाब दिया, 'मैने तो सांसारिक दुनिया से ही मुक्त होने का संकल्प किया है। मेरी आंखों मे आंसू आए उसका कारण हिमालय की यात्रा की मुसीबते नही है, बल्कि शिक्षा के जो मैंने प्रयोग किए, भारत की स्वतंत्रता के जो स्वप्न देखे, उनका इस तरह अंत हुआ देखकर मुझे दुःख हुआ, इसलिए आंसू आए हैं।'

हिमालय जाने का संकल्प उन्होंने केशवरावजी को छोड़कर केवल अनंतबुवा मर्ढेकर को ही बताया था और किसी को नही। मर्ढेकर उनके साथी थे। काकी बीमारी से अच्छी होकर कुछ महीने पहले बड़ोदा लौट आई थी। वह गर्भवती थीं। उनसे काका साहब ने इतना ही कहा, 'प्रसूती के लिए तुझे मैं वैसे भी मायके भेजना चाहता था, अब मैं स्वयं तेरे साथ वहां जाऊंगा। तुझे वहां छोड़कर पिताजी की अस्थियां लेकर प्रयाग जाऊंगा। प्रयाग के त्रिवेणी संगम मे अस्थियां समर्पित करके बनारस से गया जाऊंगा। गया में पिताजी का श्राद्ध करके बाद में और थोड़ी यात्रा करके लौट आऊंगा। काका साहब कहते है :

> मेरे मन में जो चोरी थी 'वह और थोड़ी यात्रा करके' इन शब्दों में मैंने रख दी थी। मैं हमेशा के लिए जा रहा हूं, वापस लौटना नहीं चाहता इस बात का संदेह भी मैंने उसके मन में पैदा नही होने दिया।

वे बड़ौदा से बिदा हुए। काकी और शंकर को लेकर वे शाहपुर गए। साथ में अनंतबुवा मर्ढेकर थे। गंगनाथ विद्यालय बंद हो गया है, यह समाचार शाहपुर में पहुंच गया था। सब रिश्तेदारों को यह मालूम हो गया था।

मेरे ससुर और उनके ससुर दोनों ने मुझे और एक बार समझाने की कोशिश की। आप आधे एल०एल०बी० तो हैं, अब एल०एल०बी० पूरी कर लीजिए और कहीं वकालत शुरू कर दीजिए। आप खूब कमाएंगे। जो कमाएंगे, उसका आधा हिस्सा राष्ट्र-कार्य को दे दीजिए। हम आपको मना नहीं करेंगे। ये दलीलें मैंने इससे पहले भी कई बार सुनी थीं और हर बार उनसे बहस भी की थी। अबकी बार सोचा, जब मैं अच्छी तरह जानता हूं कि ये लोग समझाने पर भी समझने वाले नहीं हैं, तब उनसे बहस करना बेकार है। इसलिए मैंने उनसे कहा, जवानी में आदर्शवाद का भूत सिर पर सवार होता ही है। मुझ पर भी वह सवार हुआ। इसलिए मैंने देश-सेवा की राह पकड़ी। अब मैं अनुभव से व्यवहार समझने लग गया हू। अब मैं यहां से गोवा जाऊंगा, वहां से प्रयाग जाऊंगा। वहां पिताजी की अस्थियां गंगार्पण करके थोड़ी और यात्रा करके लौटूंगा।[1]

अपने भाई नाना से उन्होंने इतना ही कहा, मैं जल्दी लौटकर नहीं आऊंगा। काकी मायके रहेगी, उसकी मुझे चिंता नहीं है। पर कोई यह न कहे कि पत्नी और बेटे का बोझ ससुर पर डालकर मैं यात्रा करने गया हूं, इसलिए तुमसे मेरा इतना ही निवेदन है कि बेलगुंदी के खेत की पैदावार प्राप्त करके वह काकी के पास भेज दिया करना।

इस प्रकार राष्ट्रीय शिक्षा, देश की स्वतंत्रता और अपनी गृहस्थी सब-कुछ छोड़कर काका साहब हिमालय के लिए चल पड़े।

चैत्र प्रतिपदा से रामनवमी तक गोवा में रहे और गोवा से उदासीन अंतःकरण के साथ रवाना हुए।

1. लेखक के साथ बातचीत से।

मिशन की खोज

त्रिस्थली की यात्रा

काका साहब लिखते हैं :

> हिमालय की इस यात्रा के लिए जो तैयारी पहले से करनी चाहिए, वह मैंने नहीं की थी।...हिमालय की यात्रा पर जाने वाले को हिन्दी भाषा का काम चलाऊ ज्ञान होना ही चाहिए, वह मेरे पास नही था।...उसके स्थानीय इतिहास और स्थानीय भूगोल की साधारण जानकारी भी मुझे नहीं थी।... पूर्व तैयारी के रूप मे मेरे पास उत्साह की पूजी यथेष्ट थी। शरीर दुबला-पतला था, किन्तु कष्ट-सहिष्णु था। बरबाद करने के लिए समय की कमी न थी। बिना किसी उद्देश्य के जीवन बिताने की मानसिक तैयारी भी थी। मुझे रसोई बनाना आता था, पानी में तैरना आता था और अकेले-अकेले मनोराज्य में मग्न होना भी आता था। प्रकृति के साथ एकरूप होने की मनोवृत्ति बन चुकी थी। और...बड़ी-से-बड़ी तैयारी थी, प्रेमी मित्रों का साथ।

समुद्र के रास्ते वे गोवा से बम्बई गए। बम्बई मे कोई खास काम नही था पर जब मै घर छोड़ा था, मन मे एक विचित्र मनोभाव की लहरें उठ रही थी। लगता था, 'मै महाराष्ट्र छोड़कर जा रहा हूं। शायद लौट भी न सकूं। अब मराठी की मीठी बातें फिर कहां सुनने को मिलेंगी ? एक तरफ हिमालय खीच रहा था, दूसरी तरफ महाराष्ट्र का मोह छूट नही रहा था।...बम्बई महाराष्ट्र का अंतिम दर्शन था। मुझसे किसी तरह बम्बई छोड़ी नही जाती थी। मुझे महाराष्ट्र मे इतना अनुराग होगा, मराठी भाषा मुझे इतनी प्यारी होगी, इसकी कल्पना भी इतने दिनों तक मुझे नही थी। मैं महाराष्ट्रीय हूं, यह भावना जब मैंने बम्बई छोड़ी, तभी यथार्थ मे जाग्रत हुई।'

बम्बई से वे बड़ौदा गए। भूत बनने पर जीवात्मा जिस प्रकार अपनी मृत देह को अनेक मिश्रित भावों से देखती है, उसी प्रकार वैसे ही मिश्रित भावों से

गंगनाथ विद्यालय का मकान आदि सब अन्तिम बार देख लिया और शिव-जयंती के दिन सीमोल्घंन किया।

गाडी मध्य हिन्दुस्तान के विस्तीर्ण प्रदेश से गुजर रही थी। गरमी इतनी सख्त थी कि हरएक स्टेशन पर पानी पीने पर भी गला सूख जाता था। फिर भी, एक चीज के कारण कलेजे मे ठंडक पहुचती रहती थी। हरएक स्टेशन पर मराठी भाषा सुनाई देती थी। मराठी भाषा जहा तक सुनने को मिली वहा तक मैं महाराष्ट्र मे हूं, इस विचार से चित्त को शान्ति मिली। जबलपुर तक यह सिलसिला रहा।

जबलपुर मे लेले नामक उनके एक मित्र रहते थे। उन्हे खोजकर उनके यहा भोजन किया। यही उनका आखिरी महाराष्ट्रीय भोजन था। विचित्रता यह रही कि उन्हे यह भोजन गुप्तवेश मे करना पडा। कुछ वर्ष पहले लेले बम्बई मे एल० एल० बी० पढ रहे थे। उन्ही दिनो बडौदा मे वामनशास्त्री दातार बम्बई आए थे। गगनाथ विद्यालय के लिए वे एक अच्छे हेडमास्टर की खोज मे थे। काका साहब उन दिनो 'राष्ट्रमत' मे काम करते थे। इसलिए उन्होने अपने मित्र लेले को वकालत का धधा गदा है, उसकी अपेक्षा राष्ट्रीय शिक्षक होना कही अच्छा है, यह समझाने की कोशिश की थी और उसमे वे सफल भी हुए थे। इसलिए लेले के सभी आत्मीय और सगे-संबंधी क्रोध के मारे उनमे जलते थे। किसी ने काका साहब को देखा नही था, पर नाम सुना था। इसलिए उन्हे देखकर लेले ने उनसे अग्रेजी मे कहा, 'भाई, मेरी मा को अगर पता चल जाए कि तुम कौन हो तो तुम पर तुरत फूल बरसने लगेगे। आधे घंटे मे ही तो तुम्हे लौट जाना है। इतनी-सी देर के लिए व्यर्थ का बखेड़ा क्यो मोल लिया जाए?' काका साहब ने उनकी बात मान ली और चोर की तरह चुपचाप नहा-धोकर भोजन किया और उस प्रेमल माता का आशीर्वाद पाकर वहा से रवाना हो गए।

यात्रा का पहला धाम था प्रयागराज। काका साहब को यहा के गगा-यमुना और गुप्त सरस्वती के संगम मे पिताजी की अस्थियो का विसर्जन करना था। वह काम पूरा करके उन्होने श्राद्ध किया और बनारस के लिए रवाना हुए।

रवाना होने से पहले उन्होने अक्षयवट का दर्शन किया और उसी किले मे सम्राट अशोक का जो शिल्प-स्तंभ है, वह देखने गए। इस स्तभ के पास जाने के लिए सिपाही की थोड़ी खुशामद करनी पड़ी। सिपाही पंजाबी था। कहने लगा

वहां दर्शन के लिए कोई चीज नही है। दर्शन तो उस गुफा मे हैं, जहां अक्षयवट है। काका साहब लिखते हैं :

> वह बेचारा क्या जाने कि मेरे लिए दर्शन क्या है? इस पत्थर के गोल खम्बे पर दिग्विजय और धर्म-विजय के दो स्वतंत्र और अमर लेख हैं, इसका बोध उसे कब होगा? क्या हिन्दुस्तान मे शिक्षा अनिवार्य और सार्वत्रिक होगी तब? या राष्ट्रीयता की उमंग घर-घर पहुंचेगी तब? या कोई लोक कवि जनता की विभिन्न बोलियो मे उसकी महिमा गाएगा तब?

बनारस यानी काशी। काका साहब पहले भी एक बार काशी गए थे, पर इस नगरी की विशेषता ही यह रही है कि आप चाहे जितनी बार वहां हो आएं, परिचय मे उत्पन्न होने वाली अवज्ञा आपके मन मे कभी पैदा नही होगी। कुछ लोगों ने इस नगरी को 'दी सिटी आफ दी डैड एंड दी डाइंग' मृतकों और मरणोन्मुखो की नगरी कहा है। पर काका साहब कहते हैं :

> इसकी जितनी जिंदा नगरी दुनिया मे दूसरी नही मिलेगी। भारतवर्ष मे कई बड़े-बड़े साम्राज्य खड़े हुए और देखते-ही देखते सब नामशेष भी हो गए। उनकी बडी-बडी राजधानिया छोटे-छोटे गांवो मे रूपांतरित हो गई। पर काशी ज्यो-की-त्यों बनी हुई है, क्योंकि यहां धर्मचिंतन की परम्परा अखंड चलती आ रही है। काशी मे आज भी कर्मकांडियों के यज्ञयाग चलते हैं, वेदांतियों की अद्वैत की चर्चा सुनने को मिलती है। जो भी नया विचार इस देश में पैदा हुआ, काशी मे आते ही उसको अपना घर मिला। काशी का नाम लेते ही जैसे हरिश्चंद्र का स्मरण होता है, वैसे ही बुद्ध और महावीर का भी होता है। सबसे अधिक कबीर हमारा ध्यान अपनी ओर खीचते हैं।

गंगाजी के पुल पर से ट्रेन गुजरी तब काका साहब का ध्यान अबकी बार औरंगजेब की मसजिद की दो मीनारों ने खीचा और वे सोचने लगे, औरंगजेब ने धर्मान्धता के जोश मे विश्वेश्वर का मंदिर तुड़वा डाला और उसकी जगह यह मसजिद बनवाई। औरंगजेब की मृत्यु हुई, मुगल साम्राज्य का पतन हुआ, हिन्दुओं का साम्राज्य लगभग सारे देश में फैल गया। काका साहब लिखते है :

> फिर भी, काशी-जैसे हिन्दुओं के पवित्र धर्म-स्थल में इस्लाम की पताका के समान विराजती हुई मसजिद तोड़ डालने के विचार ने हिन्दूओं को स्पर्श

तक नही किया । आज यह मसजिद इस्लाम के विजय की पताका नही रही है । बल्कि हिन्दुओं की सहिष्णुता की ध्वजा है ।...इन दो मीनारों के पीछे हिन्दुस्तान के इतिहास का परम-रहस्य, चरम-रहस्य छिपा हुआ है ।

जहां उन्होने हिन्दू धर्म का यह उज्जवल रूप देखा वही उन्हे उसका एक घिनौना रूप भी देखने को मिला । वे मणिकर्णिका घाट पर नहाने गए थे । वहां गंगाजी का ही पानी लेकर उन्होने गगाजी का अभिषेक किया, फिर चक्रपुष्करिणी तीर्थ पर गए । पांच फुट चौड़ा और पच्चीस-तीस फुट लम्बा एक गड्ढा । उसमे सैकड़ो लोग नहाते थे । उनके पसीने की मोटी पर्त पानी पर जम गई थी । तो भी सैकड़ों यात्री मृत्यु के बाद के नरक मे बचने के लिए इस नरक मे बड़े शौक से गोते लगा रहे थे । पास मे एक गगापुत्र खड़े थे । काका साहब को देखकर बोले, 'आइए महाराज, स्नान कीजिए ।' काका साहब ने 'नही' कहा तब वे चौके । पूछने लगे, 'क्यों, इस तीर्थ का ज्यादा माहात्म्य नही है ?'

'क्यों नही ?' काका साहब ने जवाब दिया । 'आदमी एक बार इसमे नहा ले तो फिर उसे नरक मे जाने की जरूरत ही न रह जाए ।'

मन-ही-मन उनको लगा, इस भगवती गगा ने पापी लोगों के पाप शायद धो डाले होगे । अब गगामैया को चाहिए कि धर्म के नाम से समाज म जो अधार्मिक आदर्श, अंधश्रद्धाएं, रूढ़ियां फैल गई हैं, उन्हे भी धो डालें ।

उनके मन मे एक बड़ा सवाल जाग उठा, काशी मे बड़े-बड़े दर्शनशास्त्री हो गए, और हैं । पर इनमे से किसी ने दर्शनशास्त्री के अनुकूल समाजशास्त्र की रचना क्यों नही की ? क्या उन्होंने यही माना कि समाज जैसा है, वैसा ही हमेशा रहने वाला है ?

प्रयाग, काशी और गया---त्रिस्थली की इस पूरी यात्रा मे उनके दिमाग में यही एक सवाल चक्कर काटता रहा ।

गया में फल्गु नदी के किनारे उन्होंने पिताजी का श्राद्ध किया । सारी क्रियाए पूरी करके वे पिंड के साथ गदाधर के मदिर में गए । वहां उपाध्याय ने उनसे कहा, गया में आकर श्राद्ध करना मनुष्य के गृहस्थ जीवन का अन्तिम कर्तव्य है । आपका यह कर्तव्य आज संपन्न हुआ । अब आपको काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इन षड्रिपुओं का त्याग करना चाहिए । पर आज के कलियुग में

यह बात किसी के लिए सम्भव नही होती । इसलिए उसके बदले किसी एक वस्तु का त्याग करना चाहिए ।

'चीनी छोड़ दूं तो ?' काका साहब ने पूछा ।

आसपास मे दस-पंद्रह आदमी खड़े थे । वे यह प्रश्न सुनकर चकित हो गए । कहने लगे, 'भला, चीनी क्यों छोड़ दी जाए ?'

'चीनी छोड़े मुझे पांच साल हो गए', काका साहब ने जवाब दिया ।

उपाध्यायजी ने कहा, 'करेला या कद्दू-जैसी कोई चीज छोड़ दीजिए ।'

'धर्म के नाम पर मैं ऐसा कपट नही करूंगा ।' काका साहब ने जवाब दिया । 'मै तो क्रोध ही त्याग करने का प्रयत्न करूंगा ।' और मन-ही-मन उन्होंने इसमे और एक बात जोड़कर कहा, 'और अंधश्रद्धा भी ।'

हा, अंधश्रद्धा भी । प्रयाग, काशी और गया मे उन्होने अज्ञान और अंधश्रद्धा का ही साम्राज्य फैला हुआ देखा । श्रद्धा-जैसी अत्यंत पवित्र क्रिया का जो स्वरूप यहा गया मे उन्हे देखने को मिला, वह अंधश्रद्धा नही तो क्या था ? एक ओर यह अंधश्रद्धा और दूसरी ओर पुरोहितो का पाखंड, ढोंग, दम्भ, मिथ्याचार । दिमाग मे यही विचार चक्कर काटने लगा, क्या यही वह हिन्दू धर्म है, जिसके प्रति स्वामी विवेकानन्द ने मेरे मन मे श्रद्धा पैदा की थी ? कितना सुंदर जीवन-दर्शन हिन्दू धर्म ने हमे दिया है । उसकी ऐसी दुर्दशा क्यों और कैसे हो गई ? अब इसका इलाज क्या है, किसके हाथ मे है ? त्रिस्थली की यात्रा मे हिन्दू धर्म का जो दर्शन होता हे, उसे देखकर अगर किसी के मन मे हिन्दू धर्म के प्रति अश्रद्धा या निराशा पैदा हो जाए तो उसे दोष नही दिया जा सकता । क्या अंधश्रद्धा, विवेकहीनता और जड़ता यही हिन्दू धर्म का स्वरूप है ?

इन प्रश्नो ने धीरे-धीरे उनके मन मे खोज का रूप ले लिया । मानों उन्हें एक नया कार्यक्रम ही मिल गया । अब यह तीर्थयात्रा मामूली तीर्थयात्रा नही रही, वह खोज-यात्रा में रूपांतरित हो गई । वे प्रकाश पाने के लिए अपनी प्रिय उपनिषद और गीता जैसी पुस्तकों मे और गहराई मे उतर गए ।

गया के पास ही बोधगया है । यही नेरंजरा नदी के तीर पर राजपुत्र गौतम, गौतम से मिटकर बुद्ध हो गए थे । काका साहब के मन में भगवान बुद्ध के प्रति

नितांत भक्ति थी। इसलिए उनके लिए यह तीर्थ मामूली तीर्थ नही था। इसके दर्शन किए वे बिना आगे जा ही नही सकते थे।

जिस अश्वत्थ वृक्ष के नीचे भगवान बुद्ध ने साधना की थी, वहा आज एक भव्य मदिर खड़ा है। बगल मे भगवान बुद्ध के चक्रमण का धर्मचिंतन करते हुए चक्कर लगाने का— स्थान है। वह अश्वत्थ वृक्ष, वह भव्य मदिर और चक्रमण का वह पावन स्थान देखकर वे गद्गद् हो गए।

कुए से पानी निकालकर पहले उन्होने हाथ-पाव धोए, पानी पिया और प्रसन्न अंत.करण से मदिर में दर्शन करने गए। भगवान बुद्ध की भव्य मूर्ति को साष्टाग दण्डवत प्रणाम करके उन्होने मदिर की परिक्रमा शुरू की। वे लिखते हैं:

> मैं ज्यो-ज्यो परिक्रमा करता था, त्यो-त्यो मेरा भाव बदलता था। अब तक का सारा जीवन दृष्टि के सामने खडा हो गया और तुरंत दृष्टि शून्य हो गई। पानी में तैरने वाला तैराक डुबकी लगाकर पानी मे गहरा पैठता है, तब जिस प्रकार वह निर्भय होते हुए भी भयभीत-सा हो जाता है, वैसा ही कुछ अनुभव हुआ। जीवन के पृष्ठभाग पर तो मैंने खूब विचरण किया था, पर इस बार मै गहराई मे उतरा।

इस तरह का अनुभव काट के 'थिग इन इटसेल्फ, दैटनैस' पर सोचते-सोचते फर्ग्युसन मे आया था, वह एक प्रकार का धर्मानुभव ही था। पर आज की तुलना मे वह स्पर्शमात्र था।

परिक्रमाए पूरी करके वे पिछवाड़े के अश्वत्थ को वंदन करने गए। घर का 'त्याग कर मै हिमालय की ओर जा रहा था। मैंने अपनी नाव की सारी रस्सिया काट डाली थी। सारी पतवारें चढ़ा दी थी। मेरी नौका फिर से अपने पुराने बंदरगाह में लौटेगी, यह धारणा नही थी।...मेरी मनोवृत्ति का वर्णन कैसे हो सकता है? मैं बाहर से शांत था, पर अंदर मानो ज्वालामुखी धधक रहा था।'

वहां से उठकर वे पास के तालाब के किनारे जा बैठे। तालाब मे असख्य कमल खिले थे। पर वे उस परिक्रमा के अनुभव के साथ इतने एकरूप हो गए थे कि उन कमलो की ओर उनका चित्त —हमेशा का कला रसिक चित्त— आकर्षित नही हुआ।

हिमालय की ओर प्रस्थान करने से पहले दो स्थानों के दर्शन अभी बाकी थे। एक था, जिनके ग्रथो के कारण उनमे फिर से धर्मश्रद्धा स्थापित हुई, उन स्वामी विवेकानन्द के बेलुड़ मठ का और दूसरा, जहा प्रभु श्रीरामचद्रजी का जन्म हुआ और जहा उन्होने राज्य किया, उस अयोध्या नगरी का। महयात्री अनंतबुबा मर्ढेकर रामदासी सप्रदाय के थे। उनके लिए अयोध्या-दर्शन मानो पुण्य-यात्रा थी तो बेलुड मठ का दर्शन काका साहब के लिए महायात्रा थी।

बोध गया से वे बगाल की ओर रवाना हुए। बंगाल की ओर वे पहली ही बार जा रहे थे, इसलिए हृदय उत्सुकता से उमड पडा था।

लिलुआ स्टेशन पर उतरे, वहा पूछताछ की : बेलुड मठ यहा से कितना दूर है ?

कितने दु ख की बात है कि चारो खडो मे विख्यात विवेकानन्द के बेलुड मठ का पता यहा लिलुआ स्टेशन पर कोई भी न जानता था। घूमते-घामते बेलुड गाव मे जा पहुचे। वहा एक वृद्ध भद्र पुरुष की मदद से चीटी की चाल से रेंगते-रेंगते (क्योकि उस वृद्ध महाशय की चाल इससे अधिक तेज नही थी) आखिर वे बेलुड़ मठ पहुचे।

वहा पहुचते ही वे सबसे पहले स्वामी विवेकानन्द की समाधि पर गए। समाधि अभी बनी नही थी। पर स्वामीजी की सगमरमर की मूर्ति तैयार थी और वह समाधि के कमरे मे ही रखी गई थी। सुषुप्ति मे गाफिल पड़े हुए और निराश भारतवर्ष को जगाने वाले विवेकानन्द के प्रस्तर मूर्ति मे ही क्यो न हो, दर्शन होगे, यह काका साहब की अधीर और व्याकुल दृष्टि मे बहुत महत्व की बात थी। समाधि के कमरे मे पहुचते ही उन्होने स्वामीजी की मूर्ति के सामने अत्यंत भक्तिभाव से साष्टाग दण्डवत प्रणाम किया और इतने भाव-विभोर हो गए कि एक क्षण के लिए वे बेसुध-से हो गए।

इसके बाद नहा-धोकर वे मंदिर मे गए। मदिर की ऊपर की मजिल मे ताबे के एक डिब्बे मे श्रीराम कृष्ण परमहंस की अस्थिया रखी हुई थी और इस पर श्रीरामकृष्ण की एक छोटी-सी तस्वीर रखी गई थी। उसकी यहां पूजा होती थी। पीछे की ओर ध्यान के लिए एक छोटी-सी कोठरी थी। इस ध्यान मंदिर मे बैठकर काका साहब और मर्ढेकर दोनों ने ध्यान किया। परमहंस की समाधि के सामने बैठकर गीता और उपनिनदो का पाठ किया और वहां से जिस

कमरे मे विवेकानन्द रहते थे, उस कमरे के दर्शन करने गए। दुतल्ले पर यह कमरा था। विवेकानन्द के समय इस कमरे की जैसी स्थिति थी, वैसी ही ज्यों-की-त्यों रखी गई थी। जिस पलग पर वे सोते थे, वह पलग, उसके ऊपर की गद्दी, उनका साफा, उनकी कफनी, कान टोपी, लाठी, कमडल, तम्बोरा सारी चीजें बडे यत्न के साथ ज्यो-की-त्यो रखी थी। कमरे के अदर जाने की इजाजत नही मिली, इसलिए बाहर से झाक-झाक कर सब-कुछ बडे भक्तिभाव से देख लिया। एक अज्ञात साधु के रूप मे स्वामी देश के कोने-कोने मे घूमकर हिन्दू समाज की आज की स्थिति का निरीक्षण करते थे, उस समय उनके साथ जो कमडल भी घूमता था, उसी ने काका साहब का सबसे अधिक ध्यान खीचा। 'मैं विचार करने लगा कि इस कमडल के पेट मे कितने कीमती अनुभव समाए हुए होगे ?'

दोपहर का भोजन उन्होने मठ मे ही किया। वे जानते थे कि बगाली लोग मत्स्याहारी होते हैं, इसलिए उन्होने पहले ही मठपति को सूचित कर दिया था कि वे शुद्ध शाकाहारी है। उनके इस आग्रह के कारण और परमहस की समाधि के सामने उन्होने जो गीता और उपनिषदो का पाठ किया था, उस समय सुने हुए उनके सस्कृत भाषा के शुद्ध उच्चारण के कारण ब्रह्मचारियो मे उनकी प्रतिष्ठा बढ गई थी। ब्रह्मचारी समझ गए कि ये मामूली यात्री नही हैं। इससे कुछ ब्रह्मचारी उनसे आकृष्ट हो गए। इनमे एक मुसलमान था, जो परमहस के उपदेशो का उर्दू मे अनुवाद करता था। उसने पूछा, 'आपने गुरु महाराज का उपदेश पढा है ?'

'जी', काका साहब ने जवाब दिया।

'तो फिर बताइए, काली का वर्ण श्याम क्यो है ?'

'क्योकि आकाश का वर्ण श्याम है। आकाश अनत है। काली भी अनत है, इसलिए काली भी श्याम है।'

काका साहब के ध्यान मे तुरत एक बात आई इसने मेरी परीक्षा ली है, और मुझे पास किया है। इसलिए काका साहब को उससे प्रति प्रश्न पूछने की इच्छा हुई। उन्होने केवल एक प्रश्न पूछा, 'आपने विवेकानन्द की काली 'द मदर' कविता पढ़ी होगी। क्या आप उसका रहस्य मुझे समझाएगे ?'

पर काका साहब की बाजी बिगड़ गई। उसने कहा, 'चलिए, स्वामी प्रज्ञानन्द जी के पास चलेंगे। वे समझा देगे।'

स्वामी प्रज्ञानद यानी पूर्वाश्रम के देवव्रत बोस। एक समय के प्रसिद्ध ब्राह्मो। अलिपुर बम केस मे पकडे गए थे और कई दिनो तक कारावास मे रहे थे। कारावास के एकात मे अरविंदबाबू की तरह उनका भी सारा जीवन-प्रवाह बदल गया था। वे ब्राह्मो से वेदाती बने और सन्यास की दीक्षा लेकर स्वामी प्रज्ञानंद बन गए थे।

प्रज्ञानंदजी ने काका साहब से पूछा, आप इस कविता का क्या अर्थ समझे हैं ? काका साहब ने बता दिया। तब बोले, ठीक है, आपको कविता का रहस्य मालूम है।

अब काका साहब के दो दर्शन बाकी थे। एक तो उन्हे श्री रामकृष्ण कथामृत के लेखक 'एम' का—महेन्द्रनाथ गुप्त का— दर्शन करना था और दूसरा श्रीरामकृष्ण की धर्मपत्नी श्री शारदा माता का दर्शन करना था। महेन्द्रनाथ गुप्त को यहा सब मास्टर मोशाय कहते थे। इन दिनो वे कलकत्ता मे रहते थे। एक ब्रह्मचारी की मदद लेकर काका साहब उनके वहा पहुचे। श्रीरामकृष्ण कथामृत का मराठी मे गुणाजी ने जो अनुवाद किया था, उसमे काका साहब का भी हाथ था। परिचय होते ही मास्टर मोशाय सतोष के साथ बोले, 'तो कथामृत का अनुवाद करने वाले शुष्क पडित नही, बल्कि साधु भी हैं ?'

मास्टर मोशाय से अधिक बातचीत नही हो सकी, क्योंकि वे बड़े व्यस्त थे। इसलिए काका साहब 'उद्बोधन' के कार्यालय मे श्री शारदा माता के दर्शन करने गए। काका साहब लिखते है .

> मैने शारदा माता का दर्शन अत्यत भक्तिपूर्वक किया। पति को ही गुरु मानकर आजीवन उनकी शुद्ध सेवा करने वाली···इस तपस्विनी, ब्रह्मचारिणी और आदर्श पत्नी का दर्शन मैं अपने एक जीवन का अद्वितीय अहोभाग्य मानता हू। मैने उन्हें साष्टाग प्रणाम किया, भक्ति और आर्जवपूर्वक उनके चरणो पर दृष्टिपात किया और उनका आशीर्वाद लेकर वहां से विदा हुआ।

हिमालय में

मर्ढेकर बाबा उनके सहयात्री थे। वे रामदासी संप्रदाय के थे। उन्हें अयोध्या-दर्शन की साध लगी थी। इसलिए काका साहब बाबा के साथ अयोध्या गए। बाबा के लिए यह एक अपूर्व लाभ था। अयोध्या-दर्शन से उनके दिल में आनंद और भक्ति का इतना उद्रेक हो रहा था कि उन्हें देखकर कोई भी यह समझ सकता था कि उनकी दृष्टि स्वाभाविक स्थिति मे नही है।

अयोध्या-दर्शन की बाबा की साध तृप्त हुई, तब दोनों, 'बरसात के बाद बादलों की तरह हल्के हो गए और' हिमालय की ओर चल पड़े।

संकल्पपूर्ति का अपना एक अनोखा आनंद होता है। इस आनंद को पाने पर दोनों ने अयोध्या मे आखिरी रात मानो योगनिद्रा मे बिताई। सुबह उठते ही उन्हें महसूस होने लगा कि मानो वे अब बिलकुल नए आदमी बन गए हैं। अल्मोड़ा मे स्वामी आनंद रहते थे। 'राष्ट्रमत' के समय से वे काका साहब के मित्र थे, उन्हीं के साथ चर्चा करके उन्हें अपना आगे का कार्यक्रम निश्चित करना था। स्वामी हिमालय के भक्त थे और उसके कोने-कोने से परिचित थे। यहां काका साहब को काकी की कुछ चिट्ठियां मिली, जो कई दिनों से उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। एक चिट्ठी से उन्हें यह मालूम हुआ कि काकी ने एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया है और उसका नाम दादाजी के नाम पर बालकृष्ण रखा गया है ओर एक चिट्ठी मे उन्हें यह पढ़ने को मिला कि बेलगूदी के उनके घर की एक दीवार टूट गई है। काका साहब कहते है :

> मैं सारे पाश छोड़कर यहा आया था। इन दुनयावी बातो से मेरा अब कोई वास्ता नही रहा था। मन से भी मैं बिलकुल विरक्त हो गया था, फिर भी मैंने दीवार के बारे में अपने भाई नाना को पत्र लिखा और उसकी जिम्मेदारी लेने की उससे विनती की। दूसरा एक पत्र मैंने काकी को लिखा, जिसका आशय था, संकल्प के अनुसार यात्रा पूरी करके अब मैं तपश्चर्या के लिए हिमालय में आ गया हूं अब यहीं कहीं एकांत में बैठकर तपश्चर्या करना चाहता हूं। कम-से-कम तीन वर्ष मैं तपश्चर्या मे बिताना चाहता हूं। मेरी ओर से अब कोई पत्र पाने की उम्मीद मत रखना। मुझे ढूंढ़ने का भी प्रयत्न मत करना। यदि इस पर भी प्रयत्न करोगी तो पछताओगी।

> यह पत्र मानो एक बम था। इसमें भी मेरे मन में चोरी थी। तीन वर्षों का जिक्र मैंने पत्र में किया था सही, पर तीन वर्षों के बाद लौटने की मेरी कतई नीयत नही थी। मैंने यही सोचा था कि मैं अब हमेशा के लिए हिमालय में रहूंगा। संन्यास की दीक्षा लूंगा और मोक्ष की ही साधना करूंगा। यदि ईश्वर से प्रेरणा मिली तो स्वामी विवेकानन्द की तरह अपनी शक्ति के अनुसार धर्म और देश की सेवा करता रहूंगा। किन्तु यह सब काकी को बताने की जरूरत मुझे महसूस नही हुई। इच्छा ही नहीं हुई। तीन वर्षों मे उसे मेरे बिना रहने की आदत हो जाएगी। तब, उसे अपने आप सब मालूम हो जाएगा या बाद में खुद मैं बता दूंगा ऐसा मैंने सोच था...

काका साहब के इस निश्चय का काकी पर क्या असर हुआ, इस विषय में उनके पुत्र सतीश जो, उस समय शंकर कहलाते थे, कहते हैं :

> हिमालय में जाने से पहले काका साहब ने मेरी मां को और मुझे बेलगांव में नानी के घर छोड़ा था। मैं उस समय तीन साल का भी नहीं था। बेलगांव में लगभग तीन महीने के बाद मेरे छोटे भाई बाल का जन्म हुआ। मुझे याद है कि मेरी नानी को बाल के प्रति अप्रसन्नता थी, क्योंकि उसके अपकुशन वाले कदमों के कारण काका साहब को दूर भाग जाना पड़ा था। उन दिनों मुझे काका साहब का सतत स्मरण रहता था। क्योंकि मेरी मां उनको याद करके रोज रोती थीं। उनका ही विचार करती थी। हफ्ते में पांच दिन व्रत रहती थीं, उपवास करती थी और काका साहब के वापस आने के लिए प्रभु से प्रार्थना करती थीं। मैं अपनी तोतली बोली से काका साहब को तातासाहब कहता था। जब-जब किसी चश्माधारी को देखता तब ऊंची आवाज में मैं पुकार लगाता, मां देख-देख तातासाहब आए हैं। यह सुनकर मां रो पड़तीं...[1]

हिमालय में साधना करनी हो, तो किसी गुरू से मंत्र-दीक्षा लेनी चाहिए, यह काका साहब जानते थे। श्रीरामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द का उन

1. अहमदाबाद की आकाशवाणी से प्रसारित एक वार्तालाप से।

पर प्रभाव था। ये दोनों देवी उपासक थे। बंगाल मे शाक्त संप्रदाय का जोर विशेष है। इन शाक्तों मे वामाचारी और दक्षिणाचारी ऐसे दो भेद हैं। वामाचारी मद्य, मत्स्य, मांस, मैथुन और मुद्रा इन पांच मकारों मे विश्वास रखते हैं। दक्षिणाचारी तंत्रमार्गी होते हुए भी पंचमकारो को नही मानते। श्री रामकृष्ण और विवेकानन्द दक्षिणाचारी थे। ब्रह्मचर्य का विशेष रूप मे आग्रह रखते थे। श्री अरविन्द भी देवी उपासक थे। उन्होंने बड़ौदा में मोहनपुरी नामक एक दक्षिणाचारी संन्यासी से मंत्र-दीक्षा ली थी। केवशराव देशपांडे ने भी उन्ही संन्यासी से दीक्षा ली थी। इसलिए, हिमालय मे जाने का निश्चय किया, तब काका साहब ने केशवरावजी को ही मंत्र गुरू के रूप में चुन लिया था और उनसे उन्होने 'नवार्ण' मंत्र की दीक्षा ली थी। मतलब, हिमालय आने से पहले ही काका साहब दक्षिणाचारी तांत्रिक बन गए थे।

दक्षिणाचारी तांत्रिक देवी को ब्रह्मविद्या देने वाली ईश्वर की चित्शक्ति मानते हैं।

काका साहब का विचार पुरश्चरण के लिए यही कही बैठने का था। हरिद्वार के उत्तर की ओर गंगा के तट पर श्रीनगर नामक एक सिद्धपीठ है। देवी भागवत मे इस स्थान का बहुत माहात्म्य बतलाया गया है। उसमे कहा गया है कि यहा की हुई साधना व्यर्थ नही जाती और शीघ्र ही फलदाई होती है। यही स्थान काका साहब ने पुरश्चरण के लिए चुन लिया था। पूरा हिमालय घूमकर देखने का उनका विचार नही था।

पर हिमालय तो हिमालय है। भले ही कोई संन्यास लेकर यहां आया हो, उसके मन मे चाहे कितना ही वैराग्य क्यों न उप्पन्न हुआ हो, हिमालय के विषय में उसका अनुराग कभी कम नही होता। उल्टे, एक बार उसका दर्शन करने पर वह अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है। फिर बचपन से ही जो सृष्टि की ओर ईश्वर के आद्य अवतार के रूप में देखता आया है, वह हिमालय के एक-से-एक भव्य और एक-से-एक दिव्य दृश्यों को देखने की लालसा भला कैसे छोड़ सकता है। प्रकृति प्रेमी के लिए हिमालय तो मानों रत्नों की एक बड़ी खान है। यहां प्रकृति के हर उन्मेष मे उसे ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन होता रहता है।

स्वामी कहने लगे, पुरश्चरण के लिए कहीं बैठने से पहले कम-से-कम उत्तराखंड की यात्रा तो कर ही लेनी चाहिए। उत्तराखंड हिमालय का परम पवित्र

खंड माना जाता है। यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ और बद्रीनाथ इन चार धामों के अलावा पांच प्रयाग, पांच केदार, उत्तरकाशी, ज्योतिर्मठ और तुंगनाथ आदि प्रख्यात तीर्थ स्थान इसी खंड मे हैं। प्राचीन काल से संत-महंत इसी खंड को तपस्या के लिए पसंद करते आए हैं।

काका साहब को श्रीरामकृष्ण के एक वचन का स्मरण हुआ। वे कहते थे : 'जिसे मोक्ष का रास्ता लेना हो, उसे अपनी सभी छोटी-बडी निर्दोष वासनाओ की तृप्ति पहले कर लेनी चाहिए। काका साहब ने मोक्ष के पथ पर पदार्पण किया था, सांसारिक प्रवृतियो मे और उनके विविध उपाधियों के प्रति उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ था। फिर भी प्रकृति के प्रति उनका जो बचपन से अनुराग था, उससे वे अलिप्त नही हुए थे, न होना चाहते थे। उन्होंने तुरत निश्चय कर लिया, चलो, पहले उत्तराखड का ही दर्शन कर लें।

और वे 'चरैवेति-चरैवेति, करके चल पडे। अब की बार मर्ढेकर बाबा के अलावा स्वामी आनंद भी उनके साथ थे। यात्रा बडी ही दुर्गम थी। पक्की सड़कें तो दूर, यहा उन दिनो कच्ची सड़के भी नही थी, पगडडियों से ही चलना पड़ता था।

हिमालय मे केवल पहाड ही पहाड हैं। सामने एक विशाल पहाड दिखाई देता है, लगता है, इसके ऊपर पहुंचने पर वहा से नीचे उतरना होगा। ऊपर पहुंचने तक यही धारणा रहती है। पर ऊपर पहुंचते ही दिखाई देता है– अरे, हम तो दूसरे एक विशाल पहाड की तलहटी मे हैं। हम चढ़ने लगते हैं, ऊपर चढ़ने पर हम अपने को तीसरे विशाल पहाड़ की तलहटी मे पाते हैं।

एक-एक पहाड़ मानो स्वर्गारोहण की एक-एक सीढ़ी हो। इतना चढ़ने पर वापस लौटना भी मुश्किल हो जाता है। सुबह से शाम बस चढते ही रहो···चढते ही रहो।

चढते समय थकावट अवश्य महसूस होती है। पर ज्यों-ज्यो ऊपर जाते हैं त्यों-त्यों पहाड़ों की शोभा और आसपास की प्रकृति की भव्यता बढ़ती जाती है। फिर, चढ़ने का उत्साह भी बढ़ता है। लगभग आठ सौ मील की यह यात्रा थी। काका साहब ने केवल चालीस दिनों मे वह पूरी की और यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ, तुंगनाथ जैसे स्थान देखकर वे हरिद्वार लौट आए।

उन्होंने इस यात्रा में एक नियम बनाया था। सुई से सिला हुआ कोई कपड़ा बदन पर नही पहनूंगा। धोती, चादर और कान ढंकने के लिए एक मफलर, बस इतने ही कपड़े उनके बदन पर थे। हाथ में नागबेत की एक लाठी थी, जिसके नीचे लोहे ही एक नोक थी। रात को बिछाने के लिए एक चटाई और एक कम्बल और ओढ़ने के लिए एक दोहर --बम इतना ही सामान साथ में लिया था।

यात्रा का उद्देश्य आत्मिक साधना ही था। पर काका साहब पुराने ढंग के यात्री नहीं थे। उनमे देश-दर्शन की जैसी उत्कंठा थी, वैसी ही प्रकृति के सभी उन्मेषों की ओर भक्तिभाव से देखने की दृष्टि भी थी। समाज निरीक्षण की आदत थी और- सबमे महत्व की बात सभी आध्यात्मिक अनुभवो को विवेक की कसौटी पर कसकर देखने की उनमें शक्ति भी थी। कालेज के दिनों मे उन पर बुद्धिवाद का जो प्रभाव पड़ा था, उसने इस उम्र में विवेक का रूप से लिया था। वरना काका साहब लिखते हैं :

> मेरी साधना पुराने ढंग से ही चलती और उसमें पुरानी रूढ़ियों की कृत्रिमता आ जाती। भविष्य की सेवा के लिए मैं निकम्मा बन जाता और आध्यात्मिकता में जो गहराई आई, वह कभी न आ पाती।

उत्तराखंड की यात्रा पूरी करके काका साहब जब हरद्वार लौटे, तब किसी से उन्होंने सुना कि श्रीरामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानंदजी, पास ही मे कनखल के श्रीरामकृष्ण सेवाश्रम मे पधारे हैं। स्वामी ब्रह्मानंद यानी श्रीरामकृष्ण परमहंस के प्रिय शिष्य पूर्वाश्रम के राखाल राजा। काका साहब श्रीरामकृष्ण को इस युग के एक अवतारी पुरुष मानते थे। अत: उनके प्रत्यक्ष संपर्क मे जो रह चुके हैं, उनके दर्शन उन्हें बहुत प्रभावोत्पादक मालूम हों तो उसमे आश्चर्य नही। उनमे समय मांगकर वे उनसे मिलने गए।

स्वामीजी के बारे मे काका साहब ने बहुत कुछ सुना था। एक आनंदी, विनोदप्रिय शिष्यवत्सल गुरु के रूप में उनकी ख्याति थी। इसलिए बड़े ही भक्तिभाव से वे उनके पास गए। काका साहब के आगमन की खबर मिलते ही स्वामीजी बाहर आए। वे अभी ताश खेलकर उठे थे और खेल समाप्त होने पर भी अंतिम खेल के बारे में अपने साथी संन्यासियों से चर्चा कर रहे थे। काका साहब को बड़ा आश्चर्य

हुआ। श्री रामकृष्ण परमहंस के शिष्य और संसार की एक बड़ी संस्था के अध्यक्ष क्या ताश भी खेलते हैं ? उन्होंने अपने-आपमे पूछा। पर जब उनसे बातें शुरू हुई, तब यह सब वे भूल गए और स्वामीजी के प्रति एक तरह की असाधारण आत्मीयता महसूस करने लगे। स्वामीजी के स्वभाव की यह एक विशेषता थी कि थोड़े से परिचय में ही वे दूसरे को अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे। काका साहब ने उन्हें अपनी पूरी जीवन कथा सुना दी और कहा, 'मैं शादी शुदा हूं, मेरे दो बच्चे भी हैं। पर मैं अब घर वापस लौटना नही चाहता। मुझे संन्यास की दीक्षा लेनी है और आपके मिशन मे भर्ती होना है। आप मुझे दीक्षा दीजिए।'

काका साहब कहते हैं :

> उसी समय मुझे यदि दीक्षा मिल जाती तो मै श्री रामकृष्ण परमहंस संप्रदाय का एक संन्यासी बन जाता और जिंदगी-भर क्या करता रहता, इस बात की कल्पना भी आज मैं नही कर सकता।[1]

पर, स्वामीजी ने कहा, 'दीक्षा तो अभी नही दूंगा। आप तीन वर्ष ब्रह्मचारी के रूप मे हमारे यहा रहिए। तीन वर्षों की उम्मीदवारी के बाद ही दीक्षा दी जा सकती है। तब तक आप यहा ध्यानाभ्यास करते रहिए।'

'ध्यान किस स्वरूप का करूं ?' काका साहब ने पूछा।

'फिलहाल तो सच्चिदानंद स्वरूप का ही कीजिए।' स्वामीजी ने जवाब दिया।

काका साहब ने कहा, 'बचपन से मै श्री शंकराचार्य का चिदानद रूप : 'शिवोऽहम् शिवोऽहम्' स्तोत्र गाता आया हूं।'

स्वामीजी ने उनकी बात काट दी और कहा, 'यह तो अद्वैत की भूमिका है। सच्चिदानंद स्वरूप का ध्यान पहले कीजिए। आपकी प्रगति देखकर बाद मे अद्वैत के बारे मे सोचेंगे।'

काका साहब तुरंत संन्यास लेना चाहते थे। पर जब देखा कि यह सम्भव नही है, तीन साल की उम्मीदवारी अनिवार्य है, तब उन्होंने स्वामीजी से कहा,

1. लेखक के साथ बातचीत से।

'उत्तराखंड की यात्रा में मेरी एक दक्षिणी साधु से भेंट हुई थी। उनके मुंह से मैंने कश्मीर के अमरनाथ के बारे में सुना था। तभी मन में यह संकल्प उठा था कि किसी-न-किसी दिन अमरनाथ जाना ही चाहिए। आप चूंकि मुझे दीक्षा के लिए तीन वर्ष रुकने की सलाह देते हैं तो मैं पहले अमरनाथ क्यों न हो आऊं? वहां से लौटने पर मिशन में भर्ती हो जाऊंगा।'

स्वामीजी यह जानते थे कि काका साहब अभी-अभी आठ सौ मील की उत्तराखंड की यात्रा चालीस दिनों में पूरी करके लौटे हैं। एक दुर्गम यात्रा से लौटने के बाद आमतौर से कोई दूसरी दुर्गम यात्रा नहीं करता। सभी एकाध साल रुक जाते हैं। काका साहब को एक यात्रा से लौटने के बाद तुरंत दूसरी यात्रा की तैयारी करते देखकर स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले, 'आप महाराष्ट्रीयों से हम बंगालियों को प्रेरणा लेनी चाहिए...' और कहा, 'ठीक है, आप पहले अमरनाथ हो आइए।'

स्वामीजी का आशीर्वाद लेकर काका साहब तुरंत अमरनाथ की यात्रा के लिए निकल पड़े।

उन्होंने अब अपना 'ब्रह्मचारी दत्तात्रेय' नाम धारण कर लिया।

काका साहब कहते हैं:

> अमरनाथ की यात्रा से लौटने के बाद मैं फिर से स्वामीजी से मिला। मैंने उनसे कहा, इस यात्रा में मैं कई साधुओं के सम्पर्क में आया। संन्यास की दीक्षा लेकर गेरूए वस्त्र पहनने की मुझे जल्दी नहीं है। किसी एक जगह बैठकर पुरश्चरण करने की इच्छा मन में पैदा हुई है। तब स्वामीजी बोले, ठीक है। आप पुरश्चरण कीजिए। पर एक बात का ध्यान रखिए, आपको जब भी हमारे पास आकर रहने की इच्छा हो, बिना हिचकिचाहट आ सकते हैं। आपका यहां हमेशा स्वागत होगा। स्वामीजी के मुंह से यह सुनकर मुझे धन्यता महसूस हुई। मुझे लगा, मानो मुझे अपना घर मिल गया है। मैं हिमालय में करीब डेढ़ दो साल रहा। इस दरमियान मैंने लगभग ढाई हजार मील की यात्रा की। आखिरी यात्रा नेपाल की थी। वहां से लौटने के बाद मुझे लगा कि मेरे जीवन का हिमालय अध्याय अब पूरा हो गया है। उस समय भी मैं सेवाश्रम में जाकर स्वामीजी से मिला

था। मेरे पास नागबेत की एक लाठी थी, जिसने मुझे हिमालय मे कई बार गिरते-गिरते बचाया था। इस तरह की लाठिया उत्तर की ओर नही मिलती। मैने वह दक्षिण मे मगलूर से मंगवाई थी। यह जानते हुए भी कि अपनी इस्तेमाल की हुई चीज सन्यासियो को भेंट नही देनी चाहिए, मैंने यह लाठी स्वामीजी को भेंट मे दे दी और इस शिष्यवत्सल संन्यासी ने प्रेम से उसको स्वीकार भी कर लिया। लाठी उनके हाथ मे देने की मेरी हिम्मत नही हुई। इसलिए मैने उनके कमरे मे एक काने मे वह रख दी। बात यही खत्म नही हुई। कई साल बाद मै कलकत्ते गया था। गाधीजी के साथी के रूप मे प्रख्यात भी हो चुका था। बेलूर मठ मे जाकर स्वामी विवेकानन्द की ममाधि को प्रणाम करने की सहज इच्छा हुई। उन दिनो स्वामी ब्रह्मानदजी वही थे। मै उनसे मिलने गया, तब उन्होने तुरत मुझे पहचान लिया और कहा, 'आपकी दी हुई लाठी अब भी मेरे पास है। बहुत अच्छी लाठी है।' उन्होने श्रीरामकृष्ण परमहस के कुछ वचन इकट्ठा करके एक पुस्तक प्रकाशित की थी। उसकी एक प्रति उन्होने मुझे भेट मे दी। जब भी मुझे उनका स्मरण होता है, तब तीर्थ-स्नान जैसी प्रसन्नता महसूस होती है। श्रीरामकृष्ण के प्रत्यक्ष सान्निध्य म रहकर और उन्ही के मार्ग-दर्शन मे जिन्होने साधना की, ऐसे स्वामी ब्रह्मानदजी-जैसे सत्पुरुष के परिचय मे मै आ सका, यह मै अपना बडा सौभाग्य मानता हू।[1]

काका साहब को सन्यास की दीक्षा तुरत नही मिली, यह एक दृष्टि से अच्छा ही हुआ। क्योंकि वे अमरनाथ से नेपाल तक की लगभग ढाई हजार मील की यात्रा कर सके। डेढ दो साल वे हिमालय मे घूमते रहे। इस यात्रा मे उन्होने जो देखा वह इतना भव्य और भव्यतर था, इतना दिव्य और दिव्यतर था कि उसका आनद खुदगर्ज होकर अकेले-अकेले अनुभव करना उनके लिए कठिन था। उसे दूसरो के सामने प्रकट करने की एक अदम्य इच्छा उनके मन मे जाग्रत हुई। फलस्वरूप उनम जो सुप्त साहित्यकार था, वह जाग उठा। हिमालय के इस भव्य और दिव्य दर्शन के साथ उन्होने जा यहा चिंतन, मनन, ध्यान और निरीक्षण किया उससे उनका आतरिक जीवन बहुत समृद्ध हो गया। जो मत्र साधना की,

1. लेखक के साथ बातचीत से।

उससे भी उन्हें शाति मिली। बाह्य जगत और अंतर जगत के बीच के ऐक्य का वे अनुभव कर सके। 'इतने विपुल और विविध अनुभव मुझे वहा मिले कि मैं कह सकता हू, हिमालय मे जो डेढ दो साल मैने बिताए, उन्नत स्थिति मे बिताए।'[1]

अध्यात्म मार्ग मे मनुष्य जब तक सिद्ध नही होता, तब तक उसकी साधना मे ज्वार-भाटा चलता ही रहता है। कुछ प्रगति भी होती है और कभी-कभी परागति भी होती है। काका साहब को दोनो का यही अनुभव हुआ। पर इस पूरी यात्रा मे घर के लोगो की उन्हे कभी याद भी नही आई। गृहस्थी की आसक्ति उनमे यत्किंचित भी नही रही थी। अपना क्या होगा, कैसे होगा, ऐसे विचार शुरू-शुरू मे आते रहते थे, पर बाद मे वे भी अस्त हो गए। अपने को पूरी तरह ईश्वर के हाथ मे सौपकर उन्होने अपने बारे मे सोचना भी छोड दिया।

नेपाल की यात्रा करके जब वे हृषीकेश लौटे, तब साधना के लिए लक्ष्मण झूले के उस पार स्वर्गाश्रम मे रहने लगे। स्वामी आनद, जो उनके साथ अब तक की सभी यात्राओ मे थे, कैलास मानस की ओर चल पडे। काका साहब यही रहे। क्योंकि वे थक गए थे। कुछ कमजोर भी हो गए थे। अब तक जो यात्राए उन्होने की, उनमे उन्होने हद से ज्यादा कष्ट उठाए थे। इस अति-श्रम के कारण उन्हे बुखार आने लगा। बुखार कभी चढ जाता था तो कभी उतर जाता था। पर लगातार आता रहता था। पास ही मे एक पर्णकुटी मे एक और श्रेयार्थी साधक रहते थे, जो महाराष्ट्रीय थे। उनका नाम था केदारनाथ, जो बाद मे महाराष्ट्र-गुजरात मे नाथजी के नाम से प्रख्यात हुए। काका साहब का उनसे अभी-अभी परिचय हुआ था। काका साहब को बार-बार बीमार पडते देखकर नाथजी चिंतित हुए। वे अपनी पर्णकुटी छोडकर काका साहब के पास ही उनकी सुश्रूषा के लिए उनकी कुटिया मे आकर रहने लगे। इस सुश्रूषा के कारण दोनो के बीच गहरी मित्रता स्थापित हो गई, जो जिंदगी-भर न सिर्फ बनी रही, बल्कि दिन-ब-दिन बढ़ती ही गई।

हृषीकेश मे डाक्टरी प्रबंध संतोषजनक नही था। इसी दरमियान लाला बलदेवसिंह नामक देहरादून के एक सज्जन से नाथजी का परिचय हुआ। उन्होने

1. लेखक के साथ बातचीत से।

उनसे काका साहब की सेहत की बात कही। लालाजी काका साहब को जानते थे। कुछ समय पहले काका साहब उनके यहां अतिथि रह चुके थे। वे आग्रह करके काका साहब को देहरादून ले गए। फलस्वरूप, उनके साथ नाथजी भी देहरादून गये। देहरादून मे डाक्टरों का अच्छा प्रबध था।

यहां काका साहब की सेहत मे कुछ सुधार दिखाई दिया। कुछ ही दिनों मे गर्मियों की छुट्टिया आईं और जीवतराम कृपलानी अपने एक मित्र को लेकर काका साहब से मिलने देहरादून आए। उन्हें यमुनोत्री-गंगोत्री की यात्रा करनी थी। नेपाल की यात्रा उन्होंने काका साहब के साथ की थी। वे भी अब हिमालय पर मोहित हो गए थे। नाथजी ने अब तक यमुनोत्री-गंगोत्री की यात्रा नही की थी। इसलिए काका साहब के आग्रह से कृपलानीजी के साथ नाथजी भी यमुनोत्री-गंगोत्री की ओर चल पड़े। काका साहब उनके साथ टिहरी तक गए और वहां मालदीवल मे स्वामी रामतीर्थ के आश्रम मे साधना करते रहे। रामतीर्थ के शिष्य नारायण स्वामी आश्रम मे ही थे। उनसे पहले ही काका साहब के मैत्री के सम्बंध स्थापित हो चुके थे। काका साहब ने कुछ साल पहले नागेशराव गुणाजी के साथ रामतीर्थ की रचनाओं का मराठी मे अनुवाद किया था। इसलिए एक दृष्टि से यह आश्रम उनके लिए अपना ही था और इसी कारण आश्रम के लिए काका साहब भी अपने आत्मीय थे।

घास के बीज गर्मियों में हमें भले ही न दिखाई दें, पर वे जमीन में तो गड़े रहते ही हैं। वैसा ही कुछ मनुष्य के पूर्व सस्कारों का होता होगा। काका साहब यहां हिमालय में जपयोग, ध्यानयोग और उपासना योग मे एकनिष्ठा से मग्न थे। फिर भी देश की स्वतत्रता के लिए कुछ करना ही चाहिए, यह जो भावना ठेठ बचपन म जाग्रत हुई थी, उसने उन्हे यहा चैन से बैठने नही दिया। पूरी साधना के दरमियान वह उन्हें बीच-बीच मे लगातार कोसती रही कि जब तक देश मुक्त नहीं होता, उससे पूर्व अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न करना एक तरह की स्वेच्छाचारिता और आत्मद्रोह है। यहां मालदीवल मे, स्वामी रामतीर्थ के आश्रम में, इस विचार ने अधिक जोर पकड़ा। अहिंसा का साक्षात्कार अभी हुआ नही था, पर जिस तरह का क्रांति-कार्य देश में चल रहा था, उसमे उन्हें कोई रूचि नही थी; और न विश्वास था। विश्वास बिलकुल उड़ गया था। वे इतना ही जानते थे कि राष्ट्र-संगठन के बिना क्रांतिकार्य असंभव है और राष्ट्र-सगठन का सबसे प्रभावी साधन राष्ट्रीय शिक्षा ही है। फलस्वरूप, उनका राष्ट्रीय शिक्षा

के सम्बंध मे जोरों से चिंतन चलने लगा और हमेशा के लिए हिमालय मे रहने का उनका जो सकल्प था, वह धीरे-धीरे शिथिल होता गया। विचारो मे भी कई परिवर्तन हुए। स्वामी विवेकानन्द के सन्यस्त जीवन का और उनकी लोक-सेवा का मन पर गहरा प्रभाव होते हुए भी रामकृष्ण मिशन के सन्यासियो की रूढिपरस्ती देखकर सन्यास आश्रम के सम्बध मे मन मे विशेष आग्रह नही रहा। सन्यास आश्रम से सन्यस्त-वृत्ति अधिक महत्व की है और वृत्ति यदि सन्यस्त हो तो गेरूए वस्त्र पहनने की कोई आवश्यकता नही है यही नही, बल्कि राष्ट्र-सेवा मे गेरूए वस्त्र अंतराय रूप हो सकते हैं, अतः गेरूए वस्त्र न पहनना ही अच्छा है- इस निर्णय पर वे आ गए।

धीरे-धीरे उनका शिष्य वात्सल्य या यो कहे, उनका अध्यापन-रस फिर से जाग्रत हुआ और वे ध्यानयोग, जपयोग, उपासना योग छोडकर प्रवृत्ति योग की ओर मुडने की सोचने लगे।

किन्तु सोचा, किसी एक जगह बैठकर शिक्षा के नए प्रयाग शुरू कर दू, इससे पहले देश मे जगह-जगह शिक्षा के जो अलग-अलग प्रयोग चल रहे हैं, उनका निरीक्षण एक बार कर लू, यह आवश्यक है।

शांतिनिकेतन में

हरिद्वार के पास कागडी मे आर्यसमाजी लोगो द्वारा एक गुरुकुल चलाया जा रहा था। महात्मा मुशीराम, जो बाद मे स्वामी श्रद्धानद के नाम से प्रख्यात हुए, इस समय इस गुरुकुल के सचालक थे। इस गुरुकुल मे काका साहब ने कुछ समय बिताया। महात्मा मुशीराम से काफी विचार-विनिमय भी किया, पर उन्होने देखा कि वैदिक धर्म और वेदकाल की सस्कृति को पुनरुज्जीवित करके उसके अनुकूल शिक्षा-तत्र खडा करने के इनके यहा प्रयत्न चल रहे हैं। ये प्रयत्न काका साहब को आज की परिस्थिति मे अनुकूल मालूम नही हुए। भारतीय सस्कृति अब केवल वैदिक सस्कृति नही रही है, अपितु वेद काल से बहुत आगे चली गई है। इसलिए गुरुकुल का अनुभव लेकर वे ऋषिकुल मे गए। आर्य समाजियो से प्रेरणा पाकर सनातनियो ने हरिद्वार के पास ही एक ऋषिकुल शुरू किया था। उसके मुख्य अधिष्ठाता के रूप मे उन्होंने चार-छह महीने काम किया। इसके बाद कुछ दिन वैष्णवों के आचार्य-कुल मे बिताए। वृन्दावन मे भारत भक्त राजा महेन्द्र प्रताप का 'प्रेम महाविद्यालय' चल रहा था, उसका भी निरीक्षण किया।

काका साहब कहते हैं :

इसके वार्षिक उत्सव मे प० मदनमोहन मालवीय पधारे थे। उनसे विचार-विनिमय करने का मौका मै क्यो छोड़ू ? मैने उनसे कई प्रश्न पूछे। अध्यात्म, सस्कृति, देश की स्वतत्रता, शिक्षा के आदर्श, इन प्रश्नो को लेकर मैने उनसे काफी चर्चा की। जीवन के आदर्श के बारे मे जब पूछा, तब उन्होने मुझे एक श्लोक सुना दिया :

धर्मार्थं कामा सममेव सेव्याः।
य एक सेवी सनरोजधन्या ॥

बड़े प्रभावशाली ढग से उन्होने मुझे यह विचार समझा दिया। 'यह तो एक धर्मवचन है। उसको इकार कौन करे ? यह ऐहिक जीवन के सर्वांगीण विकास का सूत्र है', मैने उनसे कहा। फिर उनके मुह से एक और श्लोक निकला :

न त्वह कामये राज्य न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्
कामये दुःखतप्ताना प्राणिनामार्ति नाशनम् ॥

(अपने लिए न मै राज्य चाहता हू, न स्वर्ग की इच्छा करता हू। मोक्ष भी मै नही चाहता। मै तो यही चाहता हू कि दुःख से सतप्त हुए प्राणियो की पीडा का नाश हो।)

यह श्लोक मुझे इतना प्रेरणादायक मालूम हुआ कि बाद मे जब मै गाधीजी के आश्रम मे भर्ती हुआ और आश्रम की सुबह की प्रार्थना का सम्पादन करने लगा, तब मैने आग्रहपूर्वक यह श्लोक प्रार्थना मे समाविष्ट करा लिया। गाधीजी को भी यह श्लोक बहुत पसद आया था। लोग मुझसे पूछने लगे, यह श्लोक आपने कहा से लिया है ? मै कहता था, शायद भागवत मे होगा। पर वह कहा का है, यह ढूढने की मुझे कभी जरूरत महसूस नही हुई, क्योकि मालवीयजी के मुह से मैने वह सुना है। बस इतना ही उसकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।[1]

1. लेखक के साथ बातचीत से।

इस प्रकार अलग-अलग शिक्षा मंस्थाओं का निरीक्षण करते वे घूम रहे थे, इसी दरमियान जीवतराम कृपलानी ने उन्हें रवीन्द्रनाथ की गीतांजली पढने को दी। इसमे पहले 'माडर्न रिव्यू' मे उन्होंने रवीन्द्रनाथ के कुछ लेख पढे थे। एक मननशील चिंतक के रूप मे वे उन्हें पहचानते थे। स्वदेशी आदोलन के समय रवीन्द्रनाथ ने बगाल में जो काम किया था, उसके बारे मे ब्रह्मबाधव उपाध्याय से उन्होने काफी कुछ सुना था। पर गीतांजलि ने रवीन्द्रनाथ का जो परिचय करा दिया, वह बिलकुल अनोखा था। गीताजलि मे उन्हें मानो अपने ही हृदय के चिरसचित गूढ़ भाव व्यक्त हुए दिखाई दिए। वह पढते समय यह मालूम नही हुआ कि केवल काव्य सुख का अनुभव ले रहे हैं, बल्कि यह अनुभव हुआ कि हृदय के साथ समस्त जीवन को एक प्रकार का दिव्य आहार मिल रहा है। ऐसा आनंद महसूस हुआ, मानो मनुष्य जीवन का उन्हे एक नया ही साक्षात्कार हुआ है।

रवीन्द्रनाथ केवल कवि नही, बल्कि एक साक्षात्कारी धर्मपुरुष है, जिन्होने मनुष्य जीवन की थाह लगाने की अनेक ढंग से कोशिश की है, ऐसा कुछ उन्हे प्रतीत होने लगा। भारत के सत कवियों की सरस्वती का इस कवि ने आकंठ पान किया होगा। इसीलिए गीताजलि मे जहा देखे, वहा सर्वत्र ईश्वर-भक्ति, निष्ठा और मागल्य की उपासना दिखाई देती है। वरना 'आमार सकल अंगे तोमार परश', इस प्रकार के उद्गार उनके मुह से निकलते ही नही। उनकी साधना भी गहरी होगी। ऐसे शुभ संकल्प से उच्चतर साधना भला दूसरी कौन-सी हो सकती है? उनका लगा, गीतांजलि केवल एक काव्यकृति नही हैं, बल्कि एक पूरी समृद्ध सस्कृति है। गीताजलि हाथ मे आते ही उन्होने एक ही बैठक मे वह पूरी पढ डाली। बाद मे उसके कई पारायण किए। फिर स्नेहियो को वह पढ़कर सुनाई। कई दिनो तक यह सिलसिला चलता रहा। इहलोक विमुख, परलोक परायण उदास जीवन-दर्शन से वे बिलकुल ऊब गए थे। ईश्वर के दिए हुए जीवन का तिरस्कार करना, 'सब असार है' कहकर उदास सुर निकालना और काल्पनिक समाधि सुख के स्वर्गीय आनद का स्तवन करना, इसमे जो कृत्रिमता है उसके प्रति मन में अरुचि पैदा हो गई थी। इसके बदले अपनी सारी निष्ठा जीवन-देवता को अर्पण करने वाला कवि उन्हें आत्मीय और प्रेरक मालूम हुआ हो तो इसमे आश्चर्य नही।

गीतांजलि के पठन मे उन्हें अपूर्व आनंद मिला। एक तरह की आध्यात्मिक तुष्टि मिली और उनकी आध्यात्मिकता की पूरी भूमिका ही बदल गई।

जब मालूम हुआ कि भारतीय संस्कृति के उज्जवल आध्यात्मिक और रसिक परंपरा के प्रतिनिधि रवीन्द्रनाथ शांतिनिकेतन मे शिक्षा का भी एक अभिनव प्रयोग चला रहे है, तब काका साहब को उत्कटता के साथ यह महसूस होने लगा कि उन्हे तुरंत शांतिनिकेतन मे जाना चाहिए और कुछ दिन वहा रहकर रवीन्द्रनाथ के इस प्रयोग का अंतर-बाह्य निरीक्षण करना चाहिए।

कृपलानीजी ने अपने भतीजे गिरिधारी को वहां पढ़ाई के लिए रखा था। वह अंग्रेजी की दूसरी कक्षा में पढ़ता था। उससे मिलने के बहाने काका साहब शांतिनिकेतन गए। रात को पहुंचे थे। दूसरे दिन सुबह उन्होंने रवीन्द्रनाथ को अतिथि गृह की ओर आते हुए देखा। उन्हें क्या मालूम कि वे उन्ही से मिलने आ रहे हैं। किसी ने ध्यान खीचा, तब वे तुरंत बाहर आए और उनके साथ 'शालबीथी' मे चक्रमण करने लगे। न जाने क्यो, रवीन्द्रनाथ यही मान कर चले थे कि यह ब्रह्मचारी दत्तात्रेय पंजाबी हैं। एक-दो प्रश्नो के उत्तर के बाद काका साहब ने स्पष्ट किया कि वे पजाबी नही, बल्कि महाराष्ट्रीय हैं। यह भी बता दिया कि वे हैं तो सनातनी, पर उन्हे विवेकानन्दी मान सकते हैं। रवीन्द्र-नाथ हंस पड़े। फिर दिल खोलकर बाते करने लगे। काका साहब ने उनसे कुछ प्रश्न पूछे। जब यह कहा कि मैं आपके आध्यात्मिक अनुभव के बारे मे भी कुछ जानना चाहता हूं, तब रवीन्द्रनाथ बोले, 'लोग मुझे गुरूदेव कहते हैं, पर मैं गुरू मे विश्वास नही रखता। मै नही मानता कि आध्यात्मिक मार्ग में कोई किसी का गुरू बन सकता है या कोई किसी को मार्ग दिखा सकता है। अध्यात्म एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमे हर एक को अपने लक्ष्य की ओर जाने का रास्ता अपने आप तय करना पड़ता है। अध्यात्म मानो एक 'अनचार्टेड सी' है। मेरी साधना जीवन-साधना है, वह भी कवि की साधना है। मैं मायावादी नही हूं। मै जब 'सत्यं ज्ञानं अनंतं ब्रह्म' कहता हूं, तब सारा विश्व मुझे सत्य रूप दीख पड़ता है। मेरे लिए पूरी सृष्टि सत्य है। मै जो देखता हूं, सुनता हूं, अनुभव करता हूं, सब सत्य है, चैतन्यमय है। ईश्वर के दर्शन भी मैं अपने आसपास की सृष्टि मे ही करता हू। ईश्वर आनंद रूप है। यह सारा विश्व उसी का आविष्कार है। मेरी जीवन-दृष्टि इन्ही संस्कारों मे विकसित हुई है। मेरे शिक्षा के प्रयोग भी इसी साधना का एक अंग है।'

रवीन्द्रनाथ के इस रूढ़ि-मुक्त जवाब से काका साहब बहुत प्रभावित हुए। दूसरे दिन वे शातिनिकेतन से रवाना हो गए।

हरिद्वार लौटने पर (हरिद्वार उनका अभी भी मुख्यालय था) उन्होंने रवीन्द्रनाथ को एक पत्र लिखा : 'मै मोडर्न रिव्यू' के चितक रवीन्द्रनाथ को पहले से जानता था। उसके बाद 'गीताजलि' के द्रष्टा कवि रवीन्द्रनाथ से परिचय हुआ। अभी शातिनिकेतन मे आपसे मिलकर मैं शिक्षा शास्त्री रवीन्द्रनाथ को पहचान सका। मै एक शिक्षक हू। शिक्षा के मैने अपने ढंग के कई प्रयोग किए हे। आप की सस्था मे चार-छह महीने रहकर आपके शिक्षा-सम्बधी प्रयोगों का आतर-बाह्य अनुभव लेने की इच्छा अब मुझ मे जाग्रत हुई है। क्या, आप मुझे अपनी संस्था मे लेंगे ? एक बात साफ बताना चाहता हू मैं इतना धनवान नही हूं कि मै अपना खर्च खुद उठा सकू और इतना गरीब भी नही हू कि आपसे मै वेतन माग लू। आप मुझे विद्यार्थियो के बीच रहने की और खाने-पीने की सुविधा उपलब्ध करा दीजिए। बस फिर जा भी काम आप मुझे देगे, मै करता रहूगा।'

इसके बाद पत्र मे उन्होने और कुछ पक्तिया जोड दी : सार्वजनिक संस्थाओं का थोडा बहुत अनुभव मुझे हे। अवैतनिक शिक्षक अक्सर अव्यवस्थित होते हैं। कभी-कभी गैरजिम्मेदारी म भी पेश आते हैं। इसलिए मै आपको यह अभिवचन देना चाहता हू कि जब तक मैं शातिनिकेतन मे रहूगा, सस्था के नियमों और आदर्शों का अक्षरशः और हृदय से पालन करता रहूगा।'

रवीन्द्रनाथ का तुरत जवाब आया : 'सुस्वागतम्। आ जाएइ।'

काका साहब शातिनिकेतन गए। शातिनिकेतन मे पहुंचते ही रवीन्द्रनाथ ने उनके ब्रह्मचारी दत्तात्रेय नाम म थोडा परिवर्तन किया और उन्हे दत्तू बाबू के नाम से पुकारना शुरू कर दिया।

गगनाथ विद्यालय के बाद काका साहब का विद्यार्थियो से कोई सम्बध नही रहा था। यद्यपि हरिद्वार के ऋषिकुल मे कुछ दिन उन्होने विद्यार्थियो के साथ बिताए थे, पर उनमे घुलमिल न सके थे। इसके दो कारण थे। एक तो यह कि ऋषिकुल का वातावरण सनातनी था, कर्मकाडी था। ऐसे वातावरण मे व्यापक संस्कृति की बाते करना आसान नही था, न ही उचित था। सस्था के अनुशासन मे बाधा आ सकती थी। दूसरा कारण यह था कि काका साहब को उतनी हिंदी

नहीं आती थी, जितनी ऋषिकुल के विद्यार्थियों के साथ घुलमिल जाने के लिए आवश्यक थी।

शांतिनिकेतन का वातावरण बिलकुल अलग ढग का था, बिलकुल मुक्त था। हालांकि भाषा की अडचन यहां पर भी थी। बच्चो की भाषा बंगला काका साहब जानते नही थे, पर अंग्रेजी यहां चल सकती थी। काका साहब को रवीन्द्रनाथ ने यहा काम भी श्रौत पद्धति से डायरेक्ट मेथड से - अग्रेजी पढाने का दिया था। इसलिए अंग्रेजी मे बोलना उनके लिए दोष रूप नही था, बल्कि गुण रूप माना गया था। खुले आकाश मे किसी पेड के नीचे बैठकर उसकी छांव मे काका साहब बच्चो को श्रौत पद्धति से अंग्रेजी पढाने लगे और स्वय उसी पद्धति से बच्चो से बंगला भाषा सीखने लगे। कृपलानीजी का भतीजा गिरिधारी उन्ही के साथ रहने लगा था। वह सिंधी होते हुए भी अपने हम उम्र बच्चों के साथ बंगला भाषा मे बहस और लड़ाई भी कर लेता था। काका साहब से वह बगला भाषा मे ही बोलता था।

थोड़े ही दिनो में काका साहब बगला समझने लगे। यही नही, पढ़ने भी लगे। सबसे पहले उन्होने रवीन्द्रनाथ की कविताए पढ़ना शुरू की। 'प्रभात संगीत' पढ़ा। वह आशा से अधिक उत्साहपूर्ण लगा। 'संध्या संगीत' उदास शांति से परिपूर्ण मालूम हुआ। 'गीताजलि' पहले अग्रेजी मे पढी थी, अब मूल बंगला मे पढ़ी। कहने लगे, 'भाषा क्या चीज है और उसमे क्या करामात की जा सकती है, यह जैसा रवीन्द्रनाथ ने दिखाया है, वैसा शायद ही और किसी ने दिखाया होगा। 'गीतांजलि' का अंग्रेजी अनुवाद भाषा-सौष्ठव और श्रवण-माधुरी की दृष्टि से अंग्रेजी भाषा का अनूठा नमूना माना जाता है। पर 'गीताजलि' के गीतो की माधुरी का स्वाद मूल बंगला मे सुने बिना मिल ही नही सकता।' 'गीतांजलि' के बाद 'गीताली', 'गीतामाल्य', 'मानसी', 'चित्रा', 'सोनार तरी' आदि कई काव्य-संग्रह पढे। काका साहब कहते हैं :

> इस तरह का काव्य कोई जीवनोपासक कवि ही लिख सकता है। रवीन्द्रनाथ का पिंड ही जीवनोपासक का है। वे प्रभु को जीवनदेवता के रूप मे पहचानते हैं। जीवन-द्रोह को वे प्रभुद्रोह मानते हैं। जीवन प्रभु की कृति है, प्रभु की लीला है। प्रभु अपने को जीवन के द्वारा ही अनत रूप मे प्रकट करता है। सृष्टि मे जो रूप, रस, गध, नाद, प्रकाश और कर्म का

> लाभ है, सब प्रभु की लीला है। उसे पहचानकर उसके अंदर प्रकट होते जीवन स्वामी को पहचानना यही रवीन्द्रनाथ की जीवन-साधना है। जीवन के न विभाग हो सकते हैं, न जीवन से हम विमुख हो सकते हैं।

प्रभु के प्रति रवीन्द्रनाथ मे उन्होने अर्जुन-जैसी सख्य-भक्ति देखी। वह उन्हे विशेष आकर्षक मालूम हुई। प्रभु हमारी माता है, हमारे पिता हैं। जीवन-सग्राम मे वे हमारे रणगुरु हे। पर प्रभु का आनद परिपूर्ण रूप मे तभी मिल सकता है, जब प्रभु को हम अपना प्रिय या भाई बनाते है।

शातिनिकेतन का वायुमडल सगीतमय था। करीब-करीब सभी लोग रवीन्द्र-सगीत गा सकते थे। गिरिधारी तो बडी ही सुरीली आवाज मे गाता था और काका साहब को तो खुद रवीन्द्रनाथ के रजत कोकिल कठ से उनके कई गीत सुनने का सौभाग्य मिला था। वे कहते हैं :

> उन्हे सुनत ही मै सुधबुध भूल जाता था। ऐसा प्रतीत होता था, मानो साक्षात सरस्वती की वाणी ही सुन रहा हू। रवीन्द्रनाथ ने कविताओ के अलावा लगभग तीन हजार गीत लिखे, यह काई महत्व की बात नही है। पर उनके गीतो मे भारतीय हृदय की अक्षय तृतीया का ज्वार हिलोरे ले रहा है, यह उनकी विशेषता है।

कविताओं के बाद वे रवीन्द्रनाथ की कहानिया पढने लगे। कहते हैं :

> रवीन्द्रनाथ यदि कवि न होते तो भी कथाकार के रूप मे उनका नाम साहित्य जगत मे अमर हो जाता। फिर उपन्यास हाथ मे लिए। 'गोरा' उनका वृहत उपन्यास है। इतनी बडी रचना रवीन्द्रनाथ की दूसरी नही है। फिर भी इसमे रस हानि नही हो पाती। हिन्दू और ब्रह्म कुटुम्ब के उच्च और सामान्य आदर्शो का भेद वे कितनी सूक्ष्मता के साथ दिखा सकते हैं। गौरमोहन की मा आनदमयी के चरित्र की ओर उनका विशेष ध्यान गया। हिन्दू धर्म का रहस्य बड़े-बडे शास्त्र समझा न सके, बडे-बड़े ग्रथ वर्णन नही कर सके, वह रवीन्द्रनाथ ने आनदमयी के चरित्र के द्वारा कितनी सरलता से समझा दिया है। 'चोखेरबाली' पढ़ा तो लगा, भारतीय उपन्यास साहित्य मे यह अद्वितीय है। 'नौका डूबी' मे तो उन्हे रामायण के आदर्श पात्रो की सुदरता की झांकी दिखाई दी। 'नौका डूबी' का एक-एक पात्र प्रेममय है। नीलिमा

का प्रेम स्वाभाविक है, तो कमल का दिव्य है। रमेश का नीतियुक्त है तो कमलनयन का नीति की भूमिका से भी उम्दा है। चकवर्ती बाबू समाज में सात्विक प्रेम के प्रतीक हैं तो अक्षय कुमार का प्रेम राजसी है। योगेन्द्र का जल्दबाज है तो उमेश का देवदूतों के समान है।

रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में 'घरे बाहिरे' उपन्यास उन्होंने कुछ वर्षों बाद पढ़ा। पर इस उपन्यास के विषय में उनकी प्रतिक्रिया यहां इसलिए देनी चाहिए, क्योंकि रवीन्द्रनाथ की कृतियों में उन्हें यह 'सबसे अच्छी' मालूम हुई थी और उसके गुणगान करते वे कभी थकते नहीं थे। इस उपन्यास के सम्बंध में बंगाल में काफी विवाद चला था। कहा जाता था कि रवीन्द्रनाथ ने बंगभंग के बाद देश में राष्ट्रीयता की जिस भावना का उदय हुआ था, उसकी निंदा करने के लिए यह उपन्यास लिखा है। इसमें संदीप बाबू का जो चित्रण है, वह बाबू विपिनचन्द्र पाल की इज्जत घटाने के लिए किया गया है।

बंगभंग के आंदोलन के संस्कारों में स्वयं काका साहब की परवरिश हुई थी। बिपिनचन्द्र पाल उन दिनों उनकी पूजामूर्ति थे। इसलिए छिद्रान्वेषी दृष्टि के साथ ही उन्होंने यह उपन्यास पढ़ा। पर उन्हें इसमें बंगभंग आंदोलन की निंदा कहीं भी दिखाई न दी, न ही पाल बाबू पर इसमें कोई प्रहार दिखाई दिया। उल्टे, 'घरे बाहिरे' लिखकर रवीन्द्रनाथ ने भारत की, भारत के समाज की, भारत की राष्ट्रीयता की उच्चकोटि की सेवा की है, ऐसा प्रतीत हुआ। 'उत्तेजित राष्ट्र के पुरूषार्थ के वेगवान प्रवाह में चारित्र्य की महान शिला बनकर खड़े रहना कोई आसान बात नही है। वह तो एक वीरोचित कार्य है। जो लोग यह कहते हैं कि देश का लाभ होता हो तो उसके आगे सत्य, नीति, सदाचार, चारित्र्य सब-कुछ गौण है, वे यह नहीं जानते कि वे देश का कितना बड़ा अपमान करते हैं। कोई जवान लड़की अपनी बूढ़ी मां को जिला सके इसलिए अगर व्यभिचार का जीवन जीने लगे तो क्या उस मां को इस प्रकार जीवित रहना पसंद आएगा?...जो लोग देश का नाम लेकर सत्य और चारित्र्य से द्रोह करते हैं, वे देश से ही द्रोह करते हैं, यह बात जिन देश भक्तों ने अपनी उज्ज्वल सेवा के द्वारा स्पष्ट कर दी, उनके मार्ग के कई कांटे हटाने का काम रवीन्द्रनाथ ने इस उपन्यास के द्वारा किया है। 'घरे बाहिरे' उन्हें रवीन्द्रनाथ की कृतियों में सबसे अच्छी मालूम हुई, उसका एक कारण सम्भवतः यह भी हो सकता है कि वे स्वयं क्रांति कार्य में चारित्र्य का आग्रह रखते आए थे। जिस माहौल का चित्रण इस उपन्यास में हुआ

है, वह उनकी जवानी के समय की क्रांति का परिचित माहौल है। वे इन दिनों ऐसे क्रांतिकारियों के सम्पर्क मे आये थे जो चारित्र्य की शिथिलता को पार करने की सभी सीमाएं लांघ जाते थे। 'घरे बाहिरे' पढ़ने के बाद वे कहते है :

> रवीन्द्रनाथ भले ही प्रत्यक्ष राजनीति में हिस्सा न लेते हों, पर राजनैतिक विचारों को यथार्थ और खानदानी मोड़ देने के लिए जो काम करते है, वह प्रत्यक्ष राजनीति से अधिक महत्व का है।

जो हो, रवीन्द्रनाथ की जो भी कृति इस समय उनके हाथ में आई, काका साहब ने बड़े चाव से पढ़ डाली। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध एक-के-बाद एक पढ़ते रहे। कहने लगे :

> कितनी सर्वतोमुखी प्रतिभा है, इनकी। साहित्य का ऐसा एक भी क्षेत्र नहीं है, जिसको रवीन्द्रनाथ ने स्पर्श न किया हो और अपने स्पर्श से उसे दिव्य न बनाया हो। हर एक क्षेत्र में उन्होंने कुछ-न-कुछ नया योगदान ही दिया है।

रवीन्द्र साहित्य के इस अनुशीलन का परिणाम यह हुआ कि उससे काका साहब मे जो श्रेयार्थी साधक था, उसे एक ओर आश्वासन और पोषण मिलता रहा, तो दूसरी ओर उनमे जो सृजक साहित्यकार सुप्त अवस्था में था, वह अपने-आपको समझाने लगा कि केवल चिंतक और विचारक होना पर्याप्त नहीं है। विचारक में कला दृष्टि और कला शक्ति का भी होना आवश्यक है। जिनकी तुलना हिमालय के उत्तुंग शिखरों के साथ की जा सकती है, ऐसे कई विचारक दुनिया मे हो गए हैं। पर वे रवीन्द्रनाथ की तरह सफल नहीं हो सके। इसका यही कारण है कि उनमे रवीन्द्रनाथ-जैसी कला दृष्टि नही थी। रवीन्द्रनाथ में भी अगर यह दृष्टि और शक्ति न होती तो शायद दुनिया पर उनका उतना प्रभाव न पड़ पाता, जितना वे डाल सके हैं। रवीन्द्रनाथ जितने जीवनोपासक हैं, उतने ही अपने ढंग के कलाकार भी है। शांतिनिकेतन के प्रार्थना मंदिर में हर बुधवार को उपासना के बाद रवीन्द्रनाथ एक छोटा-सा प्रवचन देते थे। काका साहब बड़े भक्तिभाव से वह सुनने जाते थे। शुरू-शुरू में यह प्रवचन उनकी समझ में नहीं आते थे। क्योंकि बंगला भाषा से उनका विशेष परिचय नहीं था। फिर भी कोकिल कंठ रवीन्द्रनाथ के बंगला वाक्यों के उच्चारण सुनने में उन्हें एक प्रकार का आनंद मिलता था, इसलिए वहां बैठे रहते थे। रवीन्द्रनाथ का बोलने का ढंग, उच्चारण के आरोह-अवरोह और प्रवचन की तालबद्धता, सब-कुछ उन्हें बहुत पसंद आता था।

बाद में जब बंगला भाषा का परिचय बढ़ा, वे प्रवचनों का भाव तो समझने लगे, पर रवीन्द्रनाथ की शैली इतनी प्रौढ़ और इतनी जटिल थी कि वाक्यों का अर्थ समझने पर भी कुल मिलाकर उन्होंने क्या कहा, यह ध्यान में तुरंत न आ पाता। पर जब आने लगा, उनके मुंह से सहज ही उद्‌गार निकले, 'भई, यह तो प्रत्यक्ष उपनिषद हैं।'

शांतिनिकेतन रवीन्द्रनाथ का एक पार्थिव काव्य था। इसी काव्यमयी गंगा में अवगाहन करने के लिए काका साहब यहां आए थे। शांतिनिकेतन का वातावरण बिलकुल मुक्त था। मन में आए सो पढ़ें, जी में आए सो करें, किसी पर किसी तरह का बंधन यहां नही था। इसी तरह के मुक्त वातावरण में स्वयं रवीन्द्रनाथ की परवरिश हुई थी। उन पर किसी तरह का बंधन नहीं था। फिर भी जीवन का एक भी क्षण उन्होंने व्यर्थ खर्च नहीं होने दिया। मां-बाप अगर संस्कारी हों तो ऐसे निर्दोष, मुक्त वातावरण में किस तरह का फल पैदा हो सकता है, इसकी रवीन्द्रनाथ स्वयं एक जिंदा मिसाल थे। परीक्षा का डर न हो तो बच्चे ठीक तरह से नही पढ़ते, यह ख्याल कितना गलत है, यह स्वयं उन्होंने अपने उदाहरण से बता दिया है। आजकल की शालाओं में शिक्षा के नाम पर बच्चों की स्वाभाविक वृत्तियों पर जो अत्याचार किए जाते हैं, उनके परिणामस्वरूप बच्चों की स्वाभाविक शक्तियां पूरी तरह विकसित होने के बदले मुरझा जाती हैं, इसी अनुभव को ध्यान में रखकर रवीन्द्रनाथ ने शांतिनिकेतन में ऐसा एक वातावरण तैयार कर दिया था, जहां बच्चों को शिक्षकों का डर नहीं था, जहां बड़े बच्चें छोटे बच्चों को सताते नहीं थे और जहां बच्चे अपनी-अपनी वृत्ति के अनुसार अध्ययन कर सकते थे। शांतिनिकेतन का वायुमंडल देखकर और रवीन्द्रनाथ के शिक्षा-सम्बंधी विचार पढ़कर, जो 'शिक्षा' नामक एक पुस्तक में संग्रहीत किए गए हैं, काका साहब को यह प्रतीत होने लगा कि जिस प्रकार गुलामों का दास्य-विमोचन करने के लिए विल्बर फोर्स या लिंकन पैदा हुए, उसी प्रकार शिक्षा के नाम से बच्चों पर जो अत्याचार और अन्याय होते आए हैं, उनसे उनको छुड़ाने के लिए रवीन्द्रनाथ का अवतार हुआ है। रवीन्द्रनाथ ही पहले भारतीय मनीषी हैं, जिन्होंने हमें यह बता दिया है कि बच्चों की भी आत्मा होती है। उनकी भी एक स्वतंत्र दुनिया होती है और सबसे महत्त्व की बात, उनका भी अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है। बच्चों के प्रति बुजुर्गों के मन में प्रेम हो, इतना ही पर्याप्त नहीं है। बच्चों के व्यक्तित्व की कद्र करना, उनकी प्रतिष्ठा को धक्का न पहुंचे,

इसकी सावधानी रखना सबसे महत्व की बात है। हम बुजुर्गों से जैसे पेश आते है —उनका अपमान नही करते, अनजाने मे अपमान हो जाए तो माफी मांगते है— उसी प्रकार हमे बच्चो से भी पेश आना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ के शिक्षा विषयक निबध पढने के बाद अब उन्होने उनकी 'शिशु' नामक कविताओ की पुस्तक पढी, तब उनको लगा कि रवीन्द्रनाथ जिस हद तक बाल-हृदय को समझ सके है और उसका चित्रण कर सके हैं, उस हद तक ससार का दूसरा कोई भी कवि अब तक नही कर सका है। इस पुस्तक के बारे मे वे कहते हैं कि 'ट्रेनिंग कालिजो मे शिक्षा-शास्त्र की सरल या नीरस पुस्तको के बदले रवीन्द्रनाथ की 'शिशु' नियत पुस्तको के रूप मे रखी जाए तो शिक्षको की और उनके हाथो फसे हुए बच्चो की जिदगी सफल हो हो जाए।'

काका साहब ने शातिनिकेतन मे रवीन्द्रनाथ को शिक्षक के रूप मे काम करते हुए भी देखा। वे बच्चो को कहानिया सुनाते थे। उनके लिखे हुए निबध सुधारते थे। उनके साथ नए-नए खेल खेलते थे। उनको नाट्य अभिनय के पाठ सिखाते थे। बच्चो को काफी समय देते थे। बच्चो का उन्होने नीति का कोई पाठ कभी नही दिया, कोई उपदेश नही किया। बौद्ध साहित्य से छोटे-छोटे प्रसग चुनकर या भारत के इतिहास मे अच्छे-अच्छे प्रसगो को लेकर उन्होने कथा रूपी कुछ कविताए लिखी— जो 'कथा ओ काहिनी' मे सग्रहीत की गई हैं। इन कविताओ के द्वारा बच्चो म उच्च जीवन की अभिलाषा उत्पन्न करने का पूर्ण प्रयास किया गया है।

शिक्षक रवीन्द्रनाथ का यह स्वरूप काका साहब को उतना ही लुभावना मालूम हुआ, जितना साधक रवीन्द्रनाथ का या कवि रवीन्द्रनाथ का हुआ था। उन्होने अपना हृदय रवीन्द्रनाथ को दे दिया था।

शातिनिकेतन के वातावरण मे काका साहब बिलकुल घुलमिल गए थे। विद्यार्थियो मे वे लोकप्रिय हो गए थे। क्षिति मोहन सेन, सी० एफ० एंड्रयूज, पियर्सन, संतोष मजुमदार जैसे शिक्षकों के बीच वे सर्वप्रिय थे। एक दिन रवीन्द्रनाथ ने उनको बुलाकर बात-बात मे कहा, 'मेरे पास बगाली विद्वान काफी हैं। चाहू तो बडे-बड़े विद्वानो को यहा बुला सकता हू। पर जो थोड़े महीने आपने यहां काम किया, विद्यार्थियो के बीच आपने जो वातावरण निर्माण किया और शिक्षकों का आपने जो प्रेम सम्पादन किया उसे देखकर मैं आपके सामने एक प्रस्ताव रखना

चाहता हूं। इतना ध्यान में रखिए कि यह प्रस्ताव केवल मेरा नहीं है, एंड्रयूज और पियर्सन-जैसों का भी है। हम चाहते हैं कि आप शांतिनिकेतन में स्थाई रूप से रहें। संस्था के मुख्य व्यवस्थापक के रूप में मैं आपको नियुक्त करना चाहता हूं। क्या आप यह प्रस्ताव स्वीकार करेंगे?'

स्वयं रवीन्द्रनाथ के मुंह से इस तरह की प्रशस्ति सुनकर काका साहब को हर्ष हुआ। वे रवीन्द्रनाथ के भक्त बन गए थे और उनकी इच्छा को आज्ञा मानने लगे थे। उन्होंने कृतकृत्य होकर जवाब दिया, 'जी, बड़े गौरव के साथ में यह जिम्मेदारी अपने सिर लेने के लिए तैयार हूं।' थोड़ी देर हिचकिचाकर बोले, 'आपको मैंने बताया नहीं है, मैं शादीशुदा हूं। मेरे दो छोटे बेटे भी हैं। उनकी उपेक्षा कर मैं हिमालय में साधना के लिए चला गया था। अब अगर शांतिनिकेतन में स्थाई रूप में रहूं, तो उन लोगों को मुझे यहां बुलाना होगा।'

'बुला लीजिए' रवीन्द्रनाथ ने जवाब दिया और कहा, 'शांतिनिकेतन की भूमि पर आप जहां चाहें, वहां आपके लिए एक छोटी स्वतंत्र कुटिया बनवा दूंगा। आप जमीन पसंद करें।'

काका साहब को शांतिनिकेतन का यह सब-कुछ पसंद था। रवीन्द्रनाथ-जैसे एक युगमूर्ति के सम्पर्क में आने का उन्हें अवसर मिला, इसे उन्होंने अपना बड़ा सौभाग्य माना था। पर एक बात उन्हें हमेशा चुभती आई थी। काका साहब को लगा, यह बात रवीन्द्रनाथ के सामने दिल खोलकर रखने का यही अच्छा अवसर है। इसलिए उन्होंने कहा, 'एक बात है, जो मुझे चुभती है, वह मैं आपके सामने निःसंकोच होकर रख देता हूं। हरिद्वार में आर्य समाजी लोग एक गुरुकुल चलाते हैं। वे लोग गरीब हैं, फिर भी सरकारी सहायता नहीं लेते। लोगों की मदद से ही संस्था चलाते हैं। बिलकुल सरकार-मुक्त हैं। यहां आप एक धनी जमींदार भी हैं और देश में आपकी प्रतिष्ठा भी काफी बड़ी है। आप चाहें तो लोगों की मदद से ही सम्पूर्णतः सरकार-मुक्त संस्था चला सकते हैं। यहां की शिक्षा यद्यपि पूरी तरह से स्वतंत्र और राष्ट्रीय है, फिर भी आप यहां बच्चों को कलकत्ता युनिवर्सिटी की मैट्रिकुलेशन के लिए तैयार करते हैं, इससे मुझे थोड़ी कुछ हिचकिचाहट महसूस होती है।'

रवीन्द्रनाथ एक क्षण में उनकी अड़चन समझ गए। बोले, 'आप विधुशेखर बाबू से मिलिए। हम यहां थोड़े ही दिनों में विश्व-भारती नामक एक संस्था

खोलने की सोच रहे हैं। यह बिलकुल स्वतत्र यूनिवर्सिटी होगी। उसमे शामिल होने मे आपको कोई सकोच नही होना चाहिए।'

काका साहब उसी दिन विधुशेखर शास्त्री से मिले। उनसे चर्चा करके विश्वभारती में स्थाई रूप मे रहने का निश्चय कर लिया।

ठीक इसी समय दो बाते हुई—

एक, दक्षिण अफ्रीका मे विजयी वीर के रूप मे लौट हुए कर्मवीर गाधी से उनकी शातिनिकेतन मे ही भेट हुई और दूसरी, महाराष्ट्र के एक व्यक्ति को बगालियो की एक सस्था मे एक महत्व के स्थान पर बैठाया जा रहा है, इससे रवीन्द्रनाथ के कुछ निकटवर्ती साथियो मे असतोष फैला हुआ है, ऐसी कुछ गुन-गुनाहट उनके कानो पर आ पडी।

गांधीजी से भेंट

काका साहब ने गाधीजी का नाम सबसे पहले 1908 मे सुना था, जब वे बेलगाव के गणेश विद्यालय के आचार्य थे। वे लिखते है

> उन दिनो मैं गगाधरराव देशपाडे के मार्ग-दर्शन म सार्वजनिक जीवन मे हिस्सा लेने लगा था और इधर-उधर भाषण भी दिया करता था। मुझे याद है, उन दिनो बेलगाव मे एक सभा आयोजित की गई थी, जिसका उद्देश्य दक्षिण अफ्रीका मे रहने वाले भारतीय मजदूरो पर अन्याय करने वाली गोरी सरकार का विरोध करना था। मैने इस सभा मे भाषण दिया था और कहा था 'गोरे लोगो को सभ्य या सस्कारी सिविलाइज्ड कहने की हमे आदत पड गई, पर दक्षिण अफ्रीका की सरकार के अत्याचारो को देखते हुए हम इन गोरो को किसी भी अर्थ मे सभ्य या सस्कारी नही कह सकते। अब इन गोरो को हम हर्गिज सस्कारी नही कहेगे।

पर, उस समय उन्हे यह मालूम नही था कि दक्षिण अफ्रीका मे भारतीयो का जो नेतृत्व करते है, वह गाधी कौन हैं। स्वामी विवेकानद के पत्रो मे उन्होने एक जगह पढा था जिस सर्व धर्म परिषद मे विवेकानन्द ने भाषण दिया, उसमे गांधी नामक एक सज्जन उपस्थित थे, जो जैन धर्म के प्रतिनिधि के रूप मे उसमे

सम्मिलित हुए थे। यही वह गाधी होगे, जो दक्षिण अफ्रीका मे भारतीयो का नेतृत्व करते हैं, ऐसा कुछ उन्होने माना था। जैन होकर भी सभी धर्मों के लोगो का नेतृत्व करते हैं और मुसलमानो की मसजिद मे भी भाषण करते हैं, यह उनकी विशेषता देखकर उनके मन मे इन गाधी के प्रति आदर भी पैदा हुआ था। कुछ दिनों के बाद मालूम हुआ कि शिकागो की सर्वधर्म परिषद मे जिन्होने जैन धर्म का प्रतिनिधित्व किया था, वह गाधी अलग हैं और दक्षिण अफ्रीका मे भारतीयो का जो नेतृत्व करते हैं, वे अलग है। दक्षिण अफ्रीका के गाधी जैन नही, बल्कि वैष्णव है। काका साहब लिखते है :

> फिर भी मैने उनको जैन माना इसमे कोई गलती की, ऐसा मुझे नही लगा। क्योकि उन्ही दिनो मैने यह भी पढा कि पढाई के लिए विलायत जाने से पहले किसी जैन मुनि के सामने उन्होने मद्य, मास और परस्त्री-स्पर्श से मुक्त रहने की प्रतिज्ञा ली थी और राजचद्रजी नामक किसी जैन सत्पुरुष का उन पर काफी प्रभाव था। मैने सोचा भले ही जन्म से वे जैन न हो, सस्कारो मे तो जैन है ही।

भाई कोतवाल नामक इदौर के एक सज्जन, जो राष्ट्रीय शिक्षा का काम करते थे, काका साहब के मित्र थे। वे दक्षिण अफ्रीका मे गाधीजी के आश्रम मे कुछ दिन रहकर आए थे। उनके मुह से उन्होने गाधीजी के व्यक्तित्व की, उनके दक्षिण अफ्रीका के आन्दोलन की और उनके जीवन सिद्धातो की कुछ बाते सुनी थी। इससे गाधीजी को जानने-पहचानने की इच्छा उनमे जाग्रत हो ही गई थी। उन्ही दिनो किसी अखबार मे उन्होने गाधीजी की 'हिन्द स्वराज्य' पुस्तक का सार पढा, उससे उनकी जिज्ञासा और भी तीव्र हुई और गगा की खोज मे निकले हुए प्यासे आदमी के आगन मे ही गगा बहने लगे, तब उसे जो अनुभव होगा, उसी तरह का अनुभव काका साहब को हुआ। स्वय गाधीजी शाति-निकेतन मे पधारे।

इससे चार माह पहले उनके फिनिक्स आश्रम के कुछ सदस्य शातिनिकेतन मे मेहमान के रूप मे आकर रहे थे। फिनिक्स आश्रम के इन सदस्यो का रहन-सहन, आहार-विहार, पढाई-लिखाई शातिनिकेतन से बिलकुल अलग ढग की

थी। रवीन्द्रनाथ ने सोचा : आखिर मेहमान हैं, कुछ ही दिन तो यहां रहने वाले हैं, भले ही अपने आदर्शों और नियमों के अनुसार यहां रहें। फलस्वरूप, रवीन्द्रनाथ की ही व्यवस्था से एक आश्रम मे दो आश्रम साथ-साथ चलने लगे। दोनों ओर के व्यवस्थापकों की सम्मति से काका साहब इस नए आश्रम मे शामिल हुए।

यह नया फिनिक्स आश्रम चलाने का भार गांधीजी के दक्षिण अफ्रीका के निकटतम साथी तपोधन मगनलाल गांधी के सिर पर था। श्री प्रभुदास गांधी, जो फिनिक्स आश्रम के एक किशोर सदस्य थे, उन दिनो के अपने संस्मरण सुनाते हुए कहते हैं :

> दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह के आन्दोलन के कारण हमारी पढाई का सिल-सिला बीच-बीच मे टूट जाता था। फिर वहां उच्चकोटि के शिक्षकों में जिनकी गिनती कर सके ऐसे विद्वान कोई नही थे। बापूजी (गांधीजी) पढ़ाते थे, तब लगता था कि हमारी पढ़ाई अच्छी तरह से चल रही है। पर जब दूसरे पढ़ाते थे तब पुस्तकें तो पढ़ी जाती थीं, कुछ लिखना-विखना भी होता था, किन्तु यही महसूस होता था, मानो पढ़ाई में कुछ अधूरा-अधूरा रह जाता है।...हिन्दुस्तान मे लौटेंगे तब एक-से-एक बड़े विद्वानों से सीखने को मिलेगा, ऐसी श्रद्धा बंधी थी।...सुना था कि हिन्दुस्तान मे इतने बड़े-बड़े विद्वान हैं कि उनकी यहा दक्षिण अफ्रीका मे बैठकर हम कल्पना भी नहीं कर सकते।...फिनिक्स में सुनी हुई बातों ने इतने गहरे संस्कार जमा दिए थे कि वाकई जब हम दक्षिण अफ्रीका से हिन्दुस्तान लौट आए, तब पहले गुरुकुल कांगड़ी मे और बाद मे शांतिनिकेतन मे हम बड़ी ही आतुरता से बड़े शिक्षकों को ढूंढ़ने की कोशिश मे लग गए।...शांतिनिकेतन मे छोटे-बड़े सभी शिक्षकों के पास हम बड़ी श्रद्धा और जिज्ञासा से बैठते थे। वे जो पढ़ाते थे, उसे अच्छी तरह से हृदयंगम करने का प्रयत्न करते थे। जिन शिक्षकों की विद्वता और महत्ता का प्रभाव हम पर पड़ता, उनके अधिकाधिक नजदीक जाने के हमारे प्रयत्न भी बढ़ते जाते। हम सब छोटे-बड़े सुबह से शाम तक जितना नया-नया सीख सकते थे, सीखने की भरसक कोशिश में रहते।...

...सबसे पहले मैं चिन्तामण शास्त्री की ओर आकृष्ट हुआ। उनके मीठे भजन सुनकर और काम करते-करते, हसते-खेलते सस्कृत पढाने की उनकी कला को देखकर मुझे लगा कि अब हमे सच्चे शिक्षक मिल गए है। इनसे कुछ सीख पाएंगे, तो पढे-लिखे लोगों में हम गिने जाएगे। दो-एक महीने हम उनके जादू के प्रभाव मे रहे होगे। उसके बाद न जाने कब वे हमारे मन से खिसक गए और कब काका साहब ने हमारे मन पर पूरा कब्जा कर लिया। याद करता हू तो लगता है कि काका साहब शातिनिकेतन मे आए उससे पाच-सात दिन पहले शास्त्रीजी ने हमे बताया था कि उनके एक मित्र आने वाले हैं, जिन्होने देश मे काफी यात्राए की हैं हिमालय तक हो आए है – और जो बडे विद्वान है। मेरी बातो से उनकी बातो मे आप लोगो को अधिक मजा आएगा। किन्तु शास्त्रीजी के इस कथन पर मेरा विश्वास नही बैठा, क्योकि वे अक्सर मजाक किया करते थे। हम उनके आसपास घिरे रहते थे, इसलिए हमसे बचने के लिए हमे कभी-कभी चकमा भी दे देते थे।... फिर एक दिन एक मेहमान हमारे बीच आ पहुचे। सूरत कुछ गभीर-सी, दाढी भरी हुई, शास्त्रीजी से कम गोरे-गेहूवा वर्ण के, कम विनोदी और शास्त्रीजी से काफी चपल – ऐसे यह मेहमान थे। शातिनिकेतन मे हमारा पड़ाव अलग-सा था। हमारा खाना-पीना, पढना-खेलना सब-कुछ मगन काका की देखरेख म चलता था।...सारी बातो मे हम अलग ढग के थे। हमे देखने और हमारी विचित्र रहन-सहन की पूछ परख करने अनेक लोग आते और दो-चार प्रश्न पूछकर चले जाते। पर यह नए मेहमान हमारे बीच ही आकर रहने लगे। हमारी प्रार्थना मे बैठने लगे। यही नही, हम जब रसोई करने बैठते तब वे रसोई म हमे मदद भी देते। हम कुदाली लेकर एक टीला खोदने चले जाते, तब वे भी कुदाली लेकर हमारे साथ जाते...शास्त्रीजी की तरह उन्हे बीच-बीच मे सस्कृत श्लोक उद्धृत करने की आदत नही थी। हम बच्चो के साथ मजाक तो क्या, ज्यादा बातें भी वे नही करते थे। किन्तु बीच-बीच मे प्रश्न पूछ-पूछकर जवाब देना हमे मुश्किल बना देते। मैने देखा कि मगन काका उनके प्रति बहुत आदर दिखाते हैं। आमतौर से मगन काका को किसी से बातें करने की आदत नही थी। किन्तु इनके साथ वे रसोई करते समय, परोसते समय, कुदाली चलाते समय, प्रार्थना के बाद, प्रार्थना के पहले लगातार चर्चा

करते रहते थे। उनकी बाते खत्म ही नही होती थी !...शुरू-शुरू के दस-पद्रह दिन उन्हे किस नाम से पुकारें, यह हमारे बीच तय नही हो पाया था। शास्त्रीजी के मित्र, दक्षिण के पडितजी, हिमालय वाले भाई ऐसे ही नामो से हम उन्हे पुकारने लगे थे। बाद मे खुद उन्होने कहा, मुझे आप काका कहे। अपने मित्रो के बीच मे काका ही कहलाया जाता हू। मगन काका ने यह मजूर कर लिया और हम सब उन्हे काका कहने लगे।...एक दिन दोपहर के चार बजे हम गेहू बीनने बैठे थे, तब किसी ने हमे बताया कि आज शाम की प्रार्थना के बाद काका हमे अपनी हिमालय की यात्रा की बाते सुनाने वाले हैं।...मैं अधीर हो उठा। उस दिन प्रार्थना मे मैंने उनके सामने ही अपना आसन जमा लिया। प्रार्थना पूरी हुई और उनका वर्णन शुरू हुआ। मैने उनका एक-एक शब्द एकाग्रता से सुना। जैसे-जैसे सुनता गया, हिमालय की उस अद्भुत सृष्टि का सजीव चित्र मेरी नजरो के सामने खडा होता गया। आठ-दस दिन यह सिलसिला चला। जैसे-जैसे सुनता रहा, वैसे-वैसे वर्णन करने वाले काका के प्रति मेरी श्रद्धा ड्योढी होती गई।...मुझे वे साहस की मूर्ति प्रतीत होने लगे। सुबह से शाम, जब अवसर मिलता, मैं उनके पास पहुच जाता और आज शाम वे किस विषय पर बोलने वाले हैं, इसकी तलाश करता रहता। काका साहब की बातो मे मुझे ही रस आता था, ऐसी बात नही थी। हिमालय की व्याख्यान माला पूरी होने के बाद उनसे कुछ नया सुनने का हम सबका आग्रह बढ गया।... मगन काका ने तो सुबह-शाम की प्रार्थना का सचालन उन्हे ही सौप दिया। शाम की प्रार्थना मे स्थितप्रज्ञ के श्लोक बोले जाते थे और एकाध भजन गाया जाता था। सुबह की प्रार्थना निश्चित नही हुई थी। काका साहब ने शाम की प्रार्थना के हर एक श्लोक के हर एक चरण की ह्रस्व-दीर्घ की हमारी गलतिया समझा दी और हमारे उच्चारण सुधार दिए। सुबह की प्रार्थना मे प्रातःस्मरण के श्लोक, फिर लक्ष्मी, सरस्वती, गणपति, विष्णु, शकर...इस प्रकार तीस-चालीस नए श्लोक चलाकर उनके द्वारा हिन्दू धर्म का सर्वतोमुखी स्वरूप हमे समझा दिया। हिन्दू धर्म कितना विशाल है, कितना महान है, यह पहली ही बार हमे मालूम हुआ।...

...अब यह मेहमान हमारे मेहमान नही रहे थे । हमारे बीच आए हुए नये पंडितजी या अध्यापक नही रहे थे । वे हमारे ही बन गए थे । हमे रोज कुछ-न-कुछ नया देते रहे ।[1]...

काका साहब भी इस नए वातावरण मे रोज कुछ-न-कुछ नया पाते रहे । देश के सामान्य लोगो मे जो गहरी धर्म भावना है, उसकी जडता कैसे दूर करे, उसमे क्षात्र तेज कैसे निर्माण करे और विविधता मे बंटी हुई क्षीण राष्ट्र भावना को एकाग्र और तेजस्वी कैसे करें, इस विषय मे हिमालय की यात्रा मे भी उनका चिंतन चल रहा था । 1857 से लेकर 1915 तक के समय मे स्वराज्य के लिए देश के जितने भी इलाज आजमाकर देखे उनकी यानी, फौजी बगावत के, प्रार्थना अनुनय के, निषेध-बहिष्कार के, औद्योगिक प्रगति के, सामाजिक सुधार के, धर्मनिष्ठा बढाने के, आतकवाद और सशस्त्र क्राति के, सभी इलाजो की मर्यादाएं ढूढने मे उनकी काफी शक्ति खर्च हुई थी । स्वराज्य की मजिल तक देश को ले जाने मे यह सभी इलाज असफल सिद्ध हुए हैं, इस नतीजे पर वे पहुँचे थे । वे एक नए भारतीय इलाज की खोज मे थे । इस पृष्ठभूमि मे जब उन्होने मगनलाल गाधी के मुह से दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की बाते सुनी, तब उनके रोगटे खड़े हो गए । यह वीर गाथा सुनते-सुनते उनको यह प्रतीत होता रहा कि गाधीजी के पास अवश्य ही एक ऐसा अनोखा और अनूठा भारतीय इलाज है, जो देश म न केवल नव जागरण निर्माण कर सकता है, बल्कि देश को स्वराज्य की मजिल तक पहुचा सकता है । मगनलालभाई ने उन्हें गाधीजी की 'हिन्द स्वराज्य' पुस्तक पढने को दी । उसमे उन्हे एक सम्पूर्ण और सर्वांगीण जीवन-दर्शन दिखाई दिया । यही नही, उनको यह भी महसूस होने लगा कि इसकी बुनियाद पर शिक्षा का एक समग्र और स्वतत्र तत्र भी खडा किया जा सकता हे । गांधीजी को और गहराई से समझने के लिए वे मगनलालभाई से एक-के-बाद एक हजारो प्रश्न पूछते रहे —जब तक गाधीजी से उनकी प्रत्यक्ष भेंट नही हुई थी, तब तक लगातार वे पूछते ही रहे थे, उनकी जिज्ञासा का अत ही नही था ।

आखिर एक दिन 17 फरवरी को —काका साहब को यह दिन बराबर याद है— गाधीजी पधारे । उनके साथ उनकी धर्मपत्नी कस्तूरबा भी थी । शातिनिकेतन

---

1. कालेलकर अभिनंदन ग्रंथ से ।

का उत्साह मानो अक्षय तृतीया के सागर-जैसा उमडने लगा। अपनी परपरा और अभिरुचि के अनुसार शातिनिकेतन ने उनका भव्य स्वागत किया। जगह-जगह कदली स्तभ की पंक्तिया खडी कर दी और हर स्तभ के पास एक-एक जलकुम्भ रख दिया। अद्भुत कलामय दृश्य था। वैदिक मत्रो मे उनका स्वागत किया गया। स्वागत के इन मत्रो का काका साहब ने और क्षिति मोहन सन ने चयन किया था। क्षिति बाबू ने तो उस दिन उपवास भी रखा था। श्री प्रभुदास गाधी लिखते हैं ·

> इस सौदर्य नम्रता और माधुर्य का पान हम फिनिक्सवासियो को कराने मे काका साहब सबसे आगे थे। भारत की सस्कृति को यही शोभा देता हे। अपने प्रिय अतिथि के स्वागत मे हृदय किस प्रकार उमड पडता है, यही वे हम समझा रहे थे।

रवीन्द्रनाथ उन दिनो शातिनिकेतन म नही थे, कही बाहर गए हुए थे। गाधीजी शाम को पहुचे। दूसरे दिन सुबह होने से पहले ही वे शातिनिकेतन के लिए घर के हो गए। उनकी यह विशेषता थी कि थोडे-से परिचय मे ही बिलकुल अपरिचित आदमी भी उनकी सादगी और सरलता से प्रभावित होकर उनके प्रति तुरत अनुकूल हो जाता था। काका साहब तो उनस मिलने से पहले ही उनके भक्त बन गए थे। अत· उनके साथ चर्चा म उतरने के लिए उन्हे किसी तरह की कठिनाई महसूस नही हुई। उन्होने अब तक मगनलालभाई स प्रश्न पूछ-पूछकर अपनी जिज्ञासा तृप्त कर ली थी। अब जब प्रत्यक्ष गाधोजी स भेंट हुई, उनसे भी वे तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगे। सत्य, अहिसा के बारे मे पूछे और सत्याग्रह के बारे मे तो सबसे ज्यादा पूछे, कई अटपटे प्रश्न भी पूछे। परमेश्वर से लेकर पाखाने तक के हजारो विषयो पर प्रश्न पूछे।

काका साहब के प्रश्नो के पीछे उत्कट जिज्ञासा है, गहरा चिंतन है और पूरी नम्रता है, यह बात गाधीजी के ध्यान मे तुरत आ गई थी। इसलिए जितने भी प्रश्न उन्होने पूछे, उन सबके उत्तर वे बडे धैर्य के साथ देते रहे। काका साहब कहते हैं :

> इतना तो मेरे ध्यान मे आ ही गया कि आप उनके उत्तरो से सहमत हो या न हो पर इन्होने जीवन के सभी प्रश्नो का मौलिक चिंतन किया है। प्रथम

परिचय में ही उनके प्रचंड आत्मविश्वास की ओर मेरा ध्यान गया। जब बोलते थे, अपने विचार बिलकुल स्पष्ट शब्दों में और निश्चय के साथ कह देते थे। अपने बारे मे उनमे कतई अभिमान नहीं था। न ही उनमें झूठा विनयभाव था। उनकी बातें कभी-कभी चुभती थीं, किन्तु दूसरे ही क्षण मन में विचार आता —इनमे चुभने की क्या बात है? सीधी बात वे साफ-साफ शब्दो मे बता देते हैं। उनसे बाते करते-करते और एक गहरी छाप मन पर पड़ी - वैज्ञानिक लोग प्रत्यक्ष अनुभव और ठोस दलील के बिना कुछ नही कहते। गाधीजी मे भी यह खूबी दीख पडती थी। फिर भी उनमे चंद बाते ऐसी थी, जो गहरी श्रद्धा की थी। इस दुनिया का रोजमर्रा का अनुभव चाहे कुछ भी हो, कैसा भी हो अपनी श्रद्धा की बातें वे छोड़ ही नही सकते थे। इतना ही नही, इन बातों पर उनका विश्वास तनिक भी विचलित नही हो सकता था। अनन्य भक्त जिस तरह गुरु-वचन पर अनन्य श्रद्धा रखते हैं, उसी तरह चंद बातों मे उनका अनन्य, अविचल और दृढ़ विश्वास था। इसीलिए सम्भवतः प्रथम दर्शन मे ही मुझे लगा, यह आदमी इस दुनिया का नही है। किसी दैवी दुनिया से कुछ काल के लिए इस दुनिया मे आया है। गाधीजी अपने आसपास की दुनिया से बिलकुल अलिप्त नही थे। पर उनकी निष्ठा उनके सत्यलोक के प्रति ही थी। इसी कारण दूसरों के मन पर उनकी बातों का अनजाने में ही प्रभाव पड़ता था। दूसरों की राय समझने के लिए वे हमेशा तैयार रहते थे, तैयार ही नही बल्कि आतुर भी दीख पडते थे, किन्तु अपनी सत्यनिष्ठा को सम्भाल कर ही। सत्य की अव-मानना करके कही भी किसी तरह का समझौता करना उनके लिए असम्भव था।

गाधीजी की और एक विशेषता थी, जो दूसरे ही दिन काका साहब के ध्यान में आई। वे नम्र थे। उनकी यह नम्रता उनके व्यवहार से और उनकी सेवा के द्वारा व्यक्त होती थी। गाधीजी शातिनिकेतन मे आए, उस दिन बड़ी देर तक काका साहब उनसे बाते करते रहे। दूसरे दिन प्रार्थना के बाद काका साहब फिनिक्सवासियों के साथ मजदूरी करने चले गए। फिनिक्सवासियों का यह क्रम था : सुबह एक घंटा वे मेहनत-मजदूरी करते थे। शांतिनिकेतन मे एक तलैया थी और पास ही एक टीला था। इस टीले को खोदकर तलैया का गड्ढा भरने

का काम शांतिनिकेतन के व्यवस्थापकों ने उन्हें सौंपा था। काका साहब बड़े उत्साह से उनके इस काम में हिस्सा लेते थे। गांधीजी के आगमन के दूसरे दिन सभी फिनिक्सवासी टीला खोदने चले गए। वहां से लौटकर आए तो यहां उन लोगों का नाश्ता—फल आदि काटकर—अलग-अलग थालियों में तैयार रखा हुआ काका साहब ने देखा। उन्होंने गांधीजी से पूछा, 'यह सब किसने किया?'

'मैंने किया।' गांधीजी ने जवाब दिया।

'आपने क्यों किया?' काका साहब ने संकोच के साथ कहा, 'मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि आप सब तैयारी करें और हम आराम से खाएं।'

'उसमें हर्ज क्या है?' गांधीजी ने पूछा।

'आप-जैसों की सेवा लेने की हममे योग्यता तो होनी चाहिए।' काका साहब ने कहा।

काका साहब उनसे अंग्रेजी में बोल रहे थे। हममे योग्यता होनी चाहिए के लिए उनका वाक्य था: 'वी मस्ट डिसर्व इट'।

सुनते ही अति स्वाभाविकता से गांधीजी ने कहा, 'दिस इज़ ए फेक्ट—आप लोगों में यह योग्यता है। आप लोग वहां काम करने गए थे। मेरे पास खाली समय था। एक घंटा आप लोगों ने मेहनत-मजदूरी करके ऐसा नाश्ता पाने की योग्यता हासिल कर ली ना?'

> मैंने 'वी मस्ट डिसर्व इट' कहा था, तब मेरा मतलब यह था कि इतने बड़े नेता और सतपुरुष की सेवा लेने की योग्यता तो हम में हो। किन्तु मेरी यह भावना उनके दिमाग तक पहुंची ही नहीं। उनके मन में सब एक-से थे। हमने मेहनत-मजदूरी करके एक सेवा की थी, इसलिए उनकी सेवा लेने के हम हकदार बन गए थे।

शांतिनिकेतन में काका साहब जी-भरकर संगीत सुनते आए थे। नंदलाल बसु और असित कुमार हलदार जैसे कलाकारों के साथ कलानंद का सेवन करते आए थे। सबसे बड़ा कलात्मक आकर्षण तो वे स्वयं रवीन्द्रनाथ के प्रति महसूस करते थे। उनका सुडोल व गठित शरीर, उनके सुगठित बाहु और पादपिंड उनकी सीधी नाक, उनकी तीक्ष्ण सौम्य आंखें, उनकी कोमल, स्नेहार्द्र संगीतमय आवाज,

उनका विशाल ललाट, उनकी मुखचर्या, उनकी स्वदेशी पोशाक आदि देखते ही मन में श्रद्धाभक्ति पैदा होती थी। उनका दर्शन उन्हें हमेशा प्रिय लगा, उद्‌बोधक और प्रोत्साहक मालूम हुआ। रवीन्द्रनाथ के मुकाबले में गांधीजी की नाक, उनके कान, उनका चेहरा —रवीन्द्रनाथ के शब्दों में कहें तो -: विश्री ही था। पर उनका व्यक्तित्व ? काका साहब कहते हैं :

> उनके व्यक्तित्व की मोहिनी सर्वोच्च कलाभिरूचि को संतोष प्रदान करने वाली थी। केवल संतोष प्रदान करके रुकने वाली नही, बल्कि लेने वाले की क्षमता के अनुसार उतने प्रमाण मे दीक्षा भी देने वाली थी। मैंने आठ दिन तक उनसे बहस की—बहस ही नही, एक तरह से हुज्जत चलाई। इस हुज्जत के कारण नही, बल्कि उनकी बातचीत, उनका बर्ताव, उनका उठना-बैठना, खान-पान सबका निरीक्षण करने के बाद यकीन हो गया कि यह आदमी एक युग पुरुष है। इसलिए व्यापक अर्थ में जीवन-कलाधर है। वे राजनीतिज्ञ हैं, दार्शनिक भी हैं, धर्म-जिज्ञासु हैं, लोक नेता हैं और कुछ सनकी भी हैं —इन सबके अलावा इस युग के सबसे लोकोत्तर जीवन-कलाधर हैं, ऐसा ही मुझे प्रतीत हुआ। कलाधर के जीवन में संगीत होना चाहिए; सामंजस्य होना चाहिए; प्रमाण-बद्धता होनी चाहिए; व्याकरण होना चाहिए। हर एक के साथ बातचीत करते, अपना काम करते, मुंह धोते, सब्जी काटते, कपड़ों की परत ठीक करते —हर एक बात मे उनकी प्रमाणबद्धता देखकर मैं उनके प्रति एक असाधारण कलात्मक आकर्षण अनुभव करने लगा।... जीवन-कलाधर हर एक वस्तु के और व्यक्ति के अंदर की आत्मा को पकड़ लेता है। गांधीजी चतुर थे...इसलिए लोगों के दोष तो आसानी से पकड़ सकते थे। पर उनकी दूसरी एक विशेषता थी : जो भी उनके संपर्क में आता, वह कहां तक ऊंचा चढ़ सकेगा, इसका अंदाजा वे लगा सकते थे। उनकी यह विशेषता ध्यान में आते ही मैंने मन-ही-मन कहा, यह आदमी मिट्टी के ढेलों से शूरवीर और साधनावीर निर्मित करेगा। यह मानवता का निर्माता है।

कृपलानी

कृपलानीजी मुजफ्फरपुर में थे। वहां के एक कालेज में प्राध्यापक थे। काका साहब ने उन्हें तार करके शांतिनिकेतन मे बुला लिया। उन्होंने भी गांधीजी

को नापने-परखने के लिए उनसे हजारो प्रश्न पूछे। राजनीति में गांधीजी अपने को गोखले के अनुयायी मानते थे। अन्याय का प्रतिकार करने की उनकी पद्धति हालांकि नर्म दल के लोगों-जैसी नही थी, फिर भी ब्रिटिश साम्राज्य की ओर देखने की उनकी दृष्टि लगभग नर्म दल के लोगों-जैसी ही थी। अंग्रेजों के राज्य को वे 'ईश्वरी व्यवस्था' नही कहते थे। फिर भी अंग्रेजों का राज्य भारत के हित मे ही है, इस तरह की उनकी राय थी। कृपलानी जी कहते हैं :

> गाधीजी के ये सारे विचार मुझे गलत मालूम हुए। पर इन विचारो के बावजूद मै उनकी ओर आकृष्ट हुआ। मेरा सबसे अधिक ध्यान उनके स्वभाव की तीव्रता की ओर गया। मुझे लगा कि यह एक ऐसा शख्स है, जो अपने मार्ग से कतई डिगनेवाला नही है। जो मार्ग उसने अपनाया है, वह सही मार्ग है, इस तरह की उसकी प्रतीति रही, तो जरूरत पड़ने पर अकेले उस मार्ग से चलने की वह हिम्मत रखता है।

गाधीजी ने जब उनसे अहिंसा से स्वराज्य पाने की बात कही, तब कृपलानीजी ने उनसे कहा : 'अंग्रेजों का आपका अनुभव चाहे जो रहा हो, भारत के अंग्रेज अलग हैं। वे आसानी से हमे स्वराज्य नही देगे।...मै इतिहास का प्रोफेसर हूं। दुनिया के अब तक के ज्ञात इतिहास मे एक भी ऐसा उदाहरण नही है, जहां किसी गुलाम प्रजा ने बिना बल प्रयोग के स्वतंत्रता प्राप्त की हो।'

गाधीजी ने यह चुपचाप सुन लिया। फिर मुस्कराकर वे बोले, 'आप इतिहास के प्रोफेसर हैं। मै इतिहास बनाने वाला हू। इतिहास के अनुकरण मे मैं विश्वास नही रखता।'

काका साहब जो इस चर्चा के समय उपस्थित थे, कहते हैं :

> गाधीजी का यह जवाब सुनकर मै तो अवाक् हो गया। इस जवाब मे कोई गर्व नही था। अभिमान, अहंकार कुछ नही था। केवल थी नम्रता, आत्म-विश्वास और अपने साधनो के प्रति पूर्ण श्रद्धा। मै तो क्या, जीवतराम भी उसी क्षण गाधीजी के हो गए।[1]

जब बिदा होने का समय आया, कृपलानीजी ने गांधीजी से कहा, 'आप हिन्दुस्तान मे कोई कदम उठाएं और उसमें मैं आपके उपयोग मे आ सकता हूं,

1. लेखक के साथ बातचीत से।

ऐसा लगे तो आप मुझे बिना हिचकिचाहट बुला लीजिएगा।' उन्होंने गांधीजी से और एक बात कही : हिन्दुस्तान मे आपने अगर सत्याग्रह शुरू किया तो आपके पीछे तिलक के ही अनुयायी आएंगे। गोखले के अनुयायियों में से कोई नही आएगा।'

दीनबंधु एंड्रयूज

काका साहब में एक ऐसे राष्ट्रवाद के संस्कार थे, जिसे वे बाद में संकुचित कहने लगे थे। वे मानते थे कि ईसाई मिशनरी, जो हिन्दुस्तान मे आकर ईसाइयत का प्रसार करते हैं, सबके सब देश के दुश्मन हैं। वे हमारे धर्म, संस्कृति, तथा हमारे स्वराज्य की न केवल आलोचना करते हैं, बल्कि उन्हें खत्म करने पर तुले हुए हैं। यह संस्कार उनके मन मे इतना गहरा बैठ गया था कि लाख कोशिश करने पर भी मन से नहीं हटता था। इसका एक कारण भी था। उन दिनों के एक नेता का, जिनके प्रति उन्हें नितांत श्रद्धा थी, उन्होने एक भाषण सुना था, जिसमें उन्होंने कहा था, 'जो ईसाई मिशनरी राजनैतिक विचारों से हमारे बीच काम करते हैं, उनसे मुझे कोई डर नहीं है। उनकी मक्कारी तुरंत मेरे ध्यान मे आ जाती है। उनसे मैं आसानी से लड़ सकता हूं। मगर, कुछ मिशनरी ऐसे होते हैं, जो वाकई धर्मनिष्ठ होते हैं। सचमुच ईसा के भक्त होते हैं और शुद्ध सेवा भाव से ही हमारे बीच काम करते हैं। ऐसों से मैं अधिक डरता हूं। वास्तव में इन्ही अच्छे पवित्र सत्पुरुषों से हमें ज्यादा खतरा है। हमारी जनता भोली है। उनकी सेवा से वह प्रभावित होती है और उनके चंगुल मे फंस जाती है।'

शांतिनिकेतन में ऐसे एक पवित्र, पारदर्शक व्यक्तित्व के मिशनरी आकर रहे थे—सी० एफ० एंड्रयूज। वे रवीन्द्रनाथ के एक पागल भक्त थे। बात-बात में रवीन्द्रनाथ के वचनों की दुहाई दिया करते थे। शांतिनिकेतन की प्रबंध-समिति में जब भी कोई समस्या उठती, एंड्रयूज, 'गुरुदेव ने ऐसा कहा है', 'गुरुदेव की यह राय है', इस तरह गुरुदेव के वचनों का हवाला दिया करते। प्रबंध-समिति में जो दूसरे सदस्य थे, उनको इससे बुरा लगता था। वे कहते थे, क्या हम गुरुदेव को कम पहचानते हैं? और यदि गुरुदेव के वचनों से ही फैसले करने हों तो फिर हम लोगों की प्रबंध-समिति की जरूरत ही क्या है? पर यह सब उनके मुंह पर

कहने की किसी की हिम्मत नही थी, क्योंकि एंड्र्यूज की मूर्ति ही ऐसी थी कि उसके सामने आते ही लोगों के दिल मे भलमनसाहत जाग्रत हो जाती थी ।

अंग्रेज व्यक्ति की ओर—फिर वह चाहे एंड्र्यूज ही क्यों न हों—शक की निगाह से देखना काका साहब की ही नही, उन दिनों के लगभग सभी देशभक्तों की राष्ट्रीयता का पहला सिद्धांत था । काका साहब इन संस्कारों से मुक्त नही थे । उन्हें लगता था कि एंड्र्यूज प्रच्छन्न साम्राज्यवादी होने चाहिए । भले ही वे हिन्दुस्तान के हित की बातें करते हों, यह उनका नकाब है । अंदर से तो वे इंग्लैंड का ही हित चाहते हैं । अपना राज्य मजबूत करने के लिए ऐसे धूर्त लोगों को हमारे बड़े-बड़े लोगों के पास रखना, हमेशा अंग्रेजों की नीति रही है ।

केवल काका साहब की यह राय थी, ऐसा नही है । रवीन्द्रनाथ के निकटतम साथियों की भी यही राय थी, पर रवीन्द्रनाथ के सामने वह प्रकट करने की किसी की हिम्मत नही थी । क्योंकि रवीन्द्रनाथ एंड्र्यूज की बड़ी इज्जत करते थे । उनकी राय लगभग अलंघनीय मानते थे । 'हम रवीन्द्रनाथ को कुछ कहने गए और उन्होंने हमे डाटा तो ? एरिस्ट्रोक्रेट (अभिजात तंत्रीय) जो है, डांट भी सकते हैं ।' इस डर से सभी अंदर-ही-अंदर कुढ़ते रहते थे ।

रवीन्द्रनाथ के साथियों ने काका साहब को गांधीजी से नि.संकोच चर्चा करते देखा, तब उन्होंने उनसे पूछा, 'आप एंड्र्यूज के बारे में अपनी राय गांधीजी के सामने क्यों नही रखते ?'

काका साहब ने कहा, 'रख दूगा ।'

एक दिन गांधीजी ने ही एंड्र्यूज का जिक्र किया, तब काका साहब बोले, 'आप भले ही उन्हें अपना भाई मानें, हमारी राय अलग है । एंड्र्यूज इग्लैड का ही भला चाहते हैं ।' और साथ-साथ यह भी कह दिया, 'यह मेरे अकेले की राय नही है । रवीन्द्रनाथ के निकटतम साथियो मे से भी कईयों की यह राय है । एंड्र्यूज हमारे नही, इग्लैड के आदमी हैं ।'

'इसमे क्या बुरी बात है ?' गांधीजी ने पूछा, 'वे अंग्रेज ही तो हैं । इंग्लैंड का हित वे क्यों न चाहें ?'

गांधीजी का जवाब सुनकर काका साहब अवाक् रह गए । कुछ शर्मिन्दा भी हुए । आदमी जब निरुत्तर हो जाता है, तब वह अपने बचाव के लिए तुरंत

कवच धारण कर लेता है और अपनी बात का जोर-शोर के साथ समर्थन करने लगता है। ऐसा ही कुछ काका साहब ने भी किया। उन्होंने गांधीजी से कहा, 'देखिए, बापूजी, (फिनिक्सवासियों की देखा-देखी वे भी अब गांधीजी को बापूजी कहने लगे थे) आप बड़े हैं। आपके पास जो आते हैं, वे अपनी ढाल का अग्रभाग ही आपके सामने रखते हैं। हम छोटे लोग है। ढाल का पृष्ठभाग हमें दिखाई देता है। एंड्रयूज साहब ने आपको अपना भारत-हितैषी स्वरूप दिखाया है। पर हम देखते हैं कि वे जैसे दीखते हैं, वैसे नही हैं। शायद वह जाली आदमी हैं।'

'मेरा अनुभव ऐसा नही है', गाधीजी ने जवाब दिया। 'मै उन्हें एक नेक आदमी मानता हूं। मै भी लोगों को पहचानने का दावा करता हूं। मुझे कोई आसानी से धोखा नही दे सकता। एंड्रयूज मेरे इतने नजदीक आ गए हैं कि मै उन्हें न पहचानू, यह असम्भव है। वे बिलकुल निर्मल पुरुष हैं। यही नही, एक पुण्यात्मा भी हैं। हां, वे इंग्लैड को सच्चे हृदय से चाहते हैं। इंग्लैड के हाथों हिन्दुस्तान के प्रति जो अन्याय होता है, वह उनसे सहा नही जाता। इसलिए प्रायश्चित रूप से हिन्दुस्तान की सेवा करते हैं। हिन्दुस्तान की सेवा के द्वारा वे इंग्लैंड की ही सच्ची सेवा करते हैं।'

फिर कहा, 'आप जो उन पर इल्जाम लगाते हैं, उनके सबूत आपको पेश करने होंगे।'

काका साहब ने सोचकर एक दो टूटे-फूटे सबूत पेश किए, पर उनका गाधीजी पर कोई असर नही हुआ।

गांधीजी यहीं नही रुके। उन्होंने शांतिनिकेतन के अध्यापकों को इकट्ठा किया और एंड्रयूज को बुलाकर कहा, 'देखिए, इन लोगों मे कुछ लोग ऐसे है, जो आपको जाली आदमी मानते हैं।'

बेचारे एंड्रयूज! सिर झुकाकर सुनते रहे। शर्म के मारे काका साहब ने भी अपना सिर झुका लिया। फिर, गांधीजी की वाक् धारा बहने लगी: 'मैं एंड्रयूज को बहुत नजदीक से जानता हूं। इनसे बढ़कर दुनिया में शायद ही कोई मानवता का पुजारी मिलेगा। ऐसे उदार हृदय अंग्रेजों के सम्पर्क मे आने से हम लोगों का ही कल्याण है। इससे हम चारित्र्य मे ऊंचे चढ़ेंगे।'

काका साहब कहते हैं :

मुझे एक नई दृष्टि मिली। मै एंड्रयूज के अधिकाधिक नजदीक आ गया और जैसे-जैसे उनसे मेरा परिचय बढ़ता गया, वैसे-वैसे उनके चरित्र की खुशबू से मोहित होता गया। वे बड़े भोले स्वभाव के थे। बड़े भुलक्कड़ भी थे। उनमें जो श्रेष्ठता थी, खिस्त-भक्ति के कारण उनमे आई थी। सनातनी रूढ़िवादी खिस्ती उन्हें नास्तिक कहते थे। उनके हाथों एंड्रयूज ने बहुत कुछ सहा है। सहन करके ही वे ऊंचे उठे हैं। उनका हृदय मातृ-हृदय-जैसा था। एक दिन बात-बात मे उन्होंने मुझसे कहा, 'मुझे हिन्दुस्तान का नेता या गुरू नही बनना हे। मैं अंग्रेज हूं। नम्र सेवक बनकर ही हिन्दुस्तान की सच्ची सेवा कर सकता हूं। मैं ऐसे अंग्रेजों को जानता हूं, जो हिन्दुस्तान मे आकर लोगों के गुरू या नेता बन गए हैं। लोगो को उपदेश देते हैं। (उनका इशारा शायद एनी बेसेंट की ओर था।) मुझे उनकी तरह काम नही करना है। हिन्दुस्तान का उद्धार हिन्दुस्तान के लोगों के द्वारा ही होगा। उद्धार का रास्ता वे स्वयं ढूंढ़ लेंगे। उनकी सेवा मुझसे जो बन सकेगी, मैं करता रहूंगा। इसी में संतोष मानूंगा।' मेरे मन में जो कलुष था, वह इस बात से निकल गया। मेरा दिल साफ हो गया और मैं एंड्रयूज को दुनिया के श्रेष्ठ पुरूषों में गिनने लगा। जैसे-जैसे उनसे मेरा परिचय बढ़ता गया, वैसे-वैसे उनके प्रति मेरा आदर भी बढ़ता गया। उन्होंने मुझे अपनी एक पुस्तक दी थी : 'द क्रीड आफ खाइस्ट'। बड़ी ही सुंदर पुस्तक है। जब भी मैंने वह अपने हाथ मे ली, मुझे उनका पावन सत्संग मिला है।

स्वावलम्बन का एक प्रयोग

आमतौर से बंगालियों के आहार में चावल अधिक रहता है। शांतिनिकेतन के रसोई घर में इसी तरह का बंगाली आहार बनता था। काका साहब मानते थे कि आहार में चावल की अपेक्षा गेहूं की रोटियां अधिक होनी चाहिए। इसलिए उन्होंने वहां एक 'भोजन सुधार मंडल' स्थापित किया था। उसमें पांच अध्यापक और दस-एक विद्यार्थी शामिल हुए थे। संतोष कुमार मजुमदार, जो अमरीका से अध्ययन करके आए थे, इस मंडल के एक सदस्य थे। सब अपने हाथ से रसोई बनाते थे। बर्तन भी अपने हाथ से ही मांजते थे। रोटी बेलने और सेकने का काम काका साहब करते थे।

गांधीजी का झुकाव हमेशा स्वावलम्बन की ओर रहा। दक्षिण अफ्रीका के उनके आश्रम में नौकर नहीं थे। आश्रम के सभी सदस्य सभी तरह के काम करते थे। उनका जब काका साहब के इस भोजन सुधार मंडल की ओर ध्यान गया, तब वे बड़े ही खुश हुए। उन्होंने काका साहब से कहा, 'इतने महत्व का यह प्रयोग इतने छोटे पैमाने पर क्यों चले ? क्यों न उसे शांतिनिकेतन व्यापी बनाया जाए ?'

उन्होंने तुरंत जगदानंद बाबू, शरत बाबू, संतोष बाबू आदि शांतिनिकेतन के व्यवस्थापकों को बुला लिया और कहा, मैं तो इसी राय का हूं कि शांतिनिकेतन का रसोई घर स्वावलम्बन के तत्व पर चले। सभी काम अध्यापक और विद्यार्थी मिलकर करें।

बेचारे व्यवस्थापक ! बड़ी मुसीबत में पड गए। इतने बड़े आदरणीय मेहमान को क्या जवाब दें ? वे कह सकते थे कि इस समय गुरूदेव शांतिनिकेतन में नहीं हैं। इस तरह का कोई बड़ा परिवर्तन करना हो तो उनकी सम्मति से ही किया जा सकता है, पर वे यह भी कह न सके। क्योंकि उन्होंने देखा कि स्वयं एंड्रयूज गांधी जी की राय के बन गए थे। उनके निकट के साथी पियर्सन भी उनके पक्ष में गए हैं। यही नही, गुरूदेव के दामाद नगीनदास गांगुली भी गांधी जी के प्रभाव में आ गए हैं।

काका साहब को गांधीजी की यह जल्दबाजी अनुचित मालूम हुई। उन्होंने अपनी महाराष्ट्रीय स्पष्टवादिता से उनसे कहा, 'बापूजी, संस्था न आपकी है, न मेरी। जिनकी है, वे इस समय यहां नहीं हैं। उनकी अनुपस्थिति में आप इतना बड़ा परिवर्तन क्यों करने जा रहे हैं ? मेरा छोटा-सा प्रयोग चल रहा है, उसे चलने दीजिए। इससे प्रेरणा पाकर और चार-छह क्लब स्थापित हो जाए तो उनका हम स्वागत करें। दो-सौ लोगों के आम रसोई घर को स्वावलंबन के तत्व से चलाना शायद मुश्किल है।'

पर गांधीजी पर इस दलील का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे कहने लगे, 'मान लीजिए कि ऐसे आठ क्लब बन गए, तो आपको रसोई के कम-से-कम सोलह विशेषज्ञों की जरूरत होगी। इतने विशेषज्ञ हैं क्या आपके पास ? मैं तो चाहता हूं कि बड़ी-बड़ी फौजें जिस तरह काम करती हैं, उसी तरह से हम भी काम करें।

सभी साथ मिलकर काम करें, साथ खाएं। छोटे क्लब बनाने हों तो लोगो के तैयार होने पर बाद में बनाए जा सकते है।'

शांतिनिकेतन को अपना ही आश्रम समझकर गांधीजी ने मानो उसका कब्जा ले लिया।

पर यह प्रयोग विद्यार्थियों पर निर्भर था। इसलिए गांधीजी ने विद्यार्थियो को बुला लिया। एंड्रयूज ने उनसे कहा, 'मोहन, आज तो तुम्हें अपनी सारी वक्तृता काम मे लानी होगी। विद्यार्थियो मे ऐसी जोशीली अपील करो कि वे सब मंत्र-मुग्ध हो जाए।'

वास्तव मे एंड्रयूज को स्वावलम्बन के बारे मे उतना उत्साह नही था, जितना ब्राह्मण जाति के रसोईयों को छुट्टी देने में था। विश्वकुटुब मे विश्वास रखने वाली इस संस्था मे ब्राह्मण रसोइए अपनी सनातनी रूढिया चलाते आए थे। रसोईघर मे किसी को घुसने भी नही देते थे। एंड्रयूज को उनम चिढ थी। गाधी जी सामाजिक या धार्मिक सुधार के ख्याल से यह परिवर्तन करने के लिए प्रेरित नही हुए थे, उन्हें तो जीवन-सुधार की लगन थी।

जो हो, विद्यार्थी इकट्ठा हुए। गांधीजी की जोशीली अपील सुनने की उत्कंठा से सब अपना-अपना हृदय कान मे लगाकर बैठे और उन्होन क्या सुना? ठडी मामूली आवाज में व्यवहार की कुछ बातें। उसमे न वक्तृता थी, न जोश, न भावुकता थी, न लम्बी-चौडी फलश्रुती। फिर भी विद्यार्थियों पर उसका असर हुआ। सब उत्साह मे आ गए। कई विद्यार्थी तो भद्र समाज के थे। उन्होंने कभी अपने हाथ से कोई काम नही किया था। वे भी उत्साह मे आ गए।

विद्यार्थियों का समर्थन मिलते ही गाधीजी ने व्यवस्थापको से पूछा, 'यहा नौकर कितने हैं?'

'पैतीस', जवाब मिला।

'उन सबको आज ही छुट्टी दे दी जाए।'

व्यवस्थापक असमंजस में पड़ गए। उन्होने अपनी आखिरी कठिनाई पेश की। कहने लगे, 'इन्हें आज ही छुट्टी देनी हो तो उन्हे तनख्वाह भी देनी होगी। खजांची के पास इतने पैसे नही हैं।'

गांधीजी के पास पैसे नहीं थे। उन्होंने एंड्रयूज की ओर देखा। उनकी भी जेब खाली थी। काका साहब से उन्होंने पूछा, 'आपके पास कुछ रुपये हैं ?'

'जी है', उन्होंने जवाब दिया और दो सौ रुपये लाकर गांधीजी को दे दिए !

हाथ मे दो सौ रुपये आते ही, उन्होंने नौकरों को बुलाया। उन सबको तन्ख्वाह दी और कहा, 'अब भागो।' सब आश्चर्य चकित होकर चले गए।

अब सवाल उठा इस प्रयोग की जिम्मेदारी कौन ले ? काका साहब को पूछा, 'आप लेंगे ?'

काका साहब ने साफ इंकार कर दिया। आत्मविश्वास के अभाव के कारण नहीं, इस प्रयोग मे उनकी अश्रद्धा थी, ऐसी भी बात नही। उन्हें यह अनधिकार चेष्टा मालूम होती थी, इसीलिए उन्होंने इकार कर दिया था। पर गांधीजी का भाग्य हमेशा ऐसा रहा कि जब कोई इकार कर देता तो दूसरा कोई तैयार हो ही जाता और उनका काम उठा लेता। हरिहर शर्मा उन दिनों शांतिनिकेतन में थे। वे काका साहब के गंगनाथ विद्यालय के समय के साथी थे। उन्हें सब अण्णा कहते थे। वे जिम्मेदारी उठाने के लिए तैयार हो गए।

काका साहब ने कहा, 'अपना कोई मित्र जब कोई काम उठाता है, तब उसे मदद करना मेरा कर्तव्य हो जाता है, मैं अण्णा की मदद करूंगा।'

दोपहर के बारह बजे निर्णय लिया गया था। तीन बजे अण्णा ने चार्ज लिया और उसी दिन शाम से प्रयोग शुरू हुआ। पहले दिन स्वयं गाधीजी ने सब्जी काटने का काम किया। आटा गूंथने का काम चितामण शास्त्री ने उठाया। विद्यार्थी रोटियां बेलकर देते थे और काका साहब रोटियां सेकते थे।

खाने के बाद बर्तन मांजने का काम था। इस काम के लिए काका साहब ने बडे विद्यार्थियों की एक टुकड़ी तैयार की। कुछ अध्यापकों को भी इसमे जुटा लिया और स्वयं इस टुकडी के सरदार बने। बर्तन मांजने के काम मे उत्साह रहे, इस लिए उन्होंने एक नई प्रथा भी शुरू कर दी। इधर सब बर्तन मांजते रहते और उधर कोई-न-कोई विद्यार्थी कुछ पढ़कर सुनाता या सितार बजाता था।

चार-पांच दिन के बाद गांधीजी ब्रह्मदेश जाने के लिए तैयार हुए। उनके मित्र डा० प्राणजीवनदास मेहता रंगून में थे, उनसे उन्हें मिलना था। अण्णा (हरिहर शर्मा) डा० मेहता के यहां किसी समय ट्यूटर के रूप में काम करते

थे। उन्हें भी ब्रह्मदेश जाने की इच्छा हुई। उन्होने गांधीजी से पूछा, 'क्या मै आपके साथ आ सकता हूं ?'

गांधीजी ने कहा, 'चलिए।'

काका साहब को जब मालूम हुआ कि अण्णा भी गाधीजी के साथ ब्रह्मदेश जा रहे हैं, उन्हें बडा गुस्सा आया। उन्होंने अण्णा से पूछा, 'इस स्वावलम्बन के प्रयोग की जिम्मेदारी तो आपने उठाई थी न ? आप ऐसे कैसे छूट सकते हैं ?'

काका साहब शिकायत करने के लिए गाधीजी के पास गए। गाधीजी ने काका साहब को काम करते देखा था। उन्होंने कहा, 'मुझे पूरा विश्वास है कि आप यह काम कर सकेंगे। हा, अगर आप चाहें तो अण्णा को चार छह दिन आपकी मदद मे रख सकता हू। वे बाद मे ब्रह्मदेश जा सकते हैं।'

काका साहब झल्लाए। बोले, 'जिम्मेदारी तो उन्होने उठाई थी। वे कैसे जा सकते हैं ? और अगर उन्हें जाना ही है तो चार छह दिन की मेहरबानी मुझे नही चाहिए। भले आज ही जाएं।'

गाधीजी ने बिलकुल ठडी आवाज मे जवाब दिया, 'तो ठीक है, वे मेरे साथ जाएंगे। यहा का काम आप सम्भालेगे।'

काका साहब के लिए अब दूसरा चारा ही नही रहा। उन्होंने काम सम्भाल लिया। इस बीच रवीन्द्रनाथ शातिनिकेतन मे आए। स्वावलम्बन का यह प्रयोग देखकर बड़े खुश हुए। उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया और कहा, 'इसमें स्वराज्य की कुजी है।'

पर इस प्रयोग मे जो लगे हुए थे उन शिक्षको और विद्यार्थियों की परवरिश 'भद्र' परम्परा मे हुई थी। इस परम्परा के लोगों ने कभी शरीरश्रम नही किया था। जीवन मे श्रमजीवन का तत्व दाखिल करने के लिए जो शारीरिक तपश्चर्या करनी पड़ती है, उसकी आदत इन लोगो को नही थी और सामाजिक असमानता का पाप धोने के लिए जिस तरह की श्रद्धा या उपरति कहिए—आवश्यक है, वह इस समाज में उत्पन्न नही हुई थी। पियर्सन, जो इस प्रयोग मे बड़े उत्साह से लगे हुए थे, एक दिन कहने लगे, काम तो उत्साह से करता हूं, पर इसके पीछे जो समय देना पड़ता है, वह बहुत ज्यादा है। इस काम के बाद दूसरा कोई काम करने का उत्साह ही नहीं रहता और बहुत जरूरी काम रह जाते है।

काका साहब को लगा, पियर्सन के मुंह से भद्र संस्कृति ही बोल रही है। पर वे अपने काम में डटे रहे। लगभग चालीस दिन तक प्रयोग चला। फिर छुट्टियां आई और सबने छुटकारे का दम लिया।[1]

शांतिनिकेतन से विदा

इससे पहले एक घटना घटी--

एक दिन चिंतामण शास्त्री ने काका साहब से आकर कहा, 'काका, आपको यह नही भूलना चाहिए कि आप बंगाली नहीं, बल्कि महाराष्ट्रीय हैं। और आप इस संस्था के व्यवस्थापको के साथी नही, बल्कि मेहमान हैं। एक बंगाली संस्था में एक महाराष्ट्रीय अपना राज्य चलाए, यह इन लोगों को पसंद नही है।'

काका साहब चौके। उन्होंने पूछा, 'क्या यह आपकी राय है या और किसी की ?'

'गुरुदेव के निकटतम साथियों की' शास्त्री जी ने जवाब दिया और एक ऐसे व्यक्ति का नाम लिया, जिनके प्रति काका साहब के मन मे नितांत श्रद्धा थी।

'क्या उन्होंने यह कहलवा भेजा है ?'

'जी।'

काका साहब के दिल को बड़ी चोट लगी। वे अदर-ही-अंदर एकालाप करने लगे 'क्या मैं अब भी केवल महाराष्ट्रीय हूं ? अभी भी भारतीय नही बना हूं ? मैं तो मानता था कि मैं प्रांतीय भावनाओं से परे हूं। मेरे मन में प्रातीय भेदभाव नही है, इसीलिए तो महाराष्ट्र छोड़कर मैं गुजरात मे चला गया था। मुझे भारतीय नागरिकता का एक नमूना पेश करना था। मैं केवल महाराष्ट्रीय नहीं रहा हूं, इसीलिए शांतिनिकेतन के साथ एकरूप हो गया था। मैने यहां जो-कुछ भी

1. गर्मियों की छुट्टियों के बाद जब नया सत्र शुरू हुआ, पहले की तरह रसोइए और नौकर रखे गए। पर, कुछ दिनों के लिए ही क्यों न हो, एक सुधार की प्रवृत्ति वहां चली थी, उसके स्मरण में तब से हर साल वहां 10 मार्च को 'गांधी-दिवस' मनाया जाता है। उस दिन सब नौकरों को छुट्टी दी जाती है और सफाई तथा रसोई का सारा काम आश्रमवासी मिलकर करते हैं।

किया है, सचालको की इजाजत से ही किया है। फिर, मै बंगाली नही हूं, महाराष्ट्रीय हूं, इस तरह की छाप इन लोगों के मन पर क्यों पड़ी ? और किसी सस्था की बात होती तो समझ सकता था, पर यह तो रवीन्द्रनाथ की संस्था है। केवल बगाली संस्था नही, केवल भारतीय संस्था भी नही, यह तो एक अंतर्राष्ट्रीय सस्था है, इसीलिए तो एंड्र्यूज और पियर्सन-जैसे अंग्रेज भी यहा सबके साथ घुलमिल कर काम कर सकते हैं।

उस दिन सारी रात उन्हे नीद नही आई। सोचते-सोचते उन्हे याद आया—'शातिनिकेतन मे शामिल होने से पहले मैने गुरूदेव को लिखा था कि आप की संस्था के लिए मै बाधक नही बनूंगा। गुरूदेव के मन मे कभी यह नही आएगा कि मैने यह आश्वासन तोड़ा है। फिर भी शातिनिकेतन का एक भी सेवक यदि मुझे शास्त्रीजी के द्वारा याद दिलाता है कि मै उसका साथी नही हूं, बल्कि मेहमान हूं, तब मुझे समझ लेना चाहिए कि दिए हुए वचन का मैने पूर्ण अर्थ मे पालन नही किया है। अनजाने मे ही क्यों न हो, वचन-भंग हुआ है।

उसी रात उन्होने दो निश्चय किए। एक, अब तो इस संस्था मे मै नही रहूंगा। और दूसरा, कहीं पर भी जाऊं, अधिकार का कोई स्थान नही लूगा। अपना जीवन, आचरण और व्यक्तित्व शकातीत है, ऐसा मानना काफी नही है। शका का किसी को कोई कारण ही नही मिलना चाहिए, इतनी सावधानी रखना नितांत आवश्यक है।

शातिनिकेतन छोड़कर कहा जाना है, यह निश्चित नही कर पाए थे। मन मे गाधीजी के प्रति जबरदस्त आकर्षण था। गाधीजी ने उन्हें अपने आश्रम मे आकर रहने का निमत्रण भी दिया था। अभी-अभी शातिनिकेतन में उनसे जो चर्चाएं हुई थी, उन चर्चाओ के दरमियान उन्होने एक दिन जब कहा कि 'एक उदात्त तत्व के रूप मे अहिंसा को मैं स्वीकार तो कर सकता हूं। पर अभी तक यह विश्वास नही बैठता कि अहिसा हमे स्वराज्य दिला सकेगी, इसलिए मैं थोड़ा कुछ शंकित हूं। तब गांधीजी ने उन्हें जवाब दिया था, 'दुनिया के सभी लोग आप ही की तरह सोचते हैं। अहिसा से स्वराज्य मिल सकता है, यह तो केवल मैं कह रहा हूं। मुझे ही वह सिद्ध करके दिखाना है। जब मैं आश्रम खोलूंगा, आप वहां आकर रहिएगा। मुझे काम करते देखिएगा। फिर, अहिसा आपको जंच गई तो आप वहीं रहिएगा, वरन् आप मुक्त है।' इस चर्चा का स्मरण होते ही लगा

कि गांधीजी के पास जाने के लिए ही ईश्वर ने यह रास्ता खोल दिया है। पर गांधीजी ने अभी आश्रम खोला ही नहीं था। उन्होंने गोखले को वचन दिया था कि पूरा एक साल परिस्थिति का निरीक्षण करने के लिए देश में केवल घूमते रहेंगे। इस वचन के अनुसार फिलहाल वे घूम रहे थे। इसलिए सोचा कि गांधीजी जब आश्रम खोलेंगे तब वहां जाऊंगा। तब तक बड़ौदा में केशवराव देशपांडेजी के पास रहूंगा। वे ग्राम-सेवा का काम वहां कर रहे हैं, उन्हें मदद करूंगा।

यह निश्चय होते ही वे दूसरे दिन रवीन्द्रनाथ से मिलने गए। उनसे कहा, 'आप जानते हैं कि मैंने अपना हृदय आपको अर्पित किया है। मैं यहां रहूं या और कहीं जाऊ, हमेशा आपका ही रहूंगा। आपकी शिक्षा प्रवृत्तियो से मैं काफी प्रभावित हुआ हूं। आपने मुझे यही स्थाई रूप से रहने को कहा था और मैने वह स्वीकार भी किया था, पर इस बीच गांधीजी से मेरी यहां भेंट हुई। आप जानते हैं कि मै सब-कुछ छोड़कर हिमालय में चला गया था। अध्यात्म साधना की उत्कंठा मुझमे इतनी तीव्र थी कि मै हिमालय में ही रह जाता। पर स्वराज्य के सकल्प ने मुझे वहां रहने नही दिया। वह मुझे वापिस खीच लाया। गांधीजी से मिलने के बाद मुझे लगा कि मेरा यह संकल्प उनके साथ रहने से पूर्ण होगा। स्वराज्य वे जल्दी ला देंगे, इसलिए उनके पास जाने की इच्छा हुई है।'

रवीन्द्रनाथ मुस्कराए और 'अच्छा हे' कहकर उन्होने उन्हे प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद दिया। उनकी सम्मति मिलते ही काका साहब ने शातिनिकेतन से विदा ली।

काका साहब को यह मालूम नही था कि स्वयं गांधीजी ने रवीन्द्रनाथ से उनकी मांग की थी। और दत्तू बाबू की सेवाएं मै आपको उधार दे सकता हूं, कहकर उन्होंने काका साहब को ले जाने की उन्हे अनुमति भी दी थी। पाच साल के बाद अहमदाबाद मे गुजराती साहित्य परिषद का अधिवेशन हुआ, वहां रवीन्द्रनाथ सम्मानित अतिथि के रूप मे पधारे थे और साबरमती आश्रम मे गांधीजी के साथ ठहरे थे। दत्तू बाबू उस समय पूरे-पूरे आश्रमवासी बन चुके थे। उन्हे देखकर रवीन्द्रनाथ ने गांधीजी से विनोद मे कहा, आपने मुझसे जो उधार लिया था, उसे वापस लौटाने की आपकी नीयत नही दीखती। तभी सबको—स्वयं काका साहब को भी—इस मांग का पता चला और शांतिनिकेतन से विदाई के लिए सम्मति देते समय रवीन्द्रनाथ क्यों मुस्कराए थे, इसका अंदाज लगा।

ब्रह्मदेश की यात्रा

शांतिनिकेतन से विदा होते समय मन में आया : यहां से ब्रह्मदेश नजदीक है। कहीं स्थिर होकर काम में लग जाऊं उससे पहले ब्रह्मदेश क्यों न हो आऊ ?

ब्रह्मदेश मे उन दिनों अंग्रेजों का शासन था। राजनैतिक दृष्टि से वह भारत का ही हिस्सा माना जाता था। भारत के बंगाल, तमिलनाडु, आंध्र, गुजरात, महाराष्ट्र आदि कई प्रांतों के लोग वहां जाकर बसे थे। वे या तो नौकरी या व्यापार या मजदूरी करते थे।

उन्होंने कृपलानीजी को पत्र लिखा . 'मै ब्रह्मदेश की यात्रा करना चाहता हूं। क्या आप आएंगे ?'

कृपलानीजी का तुरत जवाब आया : 'मै आपसे सीधे कलकत्ते मे मिलूगा।'

काका साहब शातिनिकेतन से विदा होकर कलकत्ते गए और वहां से कृपलानी जी को साथ मे लेकर ब्रह्मदेश गए।

छोटा गिरिधारी भी उनके साथ था।

हिमालय की यात्रा मे कुछ खास पवित्र भावनाओ की उत्कटता थी। ब्रह्मदेश की इस यात्रा मे केवल संस्कार-लोलुप सैलानी का कुतूहल ही था। वहा देखने लायक जो-कुछ था, सब बड़ी दिलचस्पी के साथ उन्होंने देख लिया। रंगून मे श्वेडेगॉन पॅगोडा देखा, जो भगवान बुद्ध के बालों पर बनाया हुआ स्तूप था। मंडाले मे थोबा राजा का किला देखा, जहा लोकमान्य ने 'गीता-रहस्य' लिखा था। पेगू मे भगवान बुद्ध की सिंह-शय्यावाली बड़ी मूर्ति देखी। येननजांव मे मिट्टी के तेल के कुएं देखे।

फिर पहाड़ देखे, नदियां देखी।

ब्रह्मदेश के सभी पहाड़ उत्तर से दक्षिण की तरफ दौड़ते हैं। बंगाल उपसागर का पूर्व तट ब्रह्मदेश का पश्चिमी तट है। वहां कुलादन नामक एक नदी बहती है, फिर आराकान योमा के पहाड़ आते हैं। इनके बाद बहती है ऐरावती नदी। ऐसा मालूम होता है मानो, ऐरावती की रक्षा के लिए इस तरफ आराकान पर्वत खड़े हैं तो उस तरफ पेगू योमा के पहाड़ खड़े हैं। इनके बाद और एक नदी बहती है। इस प्रकार एक नदी, एक पहाड़, फिर एक नदी और एक पहाड़, यह सिल-

सिला चलता रहता है। इन नदियो मे सिटटोग और सालविन यह दो महत्व की नदिया हैं। पहाडो की रचना का सस्कृति पर बड़ा ही असर होता है। भारत के पहाड सीधे भी हैं और आड़े भी है। सत्याद्रि, पूर्वघाट, अरावली, खिरथर सीधे हैं, तो हिमालय, शिवालिक, विंध्य, सतपुड़ा और महादेव के पहाड आडे हैं। हिमालय आडा है, इसलिए उत्तर की ठडी हवाओ को वह रोकता है। यही नही, उत्तर की ओर के वृक्ष वनस्पति के बीजो को भी वह दक्षिण की ओर जाने नही देता। ब्रह्मदेश के पहाड सभी सीधे हैं। इसलिए उत्तर की हवाएं ठेठ दक्षिण तक बह सकती हैं। वह अपने साथ उत्तर की वृक्ष वनस्पति के बीज भी ले आती है। फलस्वरूप, उत्तर के जगल दक्षिण की भी यात्राए कर सके हैं। यही नियम पशु-पक्षी और मनुष्यो पर भी लागू होता है।

भारत के पहाडो की रचना के कारण ही चीनी सस्कृति भारत मे फैल न सकी, जबकि ब्रह्मदेश मे वह ठेठ सिंगापुर तक पहुच गई है।

ब्रह्मदेश देखकर काका साहब सबसे पहले इस नतीजे पर पहुचे कि भले ही राजनैतिक दृष्टि से वह भारत से जुडा हुआ हो, पर वह भारत का हिस्सा नही है। बल्कि भारत का एक स्वतत्र पड़ोसी ही है। साम्राज्य लालसा से प्रेरित होकर ही हम उसे भारत का हिस्सा कह सकते हैं।

पड़ोसी देश मे जो नौकरी, व्यापार या मजदूरी के लिए जाते हैं, उन्हे वहा किस तरह पेश आना चाहिए? भारत के पाच-छह प्रदेशो के हिन्दू-मुसलमान ब्रह्मदेश मे बस है। वे ब्रह्मदेश के लोगो के साथ घुलमिल कर नहीं रहते। काका साहब को लगा यह उचित नही है। घुलमिल जाने की कला हमे सीखनी ही चाहिए। दूसरो को अपना बनाने मे अपनी ही उन्नति है। उसमे एक प्रकार का आनंद भी है। दूसरे देशो मे जाकर जो रहते हैं, उनका केवल पेट ही बड़ा हो, यह अच्छा नही है, उनका दिल भी बडा होना चाहिए। वे यह न समझें कि उनके हाथ मे केवल उन्ही का भाग्योदय है। उन्हें यही समझकर रहना चाहिए कि उनके हाथ मे पूरे भारत का भाग्योदय है। ब्रह्मदेश मे जो भारतीय जाएगे, उन्हें तो बौद्ध धर्म का समभावपूर्वक अध्ययन करना ही होगा। यही नही, हिन्दू, बौद्ध और इस्लाम तीनो धर्मों का समभावपूर्वक अध्ययन करके अर्थनीति, राजनीति और समाज नीति की दृष्टि से इन लोगो की समस्याओ का भी उन्हे अध्ययन करना चाहिए।

अशोक के समय में मोग्गलीपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में बौद्ध संघ की तीसरी संगीति बुलाई गई, उस समय विदेशों मे किन-किन स्थविरों को भेजा जाए, इस प्रश्न पर विचार किया गया था। तब ब्रह्मदेश सोण और उत्तर नामक दो स्थविरों के हिस्से में आया था। तभी से भारत के धर्मोपदेशक राजपुत्र, वणिकपुत्र और कारीगर इस देश में लगातार आते रहे हैं। काका साहब सोचने लगे, ये लोग पहले-पहल जब यहां आए, तब यहा की स्थिति क्या रही होगी? सोण और उत्तर का इस देश के लोगो ने किस तरह स्वागत किया होगा? धर्म विस्तार का काम जब उन्होंने यहां शुरू किया, तब उन्होंने अपने मन में किन स्वप्नों को संजोया होगा? उनका उपदेश सुनकर यहां के लोगों को क्या महसूस हुआ होगा? नया धर्म स्वीकारते समय क्या इन लोगों के मन मे विरोध जाग्रत हुआ था? या सरलता से उन्होंने उसको स्वीकार कर लिया था। स्वीकार करने में कितना समय लगा होगा। नंदनवन जैसे इस सुंदर और समृद्ध देश को देखकर भारतीय राजपुत्रों या वणिकपुत्रों के मन में हनिबाल या सिकंदर-जैसी साम्राज्य-लालसा तो पैदा नही हुई होगी? पूरी यात्रा मे यही विचार काका साहब के दिमाग में चक्कर काटते रहे।

पेगू में जहां लेटे हुए भगवान बुद्ध की भव्यमूर्ति है, काका साहब एक ब्रह्मी सज्जन के यहां टिके थे। पेगू मे देखने लायक जो-कुछ था, सब देखकर जब घर लौटे, तब मेजबान के साथ बातें करते-करते काका साहब ने उनसे कहा, आपको शायद मालूम होगा कि जिस देश से आपको त्रिपिटक मिले हैं, उस देश की लिपि में वह आज उपलब्ध नहीं हैं। कितने दुःख की बात है कि भगवान बुद्ध के देशवासियों को ही उनके अनुशासन की जानकारी नही है। आप यूरोप की रोमन लिपि में पाली ग्रंथ छापने के लिए मदद करते हैं। काश, आप देवनागरी लिपि में भी छापने के लिए मदद देते।

मेजबान बोले, 'यह आप लोगों का काम है। हमारी ओर से आपको मदद नही मिलेगी, ऐसा तो मैं नहीं कहूंगा, पर यह काम हम हाथ मे नहीं ले सकते।'

फिर, धीरे से बोले, 'भारत के प्रति हम लोगों के मन में बड़ा ही पूज्यभाव है। हमारी वह धर्मभूमि है। हर साल हजारों ब्रह्मी लोग बौद्ध स्थलों की यात्रा करने के लिए वहां जाते हैं। पर दुःख की बात यह है कि आपके देश में आतिथ्य नाम की कोई चीज है ही नहीं।'

यह सुनते ही काका साहब को बड़ा आश्चर्य हुआ : 'भारत मे क्या आतिथ्य नही है ? आतिथ्य के लिए ही तो हम प्रख्यात है ।' काका साहब ने दबी आवाज में उनसे कहा, 'आप अपनी बात जरा अधिक स्पष्ट कर दीजिए क्योंकि हम समझते हैं कि आतिथ्य हमारे देश का विशेष गुण है और हमे इस पर कुछ गर्व भी है ।'

मेजबान बड़े सस्कारी सज्जन थे । बोले, 'हमारा अनुभव अलग है । आपके यहां आतिथ्य चलता होगा—शायद आपस मे । मै इकार नही करता, पर विदेशी लोगों के प्रति आप उद्धत तो नही कहूगा, पर बिलकुल उदासीन हैं । आपके यहा हम पानी मागे तो आप हमे प्याला भी नही देगे । रास्ते पर ही बिठाकर हमे हाथ की अजलि से पानी पीने को कहेगे । इसे क्या कहें ?'

काका साहब कहते हैं :

> अब मैं समझ गया । छुआछूत की, स्वच्छता की और पवित्रता की विचित्र कल्पनाओं के कारण विदेशी लोगो का हम कितना अपमान करते हैं, इस बात का हमे ख्याल तक नही है । मेरे जूते के नीचे किसी की अंगुलिया कुचल जाए तो उसका दु:ख मुझे थोड़े ही होगा । हम अंत्यजो के प्रति किस तरह पेश आते है, इसी एक बात पर सोचने से मालूम होगा कि हम किस तरह के लोग हैं । मुसलमान, पारसी, ख्रिस्ती हमसे घुल मिलकर नही रहते, इसके लिए हम भी कम जिम्मेवार नही हैं । विश्वबंधुत्व का आर्य आदर्श दुनिया के सामने रखने वाले भगवान बुद्ध के देश के लोग अंतर्राष्ट्रीय विवेक कब सीखेंगे ?

सिधु ब्रह्मचर्याश्रम

कृपलानीजी फर्ग्यूसन कालेज के समय से काका साहब के मित्र और साथी रहे हैं । क्रांति-कार्य मे दोनों एक साथ थे और अब गाधीजी से मिलने के बाद दोनों पूरे-पूरे गांधीजी के भी बन गए थे ।

सिध मे कृपलानीजी ने एक आश्रम खोला था, जो सिंधु ब्रह्मचर्याश्रम के नाम से पहचाना जाता था । क्रांति का काम करने के लिए नौजवानो को अगर तैयार करना हो, तो उन्हें आश्रम-जैसी एक संस्था में लाकर रखना चाहिए और आश्रम

के धार्मिक वातावरण मे उन्हें सहजीवन और क्रांति की दीक्षा देनी चाहिए, इस तरह के विचारों से प्रेरित होकर ही कृपलानीजी ने यह आश्रम चलाया था।

आश्रम के धार्मिक वातावरण के कारण सिंधी समाज मे उसकी प्रतिष्ठा भी थी। काका साहब इससे पहले एक बार इस आश्रम मे आकर रहे थे।

ब्रह्मदेश की यात्रा में कृपलानी जी ने काका साहब से कहा, 'मेरी इच्छा है कि आप इस आश्रम का बोझ उठाए। आर्थिक बोझ मै उठाऊगा। डा० चोइथ राम गिडवाणी-जैसे मेरे अच्छे मित्र अपना काफी समय इस आश्रम के लिए देते है। उन्होने अच्छे-अच्छे साथी भी अपने आस-पास जुटा लिए हैं। आप अगर वहां जाकर रहेंगे तो आश्रम का वातावरण अधिक सुदर और अधिक समृद्ध हो पाएगा।'

काका साहब ने उनसे कहा, 'हमेशा के लिए तो नही, पर कुछ महीनो के लिए मै अवश्य वहां जाकर रहूंगा। इससे सिंधी समाज से एकरूप होने के लिए मुझे अच्छा अवसर भी मिल जाएगा।'

इसलिए ब्रह्मदेश की यात्रा पूरी करके ज्योंही कलकत्ता लौटे वे सीधे सिंध मे गए और वहां हैदराबाद के पास कोटरी नामक गाव मे सिधु नदी के तट पर स्थित सिंधु ब्रह्मचर्याश्रम मे जाकर रहने लगे।

आश्रम का बोझ इस समय डा० चोइथराय गिडवाणी के सिर पर था। वे गुजर-बसर के लिए सरकारी जेल में डाक्टर का काम करते थे और बाकी का सारा समय आश्रम के लिए देते थे। उनमे क्रांति का जोश काफी था और वे सिंधी भाषा के बहुत अच्छे वक्ता भी थे। उनके इस वक्तृत्व के कारण और खास-तौर से सिंधी कवि शाह लतिफ के काव्य से उनका जो असाधारण परिचय था उसके कारण वे सिंध मे लोकप्रिय हो चुके थे। सिंधी नौजवानों के वे नेता थे और सिंधी व्यापारियों मे उनकी जैसी प्रतिष्ठा थी, वैसी ही धाक भी थी। आश्रम के लिए वे उनसे आर्थिक सहायता आसानी से जुटाते थे। जेल का काम पूरा करके जब वे आश्रम मे लौट आते, तब उनके आस-पास एक अच्छी खासी गोष्ठी जम जाती थी।

डा० चोइथराय से काका साहब की अच्छी बनी। उनके कारण वे हैदराबाद शिकारपुर, सक्कर बदीन, बुबक, लरकाना आदि शहरों के कई प्रमुख नागरिकों के परिचय मे आए। सिंध की परिस्थिति से परिचित होने में इससे उन्हें काफी

मदद मिली और उनकी जयरामदास दौलतराम, नारायण मलकानी, प्रो० घनश्याम दास जैसे सिंधी नेताओं से गहरी मित्रता स्थापित हुई, जो अंत तक बनी रही। सिंधी भाषा की आंतरिक शक्ति से तो काका साहब केवल परिचित ही नहीं, बल्कि मोहित भी हुए।

सिंधु ब्रह्मचर्याश्रम उन दिनों सिंध का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया था।
अचानक एक दिन प्लेग की बीमारी ने कोटरी गांव पर आक्रमण किया और सिंधु ब्रह्मचर्याश्रम को स्थानांतर करना पड़ा। कोटरी से उसे शिकारपुर के पास सक्कर ले जाना पड़ा। तब काका साहब सिंध छोड़कर अपने गांव शाहपुर के लिए रवाना हो गए। उन्हें काकी को और बच्चों को लेकर बड़ौदा के पास सयाजीपुरा में केशवराव देशपांडे के पास जाना था।

यहां एक छोटी-सी पर अत्यंत महत्व की बात का जिक्र करना आवश्यक है। नासिक के कलेक्टर जैक्सन की हत्या के कारण जो लोग पकड़े गए थे उनमें सावरकर के एक घनिष्ठ स्नेही विष्णु महादेव भट्ट भी थे। वे इन दिनों सिंध हैदराबाद की सेन्ट्रल जेल में सजा भुगत रहे थे। काका साहब सावरकर के दल से अलग हो गए थे। उनके क्रांति-मार्ग से भी उनका विश्वास उड़ गया था। फिर भी भट्टजी के प्रति उनके मन में आदर था, सहानुभूति भी थी। भट्टजी जिस जेल में थे, उसके डा० चोइथराम डाक्टर थे। उनकी मदद से काका साहब जेल में भट्टजी से मिलने गए। काका साहब कहते हैं :

> मुझे डा० चोइथराम के परिचय से खास लाभ उठाना नहीं था। मुझे तो सिर्फ अपनी सहानुभूति और आत्मीयता ही व्यक्त करनी थी। इसलिए मैं भट्टजी से मिलने गया। बरसों बाद एक पुराने मित्र को मिलने आए हुए देखकर भट्टजी भी प्रसन्न हुए। जाते समय मैं अपने साथ आठ-दस पुस्तकें ले गया था। ये पुस्तकें देखकर भी भट्टजी खुश हुए। मुझे अब उन पुस्तकों के सभी नाम याद नहीं हैं, पर दो पुस्तकों के याद है : एक थी रवीन्द्रनाथ की 'गीतांजलि' और दूसरी थी, गांधी जी की 'हिन्द स्वराज्य'। मैंने उनसे अपने विचार परिवर्तन की कथा भी सुनाई और ये दोनों पुस्तकें पढ़ने की खास सिफारिश भी की। भट्टजी से मिलकर मुझे भी बड़ी खुशी हुई थी।[1]

1. लेखक के साथ बातचीत से।

शाहपुर में

शाहपुर मे किसी ने भी यह नही माना था कि काका साहब कभी घर वापस लौट आएंगे। केवल काकी ही यह दृढ विश्वास लेकर बैठी थी कि वे किसी-न-किसी दिन अवश्य लौट आएंगे। काका साहब से अधिक उनकी अपनी तपश्चर्या पर विश्वास था। वे हफ्ते मे केवल एक या दो बार ही खाती थी। बाकी के सारे दिन व्रत रखती थी। लगातार तीन साल से उनका यह सिलसिला चल रहा था। इसलिए तीन वर्षो के बाद बिना किसी सूचना के काका साहब को जब दरवाजे पर खडे देखा, तब शाहपुर मे सबको आश्चर्य हुआ। पर किसी ने उनसे एक शब्द भी नही पूछा कि वे घर छोडकर क्यो चले गए थे। काकी ने भी नही पूछा। केवल काकी की मा से नही रहा गया। उन्होने दामाद को आडे हाथो लिया, 'इतना लापरवाह और गैर-जिम्मेदार पुरुष मैने और कही नही देखा। घर छोड-कर चला जाता है। तीन-तीन साल तक वापस नही लौटता। एक मामूली चिट्ठी भी नही भेजता। इधर इस बेचारी लड़की को क्या-क्या भुगतना पडा, मालूम है? संयुक्त कुटुम्ब की स्त्रियो के तरह-तरह के ताने बेचारी को सहन करने पड़े हैं। उसका क्या कसूर था कि उसे इतना भुगतना पडा। आइंदा ऐसा कोई बडा पराक्रम करना हो तो पहले अपने परिवार के लोगो का ख्याल करना होगा, समझे?' काका साहब के सुपुत्र सतीश (शकर) कहते हैं :

> मुझे स्पष्ट याद है, मेरी नानी, जिन्हे हम आज्जी कहते थे, काका साहब को सख्ती से डांट रही थी। वह अपनी स्पष्टवादिता के लिए विख्यात थी और काका साहब जो अग्रेजो से भी नही डरते थे, सिर नीचा करके बिलकुल नरम दलवाले-जैसे बनकर मेरी नानी की वाकधारा चुपचाप सुनते रहे थे।

काका साहब घर छोडकर तपस्या के लिए हिमालय मे चले गए, उस समय यहां शाहपुर मे उनके दूसरे बेटे बाल का जन्म हुआ था। अल्मोडा में ही काका साहब को यह खबर मिली थी। उसे हालांकि उसके दादाजी का बालकृष्ण नाम दिया गया था, फिर भी उसका स्वागत उसके अनुरूप नही हुआ था। 'देखो, कैसा लड़का है। जन्म से पहले ही इसने पिताजी को घर से बाहर कर दिया। फेंक दो इसे कबाड़खाने मे' इस तरह उसके घर के ही लोग बोलने लगे थे। अपने ही लोग जब इस तरह बोलने लगे तब जिन्हे दूसरो की निंदा करने मे ही हमेशा

लुत्फ आता है, उन रिश्तेदारों ने क्या-क्या कहा होगा, ईश्वर ही जाने। बेचारे की समझ में कुछ नहीं आता था, यही गनीमत थी।

बड़े बेटे शंकर की स्थिति तो इससे अधिक दयनीय थी। उसे मां का और नानी का प्यार मिला था, पर दूसरों की नजर में वह अनाथ ही था। उसे दुत-कारने-फटकारने में रिश्तेदारों ने कोई कसर बाकी नहीं रखी थी। बेचारा उनसे डरता था। विद्वान पिता के बेटे की पढ़ाई की उपेक्षा की गई, इस तरह का इल्जाम कोई न लगाए इस डर से उसके नाना ने उसे, जब वह चार साल का था तभी से स्कूल में भर्ती कर दिया था। यही नहीं, स्कूल से लौटने पर पढ़ाई में सहायता करने के लिए एक शिक्षक भी उसके लिए रखा था। बेचारा स्कूल जाता, स्कूल से लौटते ही शिक्षक के पास जाकर बैठता था। स्कूल में उसकी पिटाई भी होती थी।

काका साहब ने उसकी यह दयनीय स्थिति देखी और घर में जो शिक्षक उसे पढ़ाने के लिए आते थे उन्हें पहले ही दिन छुट्टी दे दी। उनकी तनख्वाह के अलावा चार-छह रुपये अधिक देकर उनसे कहा, कल से आने की जरूरत नहीं है।

घर के बुजुर्गों को लगा, पिताजी स्वयं शिक्षक हैं, इसलिए कल से सम्भवतः वे ही शंकर को पढ़ाएंगे।

दूसरे दिन सुबह शंकर स्कूल जाने की तैयारी कर रहा था। तब पिताजी ने उससे कहा, 'शंकर आज स्कूल मत जाओ।' शंकर के नाना को लगा कि पिताजी तीन वर्षों के बाद आए हैं, इस खुशी में शंकर को आज छुट्टी दे दी गई है। उन्होंने कहा, 'हां बेटे, आज तुम स्कूल मत जाना। पिताजी के साथ बैठकर बातें करना।'

काका साहब ने कहा, 'आज नहीं, कल नहीं, परसों नहीं, कभी नहीं। स्कूल की शिक्षा ही आज से बंद कर दी जाती है।'

'क्यों?' आश्चर्यचकित होकर श्वसुर ने पूछा।

'बेचारे की क्या हालत हुई है, आप देखते नहीं? आपने सब-कुछ सद्बुद्धि से किया, मैं कबूल करता हूं। पर बच्चों को इस तरह पढ़ाया नहीं जाता। खेलकूद में ही बच्चे ज्यादा सीखते हैं।' काका साहब ने जवाब दिया।

शंकर पास ही खडा था। उसे देखकर काका साहब ने कहा, चलो घूमने चलेंगे।

काका साहव उसे लेकर घूमने गए। उसी दिन शाम को काका साहब ने उसे लकड़ी की एक बंदूक ला दी और कहा, चलो आज हम शेर का शिकार करने जाएंगे।

पिताजी का यह रूख देखकर शंकर धीरे-धीरे खिलने लगा और उनसे खुलकर बातें करने लगा।

उसका आनंद एक तरह का था, तो काकी का दूसरी तरह का था। कुछ ही दिनों मे काका साहब काकी को और दोनो बेटो को लेकर गोवा गए। वहा से बम्बई होकर सीधे बडौदा के पास सयाजीपुरा मे केशवरावजी के यहां पहुंचे।

सयाजीपुरा में

बडौदा रियासत की नौकरी से मुक्त होने के बाद केशवराव देशपांडे यह निश्चित नही कर पाए थे कि उन्हें अब कहां जाना चाहिए और क्या करना चाहिए। बड़ौदा में वे लगभग सात वर्ष रह चुके थे। मन मे यही सोच रखा था कि यही रहकर क्राति-कार्य करते रहेंगे। विफलताओ के वावजूद उनका क्राति विषयक जोश कम नही था, बल्कि विफलताओं के कारण वह और भी बढ़ गया था। पर बड़ौदा मे कहां रहे? जिस मकान मे वे रहते थे, वह सरकारी मकान था। उन्हें वह खाली कर देना पड़ा था। दूसरा मकान मिलना मुश्किल हो गया था। उन्हे न तो कोई किराये पर मकान देने के लिए तैयार था, न बेचने के लिए। हमने इनको अपना मकान दिया और अंग्रेज सरकार हम पर खफा हो गई तो? इस डर से किसी ने उन्हें मकान नही दिया।

आखिर खासेराव जाधव उनकी मदद के लिए दौड़े आए। वे रियायत मे एक बड़े ओहदे पर थे और केशवरावजी के सच्चे मित्र थे। संकट के समय जो मित्र की मदद करता है, वही सच्चा मित्र है, इस बात को वे मानते थे। उन्होंने बड़ौदा आजवा मार्ग पर, बड़ौदा से लगभग तीन मील की दूरी पर, सयाजीपुरा नामक एक गांव में अपने चचेरे भाई का एक घर उन्हें दिलवा दिया। घर काहे का, वह एक टूटी-फूटी पुरानी कुटिया ही थी, जिसके आस-पास खेती-योग्य थोड़ी जमीन

थी। केशवरावजी ने यह जमीन और कुटिया तुरंत खरीद ली और कुटिया की मरम्मत करके वे वहां रहने लगे।

जो भी आपत्ति आ पड़े उसका सामना करने का उनमे आत्म-सामर्थ्य था।

काका साहब यहां आए, उस समय केशवरावजी किसान का जीवन जी रहे थे और आस-पास के किसानों और ग्वालों के बीच बिलकुल घुलमिल गए थे। किसानों-ग्वालों के लिए उन्होंने एक सहकारी संस्था —कोओपरेटिव सोसायटी— स्थापित की थी और इस संस्था की ओर से वे एक डेयरी--दुग्धालय— चला रहे थे।

काका साहब को देखकर वे खुश हुए और उन्होंने उनका हृदय से स्वागत किया। उनका काम बढ गया था और वे एक अच्छे सहयोगी की खोज मे थे। नियति ने उनके पास एक पुराने और योग्य साथी को ही भेज दिया था, इसलिए वे विशेष खुश थे। उनकी कुटिया के पीछे की ओर एक खुला बरामदा था उस पर पयाल की छत लगवाकर उन्होंने वह ढंकवा दिया और काका साहब के लिए रहने का वहां प्रबंध कर दिया और दुग्धालय का भार उन्ही को सौप दिया।

काका साहब उत्तर रात्रि के लगभग दो बजे उठते और बिगुल बजा देते। बिगुल सुनते ही ग्वाले दोहना शुरू कर देते। फिर दूध लेकर वे सोसायटी के कार्यालय मे आते। काका साहब दूध की परीक्षा करते और अगले दिन धोकर साफ करके रखे हुए केनों में दूध बंद करके बड़ोदा भेज देते। सिविल अस्पताल में दूध दिया जाता था और जो बचता था वह बेचने के लिए दुकान पर रख दिया जाता था।

सोसायटी के सदस्य 'रबारी' जाति के थे। बड़ी दरिद्र अवस्था मे रहते आए थे। भैंस खरीदने के लिए वे पैसे कहां से लाते? किसी साहूकार से कर्ज लेते तो देखते-ही-देखते उसके चंगुल मे फंस जाते थे। सोसायटी उनको कर्ज देती थी और बदले में उनसे दूध खरीदती थी। सोसायटी की अपनी एक दुकान थी, जहां सस्ते में अनाज बेचा जाता था। इस दुकान पर कपास के बीज भी सस्ते में दिए जाते थे। इस व्यवस्था के कारण रबारी लोगों को अच्छी राहत मिली थी। देखते-ही-देखते उनकी हालत सुधर गई थी।

केशवरावजी इन लोगों के बीच बहुत ही लोकप्रिय हो गए थे और केशवरावजी के साथी के रूप में काका साहब भी उनको अपने लगने लगे थे।

आसपास के लोग सभी निरक्षर थे। केशवरावजी को यहां कतवारखाने में पड़ी हुई हनुमानजी जी एक मूर्ति मिली थी। उसकी बड़ी धूमधाम के साथ प्राण-प्रतिष्ठा करके उन्होंने बगल में हनुमानजी का एक मंदिर खड़ा कर दिया था। इस मंदिर में उन्होंने एक प्राथमिक शाला खोल दी थी और रबारियों के बच्चो को वे खुद पढ़ाने लगे। मंदिर में हनुमान जयंती का उत्सव होता था। वैसे गणेशोत्सव और नवरात्रोत्सव भी होते थे। इन उत्सवों के द्वारा वे लोक-शिक्षा का कार्य करते थे। बडौदा की सेन्ट्रल लाइब्रेरी से वे कभी-कभी मैजिक लैटर्न ले आते थे और उसकी मदद से वे लोगों को भिन्न-भिन्न विषयो की जानकारी देते थे। किसानों को कलमी आम, कलमी बेर, कलमी चीकू आदि तैयार करना भी सिखाते थे।

इस प्रकार इस छोटे-से गांव मे उन्होने ग्राम-सेवा के द्वारा ग्राम-सगठन का एक आदर्श प्रयोग शुरू किया था। पिछले चार साल से इसी काम मे बिलकुल एकाग्रता से और एकनिष्ठा मे लगे हुए थे।

काका साहब इस कार्य का महत्व जानते थे। इसी तरह के कामों के द्वारा हम देश मे जागृति ला सकते हैं और देश को संगठित कर सकते हैं, इस विषय मे उन्हे कोई संदेह नही था। इसलिए पूरी लगन के साथ वे इस काम मे अपना योगदान देते रहे। किन्तु कुछ ही समय मे उन्हे यह महसूस होने लगा कि वे इस काम के लिए काबिल नही हैं, क्योंकि वे इन लोगों की भाषा नही जानते। इन लोगों की भाषा हालाकि गुजराती मानी जाती है, पर वह देहाती है और उसकी अपनी कुछ खूबियां है, जो आत्मसात किये बिना इनके बीच काम करना मुश्किल है। शहरी साहित्यिक शैली की गुजराती यहा काम की नही है। काका साहब अपने को इस काम के लिए नाकाबिल समझने लगे।

ठीक इसी समय जुगतरामभाई दवे उनके यहा आये।

जुगतरामभाई

काका साहब जब बम्बई मे पीपलवाडी मे स्वामी आनंद से मिलने जाते थे, तब उन्होंने जुगतरामभाई को देखा था। वे सौराष्ट्र के थे और पीपलवाड़ी मे स्वामी के पड़ौस में ही रहते थे। 'बीसवी सदी' (बीसवी शताब्दी) नामक एक गुजराती मासिक पत्रिका के कार्यालय में काम करते थे। उनकी उम्र छोटी थी, इसलिए

जवान कहलाये जाते थे, पर सेहत देखने पर नही लगता था कि वे जवान हैं। सेहत गिरी हुई, छाती बैठी हुई, आंखें तो मानो कपाल के नीचे का हिस्सा छेदकर बनाये हुए दो गहरे झरोखे, सिर पर बालों का एक बड़ा गट्ठा और बाल भी कैसे—मानो किसी जंगली सुअर को लूटकर लाये हुए हों। एक तो सौराष्ट्र के थे, इसलिए नाक से बोलने की उनकी आदत, फिर कमजोर तबीयत, ऐसा लगता था मानो वे बड़ी मुश्किल से बोलते हैं।

स्वामी ने उनसे कहा, आपके लिए बम्बई की हवा अनुकूल नही है। आप यहां क्यों रहते हैं ? बडोदा जाइए। वहां हमारे काका हैं। वे आपको कोई नौकरी दिलवा देंगे। स्वामी की चिट्ठी लेकर वे बड़ौदा आये थे।

कृपलानीजी का भतीजा गिरिधारी शातिनिकेतन में काका साहब के साथ ही रहता था। ब्रह्मदेश की यात्रा मे भी वह उनके साथ था। अब पढ़ाई के लिए कृपलानीजी ने उसे सयाजीपुरा मे काका साहब के यहां ला रखा था। वह हाई स्कूल का विद्यार्थी था और सयाजीपुरा मे कोई हाई स्कूल नही था। इसलिए काका साहब ने अपना निवास स्थान बदल लिया था। वे सयाजीपुरा छोड़कर बड़ौदा मे सेन्ट्रल लाइब्रेरी के पास के सरकारवाड़े मे दो कमरे लेकर रहते थे। जुगतरामभाई लिखते हैं।

> मैं बडौदा पहुंचा। काका साहब का पता ढूंढ निकाला, पर इतने विशाल सरकारवाड़े मे किस सीढ़ी के ऊपर चढे, यह समझ मे नही आया। एक सीढ़ी सामने दिखाई दी, वह चढ़कर ऊपर गया तो काकी के रसोईघर मे ही पहुंचा। एक अपरिचित व्यक्ति को सीधे रसोईघर मे देखकर पता नही, काकी को क्या लगा होगा।...स्वामी की चिट्ठी के प्रताप से काका साहब के परिवार मे मेरा घर के ही एक सदस्य के रूप में स्वागत हुआ।...काका साहब के दो बेटे शंकर और बाल तथा तीसरा गिरधारी इन तीनो से मेरी 'घाटी' मराठी मे (बम्बई मे नौकरो से जो बोली जाती है, उसमें) मजाक करना, रसोई घर मे काकी को रोटियां बेलने मे मदद करना और काका साहब के विशाल पुस्तकालय में से पुस्तकें चुनकर पढ़ना ही मेरा मुख्य कार्यक्रम था।...घर के तीन बाल गुरूओं के कारण, काका साहब के पुस्तकालय की मराठी पुस्तकों के कारण और घर में जो मराठी दैनिक आया करते थे, उनके वाचन के कारण मेरी घाटी मराठी तेजी से सुधरती गई और मजबूत

भी हुई...बंगाली भी सीख ली।...राजनैतिक दृष्टि से मैं अब तक निर्दोष जीवन जी रहा था। यहां काका साहब के पीछे खुफिया पुलिस का तांता लगा था। मुझसे भी वे कभी-कभी मिलते और खबरें पूछते। इस पार्श्व-भूमि मे मेरे जैसे एक अपरिचित को घर मे रखना काका साहब के लिए कितना कठिन था, इस विषय में आज जब सोचता हूं तब लगता है, काका साहब का दिल बहुत बड़ा था, इसीलिए उन्होने मुझे अपने घर मे रहने दिया। इससे भी अधिक मुझे इस बात का अनुभव हुआ कि काका साहब और स्वामी का सम्बंध काफी एकात्मकता से भरा हुआ था...काका साहब के यहा बीच-बीच में सयाजीपुरा के साहब (केशवरावजी) आते रहते थे। और काका साहब भी अक्सर उनके यहा जाया करते थे। एक आदरणीय और पूज्य व्यक्ति के रूप में ही सब उनकी ओर देखते थे। मालूम हुआ कि उन्होने सयाजीपुरा म हनुमानजी का एक मंदिर बनाया है और वे एक अच्छे पुजारी की खोज में हैं, जो मंदिर को धर्म संस्कार का एक जिन्दा केन्द्र बना सके ..काका साहब आत्मोद्धार नामक एक सामयिक के लिए लेख लिखते थे। इन दिनो उन्होने एक लेख लिखा था, जिसमें उन्होने यह प्रतिपादन किया था कि हर गाव मे ग्राम-देवता का एक मंदिर होना चाहिए और वह धर्म, सस्कार तथा शिक्षा का केन्द्र बनना चाहिए। मुझे उन्होने यह लेख पढकर सुनाया था और उनकी यह योजना मुझे बहुत पसद आई थी।...काका साहब ने मेरे बारे मे 'साहब' से बाते की और उनकी प्रेरणा से मैं सयाजीपुरा मे जाकर रहने के लिए तैयार हो गया।...दूसरे दिन मे मैंने हनुमान-पूजा का काम संभाल लिया।...धीरे-धीरे मैने इन रबारियों की झोपडियों मे जाना शुरू कर दिया। ये लोग अलग-अलग स्थानों से यहां आए थे। कोई मेहसाणा बनासकाठा की ओर के थे, तो कोई सोरठ के चारण थे। इन चारणों की महिलाओ की जबान पर सरस्वती का वास है। बहुत ही सुंदर और काव्यमय उनकी वाणी होती है। मै बीच-बीच मे उन्हें रामायण की कथा सुनाने लगा।[1]

रामायण की कथा के पारायण के कारण सयाजीपुरा के सारे किसान और ग्वाले जुगतरामभाई की ओर आकृष्ट हो गए। जिस काम में काका साहब को

1. 'मारी जीवन कथा' : जुगतराम दवे।

सफलता नही मिली थी उसमे जुगतरामभाई की सफलता से काका साहब बहुत खुश हुए और उनके काम मे बहुत दिलचस्पी लेने लगे। जो काम वे खुद कर नही पाते थे, उसे अपने साथियो और विद्यार्थियो के द्वारा कराना काका साहब के स्वभाव का तब से एक महत्वपूर्ण अग बन गया। काका साहब कहते हैं :

> ईश्वर की योजना के अनुसार ही सब होता रहा। क्योकि जो काम जुगतरामभाई ने बड़ौदा मे अल्पप्रमाण मे किया था, वही काम उन्होने गाधीजी के आश्रम मे आने के बाद गुजरात मे व्यापक रूप मे चलाया।...पिछले पचास वर्षों से वेड़छी मे वे ग्राम-सेवा का एक सर्वोत्कृष्ट केन्द्र चला रहे हैं।

जुगतरामभाई के बारे मे काका साहब जब भी कुछ बोलते थे, तब उसमे उनका प्रेम, वात्सल्य, आदर सब-कुछ उभर आता था। वे कहते है :

> ईश्वर की कृपा से मेरे सपर्क मे जो आए उन सबमे एक सामान्य गुण मैंने देखा है, वह है उनका प्रचड आत्मविश्वास। जो काम हम हाथ मे लेंगे वह हम उत्तम रीति से करके दिखाएगे, इस बारे मे उनके मन म कोई संदेह नही होता। जुगतरामभाई भी ऐसे ही एक साथी है। विलियम जेम्स ने जिसे हेल्दी माइडेडनेस स्वस्थ मानस कहा है, उसकी जुगतरामभाई एक उत्तम मिसाल है।

बारह साल बाद 29-12-29 की अपनी डायरी मे काका साहब लिखते है :

> जुगतरामभाई मे तत्व का आकलन सुदर है। बोरडी मे मैने उनसे कहा था, 'गुजरात म राष्ट्रीय शिक्षा के सच्चे आचार्य आप ही हैं। गाधीजी का सदेश और मेरे अनुभवो का सार अगर किसी ने ठीक ढंग से ग्रहण किया है तो वह उन्ही ने किया है। इसलिए मेरी विद्यापीठ तो बेड़छी मे ही है।...मेरी आत्मा जुगतरामभाई का साथ देती है।

कोचरब आश्रम में

इस बीच अहमदाबाद के पास कोचरब नामक गांव मे ब० जीवणलाल का एक बंगला किराये पर लेकर गाधीजी ने अपना आश्रम खोल दिया था। गाधीजी के स्वभाव की एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे कोई भी कार्य अकेले नही करते थे। मामूली व्यवहार की बात हो, आहार के प्रयोग हों या आध्यात्मिक साधना

की बात हो, वे समानधर्मी लोगों को ढूंढ़ते थे, उनसे विचार-विनिमय करते थे, उनकी सलाह मशविरा लेते थे और सम्भव हो तो उनका सहयोग लेकर अपना काम शुरू करते थे। यह वृत्ति उनके खून मे ही थी। गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका मे दो आश्रम चलाए थे। आश्रम जीवन का उन्हें अच्छा खासा अनुभव भी था। फिर भी भारत में आश्रम खोलने की बात जब सोची, तब उन्होने एक छोटी-सी पुस्तिका तैयार की और उसमे आश्रम के उद्देश्य, सिद्धात आदि की आवश्यक जानकारी देकर विचार-विनिमय के लिए वह अनेकों के पास भेज दी। उसमे उन्होने आश्रम का नाम भी निश्चित नही किया था -हालांकि दो-चार नामों की सूची अवश्य दी थी। काका साहब के पास भी यह पुस्तिका आई थी। इसलिए आश्रम के बारे मे चर्चा करने के उद्देश्य से वे बीच में एक महीने के लिए सपरिवार कोचरब मे जाकर रहे। पर आश्रम मे भर्ती नही हुए, क्योंकि केशवरावजी को उनकी मदद की अभी भी जरूरत थी।

इसी साल दिसम्बर मे बम्बई में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। गांधीजी इस अधिवेशन मे हाजिर रहने ही वाले थे। इसलिए काका साहब भी हाजिर रहे। बम्बई मे प्रार्थना समाज के पास मारवाड़ी विद्यालय में जहा गांधीजी टिके थे, वहां काका साहब रोज जाया करते थे और घंटों वहां बैठे रहते थे। एक दिन गाधीजी के बड़े पुत्र हरिलालभाई ने काका साहब मे पूछा, 'काका, शातिनिकेतन मे,आप हम लोगों के साथ इतने घुलमिल गए थे कि हमने माना था, आश्रम खुलते ही सबसे पहले आप उसमे शामिल हो जाएंगे। कितनी आश्चर्य की बात है कि आप अब तक आश्रम में नहीं आए।'

'आपकी बात सही है' काका साहब ने उन्हें जवाब दिया, 'पर आप एक बात नहीं जानते कि मैं बापूजी से मिलने से पहले देशपांडे साहब के पास काम करता था। वे बड़ौदा के पास सयाजीपुरा मे ग्राम-सेवा का काम चलाते हैं। उन्हें कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है। मेरी सेवा पर उनका पहला हक है। आप ही बताइए मैं पुराने नेता को छोड़कर नया नेता अपना लूं और पुराने नेता को नए कार्यकर्त्ता ढूंढ़ने पड़े, यह कहां तक उचित है?'

गांधीजी पास ही में बैठकर कुछ लिख रहे थे। उन्होंने दोनों के बीच का यह संवाद सुना। बड़े खुश होकर बोले, 'काका, आपकी बात सोने की मुहर-जैसी है। देश के सेवक अगर ऐसी निष्ठा रखें तो स्वराज्य दूर नहीं है।'

चार महीनो के बाद की बात है। गाधीजी चम्पारण जा रहे थे। उन्होने काका साहब को बडौदा स्टेशन पर बुलाया और कहा, 'मुझे थोडा समय आश्रम को देना चाहिए था, पर क्या करू ? चम्पारण जा रहा हू। आप अगर आश्रम मे जाकर रहे तो मै निश्चित हो जाऊगा।'

उसके दूसरे या तीसरे दिन केशवरावजी के नाम गाधीजी का एक पत्र आया, जिसमे उन्होने लिखा था : 'आप काका का विशेष कोई उपयोग करते हैं, ऐसा मालूम नही होता। मुझे उनकी सेवाओ की जरूरत है। मैंने आश्रम अभी-अभी शुरू किया है और मै चम्पारण जा रहा हू। आप काका को आश्रम भेज देंगे तो मुझे बड़ी खुशी होगी।'

केशवरावजी ने यह पत्र काका साहब को दिखाया और कहा, 'इतने बड़े पुरुष माग कर रहे हैं तो जाना चाहिए। आश्रम को गगनाथ विद्यालय ही समझकर काम करो।'

दो-एक दिनो के बाद स्वय केशवरावजी काका साहब को लेकर कोचरब गए और उन्हे आश्रम मे छोड़कर लौट आए। काका साहब को लगा, मानो लम्बी यात्रा के बाद वे मजिल पर पहुच गए हैं। अपनी अब तक की साधना के फल-स्वरूप उन्हे गाधीजी मिले है। इसी भावना स उन्होने आश्रम मे प्रवेश किया।

आश्रम-प्रवेश के साथ काका साहब के जीवन का नया अध्याय शुरू हुआ।

आधुनिक गुजरात के नवनिर्माता के रूप में

देश-सेवा का व्याकरण

गांधीजी का आश्रम उनकी एक तरह की लेबोरेटरी थी या आज की परिभाषा में कहे तो उनकी यह एक अकादमी थी।

'देश-सेवा करना और देश-सेवा का तरीका सीखना' इस उद्देश्य से गाधीजी ने अपना यह आश्रम स्थापित किया था। आश्रम की बुनियाद मे उनके पास दक्षिण अफ्रीका का अपना कीमती अनुभव था।

गाधीजी का कहना था कि शुद्ध देश-सेवा तभी सम्भव हो सकती है, जब देश सेवक का निजी जीवन शुद्ध हो। मानव कल्याण की उसकी कल्पना निर्दोष हो और सेवा के लिए जरूरी कौशल उसने हासिल किया हो।

देश-सेवा करने के लिए मनुष्य मे कुछ योग्यता होनी चाहिए। यह योग्यता हासिल करने के लिए उन्होने आश्रम के सामने ग्यारह व्रत रखे थे।

इनमे से पाच सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य (सयम) एक या दूसरे रूप मे सभी धर्मों की बुनियाद मे पाए जाते हैं। योगशास्त्र ने इन्हे पाच यम कहा है। इन पाच यमो की बुनियाद पर हम सभी धर्मों का समन्वय सिद्ध कर सकते हैं। इनकी यह संस्कृति-समन्वय की शक्ति देखकर गाधीजी ने इन्हे आश्रम-जीवन मे प्रधान स्थान दे दिया और इनके साथ अपने चिंतन, अनुभव, निरीक्षण-परीक्षण के बल पर ढूंढ़ निकाले हुए और छह व्रत जोड़ दिए। जिनमे से एक है निर्भयता, दूसरा शरीरश्रम, तीसरा अस्वाद, चौथा सर्वधर्म समभाव, पाचवां स्पर्श भावना और छठवां स्वदेशी। प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री सर गुरुदास बैनर्जी ने उन्हें सुझाया था कि इन ग्यारह व्रतों मे नम्रता को जोड़कर उनकी संख्या बारह करनी चाहिए। गांधीजी ने कहा, नम्रता तो ग्यारह व्रतो में ही अनुस्यूत होनी चाहिए। व्रत के रूप मे उसे लेने से दम्भ पैदा हो सकता है।

आज की दुनिया के—खासतौर से इस देश के व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के दोषों का जो चिंतन गांधीजी ने किया था, उसका निचोड़ इन छह नए व्रतों मे उन्होंने रख दिया था।

अभय के बिना न तो सत्य का पालन हो सकता है, न चारित्र्य की बुनियाद दृढ़ हो सकती है और भारत मे तो इन दिनो सर्वत्र डर का साम्राज्य फैला हुआ था। बड़े-बड़े लोग सरकार से डरते थे, पुलिस से डरते थे, जेल से डरते थे और मृत्यु से डरते थे। गाधीजी को यह डर का साम्राज्य तोडना था, इसलिए निर्भयता या अभय को उन्होने महत्व का स्थान दिया था। उन्होंने देखा था कि आज का समाज शोषण पर खड़ा है। मनुष्य मनुष्य का शोषण करता है, क्योंकि कुछ लोगो के जीवन मे श्रम के लिए स्थान नही है और वे अपना बोझ दूसरो पर डालते हैं। कुछ काम हमने छोटे माने हैं, इसलिए हमारे समाज मे ऊंच-नीच का भाव पैदा हुआ है। जीवन मे श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ेगी तो सामाजिक ऊंच-नीच का भाव नष्ट हो जाएगा, इस हेतु से उन्होंने शरीरश्रम को आश्रम के व्रतो मे स्थान दिया था। आश्रम मे उन्होने नौकर नही रखने का नियम बनाया था और आटा पीसना, अनाज साफ करना, रसोई बनाना, बर्तन माजना, कुए से पानी लाना—यही नही, पाखाने साफ करना और जमीन मे खड्ढे खोदकर मल उसमें गाड़ना यहां तक के सारे काम भी आश्रम के स्त्री-पुरुष, बच्चे-बुजुर्ग सबके लिए अनिवार्य कर दिए थे। स्वय गाधीजी यह सब काम करते थे। यही नही, उनसे मिलने जो बड़े-बड़े लोग आते, उनको भी वे इस काम मे जुटा देते थे।

काका साहब कहते हैं :

> कभी-कभी मेहमानो का असबाब उठाकर ले जाने का काम भी हम करते थे। एक बार एक मेहमान का सदूक मैं अपनी पीठ पर उठा कर एलिस ब्रिज तक ले गया था और संदूक के बोझ के कारण मेरी पीठ की चमड़ी भी उखड गई थी।

शरीरश्रम, ब्रह्मचर्य (सयम) और अपरिग्रह के साथ अस्वाद जुड़ा हुआ है। 'जितं सर्वं जिते रसे' इस सिद्धांत का महत्व गांधीजी जितना पहचान सके थे, उतना शायद ही किसी समाज सेवक, स्मृतिकार या धार्मिक ने पहचाना होगा। आवश्यक और योग्य आहार हम योग्य परिमाण मे ले। कोई चीज अच्छी लगी तो खुश हो कर ही खाएं। किन्तु लट्टू होकर खाना और हद से ज्यादा खाना आरोग्य के लिए हानिकर है, उससे कही अधिक प्रतिष्ठा के लिए हानिकर है। संस्कारी और चारित्र्यवान मनुष्य को जिह्वा-लोलुप होना शोभा नही देता, यह दृष्टिकोण इस व्रत के पीछे था।

आरोग्य के लिए हानिकर है, उससे कही अधिक प्रतिष्ठा के लिए हानिकर है। संस्कारी और चरित्र्यवान मनुष्य को जिह्वा-लोलुप होना शोभा नहीं देता, यह दृष्टिकोण इस व्रत के पीछे था।

मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊंच-नीच का भाव नष्ट करना हो तो एक तरह से शरीरश्रम की आवश्यकता है, उसी तरह स्पर्श भावना की भी है। जन्म से कोई ऊंच या नीच नही हो सकता। जन्म के कारण या चमड़ी के रंग के कारण किसी को हीन समझना, पराया समझना, मानवता के प्रति द्रोह है। यह द्रोह धर्म के नाम से चलता आया है। हिन्दुओ ने अपने ही समाज के कुछ लोगों को अस्पृश्य मानकर और औरों को म्लेच्छ कहकर, मुसलमानो ने गैर मुसलमानों को काफिर मानकर, ख्रिस्तियों ने गैर खिस्तियों को हीन बताकर, यहूदियों ने गैर यहूदियों को जेंटाइल कहकर मानवता-द्रोह को प्रश्रय और पोषण दिया है। सारी दुनिया मे यह दोष फैला हुआ है। अफ्रीका, अमरीका मे गोरे-कालों का जो संघर्ष चलता है, वह इसी द्रोह का एक स्वरूप है। इस ऊंच-नीच की भावना की बुनियाद को उखाड़कर फेंकना हो तो सामाजिक श्रेणी मे जो सबसे नीचा माना गया है, उसे अपनाना और अपनी बराबरी का मानना ही स्पर्श-भावना का सारतत्व था।

धर्मों ने जैसा समाज में ऊंच-नीच भाव पैदा किया है, वैसा अपना-पराया भाव भी पैदा किया है। वस्तुत: सभी धर्म अच्छे हैं, सभी धर्म सच्चे भी हैं, सभी धर्मो ने उच्च नीति व सदाचार का आग्रह रखा है; भक्ति का वायुमंडल भी पैदा किया है और आत्मोन्नति का मार्ग भी दिखाया है; सभी धर्म ईश्वर के दिए हुए हैं, पर सब आखिर मनुष्य ने ही लिए हुए हैं और मनुष्य की सभी मर्यादाएं उनमें घुस गई हैं। इसलिए सभी धर्म सच्चे और अच्छे होते हुए भी कच्चे भी रहे हैं। सभी धर्मों में सुधार की गुंजाइश है। हर धर्म अगर यह मान बैठे कि मै ही सच्चा धर्म हूं, बाकी सब झूठे हैं तो धर्म अधार्मिक लोगों के हाथों मे चले जाएंगे और आपस मे वे लड़ते ही रहेगे तथा दुनिया मे शांति कभी नही रहेगी। इसलिए नया धर्म स्थापन करने के बदले हम सभी धर्मो के प्रति एक-सा आदर-भाव रखें। अपने धर्म मे जो दोष है, वह निकाल दें। दूसरे धर्मों मे जो गुण है, वह अपना लें और इस तरह सभी धर्मो का एक धर्म-कुटुम्ब बनाए। इसी वृत्ति को गांधीजी ने नाम दिया था : सर्वधर्म समभाव।

हम जन्म लेते हैं अपने परिवार में, अपने समाज मे, अपने देश मे, अपने धर्म में, अपनी भाषा में—यह सब हमे विरासत में मिलता है, इससे इंकार नहीं किया

जा सकता। इनको स्वीकार करके, इनको अपनाकर, इनकी सेवा लेकर और इनकी सेवा करके ही हम आगे बढ सकते है। वृक्ष जिस तरह जहा उगता है, वही अपनी जड़े फैलाता है, इसी तरह जो केन्द्र हमे जन्म से मिला हो, उसके प्रति अपने कर्तव्य को स्वीकार करना और उसे लेकर आगे बढना – अपनी शाखाओ की परिधि चाहे जितना बढाए, इसी को गाधीजी ने नाम दिया था स्वदेशी। स्वराज्य और स्वदेशी परस्पर पोषक तत्व हैं। लोकमान्य न कहा, 'स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है।' गाधीजी ने इसक साथ यह जोड दिया कि 'स्वदेशी ही स्वराज्य पाने की साधना है।' स्वदेशी सकीर्णता का धर्म नही है। अपने केन्द्र को स्वीकार करके, उस सभाल कर जिन लोगो और परिस्थितियो म हमारा सम्पर्क बढना जाए, उनके प्रति अपना कर्तव्य अदा करके विश्व-कल्याण का प्रयत्न करना यह है स्वदेशी धर्म।

आर्थिक क्षेत्र म, जहा कच्चा माल तैयार होता है, वही उस माल से पक्का माल बनान के उद्योग चलाना स्वदेशी का एक रूप है। इसम स्वावलम्बन और परम्परावलम्बन शुद्ध रूप म चरितार्थ होत है।

गाधीजी यही नही रुके। वे भाषा, सस्कृति, समाज-व्यवस्था, राज्यतत्र, धर्म-पालन आदि जीवन के सभी अगो मे स्वदेशी का खमीर ले गए थे। उन्होने स्वदेशी को इस युग का महाव्रत कहा था।

काका साहब को ये ग्यारह व्रत हृदय से मान्य थ। इनम स हर एक व्रत के बारे मे, जिस समय वे आश्रम म भर्ती होने से पहले एक माह के लिए यहा आकर रहे थे, उस समय गाधीजी से विस्तार के साथ गहरी चर्चा की थी। इन व्रतो के पीछे गाधीजी की जो दृष्टि थी, उसकी मौलिकता को वे पहचान गए थे। सत्याग्रहाश्रम से प्रेरणा पाकर देश मे जगह-जगह छोटे-बड़े कई आश्रम चलने लगेंगे और इन आश्रमो के कारण देश मे चारित्र्य साधना का और चारित्र्य की उन्नति का एक उज्ज्वल वायुमडल तैयार होगा, जो स्वराज्य-प्राप्ति मे बडा मददगार सिद्ध होगा, यह भी वे समझ गए थे। जाडो मे कमरे की उष्णता बढाने के लिए जिस तरह हम कमरे मे जलते अगारो की एक अगीठी सुलगाते है, उसी तरह देश का चारित्र्य उन्नत करना हो तो देश-सेवको और देश-नेताओ के जीवन चारित्र्य की अगीठी बननी चाहिए, यह भी वे मानते थे। एक ही विषय मे उनका गाधीजी से मतभेद था और उन्होने वह सौम्य शब्दो मे किन्तु दृढता के साथ गाधीजी के सामने रख दिया था। वे कहते थे : 'आदर्श के रूप

मे मैं इन व्रतों को स्वीकार करता हू, पर जिसे प्रतिज्ञा लेना कहते हैं, उससे मैं डरता हू । सत्य का पालन मनुष्य से पूरा हो या नही, उसका व्रत लेने से मनुष्य को सकोच नही करना चाहिए । पर ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अपरिग्रह आदि आदर्श मान्य होते हुए भी मनुष्य की इन बातो मे पूरी तैयारी नही होती । इन बातो मे वह क्रमश: और क्षणश: ही ऊपर चढ सकता है । तैयारी के बिना वह व्रत ले तो मुसीबत मे पड सकता है ।

उन्होने गाधीजी से कहा, हमारे पूर्वजो ने सन्यास का महत्व समझा दिया था, पर कहा था सन्यास तुरत मत लो । सन्यास लिया और फिर पछताना पडा, इससे बेहतर तो यह है कि सन्यास ही न लो । वृत्ति सुधारते रहो, जब यह दिखाई दे कि वृत्ति परिपक्व हो गई है तभी गरूआ पहनो । शास्त्रो ने गुरूओ को कहा है . 'सन्यास की प्रेरणा किसी को मत दो । कोई सन्यास लेने के लिए आए तो उसे पहले उस सकल्प से परावृत्त करो । जब देखा कि उसका वैराग्य अदर से दृढ है, तभी बाहरी मदद के रूप मे उसे गेरूआ दो ।'

गाधीजी ने उनकी सारी दलीले सुनकर इतना ही कहा, आदर्श अगर मान्य है तो उसके बारे मे व्रत न लेना सकल्प की शिथिलता का लक्षण है ।

काका साहब का उनमे मतभेद कायम रहा, फिर भी काका साहब कहते हैं :

> मैंने इन व्रतो के अनुसार अपना जीवन बनाने का प्रयत्न किया । यह प्रयत्न कभी जोरो से चलता था तो कभी शिथिल हो जाता । कभी प्रयत्न ही गायब हो जाता और फिर से उसका पुनर्जीवन होता । मेरे व्रत-पालन मे ज्वारभाटा चलता ही रहा ।...धीरे-धीरे इन व्रतो का मेरे स्वभाव पर असर भी होने लगा । फलस्वरूप जिन व्रतो को मेंने श्रद्धा से स्वीकार नही किया - पर, जो मेरे जीवन मे घुलमिल गए, उनके गुणो मे मै वचित रहा और उनके दोष मुझे भुगतने पडे ।

हिन्दू धर्म की युगानुकूल आवृत्ति

आश्रम-जीवन का एक महत्वपूर्ण अग था—प्रार्थना । आश्रम की व्याख्या करते हुए गाधीजी ने एक बार कहा था कि यह एक ऐसा समूह है, जिसका प्रार्थना मे विश्वास है और इसी भावना के लोग यहा रहते हैं । काका साहब उन लोगों में से थे, जो भोजन के बिना रह सकते थे, पर दो बार की प्रार्थना के बिना नही रह सकते थे । श्वास की तरह प्रार्थना भी उनके लिए नितात

आवश्यक चीज थी। शांतिनिकेतन मे उन्होंने देखा था कि फिनिक्स आश्रम के सदस्य सामूहिक रूप मे केवल शाम की प्रार्थना करते हैं। शाम की प्रार्थना के लिए उन्होंने गीता के दूसरे अध्याय के अंतिम उन्नीस श्लोक पसंद किए थे, जिनमें स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताए गए हैं। गीता का स्थितप्रज्ञ गाधीजी का आदर्श सत्याग्रही था। काका साहब को यह प्रार्थना बहुत पसद आई थी। प्रार्थना में अकसर लोग याचना करते हैं। कोई अपनी मन:स्थिति भगवान को समझाकर उसकी करुणा की याचना करता है, उसकी मदद मागता है और मागने पर उसकी मदद अवश्य मिलेगी यह विश्वास अपने को दिलाता है, तो कोई सकट-निवारण की सीधी प्रार्थना करता है। अपने जीवन मे जिस चीज की कमी है, उसकी पूर्ति के लिए कोई प्रार्थना करता है तो कोई ईश्वर से दिशादर्शन, उपदेश या प्रेरणा पाने के लिए प्रार्थना करता है। प्रार्थना के ये सभी प्रकार ईश्वर मे कुछ-न-कुछ मागने के ही हैं। अपने-आप मे ये प्रकार सुदर भी है। पर गाधीजी की प्रार्थना का स्वरूप ही अलग था। वे साधक थे और साधक को अपने आदर्श पुरुष के लक्षणो का और उसके साधना-क्रम का स्मरण सतत रहना चाहिए—इसी हेतु स्थितप्रज्ञ के श्लोक प्रार्थना मे बोले जाते थे। काका साहब को प्रार्थना का यह स्वरूप बड़ा आकर्षक लगा। इसलिए उन्होने भी अपनी शाम की प्रार्थना के लिए स्थितप्रज्ञ के श्लोक अपना लिए। मगनलाल गाधी को उन्होने इतना ही सुझाकर सुधार किया था कि प्रार्थना का आरम्भ 'य ब्रह्मा' के श्लोक से होना चाहिए और मगनलाल भाई ने यह सुधार तुरत कबूल भी कर लिया था।

फिनिक्स आश्रम के सदस्यो के जीवनक्रम मे सुबह की प्रार्थना नही थी। हर कोई अपनी-अपनी अलग प्रार्थना करके काम मे लग जाता था। काका साहब ने शातिनिकेतन मे ही मगनलालभाई से कहा कि आश्रम मे शाम के ही समय प्रार्थना चले, यह पर्याप्त नही है। दिन का आरम्भ भी सामुदायिक प्रार्थना से होना चाहिए। मगनलालभाई ने काका साहब की बात मजूर की और काका साहब की ही सूचना से भगवत्पादाचार्य के तीन वेदाती श्लोकों के प्रात. स्मरण के साथ महाराष्ट्र मे जो घर-घर चलती आई थी, वह शिव, विष्णु, गणपति, देवी और सूर्य इस उपास्य-पचक की उपासना वाली प्रार्थना शुरू कर दी। तब से यह प्रार्थना आश्रम मे चलती आई थी। बाद मे जब आश्रम कोचरब से साबरमती के किनारे गया, तब गाधीजी ने सुबह की प्रार्थना के सब श्लोक ध्यान से देख लिए और उनमे कुछ कांट-छांट और सुधार करके उन्हें निश्चित रूप दिया।

काका साहब कहते हैं :

> गांधीजी की सत्यवादिता कितनी सूक्ष्म कोटि तक पहुंचती थी, इसका प्रत्यय मुझे प्रार्थना के इन श्लोकों को निश्चित रूप देते समय हुआ। भगवद्-पादाचार्य के प्रातःस्मरण के श्लोकों में एक जगह आता है : तद् ब्रह्म निष्कलम् अहम् न च भूत-संघः—'जो शुद्ध ब्रह्म है, वही मैं हूं। पंच महाभूतों से बनी हुई यह देह मैं नही हूं।' गांधीजी बोले, मैं ब्रह्म हूं, यह मुझसे बोला नही जाता। बोलते समय मेरा शरीर कांपने लगता है। जब तक मैं ब्रह्म हूं, इस तरह का अनुभव नही है, तब तक यह बोलते समय संकोच होता है। गांधीजी का यह सूक्ष्म विवेक देखकर मैं अवाक् रह गया। फिर गणेशजी के गुण वर्णन वाला श्लोक आया। उसमें 'निर्विघ्नं कुरू मे देव ! सर्व कार्येषु सर्वदा' आता है। गांधीजी बोले, 'सर्व कार्येषु ही क्यों ? इसमे सुधार करना होगा और सर्व कार्येषु के बदले 'शुभ कार्येषु' कहना होगा। हमने इस तरह का सुधार कर डाला।

प्रार्थना के श्लोकों के बाद एकाध भजन गाने का रिवाज चलता था। दक्षिण अफ्रीका के सामूहिक जीवन मे अनेक भाषाओ के और धर्मों के लोग सम्मिलित हुए थे। कुछ गोरे ईसाई भी थे। इन सबके संतोष के लिए अलग-अलग भाषाओं म अलग-अलग धर्मो के भजन वहां गाए जाते थे। इन सब भजनों और स्तोत्रों का एक संग्रह 'नीति ना काव्यो' नामक एक पुस्तक मे प्रकाशित हुआ था। आश्रम जब कोचरब से साबरमती के किनारे आया तब नारायण मोरेश्वर खरे नामक एक भक्त-हृदय संगीत-शास्त्री आश्रम मे भर्ती हुए। वे मराठी व हिन्दी के कई भजन ले आए। गांधीजी ने ये भजन भी, जो पहले संगीत के राग की दृष्टि से इकट्ठा किए गए थे, देख लिए और कुछ सिद्धातों को लेकर उनमे सुधार किए। जिन भजनों में केवल शब्दों का अनुप्रास ही है, कोई खास अर्थ नहीं है, वे निकाल दिए। जिनमे मृत्यु का डर बताया गया है या कोई प्रलोभन दिखाया गया है, वे भी छोड़ दिए। दुनिया में कोई किसी का नही है, इस तरह का उपदेश देने वाले भजन भी निकाल दिए और भजन-संग्रह को अंतिम रूप देकर उसका 'आश्रम भजनावली' नाम रखा गया। गांधीजी का ही सुझाया हुआ यह नाम है। 'आश्रम भजनावली' मे आश्रम-जीवन का प्रतिबिम्ब प्रगट होना चाहिए, यह गांधीजी का आग्रह था।

काका साहब बरसों से हिन्दू धर्म के बारे में सोचते आए थे। उसे युगानुकूल एक नया रूप देना चाहिए, वे इस नतीजे पर पहुंचे थे। गांधीजी के जीवन का निरीक्षण करने पर उन्हें यह प्रतीत हुआ कि हिन्दू धर्म में जो उत्तमोत्तम अंश है, वह उनके जीवन में प्रतिबिम्बित हुआ है और आश्रम के द्वारा उन्होंने जो धार्मिक आदर्श प्रकट किया है, वह हिन्दू धर्म का युगानुकूल नया रूप है। इसी की बुनियाद पर हम भारतवर्ष मे धार्मिक क्रांति कर सकते हैं।

इस भावना को लेकर काका साहब आश्रम-जीवन में उत्कटता के साथ रस लेने लगे।

साबरमती के तट पर

आश्रम के पास न अपनी जमीन थी, न अपना मकान। कोचरब मे एक किराए के मकान मे वह शुरू कर दिया था। जब आश्रम के लिए जमीन की खोज शुरू हुई, तब काका साहब ने गांधीजी से कहा, मेरी राय मे आश्रम अहमदाबाद मे नही, बल्कि अहमदाबाद और बम्बई के बीच सूरत-नवसारी की ओर कही खोलना चाहिए और अपनी इस राय के समर्थन में दलील पेश की कि बम्बई और अहमदाबाद के बीच रहने से हम दोनों शहरों का लाभ उठा सकेंगे और दोनों पर अपना प्रभाव भी डाल सकेंगे। फिर आप वस्त्रोद्योग की दृष्टि से भी सोचते हैं। इस दृष्टि से सूरत नवसारी से अच्छा स्थान है, क्योंकि वहां रूई की खेती अच्छी होती है। यहां हमारा किसानों और जुलाहों से सम्पर्क बढ़ेगा और इस सम्पर्क से स्वराज्य का काम अधिक पनपेगा।

उन्होंने एक और दलील पेश की जो भावनामूलक थी। उन्होंने कहा, अपना साम्राज्य भारत में फैलाने से पहले अंग्रेजों ने अपनी पहली कोठी सूरत मे स्थापित की थी। इस साम्राज्य के चंगुल से देश को छुड़ाने का काम आश्रम के द्वारा सूरत से शुरू हो, इसमें ऐतिहासिक औचित्य है।

गांधीजी मुस्करा कर बोले, आपकी दलील विचार करने लायक है। पर... आश्रम के लिए उन्होंने अहमदाबाद में ही साबरमती के किनारे पर जमीन पसंद की। इस जमीन को देखने के लिए जिस दिन गांधीजी गए थे, काका साहब उन्हीं के साथ थे। डा० प्राणजीवन मेहता और रणोली के एक कृषि-विशारद नाथाभाई पटेल भी साथ थे।

वैसे, वहां आकर्षक कुछ नहीं था, पर गांधीजी के सत्याग्रह-दर्शन के संदर्भ में यहां दो बातें बड़ी अर्थपूर्ण दिखाई दी थीं। एक ओर साबरमती की जेल थी तो दूसरी ओर दूधेश्वर का श्मशान था। पास ही में चंद्रभागा नदी साबरमती नदी से मिलती थी और यह दृश्य बड़ा ही सुंदर था। कहते हैं कि पुराने जमाने में ऋषि दधीचि का आश्रम इसी भूमि पर था। यह स्थान सबको पसंद आया।

गांधीजी ने नाथाभाई से पूछा, आप कृषि-विशारद हैं। बताइए, इस जमीन में क्या हो सकेगा ?

'बबूल', नाथाभाई ने एक शब्द मे जवाब दिया और कहा, 'असल बात यह है कि जोत, खाद और पानी इन तीनों का अच्छा प्रबंध हुआ तो किसी भी प्रकार की जमीन से अच्छी उपज हो सकती है।'

गांधीजी ने आश्रम के लिए जितनी जमीन आवश्यक थी, खरीद ली। काका साहब ने कहा, कुछ अधिक कीमत देकर भी हमें आसपास की पूरी जमीन खरीद लेनी चाहिए। आज इस जमीन की विशेष कोई कीमत नहीं है, पर हमारा आश्रम यहां स्थापित होते ही जमीन की कीमत बढ़ेगी और जब आश्रम की कार्य-प्रवृत्ति बढ़ेगी तो हमें दस गुना ज्यादा कीमत देकर वह खरीदनी पड़ेगी यानी जमीन की कीमत हम ही बढ़ाएंगे और उसकी सजा हमी को भुगतनी पड़ेगी।

पर काका साहब की यह बात गांधीजी के सिद्धांतों से मेल नहीं खाती थी।

संयोग से इसी समय अहमदाबाद में प्लेग शुरू हुआ और मकान आदि बनाने से पहले ही आश्रम को कोचरब से यहां स्थानांतरित करना पड़ा। अम्बालाल साराभाई के यहां से एक बड़ा तम्बू,एक शामियाना और छोटी-छोटी कई रावटियां मगवाई गई और आश्रम बाकायदा शुरू कर दिया गया।

जमीन समतल करने का काम जब शुरू हुआ, पहला फावड़ा काका साहब ने ही मारा। तम्बू आदि खड़े करने का काम भी उन्हीं ने अपने हाथ में लिया था।

साबरमती नदी और सरकारी मार्ग के बीच का हिस्सा आश्रम के लिए रख छोड़ा और सरकारी मार्ग से पश्चिम की ओर का हिस्सा आश्रम की राष्ट्रीय शाला के लिए दिया गया।

आश्रम की राष्ट्रीयशाला

काका साहब को गांधीजी ने आश्रम की शाला की जिम्मेदारी सौप दी। चम्पारण जाते समय बड़ौदा के स्टेशन पर काका साहब को जब मिलने बुलाया था, तभी उन्होंने यह प्रस्ताव उनके सामने रखा था। काका साहब ने उस समय उनसे पूछा था, आप एक ओर आश्रम मे शाला शुरू करना चाहते हैं और ठीक इसी समय आप चम्पारण जा रहे हैं। शाला की नीव तो आपको ही डालनी है। हर चीज मे हमे आपकी सलाह की जरूरत होगी।

तब जवाब मे गाधीजी ने कहा था, सेवा का काम है। मैं चम्पारण जाने से इंकार नही कर सकता। पर, शाला को अभी तो प्रारम्भ ही करना है। हम कहां बड़ा काम शुरू करने जा रहे हैं? घर के ही बच्चे हैं। जैसे ठीक समझो प्रारम्भ कर दो। कुछ गलतिया हुई तो बाद मे सुधार लेंगे।

काका साहब को इस जवाब से सतोष नही हुआ यह देखकर गांधीजी बोले—'आश्रम के ये प्रारम्भ के दिन हैं। मै जानता हू कि मुझे बहुत दिन तक दूर नही रहना चाहिए। हर पखवाड़े एक बार आश्रम मे आ जाया करूंगा।' यह सुनकर काका साहब को जितना आनद हुआ उससे अधिक आश्चर्य हुआ। मन-ही-मन उन्होंने कहा, इतनी दूर से हर पखवाड़े आप आएंगे तो इसका मतलब यही है कि आपके मन मे आश्रम और उसकी शाला का बहुत महत्व है। फिर मुझे क्यों चिंता करनी चाहिए? मैं तन-मन से काम करूगा।

काका साहब आश्रम मे पहुंच गए हैं, यह समाचार मिलते ही गांधीजी ने उन्हे बेतिया मोतीहारी से चिट्ठी लिखी और उनका स्वागत किया: 'आप आश्रम पहुच गए, यह अच्छा हुआ...' फिर चिट्ठी मे एक सुझाव रखा: 'फिलहाल तो आपको शाला के प्रयोग में ही व्यस्त रहना है। शाला में बारह से बीस बच्चे हो। अच्छे कुटुम्ब के हों तो अच्छा।...शहर के मिल जाएं तो फिलहाल देहात के बच्चों को प्रयोग में न लेना ही अच्छा है।' काका साहब लिखते हैं:

> गांधीजी देहातों के पक्षपाती थे। सेवकों को देहात मे जाकर रहना चाहिए, यह आग्रह रखते थे। क्योंकि विवेकानन्द की तरह वे भी मानते थे कि भारत देहातों में ही बसता है। फिर भी वे जानते थे कि हमे सेवक तो फिलहाल शहरों से ही मिलेंगे। मुझे उन्होंने कहा था कि आपका काम तो

शहर के बच्चों को व्यापक शिक्षा देकर देहातों की सेवा करने के लिए तैयार करना और उन्हें देहातों में भेज देना, यही है। कार्यकर्ता ढूंढें शहरों में और उन्हें सेवा के लिए भेज दें देहातों मे, यह था उनका दृष्टिकोण।

आश्रम जब कोचरब से साबरमती के तट पर आया, तब गांधीजी ने शाला के शिक्षकों के सामने अपने शिक्षा विषयक विचार रखे। उन्होंने कहा, 'मैं लड़के और लड़कियों को एक साथ शिक्षा देने के पक्ष में हूं। हर लड़के और लड़की की रुचि देखकर उसे काम दिया जाए। शारीरिक श्रम को शिक्षा का अंग माना जाए और यह काम शिक्षक की देखरेख में ही चलाया जाए। उनसे काम लेते समय उसके कारण की जानकारी उन्हें दे दी जाए। लड़का और लड़की समझने लगें तभी से उन्हें साधारण ज्ञान मौखिक रूप में देना चाहिए। उनका ज्ञान पढ़ाई-लिखाई से पहले शुरू होना चाहिए। अक्षर-ज्ञान को सुंदर लेखन-कला का अंग समझकर पहले बच्चों को भूमिति की आकृतियां खींचना सिखाना चाहिए और जब उनकी अंगुलियां मुडने लगें तब वर्णमाला लिखना सिखाना चाहिए, यानी उन्हें शुरू से ही शुद्ध अक्षर लिखना सिखाया जाए। लिखने से पहले बच्चा पढ़ना सीखे। अक्षरों को चित्र समझकर उन्हें पहचानना सीखे, फिर चित्र खिचवाएं। इस ढंग से जो बच्चा सीखेगा और मुंह से ज्ञान पाएगा वह आठ वर्ष के अदर अपनी ताकत के अनुसार बहुत ज्ञान पा सकेगा। बचपन आठ साल तक ही माना जाए। बच्चों को जबरदस्ती कुछ न सिखाया जाए। वे जो पढ़ें उसमें उन्हें रस आना ही चाहिए। उन्हें पढ़ाई खेल-जैसी लगनी चाहिए। खेल भी शिक्षा का आवश्यक अग है। शिक्षा मातृभाषा के जरिए होनी चाहिए। राष्ट्रभाषा के तौर पर उन्हें हिन्दी-उर्दू का ज्ञान दिया जाना चाहिए। उसका आरम्भ लिखाई-पढ़ाई से पहले होना चाहिए। धार्मिक शिक्षा आवश्यक मानी जाए, पर वह पुस्तक से नहीं, बल्कि शिक्षक के आचरण से और उसी के मुख से मिले। नौ से सोलह वर्ष का दूसरा काल है। इस काल मे भी लड़के-लड़कियों की शिक्षा साथ-साथ हो। इस काल में बच्चों को, हिन्दू हों तो संस्कृत का और मुसलान हों तो अरबी का ज्ञान मिलना चाहिए। इस काल मे भी शारीरिक काम होगा, पर पढ़ाई-लिखाई का समय आवश्यकता के अनुसार बढ़ाना चाहिए। इस काल में मां-बाप का धंधा निश्चित हो तो बच्चों को वह सिखाया जाए (यह नियम लड़की पर लागू नहीं होता है)। सोलह वर्ष तक सबको दुनिया के इतिहास-भूगोल, वनस्पति-शास्त्र, ज्योतिष, गणित, भूमिति और बीज गणित का साधारण ज्ञान

होना चाहिए। सोलह साल के लड़के-लड़कियो को सीना-पिरोना और रसोई बनाना आना चाहिए।

सोलह से पच्चीस तक का तीसरा काल है। इस काल में हर एक युवक और युवती को उसकी इच्छा और हालत के अनुसार शिक्षा मिले। नौ बरस के बाद की शिक्षा स्वावलम्बी होनी चाहिए, यानी विद्यार्थी पढ़ते समय ऐसे उद्योगो मे लगे जिससे पाठशाला का खर्च निकले।

स्त्रियो की विशेष शिक्षा कैसी और कहा हो, इस विषय मे मैं कुछ निश्चित नही कर सका हूं। इतना निश्चित है, 'जितनी सहूलियत लडके को मिलती है, उतनी ही लड़की को मिलनी चाहिए। जहा खास सुविधा की जरूरत हो, वहा खास सुविधा देनी चाहिए।'[1]

यानी बीस वर्षों के बाद बुनियादी तालीम या नई तालीम का नाम देकर जिस शिक्षा-पद्धति का प्रचार देश मे शुरू किया, उसके प्रयोग उन्होंने आश्रम की शाला मे ही शुरू कर दिए थे। अपने विचार शिक्षको के सामने रखकर वे बोले, इस वक्त तो हम छोटा-सा कार्य प्रारम्भ कर रहे हैं। पर, यहा जो हमे अनुभव मिलेगा, उसका उपयोग सारे देश के लिए होगा। हमे राष्ट्र के शिक्षा विषयक विचार ही बदलने है। राष्ट्रीय शिक्षा के द्वारा ही हमे स्वराज्य मिलेगा। इतना कहकर वे काका साहब की ओर देखने लगे और बोले, 'काका साहब को सारे देश की शिक्षा-पद्धति बदलने की महत्वाकाक्षा मन मे रखनी चाहिए।' काका साहब कहते हैं

> गांधीजी को अब मै अच्छी तरह पहचानने लगा था। वे कभी अत्युक्ति नही करते थे। किसी की खुशामद नही करते थे। एक-एक शब्द तोल-तोलकर बोलते थे। जब उन्होने मुझसे कहा कि मुझे सारे देश की शिक्षा-व्यवस्था बदलने की महत्वाकांक्षा रखनी चाहिए, मै सोचने लगा, गांधीजी ने यह जो कहा, उसे मैं अपने लिए संकल्प मान लू या दीक्षा? जो हो, मेरे लिए यह दिन बहुत महत्व का था। विचार करने की मेरी दिशा मे और पद्धति मे एक नया ही रंग आ गया।

1. सत्याग्रह आश्रम का इतिहास : गांधीजी।

साथी

काका साहब को इस प्रयोग मे साथी भी बहुत अच्छे मिले। एक थे —विनोबा। इंटर की परीक्षा देने के लिए वह बड़ौदा से बम्बई जा रहे थे। बीच में ही सूरत स्टेशन पर उतर गए और उत्तर की ओर जानने वाली एक गाड़ी में बैठ गए। उन्हें शाति की खोज मे या तो हिमालय में जाना था या क्रांतिकारियों मे शरीक होने के लिए बंगाल में जाना था। शांति और क्रांति, इन दो विरोधी धाराओं में उनका चित्त झूल रहा था। रास्ते में एक जगह उन्हें गांधीजी के उस प्रसिद्ध भाषण का वृत्तांत पढ़ने को मिला, जो उन्होंने महामना मालवीयजी के हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन के समय दिया था। ठीक इसी समय उन्हें गांधीजी के आश्रम की नियमावली भी पढ़ने को मिली। उन्हें लगा, जिसकी खोज में मैं हूं, वह शांति और क्रांति, दोनों इस शख्स मे साथ-साथ वास करती हैं। वे सीधे कोचरब आश्रम में आ गए। इन्हें पहचानने मे गांधीजी को कतई देर न लगी। उन्होंने देख लिया कि महाराष्ट्र की संत-परम्परा का यह एक सुयोग्य वारिस है और उन्हें आश्रम में रख लिया।

संस्कृत का विशेष अध्ययन करने के लिए विनोबा एक साल की छुट्टी लेकर वांई की प्राज्ञ पाठशाला मे गए थे। अध्ययन पूरा करके ठीक एक साल के बाद जब आश्रम मे लौट आए तब सीधे राष्ट्रीय शाला मे अध्यापन का काम करने लगे।

दूसरे थे —किशोरलाल मशरूवाला, अकोला में वकालत करते थे। चम्पारण में अपना सत्याग्रह का प्रयोग सफल करके गांधीजी ने वहां रचनात्मक काम शुरू किया, तब वहां रहकर काम करने के लिए उन्होंने सारे देश से स्वयंसेवकों की मांग की थी। यह मांग पढ़कर किशोरलालभाई अकोला से सीधे चम्पारण पहुंच गए थे। उनकी नाजुक तबीयत देखकर गांधीजी को लगा, इनका यहां रहना उचित नही है। यह यहां बीमार पड़ जाएंगे। इन्हें आश्रम मे क्यों न भेज दूं। किशोरलाल भाई के चारित्र्य का और उनकी धर्म-निष्ठा का गांधीजी पर अच्छा प्रभाव पड़ा था। गांधीजी ने उन्हें कहा, आपका काम यहां नही है। आप सीधे आश्रम जाएं और हमारी आश्रम की शाला में काम करने लगें। वहां काका हैं, वह आपको काम देंगे। किशोरभाई लिखते हैं :

बापू ने मुझसे आग्रह किया था कि मुझे आश्रम मे जाकर राष्ट्रीय शाला में काम करना चाहिए।...चम्पारण मे काम करने के लायक मेरा शरीर नही है। इसलिए उन्होने सुझाया कि मै पहली ही गाड़ी से रवाना हो जाऊं। इससे मुझे निराशा तो हुई, परतु उनकी आज्ञा शिरोधार्य करने के सिवा कोई चारा नही था। मैंने उनसे कहा कि आश्रम की शाला मे काम करने के विषय मे विचार करके मै अपना निर्णय बम्बई से आपको सूचित करूगा।' परंतु उन्होंने मुझे अपने जाल मे पूरी तरह खीच ही लिया था।[1]

किशोरलालभाई भी काका साहब के साथी बने। तीसरे थे नरहरिभाई परीख, वे महादेवभाई देसाई के घनिष्ट मित्र थे। दोनो साहित्य के रसिक भी थे। महादेवभाई ने तो जान मोर्ले की "आन कम्प्रोमाइज" पुस्तक का गुजराती मे अनुवाद भी किया था। आश्रम की नियमावली का जो मसौदा गाधीजी ने तैयार करके अपने मित्रा को भेज दिया था, उसकी कुछ प्रतिया दोनो ने अहमदाबाद के गुजरात क्लब की टेबल पर पडी हुई देखी। दोनो ने वह पढकर अपना अभिप्राय गांधीजी का लिखकर भेज दिया। ब्रह्मचर्य के आग्रह के कारण मनुष्य मे क्या विकृतिया आ सकती हैं और हस्तोद्योगो पर ही जोर दिया गया तो देश की आर्थिक प्रगति मे क्या रूकावटें पड़ सकती है— इत्यादि विषयो पर अपने विचार उन्होने अपने इस सयुक्त पत्र में लिख डाले थे। पाच-छः दिन तक कोई उत्तर नही आया, तब दोनो गाधीजी से मिलने गए। गाधीजी ने जब उन्हे अपने आदर्शो और विचारधारा के बारे मे समझाना शुरू किया, दोनों उनके हो गए। आश्रम मे लौटे तब रास्ते मे महादेवभाई बोले, 'नरहरि, मुझे तो इस पुरुष के चरणो मे बैठने का मन होता है।'

'यह सम्भव हुआ तो पूछना ही क्या, पर मै इस वक्त कोई निर्णय नही ले सकता।' नरहरिभाई ने जवाब दिया।

कुछ ही दिनों मे दोनों ने निर्णय ले लिया। महादेवभाई गाधीजी के निजी सचिव बने और नरहरिभाई आश्रम की शाला मे शामिल हो गए।

गंगनाथ विद्यालय बद होने के बाद उसके शिक्षक इधर-उधर बिखर गए थे। उनमें मामा फड़के एक थे। वे तपस्या के लिए गिरनार चले गए थे। मामा की कथा मामा के ही शब्दो मे सुननी चाहिए। वे लिखते हैं :

1. किशोरलालभाई की जीवन साधना : नरहरिभाई परीख

चौबीसों घंटे ईश्वर का ध्यान करना मेरे लिए कठिन हो गया। गिरनार छोड़कर मै किसी काम की खोज मे घूमता रहा। देश-सेवा का ही काम मेरे लिए स्वाभाविक था। यह काम ढूढ़ता-ढूंढ़ता मैं पूना, बम्बई की ओर गया, तब मालूम हुआ कि अफ्रीका के कर्मवीर गाधी भारत लौट आए हैं और इन दिनो पूना की 'सर्वेंट्स आफ इडिया सोसायटी' के मकान मे टिके हुए हैं। गोखलेजी का निधन हुआ था इसलिए गाधीजी कुछ दिनों के लिए यहा आकर रहे थे। मै उनसे मिलने गया और उनको नमस्कार किया, तब उन्होने नाम पूछा। नाम बताते ही कहने लगे : मै जानता हूं आपको। आश्चर्यचकित होकर मैंने कहा, यह तो बडी विचित्र बात है। हम कभी मिले ही नही, फिर आप मुझे कैसे जान सकते है? बोले, काका साहब, चितामण शास्त्री, हरिहर शर्मा आपके मित्र है न? मैने कहा, 'जी, पर उन्हें भी आप कैसे जानते हैं? वे तो मेरी ही तरह इधर-उधर भटक रहे हैं।'

'इसीलिए वे मेरे जैसे भटरे के साथ टकरा गए। उन्होंने ही मुझे आपके बारे मे बताया है।' फिर मैने कहा, 'कुछ दिन आपके साथ मुझे रहना है।' तो पूछा, क्यो? मैंने कहा, चौबीसो घटे ईश्वर भजन मे बिताना मुझसे नही होता। तो कहने लगे, 'फिलहाल मैं देश मे घूम रहा हूं। कुछ दिन रुक जाइए।'

कुछ समय के बाद मुझे उनका एक पत्र मिला। आश्रम की नियमावली का जो पर्चा उन्होंने तैयार किया था, वह भी लिफाफे मे था। दूसरे ही दिन मै अहमदाबाद के लिए रवाना हो गया। आश्रम मे जब पहुचा, वे बाहर आए और पूछने लगे, पत्र के उत्तर मे क्या? मैने कहा, जी तब मेरा हाथ पकड़कर वे मुझे अपने कमरे मे ले गए।[1]

इस प्रकार मामा काका साहब के फिर से साथी बने। जुगतराम दवे मयाजीपुरा मे ग्राम-सेवा का काम करते थे। कई व्यक्तिगत कारणों से केशवरावजी को ग्राम-सेवा का यह कार्यक्रम बंद करना पड़ा था। इसलिए, जुगतराम भाई भी आश्रम में आ गए और राष्ट्रीय शाला मे जुट गए।

---

1. मारी जीवन कथा : मामा फड़के।

इतने बड़े विद्वान, प्रतिभावान, चरित्रवान, निष्ठावान शिक्षक शायद ही संसार की किसी प्राथमिक शाला के विद्यार्थियो को मिले होगे। 7 मई 1917 के दिन बुद्ध-जयंती के मुहूर्त पर कोचरब मे शाला शुरू हुई थी और आचार्य आनंद शकर ध्रुव-जैसे शिक्षा शास्त्री की मदद से शाला का पाठ्यक्रम निश्चित कर दिया गया था। गाधीजी ने अपने इस प्रयोग मे गुजरात कालेज के प्रोफेसर शाकलचद शाह को खीच लिया था। वे शाला के प्रथम प्राचार्य बने। नरहरिभाई लिखते है :

> परतु शाला की नीति-निर्धारण तथा शिक्षको के मार्गदर्शन का काम काका साहब ही करते थे। काका साहब को छोडकर हम शिक्षको मे किसी को शिक्षा-कार्य का अनुभव नही था। हमारी मुख्य महत्वाकाक्षा तो बापू के मातहत काम करने की थी। उन्होने अपने शिक्षा के प्रयोग मे शरीक होने के लिए हमसे कहा तब हमने सोचा, यदि इस प्रकार गाधीजी के साथ काम करने का अवसर मिलता है तो यही सही। काका साहब की स्थिति हम सबसे सर्वथा भिन्न थी। उन्होने स्वय शिक्षा के कई प्रयोग किए थे। उनके पास राष्ट्रीय शिक्षा की एक निश्चित दृष्टि थी। बापू अपने इस प्रयोग मे मुख्यत काका साहब को ही जिम्मेदार समझते थे...विनोबा वाई से लौट आए, तब वे भी नीति-निर्धारण के काम मे योग देने लगे।[1]

कुत्तों की समस्या

आश्रम जब कोचरब मे साबरमती के तट पर गया, तब सभी शिक्षक तम्बुओ मे ही रहते थे। मकान बनने मे लगभग डेढ वर्ष लगा। तब-तक सभी बडी परेशानिया झेलते रहे। बारिश आती तो सामान उठाकर इधर-से-उधर रखना पडता था। खाना पकाकर रखते तो लावारिस कुत्ते खा जाते। इन सब परेशानियो से शिक्षको मे जो विवाहित थे, उनकी पत्नियां तग आ जाती। तब काका साहब उन्हे समझाने बैठते। काका साहब लिखते है

> मराठी मे एक कहावत है कि सेवा करने वाला कोई तैयार हो जाए तो सेवा लेने वाला कोई-न-कोई मिल ही जाता है। गाधीजी ने जब साबरमती के

1. किशोरलालभाई की जीवन-साधना : नरहरिभाई परीख ।

किनारे आश्रम खोला, तब अपरिग्रह का व्रत लिए हुए आश्रमवासियों को छोटे-बडे परिग्रह से मुक्त करने के लिए पहले चोर आने लगे। शाति, सुव्यवस्था और कानून की रक्षा करने का जिनका कर्तव्य है, उन लोगो न छारा नामक एक जरायमपेशा जाति के लोगो को आश्रम के पास ही ला बसाया। उनके उपद्रव से हम काफी परेशान हुए।...फिर, पता नही किसकी साजिश से, अनेकानेक लावारिस कुत्ते आने लगे। छोटे-बड़े, तगडे-बीमार, लूले-लंगड़े तरह-तरह के कुत्ते हमे दर्शन देने लगे। रात के समय उन्हें अपने पूर्वजो की याद आती होगी। दस बजे के करीब जोरो से रोते थे। दिन मे हिम्मत के साथ हमारे रसोई घर मे घुस जाते।...धर्म-शास्त्र मे कुत्तो को अपवित्र माना है। किन्तु मनुष्य के हृदय मे जो स्वाभाविक और सरल दया-धर्म है, उसने कुत्तो को खिलाने मे बडा पुण्य बताया है। आश्रम के परिवार कुत्तो को खिलाने लगे। फिर तो उनकी सख्या भी बढ गई और हिम्मत भी।...इस सवाल का हल निकालने के लिए हमारी एक सभा बैठी। मैंने सुझाया : इन्हे खाने को मिलता है, इसलिए वे आते है। इन्हे खिलाना हम बद कर दे। सुझाव सबको पसंद आया, पर अमल मे नही आया। फिर से जब समिति बैठी, तब मैने नया प्रस्ताव रखा कि हर एक परिवार एक-एक कुत्ते को अपनाए और उसी को खिलाए। इससे अपनाए हुए कुत्ते आर्य बनेंगे और वे स्वय अनार्य कुत्तो को भगा देगे। मेरा यह प्रस्ताव भी सबको पसद आया, पर फिर भी कार्यान्वित नही हो सका। तीसरी सभा मे मैंने तीसरा प्रस्ताव पेश किया। कुत्तो को हम एक कतार मे जंजीरो से बाध कर रखे और खिलाए। यह प्रस्ताव किसी को नही जचा। इसकी बाद की सभा मे मैने उद्विग्न होकर कहा, आप मेरे प्रस्ताव पास करते हैं, पर अमल मे नही लाते, तब तो मै इन कुत्तो को मरवा डालूगा। सारा पाप अपने सिर पर लेकर इन्हें खत्म ही कर डालूगा। सब ओर से चिल्लाहट सुनाई दी। हाय, हाय...अररर यह आप क्या कर रहे हैं? हम अहिंसावादी हैं, कुत्तों को कैसे मार सकते हैं?... फिर सभा हुई, तब मैने कहा, कुत्तों की परेशानी तो है ही। पर जो परिस्थिति है, उसे मान्य करके सहन करने का निश्चय करें। यह प्रस्ताव किसी को पसंद नही आया।...फिर तो मैने श्वानांतक-निवारिणी सभा मे जाना ही छोड़ दिया।

शाला का वातावरण

ऐसे वातावरण मे शाला चलती रही। शाला में प्रथम तो आश्रमवासियो के ही बच्चे पढ़ते थे। जब मकान बने तब इन बच्चों के हम-उम्र के दूसरे बाहर के बच्चो को भी लेना तय हुआ और उनके लिए एक छात्रावास भी खोला गया। शिक्षक समय-पत्रक बनाते, अभ्यास-क्रम तय करते, आपस मे विषय बाँट लेते, पर लकीर के फकीर नही थे। जब कभी किसी विषय मे विद्यार्थियो की जिज्ञासा बढ़ जाती, तब उसी विषय को चाहे जितना समय दे देते। कई शिक्षको के तो घर भी विद्यार्थियो के लिए विद्यालय बन गए थे। काका साहब भूगोल पढ़ाते थे, पर वे खगोलविद भी थे। सुबह की प्रार्थना के बाद या रात के समय वे विद्यार्थियो को आकाश के सितारों का परिचय करा देते। विद्यार्थियो का जीवन अधिक रसिक कैसे बने, ज्ञानानन्द मे वे मग्न कैसे रहें, इस बात की उन्हे जितनी फिक्र थी, उतनी ही उनके चारिव्य-गठन की भी थी। वे गीता के सोलहवें अध्याय के दैवी सम्पत का विवरण उनके सामने करते। विनोबा संस्कृत पढ़ाते थे। पर उन्हे धूप, सर्दी, नीद, भूख, स्वाद पर बच्चे विजय कैसे प्राप्त करें, इस बात की सबसे अधिक फिक्र रहती थी। जाड़ो में वे बच्चो को बडे तड़के उठा देते और उन्हे लेकर साबरमती नदी पर जाते। नदी मे खुद डुबकी लगाते और बच्चो को भी डुबकी लगाने के लिए प्रोत्साहन देते और वे उन्हे समझा देत कि तैरना सस्कृत के जितना ही महत्त्व का है।

देश मे जो परम्परागत शिक्षा प्रणाली चलती आई थी, उससे सर्वथा भिन्न यह शिक्षा प्रणाली थी। यहाँ लिखना, पढ़ना, गिनना तो अवश्य सिखाया जाता था। पर उसके साथ-साथ बर्तन माँजना, रोटियाँ बेलना, साग-सब्जी काटना और पाखाने साफ करना भी सिखाया जाता था। यह भी शिक्षा के ही विषय माने गए थे। जब चरखे की खोज हुई, तब कातना और बुनना भी शिक्षा के विषय बन गए।

हैड, हार्ट और हैण्ड—तीनो का विकास इस शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य था। मतलब बच्चो के व्यक्तित्व और चारित्र्य पर अधिक जोर दिया जाता था। प्रभु-दास गाधी, जो शान्तिनिकेतन में फिनिक्स वालों के साथ थे, लिखते है :

> हम शान्ति निकेतन से हरिद्वार गए। तब काका साहब हमारे साथ नही थे। वे हमसे कब अलग हुए, याद नही आता। कई महीनों के बाद कोचरब में

उनके दर्शन हुए। यह खबर मिलते ही कि वे पधारे है, मैं दौड़ता हुआ उनके पास पहुँचा। पर अब वे शान्तिनिकेतन के काका साहब नही थे। उनका भरी हुई दाढ़ी अब सफाचट हो गई थी। शान्तिनिकेतन में वे जैसे सौम्य और आनन्दी दीख पड़ते थे, वैसे यहाँ नहीं थे। यहाँ के बच्चो से कम बोलते थे। सारा समय अखबार या और कुछ पढ़ा करते थे। बड़ों के साथ ही अधिक बैठते थे। ज्यादा चर्चाखोर बन गए थे।...मै उनसे दूर रहा। फिर...हमारी राष्ट्रीय शाला के वे आचार्य बन गए। उनके अलावा किशोर लालभाई नरहरिभाई, विनोबा, अप्पा साहब पटवर्धन जैसे धुरन्धर शिक्षक हमे राष्ट्रीय शिक्षा का दुग्धपान कराने लगे। बापू जब यात्राओ से लौटकर आश्रम में कुछ दिन रुक जाते, तब महादेव भाई भी हमारी कक्षा लेते। कभी मेहमान के रूप मे आए हुए दीनबन्धु एण्ड्रयूज भी हमे पढ़ाते। सबके बीच राष्ट्रीय शाला की पतवार मुख्यतः काका साहब के ही हाथ मे थी।...अनेक नियम बनते, अधिकारी नियुक्त होते। अन्त मे काका साहब जो चाहते थे, वही होता था। हमारे देश की बड़ी बड़ी शिक्षा संस्थाओ मे उनके अध्यापको का परिचय उनकी बडी-बड़ी डिग्रियों से ही कराया जाता है, जैसे यह डबल एम० ए० है, वह अमरीका के पी-एच० डी० है या यह आक्सफोर्ड है, विद्यावाचस्पति है, इस तरह। साबरमती की शाला के अध्यापको को पहचानने की हमारी रीति अलग ही थी। कौन-से शिक्षक गीता के किस अध्याय के है, यह मेरी दृष्टि से उनका परिचय था। बापू जी तीसरे अध्याय के, विनोबा चौथे और तेरहवे अध्याय के, मगन काका दूसरे अध्याय के, महादेवभाई ग्यारहवें, किशोरलालभाई पाँचवें और छठवें अध्याय के और काका साहब सोलहवें अध्याय के—इस तरह हमने तय किया था। यही इन लोगो की डिग्रिया थी। इनमे भी दूसरो का ध्यान कभी-कभी दूसरे अध्यायों पर जाता था। काका साहब तो सोलहवे अध्याय में ही रचे-पचे रहते। सोलहवें अध्याय को हम सीख ले और उसका अनुसरण करे, इसके लिए काका साहब प्रारम्भ के दिनों में कितनी मेहनत करते थे!...हम गेहूं बीनने बैठते थे और उसमे से ककड़ निकालकर फेंक देते थे, उसी तरह मन से भी कंकड़ चुन-चुनकर निकाल देने के लिए काका साहब हमें प्रोत्साहित करते थे। हम धीरे-धीरे अधिक-से-अधिक गम्भीरता से उनकी बातें सुनने लगे थे, इतना मुझे याद है।

1918 मे काका साहब विद्यार्थियो को लेकर आबू की पैदल यात्रा के लिए निकल पडे। विद्यार्थियो को भूगोल पढ़ाने का उनका यह एक नया तरीका था। विनोबा और नरहरिभाई भी उत्साह मे आ गए। काका साहब, विनोबा और नरहरिभाई पन्द्रह विद्यार्थियो को लेकर पैदल गए थे, तो किशोरलालभाई और प० खरे (जो सगीत के शिक्षक थे) छोटे बच्चों और बहनो को लेकर ट्रेन द्वारा गए थे।

उन दिनो ऐसी पर्यटन मण्डलियाँ बहुत कम निकलती थी और एक पूरी शाला विद्यार्थियो को लेकर पैदल यात्रा करे, यह बात तो कभी किसी ने सुनी भी नही थी।

रात को सोने के लिए बिस्तर, रास्ते मे भोजन पकाने के लिए बर्तन जैसी चीजे भी इन्होने साथ मे ली थी। खादी का आविष्कार अभी नही हुआ था। इसलिए हर एक की पोशाक अलग-अलग प्रकार की थी। इस यात्रा के कुछ मनोरजक प्रसग नरहरि भाई सुनाते है :

> हमारा पहनावा लोगो को बड़ा विचित्र लगता। रास्ते मे जब लोग पूछते : भई कहा जा रहे हो? तो हम अगले पडाव का ही नाम बता देते। आबू का नाम लेते तो सम्भवत: लोग समझ भी न पाते। कई बार हम रेल की पटरियो के किनारे-किनारे चलते। कभी-कभी यह पूछने वाले भी मिल जाते कि इतनी दूर पैदल क्यों जा रहे है। क्या हम उनके लिए टिकट खरीद लाए?...हम सबको एक साथ भोजन करते देखकर पूछते, क्या आप सब एक ही जाति के है? हमारे पहनावे देखकर कोई मान बैठते कि हम रामलीला वाले है और पूछते : क्या अगले पड़ाव पर लीला करेंगे?

गुजराती सीखी

शाला का माध्यम गुजराती था और काका साहब शुरू-शुरू में गुजराती उतनी नहीं जानते थे, जितनी पढ़ाई के लिए आवश्यक है। प्रश्नों के जवाब गुजराती में दे देते, पर जब ज्यादा समय बोलना पड़ता, तब कुछ कठिनाई महसूस

करते थे। सुबह से शाम तक उनकी शिक्षकों के साथ अखण्ड चर्चाएं चलती रहती थी। अधिकतर मराठी में ही क्योंकि विनोबा, मामा, पं० खरे मराठी ही थे। किशोरलालभाई और नरहरिभाई भी मराठी जानते थे, पर विद्यार्थी तो अधिकतर गुजराती थे। इसलिए शुरू-शुरू में टूटी-फूटी गुजराती और हिन्दी में उन्होंने अपना काम चलाया। जब इतिहास पढ़ाने लगे, तब उन्होंने एक नई युक्ति ढूंढ़ निकाली। उन दिनों गुजराती में इतिहास की पुस्तकें ही नहीं थीं और जो थी उनमें काका साहब जैसी आर्य दृष्टि चाहते थे वह नहीं थी। भाषा की दृष्टि से नवलराम की लिखी हुई 'अंग्रेजों नो इतिहास' छोकर विद्यार्थियों के हाथ में देने लायक उन्हें पुस्तक ही नहीं मिली और विद्यार्थियों को वे अंग्रेजों का नहीं, बल्कि आर्यों का इतिहास पढ़ाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने मिस्टर निवेदिता, हेवेल, आनन्द कुमार स्वामी-जैसों की पुस्तकों की मदद ली और रोज कहानियों के रूप में आर्यों का इतिहास सुनाना शुरू कर दिया। बगल में नरहरिभाई को बिठा लेते और जब बोलने में कठिनाई महसूस करते तब मराठी में उन्हें बता देते। फिर नरहरिभाई विद्यार्थियों को गुजराती में समझा देते थे।

फिर विद्यार्थियों को कहते : 'आज जो सुना, वह कल लिखकर लाना'। विद्यार्थी लिखकर लाते, तब वह पढ़ डालते। विषय के अधूरेपन की ओर उनका ध्यान खींचते और फिर से लिखने को कहते। इस तरह विद्यार्थियों की टिप्पणियों की मदद से काका साहब और नरहरिभाई दोनों ने इतिहास की एक सुन्दर पुस्तक गुजराती भाषा को दी है, जिसका नाम है . 'पूर्वरंग'।

भाषा की यह कठिनाई अधिक दिन नहीं रही। विद्यार्थियों से बोलते-बोलते उनकी गुजराती अपने-आप सुधरती गई। उनके पास विद्यार्थियों को कहने के लिए बहुत बातें थीं। विशेषतः उन्होने हिमालय की जो यात्रा की थी, उसके कुछ रोचक अनुभव उनके दिल में संग्रहीत थे। इन अनुभवों को विद्यार्थियों के दिल और दिमाग तक पहुँचाने की उनकी उत्कंठा जैसे-जैसे बढ़ती गई, वैसे-वैसे उनकी गुजराती भाषा पक्की होती गई। यही नहीं, गुजराती भाषा उन पर प्रसन्न भी होती रही और अपनी खूबियां उनके सामने प्रकट करती रही। देखते-ही-देखते वे गुजराती में धारा-प्रवाह बोलने लगे। कहते, 'गुजराती भाषा के शिक्षक के रूप में मुझे छोटे-छोटे बच्चे मिले, यह मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ।'

इस प्रक्रिया का एक नतीजा यह हुआ कि उनके अन्तर मे जो रसिक साहित्य-कार हिमालय से लौटने के बाद जाग्रत हुआ था, उसने यहाँ अपना सिर ऊँचा उठाना शुरू किया। वह विद्यार्थियो के लिए साहित्य-सृजन करने लगा। स्वय काका साहब के लिए यह एक नई खोज थी। फिर किसी विद्यार्थी मे खास शक्तियो का दर्शन होते ही जिस प्रकार उन शक्तियो के विकास की ओर वे विशेष ध्यान दते आए थे, उसी प्रकार अपने मे प्रकट हुए इस साहित्यकार के विकास की ओर भी वे गहरी दिलचस्पी लेन लगे। इस प्रक्रिया मे गाधीजी न अपन ढग से हाथ बटाया। एक दिन उन्होन काका साहब को एक पुस्तक पढ़त हुए दखा।

'क्या पढ रह है ?' उन्होने पूछा।

काका साहब न जवाब दिया, 'उमर खय्याम की रुबाइयातो का फिटसजेराल्ड कृत अग्रेजी अनुवाद।'

एक क्षण गाधीजी ने कुछ नही कहा। फिर बोले, 'अग्रेजी कविताए पढने का मुझे भी बडा शौक था। पर मैंने सोचा, अग्रेजी कविताए पढने का मुझे क्या अधिकार है ? मेरे पास अगर खाली समय है तो उसका उपयोग मै अपनी गुजराती लिखने की योग्यता बढाने के लिए क्यो न करू ? मुझे देश-सेवा करनी है तो अपना सारा समय अपनी सेवा-शक्ति बढाने मे ही लगाना चाहिए।'

कुछ देर रुककर बोले, 'लोग समझते है, मैने देश-सेवा के लिए बहुत त्याग किया है। पैसे और कैरियर के त्याग को मै त्याग नही समझता, क्योकि इनकी ओर मेरी रुचि कभी थी ही नही। असल मे मैने देश-सेवा के लिए कुछ त्याग किया है तो अग्रेजी साहित्य के शौक का ही किया है।'

काका साहब समझ गए। उसी क्षण उन्होने निश्चय किया कि जब तक मुझे गुजराती अच्छी नही आती, मै कोई अग्रेजी पुस्तक नही पढूगा। इस निश्चय का मुख्य लाभ यह हुआ कि जिस लगन से वे पहले अग्रेजी कोश मे शब्द ढूढते थे और हर एक शब्द की प्रकृति और खूबी समझने की कोशिश करते थे, उसी लगन से वे अब गुजराती शब्दो की प्रकृति और खूबिया समझने की कोशिश करने लगे।

कुछ ही दिनों में वे गुजराती के एक समर्थ लेखक ही नहीं, बल्कि गुजराती भाषा के बड़े समर्थक भी बन गए।

स्त्रियों की शिक्षा

यह नहीं कहा जा सकता कि गांधीजी के शिक्षा विषयक विचार शाला के शिक्षकों ने ज्यों-के-त्यों स्वीकार किए थे। उनके अपने भी विचार थे। इसलिए कहीं-कहीं मतभेद रह जाते थे। पर यह मतभेद बहुत सूक्ष्म थे, इसलिए गांधीजी ने प्रारम्भ में ही काका साहब से कह दिया था कि शाला भले ही आश्रम की मानी जाती हो, असल में वह आपकी और आपके साथियों की है। एक विषय के बारे में सब एकमत थे, वह यह कि शिक्षा में उद्योग को—विशेषरूप से कताई को—बड़ा स्थान मिलना चाहिए। शिक्षा अधिक-से-अधिक स्वावलम्बी होनी चाहिए और वह गांवों के जीवन को ताकत पहुँचाने वाली और इस जीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाली होनी चाहिए।

आश्रम की शाला में शिक्षक डण्डे का उपयोग नहीं कर सकते थे। यही नहीं, वे विद्यार्थियों को उलाहना भी नहीं दे सकते थे। किसी विद्यार्थी ने गलती की तो उसे दूसरे विद्यार्थियों के सामने नीचा भी नहीं दिखा सकते थे। कम-अधिक नम्बर देकर नीचे ऊपर भी नहीं कर सकते थे। मोटे तौर पर सभी इन नियमों का पालन करते थे। पर कभी-कभी विद्यार्थियों की अनुशासन-हीनता से शिक्षक तंग आ जाते थे और वे विद्यार्थियों को न केवल डांटते थे, बल्कि कभी-कभी पीटते भी थे। ऐसे पीटने वाले शिक्षकों में एक—कहते संकोच होता है—विनोबा भी थे। सतीश कालेलकर कहते हैं:

> मुझे भी उनका प्रसाद मिला है। बाद में जब वे पिटाई के खिलाफ बोलने लिखने लगे तब मैंने उनसे एक बार मजाक में कहा था: पिटाई से कोई फायदा नहीं होता, यह आपको मैंने सिखाया है।[1]

शिक्षा के प्रयोगों में आश्रम को अधिक-से-अधिक सफलता मिली, स्त्रियों को

1. लेखक के साथ बातचीत से।

शिक्षा मे । एक-दो अपवाद छोड़ दे तो बाकी की सब अपने पति, पिता या भाई किसी-न-किसी के साथ आई थी । आश्रम जीवन उन्हें जबरदस्ती स्वीकारना पड़ा था । कुछ स्त्रियो के मन में आश्रम के आदर्शों के प्रति विरोध नहीं तो कम-से-कम अरुचि अवश्य थी । गांधीजी जिस तरह अस्पृश्यता मिटाने की आवश्यकता महसूस करते थे, उसी तरह स्त्रियों के मन मे जो-कुछ वहम, ख्याल या रिवाजो के प्रति निष्ठा है, उन्हें दूर करने की भी आवश्यकता महसूस करते थे। उन्होने स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष जोर दिया था । वे स्वयं उनकी कक्षा चलाते थे । वे लिखते है :

> मेरा ख्याल है कि शिक्षा के प्रयोगो मे आश्रम को अधिक-से-अधिक सफलता स्त्रियो के बारे मे मिली है। वह इस तरह कि जो स्वतन्त्रता और आत्म-विश्वास स्त्रियों मे आया, वह उतने ही समय मे और उसी वर्ग की स्त्रियों में कही दूसरी जगह देखने मे नहीं आया। आश्रम मे स्त्रियों पर ऐसा कोई अंकुश नही रखा गया, जो पुरुषों पर न रखा गया हो । स्त्रियों के मन मे बराबरी का विचार शुरू से ही ठूस दिया जाता है । कामों मे सबको बराबर हिस्सा लेना पड़ता है । ऐसा फर्क नही रखा गया कि फलां काम स्त्री का ही है और पुरुष उसे करे ही नहीं । रसोई का काम भी स्त्री-पुरुष दोनो का ही माना गया है। शरीर की जो मेहनत स्त्री नहीं कर सकती, उससे उसे मुक्त रखा गया। इसके सिवा एक भी ऐसा उद्योग नही, जिसमे स्त्री-पुरुष दोनों ने साथ-साथ काम न किया हो । पर्दा और घूंघट-जैसी चीज आश्रम में है ही नही । आश्रम का वातावरण ऐसा रहा कि स्त्री कही से भी आई हो, उसे आश्रम में आते ही अलग तरह का और स्वतन्त्र वातावरण महसूस होता है और वह अपने को निर्भय मानती है । मेरा विश्वास है कि इसमें ब्रह्मचर्य व्रत का बहुत बड़ा हाथ रहा है। बड़ी उम्र की लड़किया कुंवारी है । हम जानते है कि आश्रम का यह प्रयोग जोखम से भरा हुआ है। पर इस तरह के जोखम के बिना स्त्रियों की उन्नति और उनकी जाग्रति असम्भव है ।[1]

1. सत्याग्रह आश्रम का इतिहास, गांधीजी ।

स्त्री अबला नहीं है। हमेशा पुरुष के आश्रित रहने का उसके लिए कोई कारण नहीं है। समाज का नेतृत्व पुरुषों के हाथ मे ही रहे, यह कोई सनातन नियम नहीं है। स्त्री अपने जीवन का अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार निर्माण और विकास कर सकती है। पुरुषों ने अपनी भोग-लालसा को प्रधानता देकर स्त्री का जींवन एकांगी, पराधीन और कृत्रिम बना दिया है। पुरुषों की ईर्ष्या और स्वामित्व बुद्धि के कारण ही स्त्री जाति अबला, अनाथ और असहाय मानी गई है। वस्तुतः स्त्री स्वतन्त्र हो सकती है। उसे शादी करनी ही चाहिए यह जो माना गया है, वह वहम है। वह शादी के बिना रह सकती है। विधवाओं के पुनर्विवाह पर समाज ने जो पाबन्दी लगाई है, वह धर्म नहीं अधर्म है, विधवा चाहे तो पुनर्विवाह कर सकती है—यह सब आश्रम की स्त्रियों को किसी-न-किसी रूप में सिखाया जाता था। आश्रम की स्त्रियों में कुछ बाला थीं, कुछ बुढियाएं थीं, अनपढ़ तो करीव-करीब सभी थी। कुछ अनुभवहीन थीं, कुछ शहरी वातावरण से आई हुई थी तो कुछ गांवों से सीधी आश्रम मे पहुच गई थी। किसी एक प्रदेश की नहीं, बल्कि कई प्रदेशों की थीं।

स्त्रियों की रक्षा के लिए पुरुष हमेशा तैयार रहते थे, पर उनसे कहा जाता था कि भले ही आज तुम अपनी रक्षा न कर सकती हो, पर किसी-न-किसी दिन यह शक्ति तुम मे आनी ही चाहिए। इन सब बातों का स्त्रियो के जीवन पर अद्‌भुत असर हुआ।

आपसी मतभेद

गांधीजी आदर्शवादी थे। पर अन्धे आदर्शवादी नहीं, बड़े विवेकी थे। उन्होंने सोचा: आश्रम मे शिक्षा-कार्य तो शुरू करना ही है। इसमें किन लोगो की मदद लें? आश्रम में जो हैं, उन्हीं से यह काम लिया नहीं जा सकता। वह उनकी शक्ति के बाहर का है। शिक्षण-कार्य चलाने के लिए बाहर के विद्वानों को बुलाना होगा। वे सेवावृत्ति के हों, गुजर लायक वेतन में ही संतोष मानने वाले हों और चारित्र्यवान हों, इतना पर्याप्त है। ब्रह्मचारी हों, ऐसा आग्रह नहीं रखा जा सकता। शिक्षक वर्ग के लिए ब्रह्मचर्य का नियम कड़ा नहीं रखा जा सकता—यह सोचकर उन्होंने साबरमती की भूमि पर आश्रम खड़ा करते ही उसके दो

विभाग बनाए। एक आश्रम विभाग और दूसरा शिक्षक विभाग। बीच मे एक सड़क जाती थी।

शिक्षक विभाग में अनेक कोठियो वाला एक मकान बनाया गया था। उसके एक सिरे की कोठी मे काका साहब रहते थे। बगल में किशोरलालभाई, फिर महादेवभाई, उनके बाद छगनलाल गाधी, फिर संगीत शास्त्री प० खरे। अन्त मे नरहरि भाई। सभी ग्रहस्थाश्रमी थे और अपनी-अपनी रसोई अलग पकाते थे। महादेवभाई शिक्षक नही थे, पर शिक्षक निवास मे उनको स्थान दिया गया था। विनोबा और मामा शिक्षक थे, पर वे आश्रम विभाग मे रहते थे।

शिक्षक विभाग के सभी सदस्यो ने अपने सामने आश्रम के ही आदर्श रखे थे। सारा काम वे अपने हाथ मे ही करते थे। शरीर श्रम मे भी विश्वास रखते थे। पर इन बातो के अलावा इनके बीच साहित्य-चर्चा, कला विवेचन, सगीत, हास्य-विनोद भी निरन्तर चलता था। वैसे दोनो विभाग आश्रम के ही थे, पर दुर्भाग्य से दोनो के बीच 'हम अलग, आप अलग' इस प्रकार का एक द्वन्द्व आरम्भ से ही शुरू हो गया था। दोनो विभाग के सदस्य जब आपस मे तत्व चर्चा करते तब उनमे गरमाहट भी आ जाती। काका साहब कहते है :

> हमारे मन मे एक-दूसरे के प्रति आदर और आत्मीयता काफी थी। हम जानते थे कि बाहर की दुनिया की अपेक्षा हम एक-दूसरे के बहुत नजदीक है। हमारा प्रधान आदर्श एक है और गाधीजी के प्रति श्रद्धा, निष्ठा और भक्ति मे हम मे कोई किसी से कम नही है। हम मे स्वार्थ, मत्सर, ईर्ष्या या अधिकार लालसा तनिक भी नही थी। हमारा दोष इतना ही था कि हम अपने-अपने अनुभव और दृष्टिकोण के प्रति आग्रही थे। हम मे अपने-अपने मत का इतना अभिनिवेश रहता था कि दिल बोल उठता था—मै जो बात कह रहा हूं वह इतनी सीधी, सरल और लाभदायक है कि साथी को वह क्यो नही जचती ? जचनी ही चाहिए। एक तरह से कहू तो अपने साथी को अपनी बात मै जरूर समझा सकूगा, यह विश्वास ही हमे गरम चर्चा की ओर ले जाता था। इस आग्रह मे जितना आत्मविश्वास था, उतना ही साथी के प्रति विश्वास भी था कि समझाने पर वे समझ जाएगे।

ऐसी गरमागरम बहसों में काका साहब और मगनलालभाई गाधी के बीच

की बहसें आश्रम में चर्चा का विषय बन गई थीं। आश्रम चलाने का बोझ मगनलालभाई के सिर पर था। वे बड़े परिश्रमी और धर्मनिष्ठ थे, अनुशासन-प्रिय और कठोर थे। काका साहब स्वतन्त्र प्रकृति के विचारक, उदार और छात्र-प्रेमी शिक्षक थे। पर मगनलाल भाई को लगता था कि काका साहब अव्यवस्थित हैं, ढीले हैं और उनके उदार स्वभाव के कारण आश्रम का वायुमण्डल शिथिल होता है। शाला में जब कताई-बुनाई शुरू हुई तब दोनों का दृष्टिभेद अधिक स्पष्ट हुआ। काका साहब कहते थे : यहा कताई-बुनाई चलेगी, पर यह खादी बनाने का उद्योग मन्दिर नही है। यहां शिक्षा की दृष्टि प्रधान होगी। दोनों के बीच इस तरह के कई मतभेद हो जाते। दोनों गांधी जी के दाएं-बाए हाथ थे। पर स्वभाव भेद और कार्य तथा उत्तरदायित्व की भिन्नता के कारण दोनों के बीच जो मतभेद हो जाता था, वह दोनो के ही नही, बल्कि गांधीजी के भी मनः क्लेश का कारण बन जाता था। दोनों के बीच की चर्चा की कटुता को देखकर गांधीजी परेशान हो जाते थे। गांधीजी ने इन मतभेदो की बड़ी कठोर आलोचना की है। वे लिखते है :

> बहुत कोशिश करने पर भी यह शिक्षक विभाग और आश्रम विभाग बनते ही ऊंच-नीच की भावना का जहर फैलने लगा। आश्रम विभाग वालों में घमड पैदा हो गया। शिक्षक विभाग इसे कैसे सहता ? यह अभिमान आश्रम के उद्देश्य के विरुद्ध था, इसलिए असत्य भी था। अगर पूर्ण ब्रह्मचर्य जरूरी था तो विभाग भी स्वाभाविक था। मगर पूर्ण ब्रह्मचर्य की छाप वालों में बड़प्पन मानने के लिए तो कोई कारण ही नही था। यह भी तो हो सकता है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन का दावा करने वालो का मैं मन यानी विचारों से रोज पतन होता हो और ब्रह्मचर्य का दावा न करने वाले, मगर उसे पसन्द करने वाले रोज अपने प्रयास में ऊचे उठते हों। बुद्धि यह सब समझती थी, मगर उस पर अमल करना सबके लिए कठिन हो गया था। गड़बड़ का एक कारण तो यह था ही, दूसरा और पैदा हो गया। शिक्षा के तरीके पर मत-भेद पैदा हो गया और उससे आश्रम की व्यवस्था मे मुश्किलें आने लगीं। बहुत बहसें हुई; बड़े झगड़े हुए; दिल खट्टे हो गए। इतना होने पर भी अन्त में सब शान्त हो गए या यह कहिए कि एक-दूसरे को बरदाश्त करने लगे। इसमें मुझे आश्रम के मूल हेतु की यानी सत्य की जीत मालूम हुई। मतभेद

वालों के मन मे मैल नहीं था, किसी गन्दी तिकडम में नहीं पड़ते थे। जो भेद होते थे उनके लिए दुःख होता था। जो सत्य है, उसी पर चलने की इच्छा थी। अपनी राय के आग्रह से सामने वाले की दलीले समझने मे रुकावट होती थी। इसलिए उद्वेग होता था। इसमे इस बात की परीक्षा हुई कि आश्रमवासियो मे एक-दूसरे के लिए कितनी उदारता रहती है।[1]

काका साहब की मामा फडके से भी बीच-बीच में गरमा-गरम बहस हुआ करती थी। इस बहस के दरमियान दोनो परस्पर वाक्प्रहार भी किया करते थे। काका साहब ने कई बार मामा को रुलाया भी है। इतना होते हुए भी दोनो के बीच न कभी गलतफहमी होती, न कटुता आती। मानो कुछ हुआ ही न हो, इस तरह दोनो एक-दूसरे से पेश आते।

मगनलालभाई को यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता था और वे मन-ही-मन कहते थे, अभी-अभी तो यह लड़ रहे थे। अब एक कैसे हो गए ? फिर अपने प्रश्न का खुद ही जवाब दे लेते : दोनों को जोड़ने वाली एक कड़ी है, प्रेम की। यह परस्पर प्रेम उन्हे एक-दूसरे से अलग नही होने देता।

एक बार उन्होने काका साहब से पूछा, 'काका साहब मै आपसे साफ-साफ एक प्रश्न पूछना चाहता हू, आप जवाब देगे ?'

'पूछिए।'

'मामा के प्रति आपके मन मे जिस तरह का प्रेम है, उस तरह का प्रेम मेरे प्रति क्यो नही है ?'

काका साहब बोले, 'मामा के प्रति मेरे मन मे जो आदर है, उससे कई गुना अधिक आपके प्रति है। आपकी कर्मठ वृत्ति, परिश्रम-निष्ठा, आत्मोन्नति की तीव्र इच्छा, क्रोध को जीतने की आपकी साधना, इन सब बातों की मै बहुत कद्र करता हूं। आपके साथ मै अपने को सुरक्षित पाता हूं। पर...आप है उग्र साधक। हम है मानवतावादी सामान्य मनुष्य। हम एक-दूसरे का दोष बरदाश्त कर लेते है।

1. सत्याग्रह आश्रम का इतिहास : गांधीजी।

परस्पर दोषों का अनुभव होने के कारण हमारा परस्पर प्रेम कम नही होता। आप दूसरों के दोषों के प्रति असहिष्णु हैं। इसलिए आप में वह उदारता नही आती, जो परस्पर प्रेम को बढ़ाती है। आप हमारे सद्गुणों की कदर करते हैं—हद से ज्यादा करते हैं, पर उससे आत्मीयता पैदा नही होती। गुण-दोष आदि मिलाकर जो हमारा पिंडीकृत व्यक्तित्व बनता है, उसको मामा और मैं पूर्णतया स्वीकार करते हैं। इसलिए हमारे दोषों का असर हमारे सम्बन्ध पर नही हो पाता। यह क्षमावृत्ति नहीं है, आत्मीयता है। गुण-पूजा अलग चीज है, क्षमावृत्ति अलग चीज है और आत्मीयता अलग चीज है। वह श्रेष्ठ वृत्ति है। आपकी तरह गुणों की पूजा और दोषों की दुश्मनी यह हमारी भूमिका नही है।' काका साहब कहते है :

> इस तरह का पृथक्करण पेश करना मर्यादा-भंग है, यह मैं जानता था। किन्तु उन्होने सहजता के साथ प्रश्न पूछा था, इसलिए मन में जो था, वह मैने साफ-साफ कह डाला। मगनलालभाई के प्रति मेरे मन में काफी आदर था, किन्तु उनके प्रति मेरे मन में कितना प्रेम था, इसकी मुझे भी ठीक कल्पना नही थी। बिहार में उनका देहान्त हुआ, यह खबर जब आश्रम में आई, मैं गांधी जी से मिलने गया और बच्चे की तरह रो पड़ा। गांधीजी को अपना मौन तोड़कर मुझे आश्वासन देना पड़ा।

आसपास का वातावरण

काका साहब की अनेक विषयों में रुचि और गति थी। उन्होने ज्ञानमात्र मेरा क्षेत्र है—(आल नॉलिज इज माई प्रोवीस) अपना जीवन-सूत्र बना लिया था। फलस्वरूप वे अनेक विषयों की जानकारी रखते थे। रोज कुछ-न-कुछ नया पढ़ते थे। उनके आसपास हमेशा नई-नई पुस्तकों का ढेर लगा रहता था। फिर अनेकानेक प्रश्नों पर स्वतन्त्र ढंग से सोचने का और उनके बारे में अपना मौलिक मत बनाने का उन्हे अभ्यास था। इसलिए वे जो-कुछ बोलते या लिखते-लिखाते वह हमेशा नया-सा और मौलिक प्रतीत होता था। उनकी इस विशेषता के कारण किशोरलाल भाई उन्हें ज्ञाननिधि—इन्साइक्लोपीडिया—कहते थे। वे लिखते हैं :

> मैं गांधीजी की शाला में सम्मिलित हुआ...थोड़े ही समय में मुझे मालूम पड़ गया कि अपने काम के अनुरूप ज्ञानकोश की खोज के लिए मुझे कहीं

भटकने की जरूरत नही है। काका साहब जीते-जागते ज्ञाननिधि थे। कोश में भी आवश्यक जानकारी का पता लगाने के लिए...बहुत मगजपच्ची करनी पड़ती हैं। जीता-जागता कोश पास में हो तो खोजने के लिए ऐसी परेशानी की जरूरत नही। वहा तो सिर्फ पूछने-भर की आवश्यकता रहती है।[1]

काका साहब ने अपने विद्यार्थियो मे न मालूम कितने विषयों की छून फैला दी थी। भूगोल-खगोल के अलावा भारत का प्राचीन इतिहास, उसकी सास्कृतिक धारा, उसके धर्मो की विविधता, उसकी स्मृतियो की खूबिया, उसकी राजनीति, अर्थनीति आदि कई विषयो मे उन्होने उनकी जिज्ञासा जगा दी थी।

आश्रमवासी काका साहब के घर का वातावरण किस तरह का था इसकी कुछ झलक उनके एक विद्यार्थी चन्द्रशकर शुक्ल की डायरी के एक पन्ने से मिलती है। वे लिखते है :

सुबह का आकाश किस तरह का था उसका वर्णन आज रात को काकी कर रही थी 'मै सुबह दूध लेने जा रही थी तब आकाश में बहुत सुन्दर दृश्य दिखाई दिया था। नरहरिभाई के घर से लेकर चन्द्रशंकरभाई के घर तक मानो एक दरिया फैला हुआ था। दरिया मे जहाज थे और एक किनारे पर एक महिला बच्चे को लेकर जहाज की मानो राह देख रही है, ऐसा मालूम पडता था।' इतना सुन्दर वर्णन सुनकर मुझे वाल्मीकि का स्मरण हुआ। और मैने वर्षा-वर्णन मे से आकाश-वर्णन का श्लोक सुना दिया—क्वचित् प्रकाश क्वचिद् अप्रकाश, क्वचित् प्रकीर्णाबु-धर विभाति-क्वचित्-क्वचित् पर्वत सनिरूद्ध, रूप यथा शान्त-महार्णवस्य। काकी तुरत कहने लगी, 'ओफफोह...इसमे तो मा के स्नेहार्द हृदय का वर्णन है। मा क्षण मे रोती है, क्षण मे राजी होती है। बच्चे को खुश देखकर प्रसन्न होती है—यह सब आकाश जैसा ही है।' कवित्व की यह झलक आह्लादक थी। इससे पहले एक दिन काकी ने आकाश का वर्णन किया था : सुबह-मानो ऋषि सध्या-पूजा करते हो, ऐसा मालूम होता है, दोपहर-मानो ब्राह्मण यज्ञयाग करते हो, ऐसा जान पड़ता है और संध्या तो साधु-सन्तो की होती है। काका साहब

1. कालेलकर अध्ययन ग्रन्थ सं० : उमाशकर जोशी।

कहने लगे, इस भव्य कल्पना-चित्र में पूरे भारतवर्ष के इतिहास का विकास-तत्व समाया हुआ है। भारत के इतिहास का प्रारम्भ ऋषि-मुनियों से हुआ। ब्राह्मणों का यज्ञयाग का जमाना बाद में आया, सन्तों के जमाने मे संध्या थी और अब तो हमारे ऊपर मानो घोर तिमिस्रा ही फैली हुई है।

काकी

काकी स्वतन्त्र विचार की थी। काका साहब के आदर्शों के प्रति उन्हें कोई विशेष आकर्षण नही था। कई आदर्शों के बारे में तो मतभेद भी था। दोनों के बीच जब बहस होती, तब काफी गरमाहट पैदा हो जाती थी। बाद में सब शांत हो जाता था। महादेवभाई देसाई ने लिखा है :

बहुत बड़े आदमी की धर्मपत्नी बनना जिनके भाग्य में लिखा हो, उनके नसीब मे बहुत सुख लिखा हुआ नही होता, ऐसा टालस्टाय-जैसों की गृहस्थी को देखकर कहा जा सकता है। काकी इस तथ्य को झूठा साबित करती है। जब काका ने गुजरात को चकाचौंध कर दिया था, तब भी काका-काकी की बातें, हंसी-मजाक और झगड़े मैने बहुत देखे है। एक बार काकी के सामने काका मुझे अपना समय-पत्रक बताने लगे। उसमें अमुक समय—एक घटे मे अधिक—काकी के साथ 'भाडण' (झगड़ा) करने के लिए दर्ज था। काकी उस समय तो बिगड़ी, पर बाद मे उसमें छिपे विनोद को समझ गई। दो गुण काका और काकी में समान है। दोनो भक्त है—काका अनेक वस्तुओं के, काकी काका की, परन्तु दोनों में अपना स्वत्व बनाए रखने की जिद पर्याप्त मात्रा में है। आठों पहर अपने चिंतन में मग्न, अद्भुत एकाग्रता के साथ एक विषय से दूसरे विषय में और दूसरे से तीसरे मे जाने वाले जीते-जागते ज्ञान-चक्र; अनेक मित्रों के अनेक प्रश्नों के उत्तर और स्पष्टीकरण देने वाले काका को किसी त्योहार के दिन, उदाहरणार्थ—नए वर्ष के दिन उनके घर जाकर देखें तो आप चकित रह जाएंगे। काकी काका को कुछ करने को कहेंगी, नहाने-धोने को कहेंगी, खाने-पीने को कहेंगी और उसी प्रकार सीधी रस्सी की तरह काका को करते हुए देखकर काकी और काका दोनों के चरण छूने की इच्छा हो जाती है।[1]

गांधीजी काकी की बड़ी कद्र करते थे।

1. संस्कृति के परिव्राजक : सं० श्रीमन्नारायण।

जिन दिनों काकी काका साहब के साथ आश्रम में भर्ती हुईं, आश्रम की महिलाओं में छूआछूत के प्रश्न को लेकर चकचक शुरू हुई थी। आश्रम में उन दिनों एक हरिजन परिवार दाखिल हुआ था। अन्य स्त्रियां तो दरकिनार, कस्तूरबा ने भी गांधीजी का इस विषय में विरोध किया था और गांधीजी को उनसे कहना पड़ा था : 'आश्रम में छुआछूत चल नहीं सकती। अगर तुम्हे यह भेदभाव रखना है तो तुम राजकोट जाकर रहो, मेरे साथ नहीं रह सकतीं।' काकी के मन मे स्पृश्या-स्पृश्य भेदभाव नही था। हरिजनो के साथ रहने में और उनके हाथ का खाने-पीने में उन्हें कोई एतराज नही था। काकी के स्वभाव की यह विशेषता देखकर गांधीजी बड़े खुश थे और उनकी बड़ी इज्जत करने लगे थे। साबरमती आश्रम में रसोई के काम मे जब किसी की मदद लेनी पड़नी थी, काका साहब आग्रहपूर्वक किसी अंत्यज की ही मदद लेते थे और काकी वह मंजूर कर लेती थी। काका साहब ने एक अंत्यज बच्चे को लाकर आश्रम में अपने यहां रखा था और काकी उसका अपने ही बेटे की तरह पालन-पोषण करती थीं। गांधीजी इन बातों की बड़ी कद्र करते थे। इसलिए काकी जब किसी प्रश्न को लेकर अपना मतभद व्यक्त करती थीं, गांधीजी काकी से मिलने उनके यहा आ जाते और उनके रसोई घर में बैठकर अपनी बात उन्हें समझाने लगते थे।

ऐसी ही एक महत्त्व की बहस गांधीजी और काकी के बीच शुरू-शुरू के दिनों में हुई थी।

यूरोप में उन दिनों पहला महायुद्ध चल रहा था और अंग्रेज इस युद्ध मे भारत के लोगों का सहयोग चाहते थे। इसलिए वायसराय ने कई पक्षों के कई नेताओं को दिल्ली में निमन्त्रित किया था। गांधीजी को भी निमन्त्रण मिला था। गांधीजी उन दिनों ब्रिटिश साम्राज्य से पूरे विच्छेद के पक्ष में नहीं थे। वे कहते थे कि हम चाहें या न चाहें ब्रिटिश साम्राज्य के हम नागरिक हैं ही। यह हकीकत है और हकीकत से इंकार नहीं किया जा सकता। अपनी तेजस्विता छोड़े बिना हम ब्रिटिश साम्राज्य को उसके संकट के समय मदद कर सकते हैं। उनकी यह भूमिका थी। इसलिए उन्होंने वायसराय को मदद का वचन दिया और गुजरात में रंगरूट भर्ती करने का काम अपने सिर पर ले लिया। आश्रमवासियों के सामने

जब उन्होंने यह बात रखी तब काका साहब ने कहा, आपकी भूमिका मुझे पसन्द नहीं आई। किन्तु आप हमारे नेता हैं, आप वायसराय को वचन दे चुके है। इस वचन का पालन करना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है, इसलिए मैं अपना नाम दर्ज करा देता हूँ।

उन्होंने अपना नाम दर्ज करा दिया।

काकी को जब यह खबर मिली, वह गुस्से से आगबबूला हो गई। बोली, क्या, काका साहब अंग्रेजों के पक्ष में लड़ेंगे? मैं तो यह बात सह भी नहीं सकती, मैं उन्हें नहीं जाने दूंगी।

गांधीजी को काकी के गुस्से की खबर मिली, तब वे उनसे मिलने के लिए आए। काकी ने उनसे कहा, आप यह न मानें कि मैं कायर हूं। मेरा नाम लक्ष्मी है। मैंने झांसी की लक्ष्मीबाई की जीवनी पढ़ी है। काका साहब जब कालिज में पढ़ते थे और अंग्रेजों के खिलाफ षड्यन्त्रों में शामिल हुए थे, तभी से मैंने यह समझ लिया है कि वे किसी-न-किसी दिन पकड़े जाएंगे और सम्भवतः फांसी के तख्ते पर भी लटकाए जाएंगे। तभी से मैं अपने मन को यह भी समझाती आई हूं कि एक-न-एक दिन तुझे विधवा होने की तैयारी करके रखनी चाहिए। आज भी आप उन्हे अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने भेज देंगे तो मैं न आपको रोकूंगी, न उनको। उन्हें खुशी से जाने दूंगी। यही नहीं, अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने के लिए मैं शंकर और बाल अपने दोनों बेटों को भी भेज दूंगी। अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने-लड़ते वे अपने प्राण खो दें तो भी मैं नहीं रोऊंगी। पर, यह क्या? अंग्रेजों के पक्ष में लड़ने के लिए काका साहब जाएंगे? यह कैसे सम्भव है? मैं तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकती। मेरे लिए यह असह्य है।

गांधीजी ने उन्हें लाख समझाया पर काकी ने उनकी एक भी न मानी।

यह बात अलग है कि काका साहब को अंग्रेजों के पक्ष में लड़ना ही नही पड़ा, क्योंकि परिस्थिति बदल गई थी। जर्मनी का पक्ष निर्बल हो गया था और अंग्रेजों को अब भारतीयों की मदद की जरूरत नहीं थी। काका साहब कहते हैं :

सन् 1930 में गांधीजी ने जब नमक सत्याग्रह शुरू किया, तब काकी नहीं

थीं। वह एक साल पहले चल बसी थी। शंकर उन दिनों बम्बई में पढ़ रहा था। मैंने उसे पत्र लिखा और यह बात याद दिलाकर कहा कि तुम्हारी मां ने बापू को ऐसा कहा था। परीक्षा छोड़कर तुम अगर बापू की मेना में भर्ती हो जाओगे तो काकी की आत्मा को शान्ति मिलेगी। मैं तो अपने को बहुत धन्य समझूगा। मेरा पत्र मिलने से पहले ही शकर ने परीक्षा छोड़कर बापू की सेना मे भर्ती होने का निर्णय ले लिया था। शंकर और बाल दोनो ने इस युद्ध मे हिस्सा लिया था। मुझे विश्वास है कि यह देखकर काकी की आत्मा को बहुत ही प्रसन्नता हुई होगी।[1]

गांधी-विचार के व्याख्याता

इस बीच गाधीजी ने अहिंसा की सफलता के तीन सफल प्रयोग करके समूचे राष्ट्रवादी भारत का ध्यान अपनी ओर खीच लिया था। चम्पारण का सत्याग्रह, खेड़ा जिले का सत्याग्रह और अहमदाबाद के मिल मजदूरों की हड़ताल—ये तीनो प्रयोग हालांकि छोटे पैमाने पर किए गए थे, पर सत्याग्रह की अमोघता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त थे।

सन् 1919 मे सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाकर तो गाधीजी ने मानों देश के राजनीतिक जीवन मे एक चमत्कार ही करके दिखाया. ब्रिटिश साम्राज्य से भी खतरनाक जो डर का साम्राज्य देश मे दृढ़मूल हुआ दिखाई देता था, उसे भारतीय जनता ने जड़मूल से उखाड़ कर फेंक दिया। अब देश में एक छोटे-से-छोटा बच्चा भी ब्रिटिश राज्य को शैतानी राज्य कहकर कही पर भी खुले आम घूम सकता था। काका साहब कहते है :

अंग्रेजो को हटाने की कोशिश हमने 1857 से लेकर 1907 तक की। हमारी चद कोशिशे ऐसी थी कि उनके कारण अंग्रेजों का राज्य हटने के बदले मजबूत ही अधिक हुआ। 1915 तक के समय मे हम इस नतीजे पर पहुंचे थे कि जिस रास्ते से हम जा रहे है, वह राष्ट्र को मंजिल तक नही ले जाएगा। हमने युद्ध का रास्ता आजमाकर देखा, प्रार्थना-विनय का रास्ता आजमाया, औद्योगिक प्रगति का मार्ग अपनाकर देखा, सामाजिक सुधार के

1. लेखक के साथ बातचीत से

आन्दोलन चलाए, धर्मनिष्ठा बढ़ाने की कोशिशे की। इधर-उधर बम फेके, पिस्तौले चलाई...यानी, एलोपैथिक दवाइया की, यूरोपियन डाक्टरो को बुलाया, सिविल सर्जन को ले आए, आयुर्वेदिक दवाए ली, होमियोपैथिक आजमाकर देखी, मत्र-तत्र किए, गृह-शान्ति के लिए अनुष्ठान बिठाए, पीर और औलियो की सहायता ली किन्तु किसी से भी लाभ नही हुआ। इतने मे एक साधु आया। उसने जगल की एक जड़ी-बूटी दी। परहेज मे नमक न खाने को कहा और मरीज देखते-ही-देखते अच्छा हो गया। ऐसी कुछ बात हमारे राजनीतिक जीवन मे घटी। गाधीजी आए और उन्होने एक सीधा सरल रास्ता दिखाया। लोग कहने लगे, आजतक हमने सयाने लोगो के सब इलाज आजमाए है। अब चलो इस साधु का इलाज आजमाकर देखे। गाधीजी अपना कार्यक्रम लेकर आसेतु हिमालय घूमते रहे और देखते-देखते उनके हृदय का तार राष्ट्र-हृदय के तार के साथ एकराग हो गया। असल मे दोनो हृदय एक थे—एक जागृत हृदय था तो दूसरा मुग्ध हृदय था। चिराग से चिराग जलता है, यह न्याय यहा चरितार्थ हुआ।[1]

इससे पहले किसी भी राष्ट्रवादी नेता ने देश के सामने ऐसा कोई कार्यक्रम नही रखा था, जिसमे छोटे-से-छोटा आदमी भी अपना योगदान दे सके। गाधीजी ही पहले नेता थे, जिन्होने ऐसा एक कार्यक्रम लोगो के हाथ मे दिया, जिसे अमल मे लाने के लिए न वकील बनने की आवश्यकता थी, न भाषण देने की योग्यता हासिल करने की जरूरत थी, न ही गोपनीयता की शपथ लेकर बम फेकने की या पिस्तौल चलाने की जरूरत थी। दिल मे स्वराज्य की तमन्ना हो, उसे खुले आम व्यक्त करने की हिम्मत हो, बस, इतना ही पर्याप्त था। कोई भी आदमी यह कार्यक्रम अमल मे ला सकता था। फलस्वरूप प्रार्थना अनुनय, विनय, निवेदन, निषेध के दिन यकायक खत्म हो गए और देश के इतिहास मे साहस और बलिदान का एक नया अध्याय शुरू हुआ। सविनय अवज्ञा आन्दोलन और उसके बाद तुरन्त शुरू हुए असहयोग आन्दोलन में एक लोकोत्तर सेनानी के रूप मे गाधीजी के व्यक्तित्व का जो पहलू ऊभर आया, उससे काका साहब बेहद मोहित हुए। वे अपने पुराने क्रान्तिकारी साथियो को समझाने लगे, देखिए, यह अहिसा जैनियो

1. लेखक के साथ बातचीत से।

या वैष्णवों की परम्परा की नही है। यह अहिंसा का नया अवतार है। यह बिलकुल अनोखी—आम जनता में, बालकों और स्त्रियों में भी—क्षात्रतेज प्रकट करने वाली अहिंसा है। इसकी खूबी अगर हम समझ न सकें तो हम दकियानूसी सिद्ध होगे। मारकाट और खून-खराबी के संस्कार हमारी जनता में नही है। इसे आप चाहे जनता के स्वभाव का ढीलापन कहें, चाहे हमारी संस्कृति की ऊंचाई कहें, इसमे इंकार नही किया जा सकता। इस स्वभाव मे गाधीजी हमारी सस्कृति की महत्ता देखते है। इसलिए अपनी जनता की सस्कृति के अनुरूप उन्होंने लड़ाई का यह एक नया तरीका खोज निकाला है। उनका मार्ग चाहे श्रेष्ठ हो, चाहे न हो, हमारी जनता के लिए वह अनुकूल है, इतना तो सिद्ध हो ही चुका है। इसीलिए हम क्रान्ति मे विश्वास रखने वाले जो कर न सके, वह गाधीजी ने करके दिखाया है। वह सारे देश को लड़ने की प्रेरणा दे सके; सारे देश मे क्षात्रतेज जगा सके; किसी की हत्या किए बिना, किसी मकान को जलाए बिना, किसी पुल को उड़ाए बिना सरकार का काम बिलकुल रोक देना, क्या मामूली करामात है?

गाधी विचार के एक समर्थ व्याख्याकार के रूप में काका साहब अब बडी तेजी से आगे बढ़ रहे थे। जिस अभिनिवेश के साथ वे गाधीजी की कृतियो और विचारो का समर्थन करते थे, उसे देखकर मित्रो को कभी-कभी लगता था कि काका साहब अपनी मौलिकता छोड़कर गाधीजी के अंध भक्त तो नहीं बन गए है?

आश्रम मे शामिल हुए तब से असहयोग के समय तक के वर्षों मे गाधीजी जब-जब आश्रम मे आते, काका साहब उनसे समय माग लेते और जीवन के तरह-तरह के प्रश्न उनके सामने रखकर उनकी दृष्टि समझने की कोशिश करते थे। आस-पास की दुनिया समझ रही थी कि काका साहब गांधीजी के अंध भक्त बन गए हैं, तो गाधीजी देख रहे थे कि वे बिलकुल स्वतन्त्र विचार के हैं और जो-कुछ स्वीकार करते है, जांच-परखने के बाद स्वीकार करते है। गाधीजी की दृष्टि समझने की कोशिश करते-करते यह जीवन-दृष्टि काका साहब की अपनी जीवन-दृष्टि बन गई थी और जीवन के सभी प्रश्नों की ओर वे इसी दृष्टि से देखने लगे थे।

पुराने साथियो में से जिन्हें वे गाधीजी की दृष्टि समझाने में कामयाब हुए; उनमें एक गंगाधरराव देशपांडे थे। लोकमान्य के साथियों मे गंगाधररावजी का बड़ा ऊंचा स्थान था। लोकमान्य की मृत्यु के बाद वे साबरमती आश्रम मे आकर कुछ दिन रहे और जब लौटे, पूना मे लोकमान्य के मुख्यालय गायकवाड वाड़े मे उन्होने यह जाहिर कर दिया कि अब मै पूरा-पूरा गाधीजी का हो गया हू। काका साहब ने मेरा मतपरिवर्तन कर डाला है।

यहा इतना बता देना आवश्यक है कि गंगाधरराव-जैसे प्रभावशाली साथी को गाधी सम्प्रदाय मे खीचकर ले जाने का काका साहब ने जो 'अपराध' किया उसे पूना के तिलकपंथी न कभी भूल सके, न ही वे काका साहब को क्षमा कर सके। महाराष्ट्र मे काका साहब अप्रिय हो गए, इसके अन्य कई कारणो मे यह एक बडा कारण था।

गुजरात विद्यापीठ को स्थापना

भले ही सविनय ढग से पर जब लोगो को सविनय अवज्ञा करने को कहा गया, लोगो मे जो हिंसा छिपी हुई थी उसका उद्रेक हुआ। आन्दोलन अहिंसा की मर्यादा मे नही रह सका। गाधीजी को सत्याग्रह का प्रयोग तो करना ही था और साथ-साथ लोगो को अहिंसा की मर्यादा मे भी रखना था। सोचते-सोचते उन्हे एक इलाज मिल गया। उन्होने अपने आन्दोलन को व्यापक असहयोग का रूप दे दिया। सरकारी उपाधियो और पदों को छोड दें, सरकारी दरबारो, स्वागत-समारोहों और उत्सवो मे हिस्सा लेने से इकार कर दे, सरकारी नौकरियो से इस्तीफा दे दें। सरकारी स्कूलो और कालिजों का बहिष्कार करे, कौसिलो के चुनावो और सभी प्रकार के विदेशी माल का बहिष्कार करें—इस तरह का यह एक उग्र कार्यक्रम था। ऊपर से देखने पर वह नकारात्मक मालूम होता था, पर असल मे वह रचनात्मक कार्यक्रम था। क्योकि जहा कुछ तोड़ा जा रहा था, वहा कुछ निर्माण भी किया जा रहा था। अदालतों की जगह पंचायते; सरकारी स्कूलो, कालिजों की जगह राष्ट्रीय शालाएं और विद्यापीठ खड़े किए जा रहे थे। विदेशी माल के बहिष्कार के साथ-साथ खादी ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन दिया जा रहा था। जाग्रत जनता के सहयोग से राष्ट्र संगठित करने का यह एक प्रभावशाली कार्यक्रम था। इस कार्यक्रम के कारण देश का वातावरण एकदम गरम हो गया।

सितम्बर 1920 मे कलकत्ते मे काग्रेस का अधिवेशन होने वाला था और इस अधिवेशन मे असहयोग के कार्यक्रम के बारे मे विचार होने वाला था। इससे पहले ही अगस्त मे 27-28 और 29 को अहमदाबाद मे अब्बास तैयबजी की अध्यक्षता मे गुजरात राजनीतिक परिषद् का चौथा अधिवेशन हुआ था। इस अधिवेशन मे गुजरात के उत्साही नेता इन्दुलाल याज्ञिक के आग्रह से गुजरात के लिए गुजरात विद्यापीठ नामक एक स्वतन्त्र यूनिवर्सिटी स्थापित करने का एक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। प्रस्ताव मे कहा गया था :

(1) यह परिषद मानती है कि अग्रेज सरकार द्वारा इस देश मे जारी की गई शिक्षा-पद्धति हमारे देश की सस्कृति और परिस्थिति के प्रतिकूल और अव्यवहारिक भी सिद्ध हुई है। इसलिए विद्यार्थियो को स्वदेशाभिमानी, स्वाश्रयी और चरित्रवान भारतीय बनाने के लिए परिषद् यह आवश्यक समझती है कि सरकार से अलग स्वतन्त्र राष्ट्रीय शालाए खोलना जरूरी है।

(2) इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए—खासतौर पर गुजरात मे—परिषद यह भी आवश्यक समझती है कि राष्ट्रीय सिद्धान्तो के अनुसार शालाए, महाविद्यालय, उद्योग शालाए, आयुर्वेदिक आरोग्य शालाए खोली जाए और इनके कार्य मे समन्वय स्थापित करने के लिए गुजरात विद्यापीठ (यूनिवर्सिटी) की भी स्थापना की जाए।

इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए परिषद ने जो समिति नियुक्त की उसमे गुजरात के प्रमुख दस नेताओ के साथ सत्याग्रह आश्रम की राष्ट्रीय शाला के काका साहब और किशोरलालभाई इन दो शिक्षको का भी समावेश कर दिया गया। यही नही, किशोरलालभाई की तो इन्दुलाल याज्ञिक के साथ समिति के सयुक्त सचिव के रूप मे नियुक्ति की गई।

इतनी जल्दी विद्यापीठ स्थापित करने के पक्ष मे काका साहब नही थे। वे तो नीचे से काम करते-करते धीरे-धीरे ऊपर तक पहुचकर शिखर के रूप मे विद्यापीठ स्थापित करनी चाहिए, इस राय के थे। पर गुजरात राजनीतिक परिषद् जाग्रत गुजराती जनता की प्रतिनिधि सस्था थी। वह सर्वानुमति से प्रस्ताव स्वीकृत करे और एक समिति भी नियुक्त करे—विचार करके योजना पेश करने के

लिए नहीं, बल्कि योजना तैयार करके उसे कार्यान्वित करने के लिए—तब पीछे हटना काका साहब के स्वभाव में नहीं था। इधर स्वराज्य का झण्डा हाथ में लेकर गांधीजी लोगों से कह रहे थे :

> अगर ताकत है तो सरकार को सहयोग देना छोड़ दो। सरकारी नौकरियां, सरकारी शालाएं, सरकारी अदालतें सब छोड़कर बाहर आ जाओ। सरकार से सभी सम्बन्ध तोड़कर उससे सम्पूर्ण असहयोग करो...।
>
> जिसमे मरने की ताकत है, वही तलवार हाथ मे लेता है। तलवार हाथ में कायर नही लेता, बहादुर ही लेता है, क्योंकि वह मरना जानता है। असहयोग करके भी हमे मरना ही है। यह कुर्बानी का रास्ता है। सरकार से कह दो कि वह चाहे हमें जेल मे रखे, चाहे फासी पर लटका दे, हमारा सहयोग अब आपको मिलने वाला नही है। लश्कर मे, कोर्ट कचहरी मे, शालाओं, कॉलिजो मे कही पर भी हमारा आपको सहयोग मिलने वाला नही है। हमारा सहयोग अब आपको जेल मे मिलेगा। फासी के तख्ते पर मिलेगा। ...मै अब बागी बन गया हूँ। मै इस शैतान सरकार के खिलाफ बगावत में खडा हूँ...।

इस वातावरण मे गुजरात राजनीतिक परिषद के प्रस्ताव को काका साहब ने गुजरात की जनता की आज्ञा मानी और उसे शिरोधार्य कर किशोरलालभाई के साथ उन्होंने सारे गुजरात का भ्रमण किया और गुजरात की प्रमुख शिक्षा संस्थाओं को विद्यापीठ के साथ जोड दिया। फलस्वरूप चरोत्तर की एजूकेशन सोसायटी, भावनगर की 'दक्षिण मूर्ति', अहमदाबाद की विख्यात 'प्रोप्राइटरी हाई स्कूल' जैसी कई संस्थाएं विद्यापीठ मे सलग्न हो गईं।

और 18 अक्तूबर 1920 के दिन गुजरात विद्यापीठ की विधिवत स्थापना भी कर डाली गई।

देश की इस सर्वप्रथम सरकार-मुक्त स्वतन्त्र यूनिवर्सिटी के प्रथम कुलपति गांधीजी बने।

काका साहब, किशोरलालभाई और नरहरिभाई तीनों ने मिलकर विद्यापीठ

का संविधान बनाया। यह संविधान बनाते समय सविधान-सम्बन्धी सभी पर्यायी शब्द काका साहब ने ढूढे। इनमे से कई शब्द सर्वथा नवनिर्मित थे। काका साहब की शब्द-रचना शक्ति का विद्यापीठ के संविधान की परिभाषा में पहली ही बार परिचय मिला। कुमार मन्दिर (प्राइमरी स्कूल), विनय मन्दिर (हाई स्कूल), महाविद्यालय (कालिज), विनीत (अन्डर ग्रेजुएट), स्नातक (ग्रेजुएट), कुलपति (चासलर), कुल नायक (वाइस चासलर), महामात्र (रजिट्रार), निधि मण्डल (बोर्ड आफ ट्रस्टीज), नियामक सभा (सीनेट) आदि शब्द आज जो चिरपरिचित से लगने हे, सभी काका साहब के बनाए हुए है। विद्यापीठ का ध्यानमन्त्र 'सा विद्या या विमुक्तये' और विद्यापीठ की मुहर पर अंकित वटवृक्ष तथा कमल भी काका साहब की ही सूझ के परिणाम है। संविधान की धारा और उपधाराओ की भाषा संवारने मे काका साहब ने किशोरलालभाई के साथ काफी परिश्रम किया। सविधान का मसौदा जब गाधीजी के पास भेजा गया, उन्हें वह बहुत पसन्द आया। लगभग उसी रूप मे उन्होने उसे मंजूर किया और राष्ट्रीय शिक्षा मण्डल ने भी उसे ज्यो-का-त्यो पारित कर दिया। विद्यापीठ के ध्यानमन्त्र 'सा विद्या या विमुक्तये' की काका साहब ने कितनी सुन्दर व्याख्या की! वे लिखते है:

> मनुष्य बद्ध है। कुवासनाओ से घिरा हुआ है। परिस्थिति से जकड़ा हुआ है। इसलिए उसकी आत्मा दब गई है। विकास के लिए उसे अवकाश नही मिलता। इन सब बन्धनों से जो मुक्त करती है, वही सच्ची विद्या है। जो शरीर को रोग और दुर्बलताओं से मुक्त करे, बुद्धि को अज्ञान और गलत ख्यालों से मुक्त करे, हाथ-पाव और कर्मेन्द्रियो को जड़ता से मुक्त करे, मन को लालच, भय और क्षुद्र स्वार्थ-जैसी कुवासनाओं से मुक्त करे, हृदय को कठोरता से और गलत मनोभावों से मुक्त करे, पूरे मनुष्य को, मनुष्य समाज को, प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, बौद्धिक आदि सभी दास्यों से मुक्त करे, शक्ति को मद से मुक्त करे, आत्मा को कृपणता से और अहंकार से मुक्त करे, वही विद्या है।

प्रारम्भ में ही संचालकों के सामने एक महत्त्व का प्रश्न उपस्थित हुआ। वे आपस में पूछने लगे कि क्या यह विद्यापीठ केवल गुजरात के लिए है या समूचे

भारत के लिए है ? इसका स्वरूप क्या केवल गुजराती रहे या अखिल भारतीय रहे ? चूकि यह देश का पहला ही जनता के द्वारा स्थापित सरकार-मुक्त राष्ट्रीय विद्यापीठ था और चूकि असहयोग के कारण सरकारी कालिजो का बहिष्कार करके जो विद्यार्थी बाहर आए थे उन्हे उपाधिया देने का काम विद्यापीठ ने पहले ही वर्ष किया था—और ये विद्यार्थी केवल गुजरात के नही थे, गुजरात के बाहर के कई प्रदेशो के भी थे—इसलिए कइयों का केवल अभिप्राय ही नही, बल्कि आग्रह भी था कि विद्यापीठ का स्वरूप न केवल अखिल भारतीय रहे, बल्कि उसकी शिक्षा का माध्यम भी हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही रहे।

काका साहब कहने लगे, हमारा शिक्षा विषयक आदर्श तो भारतीय ही होगा। शिक्षक भी वृत्ति मे अखिल भारतीय ही होगे, पर विद्यापीठ का माध्यम तो गुजराती ही होना चाहिए। भले ही यह पहला राष्ट्रीय विद्यापीठ हो। वह राष्ट्र का एकमेव विद्यापीठ नही है। इसके अनुकरण मे—या इससे प्रेरणा पाकर—देश मे जगह-जगह ऐसे ही राष्ट्रीय विद्यापीठ खोले जाएगे और खोले जाने भी चाहिए। इन सब विद्यापीठो का माध्यम हर एक प्रदेश की भाषा होगी, होनी भी चाहिए। किसी भी प्रदेश में उसकी प्रमुख प्रादेशिक भाषा को दोयम स्थान नही मिलना चाहिए। प्रमुख स्थान का उसका अधिकार हमे मंजूर करना चाहिए। गुजरात विद्यापीठ को मुख्य रूप मे गुजरात प्रदेश की ही सेवा करनी है। इसलिए इसका माध्यम गुजराती ही होगा। द्वितीय भाषा के रूप में नीचे से ऊपर तक हिन्दी को अत्यन्त आदर का स्थान हम देंगे। अंग्रेजी के लिए भी एक कोना सुरक्षित रखेंगे, क्योकि यह अत्यन्त उपयोगी और सर्वत्र फैली हुई एक समर्थ भाषा है। पर, गुजरात विद्यापीठ का वाहन नीचे से ऊपर तक गुजराती ही होगी।

मजे की बात है : गुजरात विद्यापीठ के संचालक सभी गुजराती थे, पर सभी हिन्दी के पक्ष में थे और महाराष्ट्रीय काका साहब अकेले गुजराती के पक्ष में थे। हिन्दी के पक्ष में प्रचण्ड बहुमत था, पर काका साहब अपने आग्रह में अडिग रहे। अन्तिम निर्णय के लिए जब प्रश्न गांधीजी के पास गया, तब उन्होने फैसला दिया कि काका साहब जो कहते हैं, वही दुरुस्त है। गुजरात विद्यापीठ का माध्यम गुजराती ही रहेगा। गुजरात के बाहर का जो विद्यार्थी इस विद्यापीठ में

पढ़ने के लिए आएगा, उसे गुजराती में ही पढ़ना होगा। गुजराती पढ़ाने का उसके लिए अलग प्रबन्ध किया जाएगा। गुजराती के बाद हिन्दी या हिन्दुस्तानी आएगी और हिन्दी के बाद अंग्रेजी आएगी।

इस निर्णय से काका साहब के लिए वातावरण अनुकूल बन गया।

दिल्ली के रामजस कालिज के प्रिंसिपल असूदमल गिडवाणी से गांधीजी की पहले ही बातें हो चुकी थीं। विद्यापीठ का महाविद्यालय शुरू होते ही गांधीजी ने उन्हें बुला लिया और विद्यापीठ की पतवार उनके हाथ में सौंप दी।

एक छोटा-सा मकान किराये पर लेकर महाविद्यालय शुरू कर दिया गया था। पहले ही दिन जो 59 विद्यार्थी उसमें भर्ती हुए थे, उनके सामने बोलते हुए गांधीजी ने कहा :

> कहां गुजरात कालेज और कहां हमारा यह छोटा-सा महाविद्यालय। पर मेरी दृष्टि में यही बड़ा विद्यालय है। आपकी दृष्टि में हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े कालिजों के सामने यह महाविद्यालय अणु विद्यालय के जैसा शायद दीख पड़े। इस विद्यालय के बारे में सोचते समय आपके मन में ईंट और चूने से बने कालिजों से इसकी तुलना होती होगी। ईंट और चूना तो मैं गुजरात कालिज में ही अधिक देखता हूं। हिन्दुस्तान की आज की परिस्थिति में हम जो कार्य कर रहे हैं, वही शोभा देता है। मकानों के साथ क्या तुलना? ...हम इस विद्यालय की प्रतिष्ठा विद्या की दृष्टि से नहीं, बल्कि राष्ट्रीय दृष्टि से करते हैं। विद्यार्थियों को बलवान और चरित्रवान बनाने के लिए यह विद्यालय है। आपके मन में मेरे प्रति जितनी श्रद्धा है उतनी ही श्रद्धा से आप अपने अध्यापकों की ओर देखें। आप अगर अपने अध्यापकों और आचार्य को बलहीन देखें तो प्रह्लाद की तरह अपने तेज से उनको भस्म कर डालें। ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है और विद्यार्थियों को मेरा यही आशीर्वाद है।[1]

सभी विद्यार्थी असहयोगी थे, सरकारी कालिजों को छोड़कर आए थे। कइयों को तो सरकारी कालिजों में होशियार विद्यार्थियों के रूप में प्रतिष्ठा मिली थी।

---

1. केलवणी वड़े क्रान्ति—विट्ठलदास कोठारी।

देश का माहौल ही ऐसा था कि सभी जो-कुछ करते थे बड़े उत्साह के साथ करते थे, सभी मस्ती में थे। एक नई और विशाल दुनिया उनके सामने खुल गई थी। विद्यार्थियों और अध्यापकों के बीच एक निकट का सजीव सम्बन्ध स्थापित हो गया था। महाविद्यालय का अभ्यासक्रम राष्ट्रीय महत्त्वकांक्षाओं और राष्ट्रीय आदर्शों के अनुरूप बनाया गया था।

काका साहब एक अध्यापक के रूप में महाविद्यालय में पढ़ाने लगे। कभी भारतीय अर्थशास्त्र पढ़ाते थे तो कभी इतिहास, कभी धर्मशास्त्र पढ़ाते तो कभी उपनिषद।

बंगला भाषा के लिए जब तक कोई अध्यापक नहीं मिला, तब तक वे बंगला भाषा भी पढ़ाते रहे।

पर उनके इन सब वर्गों से विशेष महत्त्व के थे, उनके प्रार्थना-प्रवचन। विद्यारम्भ से पहले विद्यालय में रोज प्रार्थना हुआ करती थी। प्रार्थना के बाद काका साहब का एक छोटा-सा आठ-दस मिनट का प्रवचन होता था। पर वह विद्यार्थियों के दिलों को छू जाता था। उन्हें असन्तुष्ट और बेचैन करता था। जीवन में कुछ-न-कुछ करके दिखाने की महत्त्वाकाक्षा उनमें जाग्रत करता था। विद्यार्थियों को ये प्रवचन प्रेरणादायक प्रतीत होते थे। इसलिए जो विद्यार्थी प्रार्थना में जाना पसन्द नहीं करते थे, वे भी प्रवचनों के आकर्षण से प्रार्थना में हाजिर रहते थे। राष्ट्र-निर्माण की उत्कट लगन जिसे लगी हो, उसे काका साहब उन दिनों एक प्राणपूजक देशभक्त की मूर्ति के समान लगते थे।

विद्यापीठ के दो विभाग ऐसे थे जिनमे काका साहब की विशेष रुचि थी। एक था विद्यापीठ का पुस्तकालय और दूसरा उसका पुरातत्व विभाग। पुस्तकालय के बारे में उनकी महत्त्वाकांक्षा थी कि वह आक्सफोर्ड के बोडलियन पुस्तकालय जैसा होना चाहिए और पुरातत्त्व विभाग के बारे मे उनकी यह महत्त्वाकांक्षा थी कि प्राच्य-विद्या की खोज का देश में यह सबसे बढ़िया केन्द्र बनना चाहिए। भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिए उन्हें तरह-तरह के साधन इकट्ठा करने थे। इस काम में और खोज-कार्य में मौलिक योगदान दे सकें ऐसे पं० सुखलालजी, मुनी जिनविजयजी, पं० बेचरदास जोशी और पं० धर्मानन्द कोसाम्बी-जैसे

विद्वानों को वे पुरातत्व मन्दिर में ले आए थे। इनमें से पहले तीन जैन संस्कृति के विद्वान थे, तो अन्तिम बौद्ध विद्या के प्रकांड पंडित थे।

इस प्रकार विद्यापीठ का कार्य बड़े उत्साह के साथ शुरू हुआ। शिक्षा कार्य अच्छी तरह से चलता रहा। पर...दुर्भाग्य से उसके संचालकों के बीच कुछ खींचातानी शुरू हो गई। उनमें एकरसता नहीं रह पाई। गिडवाणी जी विद्यापीठ के आचार्य थे। वह अंग्रेजी में अच्छे व्याख्यान देते थे। उनके व्याख्यानों के प्रभाव में गुजरात के दो बड़े राजनीतिक नेता आ गए। एक थे, वल्लभभाई पटेल और दूसरे, अम्बालाल साराभाई। शुरू-शुरू में गिडवाणीजी का काका साहब को अच्छा सहयोग मिला। पर बाद में जब वल्लभभाई और अम्बालालभाई से उनकी घनिष्ठता बढ़ी, उन्होंने काका साहब को छोड़ दिया। काका साहब का ध्यान महाविद्यालय के भाषा विभाग में और उसके पुरातत्त्व विभाग में विशेष रूप से केन्द्रित हुआ था। रामनारायण पाठक, रसिकलाल परीख, पं० सुखलालजी, पं० बेचरदासजी, धर्मानंदजी जैसे विद्वानों के बीच उनका उठना-बैठना अधिक चलने लगा। तब, गिडवाणीजी के मन में कुछ गलतफहमी पैदा हो गई। काका साहब ने उनका कुछ रूखा रुख देखा, तब उन्हें लगा, मुझे इनके साथ स्पर्धा में उतरना नहीं है। इससे बेहतर यह है कि मैं आश्रम की शाला में वापस लौट जाऊं। उन्होंने अपनी यह इच्छा गांधीजी के सामने प्रकट की और कहा : 'गुजरात की जनता ने मेरी सेवा मांगी, वह मैंने दी। आपके आदर्शों के अनुसार विद्यापीठ खड़ा किया। अब विद्यापीठ का काम मेरे बिना भी चल सकता है। मैं आश्रम की शाला में लौट जाना चाहता हूं।'

गांधीजी की मंजूरी मिलते ही काका साहब विद्यापीठ के काम से मुक्त होकर आश्रम की शाला में लौट आए।

पर विद्यापीठ से पूर्ण रूप से अलग नहीं हुए। उसकी नियामक समिति के सदस्य बने रहे। पुरातत्व मन्दिर की समिति में भी रहे और उसके कार्य में दिलचस्पी लेते रहे। विद्यार्थियों और अध्यापकों के साथ तो उनका सम्बन्ध बराबर बना रहा। आश्रम में रहने पर भी वे हमेशा विद्यापीठ के अध्यापकों और विद्यार्थियों से घिरे रहते थे। उन्हें सलाह देते थे और प्रेरणा भी। एक तरह से वे

समूचे गुजरात के नौजवानों के मित्र, शिक्षक और सलाहकार बन गए थे। व्यक्तिगत बातचीत और पत्र-व्यवहार के माध्यम से वे गुजरात की एक पूरी पीढ़ी को प्रभावित करते रहे।

पत्रकारिता की दीक्षा

सन् 1922 में गांधीजी गिरफ्तार कर लिए गए। उन्हें छह साल के कारावास की सजा दी गई। अपने विचारों और गतिविधियों से लोगों को परिचित रखने के लिए गांधीजी दो साप्ताहिक पत्रिकाएं चलाते आए थे। एक थी, 'यंग इन्डिया,' और दूसरी 'नवजीवन'।

दोनों के व्यवस्थापक स्वामी आनन्द थे।

काका साहब और स्वामी का सम्बन्ध इतना निकट का था कि दोनों में से कोई एक जो प्रवृत्ति हाथ मे लेता, वह अपने आप दोनों की हो जाती थी। गांधीजी चाहे जितने व्यस्त रहे हो, चाहे कही गए हों, यंग इन्डिया और नवजीवन के लिए कुछ-न-कुछ लिखकर वे नियमित रूप से भेज ही देते थे। लेख भेजने में महादेव भाई भी नियमित थे। पर कभी मैटर कम पड़ जाता, तब स्वामी काका साहब से लेख की मांग करने और स्वामी की माग को हुक्म मानकर काका साहब कुछ-न-कुछ लिख देते थे। स्वामी कहते थे : 'एक हुक्म की कुदाली मारी नहीं कि काका की खान से रत्न निकल पड़ते हैं।' स्वामी के कारण काका साहब 1919 से ही नवजीवन में लिखने लगे थे। तभी से उनकी प्रतिभा की चमक की ओर गुजरात की जनता का ध्यान आकर्षित हुआ। अपनी टूटी-फूटी गुजराती में वे लिखवाते और लिखते समय स्वामी उनकी भाषा सुधार लेते। इस तरह शुरू-शुरू में दोनों का सहयोग चला। पर 1920 से काका साहब स्वतन्त्र रूप से गुजराती में लिखने लगे।

इसी वर्ष अहमदाबाद में गुजराती साहित्य परिषद् का अधिवेशन हुआ था। उसमें मुख्य अतिथि के रूप में रवीन्द्रनाथ उपस्थित थे। उस समय रवीन्द्रनाथ के विभूतिमत्व के सम्बन्ध में काका साहब ने एक लम्बा लेख लिखा। उनकी कलम से निकला हुआ यही प्रथम गुजराती लेख है। इसके बाद उन्होंने आश्रम की हस्तलिखित पत्रिका के लिए अपनी हिमालय की यात्रा के संस्मरण लिखवाना शुरू

किया और गुजराती भाषा के एक सशक्त लेखक के रूप में प्रतिष्ठा पाई। काका साहब कहते हैं :

> मै गुजराती में लिखने लगा इसका श्रेय दो को जाता है। एक, आश्रम के विद्यार्थियों को, जिन्होने मुझे गुजराती भाषा की खूबिया सिखाई और दूसरा स्वामी को, जिन्होंने मुझे लिखने के लिए प्रवृत्त किया और मेरा आत्म-विश्वास बढाया।[1]

गाधीजी के गिरफ्तार होते ही महादेवभाई भी गिरफ्तार कर लिए गए और 'यग इण्डिया' तथा 'नवजीवन' चलाने की जिम्मेदारी स्वामी पर आ पड़ी। 'यग इण्डिया' के लिए उन्हे राजाजी—चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य—की मदद मिली तो 'नवजीवन' के लिए काका साहब की मिली। थोड़े ही दिनों मे स्वामी भी गिरफ्तार कर लिए गए। तव नवजीवन की पूरी जिम्मेदारी काका साहब ने उठा ली। 1922 के 4 जून के अक से लेकर 1923 की फरवरी के अन्त तक के अकों मे काका साहब ने अपने लेखो की मानो बाढ़-सी लगा दी।

पत्रकारिता को काका साहब ने व्यापक राष्ट्रीय शिक्षा का ही एक अग माना था। पत्रकारिता के सम्बन्ध मे उनके आदर्श सुनिश्चित थे। बाद मे दिए गए एक भाषण मे उन्होने वह सुस्पष्ट कर दिए थे। उन्होने कहा था :

> सोई हुई प्रजा जागने के लिए जब करवट बदलती है, पत्रकार का स्थान तब असाधारण महत्त्व का हो जाता है। उसकी जिम्मेदारिया बढ़ जाती है। प्रजा जब युयुत्सु बन जाती है, तब पत्रकार को योद्धा और सेनापति बनना पड़ता है। वह स्वय क्षात्रधर्म की दीक्षा लेता है और वही दीक्षा वह प्रजा को भी देता है। जहा अन्याय दीख पड़े, दीन, दुर्बल और मूक लोगों पर जुल्म चलते रहे, वहा 'क्षतात्किल त्रायते' की अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करके वह जीवट से कूद पड़ता है। ऐसे प्रसग जब नही आते, तब पत्रकार विचार, जानकारी, संस्कार, अभिरुचि और आदर्शों का प्याऊ चलाकर समाज सेवक बन जाता है। अज्ञान या अदूरदृष्टि के कारण लोग जब आपस में

1. लेखक के साथ बातचीत से।

> लड़ने लगते है, तब पत्रकार लोगों की दृष्टि शुद्ध करने की कोशिश में लग जाता है। समाज चक्र के पहिए एक राग भूलकर जब चीत्कार करने लगते है, तब पत्रकार योग्य स्थान पर स्नेह उडेलकर घर्षण दूर करता है और जब सरकार के सामने खडे रहने के प्रसग आते है, तब पत्रकार प्रजा के प्रतिनिधि का रूप लेकर लोकमत का सगठन करता है और लोकशक्ति को सचेत करता है। पत्रकार को एक साथ लोक-सेवक, लोक-प्रतिनिधि, लोक-नायक और लोक-गुरु की चतुर्विध भूमिका अदा करनी पडती है।

इस समय काका साहब योद्धा और सेनापति बनकर गुजरात की प्रजा को क्षात्रधर्म की दीक्षा देते रहे। स्वातन्त्र्य और देशप्रेम से उद्दीप्त काका साहब की पहचान गुजरात को पहले-पहल इन्ही लेखो के द्वारा हुई। इस समय की उनकी रचनाए अत्यन्त ओजस्विनी और उतनी ही विपुल रही।

कवि उमाशकर जोशी कहते है 'प्रतीत होता है कि काका साहब के जीवन का यह स्वर्ण अवसर था।'

'वीरधर्म' शीर्षक से लिखे गए इस समय के एक लेख मे काका साहब देश की सबसे बडी समस्या गरीबी की चर्चा करते है। गरीबो को क्या-क्या भुगतना पड़ता है, वे कैसे दिन काटते है, वे कैसे लूटे जाते है, इन बातो का हूबहू वर्णन करके वे पाठको से पूछते हैं. इस समस्या का इलाज क्या है? कौन इन गरीबो का दु ख निवारण करेगा? इनका रक्षक कौन है? और जवाब देते है:

> गरीबी का इलाज गरीबी ही है। जहा करोडो लोग भूखे मरते है, वहा हजारो बल्कि लाखो नौजवानो को स्वेच्छा से गरीबी स्वीकार करनी होगी; धार्मिक वृत्ति मे गरीबी धारण करनी होगी। अंग्रेजी शिक्षा के कारण हम इस मामले मे बिलकुल कायर बन गए है। हम लोगो को जितना मौत का डर नही, बेइज्जती का डर नही, धर्मद्रोह या देशद्रोह का डर नही, उतना गरीबी का डर है। जिस देश मे स्वेच्छा स्वीकृत गरीबी की प्रतिष्ठा सर्वोपरि थी, उसी देश मे पढ़े-लिखे नौजवान कायरो की तरह गरीबी से भागते-फिरते है...पूछते है: हम अपने बाल-बच्चो का क्या करे? जिस स्थिति मे रहने की उन्हें आदत पड़ गई है, उस स्थिति मे तो उन्हे रखना ही होगा। हमारे

विचारों के कारण उन्हें कठिनाई सहनी पड़े यह कहां तक मुनासिब है। जी, जरूर मुनासिब है। आपकी दृष्टि मे आपकी बीवी और बच्चे ही सत्य हैं और जो भूखे मरते है, वे अपने करोड़ों भाई महज भ्रम है, माया है तो बात अलग है। हमारी अपनी सफेदपोश आदतों के कारण असख्य गरीबों को भूखे मरना पड़ता है, क्या यह मुनासिब है। यह सवाल आप अपने मे क्यों नही पूछते? गरीबी मे रहना पडेगा इस डर से हममें कितनी पामरता आ गई है। कदम-कदम पर हमारा जो तेजोवध होता है, उसका कारण गरीबी का यह डर ही है। हम अन्याय सहन करते है, अपमान सह लेते है, अन्याय करने के लिए तैयार हो जाते है, आखें मूदकर दूसरो के अन्याय मे शरीक होते हैं और दिन-रात आत्मा का हनन करते है, इसका कारण गरीबी का यह डर ही है।...हमे अपनी स्त्रियो और बाल-बच्चो को आश्रित दशा में रखने की आदत पड़ गई है। इसीलिए अज्ञात भविष्य मे कूद पड़ने से हमे डर लगता है। ..सुरक्षितता जीवन की सड़न है। भविष्य के बारे मे सदिग्धता-नित्य नूतन युद्ध यही जीवन का सार है। जिसे यह रस चखने को नही मिला, वह दुर्भागी है। जिसका भविष्यकाल सुरक्षित है, उसमे धार्मिकता रहनी बहुत कठिन है। जो सुरक्षितता चाहता है, वह वस्तुत. नास्तिक है।...जहा सुरक्षितता है, वहा पुरुषार्थ नही है।...जो स्वेच्छापूर्वक गरीबी को स्वीकार करता है, वही वीर बन सकता है। अन्यायी आदमी को वह यमदूत-जैसा जान पड़ता है। पीड़ित लोगो को वह कृपानिधि जैसा मालूम होता है। जबरदस्त सल्तनत के सामने वह सीना तानकर खड़ा रह सकता है।... गरीबी वीर की खुराक है, ईश्वर का प्रसाद है और धर्म का आधार है। ऐसे गरीबो की संख्या जब देश मे बढ़ेगी, तभी देश की गरीबी नष्ट होगी... आज हिन्दुस्तान मे गुजरात की जो प्रतिष्ठा है, वह गुजरात के व्यापार के कारण नही, गुजरात ने जो पैसा इकट्ठा किया है, उसके कारण नही, बल्कि गुजरात की प्रतिष्ठा इसलिए है, क्योंकि गुजरात के कुछ सुपुत्रो ने वीरधर्म को स्वीकार करके गरीबी धारण की है।...[1]

---

1. नवजीवन, 2-7-1922

राजनीतिक सूझबूझ

इन दिनों काका साहब के लेखों का प्रधान स्वर यही था।

कांग्रेस की अंदरूनी राजनीति मे काका साहब को कोई रुचि नही थी। पर गया में जो इन दिनों कांग्रेस का अधिवेशन हुआ उसमे वे नवजीवन के प्रतिनिधि के रूप मे उपस्थित रहे थे। वहां चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य से उनका परिचय हुआ और इस परिचय का रूपांतर तुरंत मैत्री में हो गया। राजाजी उन्हें मद्रास ले गए। उन दिनों कौसिलो मे कांग्रेस-प्रवेश करे या न करे इस प्रश्न को लेकर काग्रेस में गरमागरम बहस चल रही थी। देशबंधु चित्तरंजन दास, प० मोतीलाल नेहरू जैसे काग्रेसी नेता कौसिल-प्रवेश के पक्ष मे थे तो राजाजी जैसे नेता इस प्रवेश के खिलाफ थे। काका साहब का झुकाव राजाजी के पक्ष की ओर था। वे भी नही चाहते थे कि असहयोग का बिगुल बजाने के बाद काग्रेस कौसिलों में प्रवेश करे। पर मद्रास मे इस बहस ने एक नया मोड ले लिया था। उत्तर भारत मे जिस प्रकार राष्ट्र के हिन्दू समाज और मुसलमान समाज दो हिस्से बन गए थे और दोनों मानो एक-दूसरे के दुश्मन हों, इस तरह एक-दूसरे से पेश आते थे, वैसे सारे दक्षिण मे ब्राह्मण समाज और अब्राह्मण समाज एक-दूसरे के मानो दुश्मन हो, इस तरह एक-दूसरे के खिलाफ खड़े हुए थे। शिक्षा, राजनीति, सामाजिक सुधार आदि क्षेत्रों मे ब्राह्मण आगे थे। उनकी बुद्धि भी तेजस्वी थी और उनकी राजनीति भी तेजस्वी थी। पर चूंकि काग्रेस का नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ मे था, इसलिए अब्राह्मण समाज काग्रेस से अलग रहा था। राजाजी की सबसे बडी समस्या यही थी। उनकी समझ मे नही आता था कि अब्राह्मण समाज के नेताओं को किस तरह काग्रेस के आदोलन मे खीचकर ले आए। काका साहब एक क्षण मे सारी परिस्थिति समझ गए। उन्होंने तुरत कर्नाटक, केरल, आन्ध्र और तमिलनाडु के प्रमुख अब्राह्मण नेताओं से सम्पर्क स्थापित किया और उन्हें समझाया, 'आप समझते हैं कि काग्रेस ब्राह्मणों की है। आपका यह ख्याल ही गलत ह। कांग्रेस के सबसे बड़े नेता आज गांधीजी हैं। वे ब्राह्मण नहीं, बल्कि वैश्य हैं। गुजरात के काग्रेसी नेता वल्लभभाई पटेल हैं। वे भी ब्राह्मण नहीं है, बल्कि किसान हैं। बंगाल के बड़ काग्रेसी नेता चित्तरंजन दास हैं। वे ब्राह्मण कहां हैं? वे तो कायस्थ हैं। आप कैसे कह सकते है कि कांग्रेस ब्राह्मणों की संस्था है। वह सबकी है। ब्राह्मणों की है, अब्राह्मणों की है, हिन्दुओं की है, मुसलमानों की है, पारसियों की है। जिन्हें स्वराज्य की भूख है, उन सबकी है। कांग्रेस

में जो आता है, वह ब्राह्मण ब्राह्मण नही रहता, वैसे ही अब्राह्मण अब्राह्मण नहीं रहता। वह राष्ट्रवादी बन जाता है। राष्ट्रवादी की कोई जाति नही होती, कोई सम्प्रदाय नही होता। आप काग्रेस मे आ जाइए, कांग्रेस आपकी हो जाएगी।'

राजाजी के सामने उन्होने एक सुझाव रखा—आप भले ही कौंसिल-प्रवेश के खिलाफ हो। अब्राह्मण नेता अगर कौंसिल-प्रवेश करना चाहें तो आप उन्हें कौंसिल मे जाने दे। यही नही, कौंसिलों मे जाने के लिए आप उन्हें पूरी मदद करें।

एक जटिल समस्या का इस तरह आसानी से हल होता हुआ देखकर राजाजी काका साहब की राजनीतिक सूझबूझ पर प्रसन्न हुए और तब से उनकी बड़ी इज्जत करने लगे।

इधर काका साहब के प्रयत्नो से के० सी० रेड्डी और दासप्पा जैसे अब्राह्मण समाज के नेता, जो काग्रेस से अब तक दूर रहे थे, कांग्रेस मे आ गए और राष्ट्रीय आदोलन मे बड़े उत्साह के साथ हिस्सा लेने लगे।

इस मिलसिले मे काका साहब को दक्षिण भारत में दो-तीन बार जाना पड़ा था।

राजद्रोह का अभियोग

1923 की फरवरी मे फौजदारी कानून की धारा 124 (अ) के अनुसार काका साहब पर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया। नवजीवन मे प्रकाशित उनके दो लेख सरकार को बड़े आपत्तिजनक मालूम हुए। एक का शीर्षक था—'बलिदान नो महिमा' (बलिदान की महिमा) और दूसरे का था—'अथडामण' (मुठभेड़)। पंजाब मे 24 अक्तूबर, 1922 तक के समय मे लगभग 3033 अकाली सिख गिरफ्तार कर लिए गए और उन पर सरकार ने काफी अत्याचार किए थे। इन अत्याचारो के प्रति अपना रोष प्रकट करते हुए काका साहब ने 'बलिदान की महिमा' शीर्षक वाले अपने लेख में लिखा था :

> बहादुर सिखों का संघर्ष चलता ही रहा है। अकाली सिख अपने खून से हिन्दुस्तान के इतिहास मे—संसार के इतिहास में—कितना महत्व का अध्याय लिख रहे हैं, इसका आज हमें पूरा ख्याल नहीं है। दो धर्मों के बीच

युद्ध हुए हैं। एक ओर स्वार्थ और दूसरी ओर धर्मबुद्धि, ऐसे भी युद्ध हुए हैं। पर एक ओर निरर्थक साम्राज्य-भेद और दूसरी ओर नम्र-धर्मबुद्धि, ऐसे युद्ध की अब तक दुनिया के इतिहास में मिसाल नहीं है और यह नम्र धार्मिक लोग कौन हैं? संकट के समय पर साम्राज्य को मजबूत करने वाले और राज्यनिष्ठा को ही धर्म मानने वाले निष्ठावान क्षत्रिय। दुनिया के इतिहासकार लिखकर रखेंगे कि जर्मन् लोगों के सामने भी पीछे न हटने वाले, मशीनगन के और एरोप्लेनों के हमले हंसते-हंसते झेलने वाले सिखों ने अहिंसा धर्म को अपना कर निःशस्त्र और निर्वेद बनकर अपने गुरु के बाग के अन्नछत्र के लिए मंदिर की ही लकड़ियां काटने का अपना हक अख्तियार करने का जब आग्रह कायम रखा, तब उन्हीं सिखों की खुशामद करने वाली सरकार के नीचे अधिकारियों ने उन पर जुल्म ढाये, कायरों को भी शर्म आ जाये, इस तरह उनके शरीर पर प्रहार किए और अस्सी-अस्सी या सौ-सौ के जत्थों में उन्हें गिरफ्तार किया।...अंग्रेजों के युद्ध में जो मनुष्यवध किया उसकी दुनिया में प्रशंसा हुई, अमृतसर, मलाबार, धारवाड़ और कलकत्ते में इस सरकार ने जो खून बहाया, उसकी यथा-समय क्षमा मांगनी होगी। पर बहादुर और धर्मवीर सिखों की दाढ़ी के बाल खींचने और उन्हें गालियां देने का जो नीच कृत्य अंग्रेज अधिकारियों ने किया, उसे भुलाना तो नामुमकिन ही है, पर उसे क्षमा करना भी मुश्किल है। एक-एक अकाली सिख पांच-दस अधिकारियों को पराजित करने की ताकत रखता है और मौत तो उसके लिए मानो खेल है। इस तरह का वीर अपमान किस तरह सहन करे? पर देश का ख्याल मन में रखकर पूरे भारतवर्ष को स्वराज्य दिलाने के लिए वह सारे अपमान सह लेता है।... हर एक अकाली सिख का बलिदान हमारी एक जिम्मेदारी है। सिखों के बलिदान के लायक बनना हमारा सबसे बड़ा फर्ज है। अहिंसा की सार्वत्रिकता का और सार्वभौमत्व का उपदेश गुजरात के गांधीजी ने दिया। पर अहिंसा धर्म का पालन हर बहादुर के लिए सम्भव है, यह तो पंजाब के सिखों ने सिद्ध करके दिखा दिया है। अहिंसा धर्म की नसीयत देकर गांधीजी ने दुनिया पर जितना अहसान किया है, उतना ही एहसान सिख किसानों ने अहिंसा धर्म का पालन सम्भव है, यह सिद्ध करके दिखाया है। दिनांक 24 नवम्बर तक 3033 सिख सत्याग्रही जेल पहुंच गए। उन्हें गिरफ्तार करने

> का सत्र शुरू हुआ, इससे पहले उन्हे पीटने का सत्र शुरू हुआ था। उसमे जो घायल हुए उन 1500 सिखो की संख्या अलग ही है। इतना शात, निर्भय और धार्मिक बलिदान ससार ने अब तक देखा नही था।...[1]

एक दो सज्जनों ने काका साहब से शिकायत की थी कि आप लोग जो विदेशी वस्त्र के खिलाफ आंदोलन चलाते हैं, उसके कारण आप अपने ही भाइयो से मुठभेड करते हैं। इससे अग्रेजो का कोई नुकसान नही होता। आपकी सरकार स मुठभेड़ होनी ही चाहिए, इत्यादि। इसका जवाब देते हुए काका साहब ने अपने अथडामण (मुठभेड) शीर्षक लेख मे लिखा :

> असहयोग के कारण हम सरकार के सामने मुठभेड मे आ ही गए हैं। यद्यपि जेल भर देना, कई कानूनो की सविनय अवज्ञा करना, राज्यतत्र चलने न देना आदि इलाज फिलहाल हमने स्थगित कर दिए हैं। पर इसका कारण यह नही है कि सरकार इन इलाजो के लायक नही है। सरकार ने अब तक प्रजा का जितना शोषण किया है, उतना हिन्दुस्तान पर आक्रमण करके आए हुए हिन्दुस्तान को चूसकर उसका सर्वस्व लूटने वाले किसी आततायी ने भी नही किया होगा। सशस्त्र बगावत मे हजारो और लाखो लोगो को कत्ल करना, अहिंसक लोगो को पीटना और उनका अपमान करना, यह एक बडा प्रजा द्रोह है।...देश के निर्दोष और धर्मनिष्ठ लोकनायको को जेल मे ठूसकर उन्हे दु:ख देना, सताना, यह क्रूरता की पराकाष्ठा है, नीचता है। ऐसे दुष्कृत्यो के कारण ही यह सरकार दफनाने योग्य सिद्ध हुई है। फिर भी हम आज उसके खिलाफ सख्त कदम नही उठाते। इसका कारण यही है कि हमारी तैयारी पूरी नही हुई है।...प्रजा को जितनी तैयारी करनी चाहिए, उतनी अभी नही है। दलीलो या व्याख्यानो से यह तैयारी होने वाली नही है। सरकार के प्रति देश मे पूरा असतोष फैला हुआ है। इस सरकार को क्षमा करने के लिए बहुत ही कम लोग तैयार हैं। पर शस्त्र से या सत्याग्रह से सरकार को हतप्रभ करने के लिए जिस एकाग्रता की जरूरत है, वह हमने विकसित नही की है। यह एकाग्रता विकसित करने के लिए ही आज के हमारे सारे प्रयत्न हैं।...[2]

1 व 2. नवजीवन, 29-10-1921

सरकार ने इन दोनों लेखो के प्रति आपत्ति उठाई और अच्छे चाल-चलन के लिए लेखक काका साहब से तथा नवजीवन के सम्पादक, प्रकाशक, मुद्रक रामदास भाई गाधी से एक साल के लिए पाच सौ रुपयो की जमानत मांगी। नवजीवन का अगला अंक 18 फरवरी के दिन प्रकाशित हुआ। उसमे पाठको ने 'क्षमा-याचना' शीर्षक से एक टिप्पणी देखी। कइयो को आशका हुई उनमे वल्लभ भाई पटेल एक थे — काका साहब डर तो नही गए? बडी उत्सुकता से लोगो ने यह टिप्पणी पढी। कइयो के पत्र आए थे, उन्हे जवाब न लिखने के कारण काका साहब ने उनसे क्षमा-याचना की थी। नीचे लेख था : 'मारी कैफियत।' उसमे जमानत की खबर देकर काका साहब ने लिखा था :

ईश्वर के सामने तो हर एक आदमी गुनहगार है। छाती ठोक कर कोई भी यह नही कह सकता कि उसका चाल-चलन निर्दोष है।...मनुष्य की शक्ति के अनुसार अच्छे चाल-चलन के नियम समाज ने बनाए हैं, जिन्हे हम नीति या धर्म के नाम से पहचानते है। जब तक मनुष्य सामाजिक नीति को भंग नही करता, तब तक उसका चाल-चलन अच्छा माना जाता है। मनुष्य जब सदाचार छोड़ देता है, तभी समाज उसके सामने अपना असतोष प्रकट करता है और आवश्यक हो तो उसे सजा भी देता है। इस तरह की सजा देने की शक्ति समाज के हाथ मे हमेशा ही रहती है। पर हर काम कानून से ही करने की जिन्हे आदत पड गई है, ऐसे आधुनिक लोग सामाजिक शक्ति सरकार के हाथ में सौप देते है। फलस्वरूप, सामाजिक नैतिक दबाब के बदले कानून का जगली तत्र अमल मे आता है और मनुष्य जाति दिन-ब-दिन नीचे गिरती जाती है और जहा सरकार विदेशी होती है, प्रजाहित के विरुद्ध जाकर भी अपनी शक्ति मजबूत करने का आग्रह रखती है, वहा तो कानून प्रजा को दबाने का एक बडा माध्यम बन जाता है। यही नही, बल्कि अच्छे-बुरे इन शब्दो के अर्थ भी उलट हो जाते है। अत्यत नीच कृत्य के लिए इनाम दिए जाते हैं और शुद्ध और ईमानदार चाल-चलन वालो से जमानत मागी जाती है। इस तरह का राज्य जहा चलता हो, वहा सरकार के इनाम लेने मे इंकार करना जिस प्रकार भले और सभ्य मनुष्य का फर्ज

है, उसी प्रकार सरकार द्वारा मागी गई जमानत देने से इकार करना भी हर एक भले और सभ्य आदमी का फर्ज है।[1]

आगे लिखते है कि सरकार ने जो दो लेख चुनकर निकाले, वे दोनो उन्होने फिर से ध्यानपूर्वक और नम्रतापूर्वक पढे। उन्हे लगा कि विद्वानो के किसी मडल ने शुद्ध और अच्छी लेखन शैली के लिए उनसे जमानत मागी होती तो गुनाह कबूल करके वे जमानत दे देते। उदाहरण के लिए—

'अथडामण' (मुठभेड) वाले लेख मे मैं कितना कहना चाहता था, ठीक तरह से कह नही सका, व्यवस्थित रूप स स्पष्ट कर नही सका। मै कहना चाहता था कि जुल्मी दफ्तरशाही केवल दो तरह से हतप्रभ हो सकती है या तो शस्त्र-बल मे या सत्याग्रह स। इन दो मे मे हमने चाहे जो रास्ता अपनाया हो, फिर भी उसके लिए एकाग्रता की आवश्यकता है। बिना एकाग्रता के हम कामयाब नही हो सकते। इन दो मे स शस्त्र का मार्ग कई लोगो न धार्मिक दृष्टि स त्याज्य माना है। दूसरे कइयो न यह मार्ग हमारे लिए असम्भव है, कह कर छोड दिया है। कारण कोई भी हो, शस्त्र के मार्ग की आज तैयारी नही है, तब शेष रह जाता है केवल सत्याग्रह का मार्ग। उसमे एकाग्रता लाना हमारा राष्ट्रीय कर्त्तव्य है। सत्याग्रह का मार्ग चाहे धर्म के रूप मे अपनाया गया हो, चाहे राजनीति के रूप म स्वीकारा गया हो या दूसरा कोई मार्ग नही इसलिए भी चाहे अपना लिया गया हो पर एक बार उसे अपनाने पर शका-कुशकाए कर एकाग्रता को भग करना राष्ट्र के प्रति भारी गुनाह है। अत हम एकाग्रता को अगर कायम रखेंगे तो राष्ट्र का प्राण अपना कार्य अपने-आप करता रहेगा। प्रथम स्थानिक और प्रासगिक कारणो को लेकर छोटी-बडी अडचने आती रहेगी, पर अकाली लोगो की तरह जब सभी तालीम लेते रहेगे, स्वराज्य का महायुद्ध तब अहिंसा के अपूर्व ढग से शुरू हो जाएगा। उस समय काग्रेस का अधिवेशन बुलाकर प्रस्ताव पास करने के लिए भी हमे फुर्सत नही होगी। आज तो इतना विलम्ब हो रहा है, उसका कारण यह नही कि प्रजा का जोश मद पड गया है। बल्कि एकाग्रता टूट गई है, यही है। हमारे मार्ग मे कई शाखाए हैं।...समझौते की चर्चाए जिस क्षण बद हो जाएगी, उसी

> क्षण हमारी शक्ति एकत्रित होने लगेगी और सत्याग्रहियो को सरकार जैसे-जैसे दबाती रहेगी, वैसे-वैसे ढीले असहयोगी और विधान-सभावादी भी हमारे दल मे शरीक होते जाएगे ।[1]

इस कैफियत के बाद तुरत 'अच्छे चाल-चलन' शीर्षक मे उन्ही का लिखा हुआ दूसरा एक लेख नवजीवन मे लोगो ने पढा । उसमे काका साहब ने लिखा था :

> जहा राजा और प्रजा दोनो के बीच प्रेम और स्वार्थ-त्याग का वातावरण होता है, वहा राजा का अधिकार कितना और प्रजा का कितना, यह सवाल ही उपस्थित नही होता । राजा जब स्वार्थी और जुल्मी बन जाता है, तभी प्रजा अपने राजा के बारे म सोचने लगती है और प्रजा राजा की सत्ता को मर्यादित करने की कोशिश करती है । प्रजा के हको की लडाई राजा के अच्छे चाल-चलन के लिए जमानत की माग है । प्रजा जब कहती है कि हम स्वराज्य का हक चाहते है, तब उसका सरल सीधा मतलब यही होता है कि प्रजा राजा से उसके अच्छे चाल-चलन के लिए जमानत मागती है । अग्रेज जब इस देश मे आए, तब वे न्यायपूर्वक राज्य का सचालन करेगे, यही उम्मीद यहा के लोगो ने रखी थी । इसलिए पुराने खानदानी सस्कारो के अनुसार इस सरकार से कौल-करार करने की आवश्यकता किसी को प्रतीत नही हुई । पर कम्पनी सरकार के जुल्मों का अनुभव हुआ, तब प्रजा क्रुद्ध हो उठी और उसने बगावत की । फलस्वरूप, राजवशी व्यक्ति को ईश्वर की और अपने खानदान की गवाही देकर ढिढोरा पीटना पडा । इस ढिढोरे का अर्थ प्रजा ने जो लगाया उसी के अनुसार हिन्दुस्तान का राज्य-कारोबार अगर चलता तो प्रजा सुखी हो जाती और सरकार का मा-बाप-पद अब तक कायम रहता । पर सरकार का चाल-चलन बिगड गया । राज्यकर्त्ताओ ने प्रजा को धोखा दिया । जुल्म बढते गए । फिर एक-के बाद एक लोक-नेताओ का सरकार के चाल-चलन से विश्वास उड़ गया । अमृतसर की काग्रेस मे इसी प्रश्न को लेकर तिलक और गांधी के बीच बहस हुई थी । तिलक कहते थे कि अग्रेजी दफ्तरशाही कतई विश्वसनीय नही है । उससे मोटी जमानत मांग लेनी चाहिए । गाधीजी कहते थे कि दफ्तरशाही बादशाह के मुह से बोलती है, इसलिए और एक बार हम उस पर विश्वास

1. नवजीवन, 18-2-23

करें। अपना चाल-चलन सुधारने का उसका विचार हो तो हम अपनी ओर से उसे पूरी मदद दें। अंत मे गांधीजी को भी यकीन हो गया कि यह दफ्तरशाही अपना चाल-चलन आसानी से सुधारने वाली नहीं है। यही नही, पूरे साम्राज्य के मत्री खिलाफत के बारे मे मुसलमानों को धोखा देने के लिए तैयार हो गए हैं। उनसे जमानत मांगे बिना अब कोई चारा ही नही रहा है। जिस समय सरकार सभी ओर से प्रजा का विश्वास खो बैठी हो, उसी समय वह हर किसी से अच्छे चाल-चलन की जमानत मागती है, यह देखकर हसी आती है।[1]

मतलब : काका साहब ने सरकार से पूछा—चाल-चलन किसका खराब हो गया है, मेरा या आपका ? जमानत कौन किससे मागे ? प्रजा आपसे मागे या आप हमसे ?

फलस्वरूप, अदालत मे मुकदमा चला। लगभग दो घटे तक बहस चली। सरकारी वकील ने काका साहब के दोनो लेख अपनी टीका-टिप्पणी के साथ पढ़कर सुनाए : 'देखिए, इस वाक्य मे कितना जहर है, यह देखिए, कितने कड़े शब्दों का प्रयोग किया है', इत्यादि। सरकार के बचाव मे उसे यह कहने की हिम्मत नही हुई कि काका साहब ने जो लिखा है, वह झूठ है। उसने यह नही कहा कि काका साहब ने जिन अधिकारियो के बारे मे लिखा है, वह अधिकारी, नीच नही थे, उन्होने सिखों के दाढी के बाल खीचे नही थे, उन्हे गालिया नही दी थी। केवल इतना ही पूछा कि आपने इस तरह के कड़े विशेषणो का प्रयोग क्यो किया। मानो, यही काका साहब का बडा अपराध था।

काका साहब ने अदालत को इतना ही कहा : 'मेरे लेखो मे राजद्रोह है, यह सिद्ध करने के लिए सरकारी वकील को इतने कष्ट उठाने की आवश्यकता ही नही है। मै कबूल करता हूं कि ये दोनों लेख मैंने लिखे हैं और यह भी साफ कह देना चाहता हूं कि आज की शासन-प्रणाली के खिलाफ असंतोष फैलाना मैंने अपना धर्म माना है।'

काका साहब को एक साल के कारावास की सजा दी गई और रामदासभाई छोड़ दिए गए। अदालत मे कस्तूरबा, वल्लभभाई, अनसूया साराभाई और काका

1. नवजीवन, 18-2-1923

साहब के कई विद्यार्थी उपस्थित थे। सभी लोगों ने उनका अभिवंदन किया। इस भीड़ में काकी भी उपस्थित थीं। उनकी तबीयत अच्छी नहीं थी। काका साहब की सजा की खबर सुनते ही उनकी तबीयत सुधर गई और वह काका साहब को छोड़ने जेल के दरवाजे तक गईं।

काका साहब ने साबरमती आश्रम से साबरमती जेल की ओर प्रस्थान किया।

उनके जेल जाने के बाद नवजीवन का एक खास अंक प्रकाशित हुआ, जिसमें 'आधुनिक गुजरात के एक निर्माता' के रूप में काका साहब का परिचय दिया गया था। चारों ओर से उन पर स्तुति-सुमनों की बौछार हुई थी।

जेल में निवृत्ति

ज्यो ही जेल मे प्रवेश किया, काका साहब ने बाहरी दुनिया से अपना मन हटा लिया। बाहर लडाई चल रही थी। उसकी प्रतिध्वनि जेल की दुनिया मे भी सुनाई देती थी, पर काका साहब उससे बिलकुल अलिप्त हो गए थे। उन्होंने अपना कर्त्तव्य पालन किया था और बाकी की चिंता छोड़ दी थी।

जेल मे उन्होंने अपना मन दूसरी बातों में लगा दिया। जेल मे एक बिल्ली आती थी, कौवे आते थे, गिलहरियां, कीड़े-मकोड़े, तिलचट्टे आते थे। वहा एक अरड था, रीठा था, नीम था। आखिर प्रकृति के ही तो यह सब उन्मेष थे। प्रकृति का कोई भी उन्मेष हो, काका साहब उसके साथ अपना तादात्म्य साध लेते थे। हर एक उन्मेष के प्रति उनके मन मे समभाव, करुणा, प्रेम जाग्रत हो ही जाता था।

रवीन्द्रनाथ का एक चरण 'बहे निरंतर अनंत आनंदधारा' उन्हें हमेशा साथ देता आया था। जेल की चहारदीवारी के अंदर भी उनकी आनंद-यात्रा चलती रही। फिर सोचा, चलो, यह आनंद शब्दबद्ध क्यो न कर डालें और उन्होंने एक छोटी-सी पुस्तक लिख डाली . 'ओतरातीं दीवालो' (उत्तर की दीवारें)। पुस्तक मे विचारों की गहनता नही, भव्य दृश्यो का वर्णन नही, उपदेश नही, प्रचार नही, विद्वता नही। केवल आनद की अभिव्यक्ति को छोड़कर कुछ नही।

गुजराती साहित्य की यह एक अनोखी पुस्तक है। गाधीजी इस पुस्तक पर बेहद खुश हुए थे। कहते थे :

हमारे सब प्रकाशन सादे अलंकृत होने चाहिए, यह मेरा हमेशा आग्रह रहा है। पर इस पुस्तक के बारे में मैं अपवाद करने के लिए तैयार हूं। बढ़िया कागज, सुदर चित्र वगैरा देकर इसकी एक बढ़िया आवृत्ति निकालनी चाहिए।

हमेशा की तरह जेल मे भी काका साहब के आसपास कई पुस्तकें थीं। पर एक दिन जेल वालों ने उनकी सारी पुस्तकें छीन ली और अपने पास एक ही धार्मिक पुस्तक रखने की उन्हें सजा दी।

बात यों हुई : मौलाना हुसेन अहमद मदनी खिलाफत आंदोलन के सिलसिले में गिरफ्तार कर लिए गए थे और इसी जेल में रखे गए थे। वे बड़े कट्टर मुसलमान थे। रोज पांच बार नमाज पढ़ते थे। नमाज के पहले जोरों से अजान बोलने का मुसलमानों में रिवाज है। इस रिवाज के अनुसार वे भी अजान बोलते थे। जेल वालों ने अजान के बारे में आपत्ति उठाई और उन्हें अजान बोलने की मनाही की। इस मनाही के खिलाफ मौलाना ने उपवास शुरू कर दिया।

काका साहब अपनी पुस्तकों की दुनिया में डूबे रहते थे। अचानक एक दिन किसी ने मौलाना के उपवास की बात उन्हें बता दी। काका साहब बेचैन हो उठे। उन्होंने जेलर से बातचीत शुरू कर दी। पर जब देखा कि जेलर समझाने पर भी समझता नहीं है, काका साहब ने भी उपवास शुरू कर दिया। वे तटस्थ नहीं रह सकते थे। एक सर्व-धर्म-समभावी हिन्दू के नाते मुसलमानों के धार्मिक अधिकारों का रक्षण करना उन्होंने अपना कर्त्तव्य माना था।

नतीजा : जेल में मुसलमानों को अजान बोलने का अधिकार देने के लिए जेल वाले मजबूर हो गए और उपवास समाप्त हो गया।

पर जेल में उपवास करना जेल नियमों के अनुसार अपराध था। इस अपराध के लिए मौलाना मदनी और काका साहब दोनो को सजा हुई। जेल के एक अलग विभाग में दोनों को साथ-साथ रखा गया। सजा के तौर पर काका साहब की सारी पुस्तके छीन ली गई और केवल एक धार्मिक पुस्तक रखने की उन्हें छूट दी गई। काका साहब ने सोचा, मौलाना मदनी साथ में हैं और एक ही पुस्तक पास में रखने की छूट है, तो कुरान शरीफ ही क्यों न मांग लूं ? उन्होंने कुरान शरीफ मांगा।

जेल वाले कहने लगे, 'आप तो हिन्दू है। आप गीता रख सकते हैं, भागवत रख सकते हैं। कुरान कैसे रख सकते हैं ?'

काका साहब ने जवाब दिया, 'मैं हिन्दू जरूर हूं, पर सर्व-धर्म-समभावी हिन्दू हूं। सभी धर्म मेरे है। किसी भी एक धर्म की पुस्तक पसंद करने का मेरा अधिकार आपको मंजूर करना होगा।'

कुछ बहस जरूर चली, पर अंत मे जल वाले मान गए। काका साहब को मराठी अनुवाद मे कुरान शरीफ मिल गया।

मौलाना मदनी विद्वान थे। मक्के मदीने मे भी उन्होंने लोगों को कुरान सिखाया था। इस्लाम के एक निष्णात के रूप मे अरब देशो मे उनकी बडी प्रतिष्ठा थी। काका साहब ने उनके साथ का पूरा लाभ उठाया और जेल मे कुरान शरीफ का उन्होने गहरा अध्ययन किया। काका साहब कहते है :

> जिम आदर भाव से उपनिषद् हाथ मे लिए थे उसी आदर भाव से मैने कुरान शरीफ पढना शुरू किया। उसके हर पन्ने पर मुझे भय और लालच को उकसाने वाले वाक्य मिले। हर पन्ने पर काफिरों के प्रति द्वेष दिखाई दिया। फिर भी मुझे कबूल करना चाहिए कि उसकी खुदापरस्ती पर मै बहुत ही मोहित हो गया।

तीन महीनो के बाद जब पुस्तके मिलने लगी, तब भर्तृहरि के तीनो शतक हाथ मे लिए और छद भाव तथा भाषा की दृष्टि से एक सौ आठ श्लोक चुन कर विद्यार्थियो के लिए 'सद्बोध शतकम्' नाम की एक पुस्तक तैयार की।

गुजरात राजनीतिक परिषद् और बेलगांव कांग्रेस

एक साल पूरा होने मे केवल दो महीने बाकी थे। 1924 की फरवरी की पहली तारीख को वे रिहा कर दिए गए। चार दिन के बाद पाच फरवरी के दिन गाधीजी भी रिहा कर दिए गए। एक उत्तम शिक्षक, उत्तम लेखक, उत्तम सत्याग्रही, उत्तम पत्रकार—और सबसे बडी बात—गाधीजी के एक उत्तम साथी के रूप मे काका साहब को गुजरात अब पहचानने लग गया था। आधुनिक गुजरात के एक निर्माता के रूप में उनकी प्रतिष्ठा स्थापित हो चुकी थी। स्वाभाविक तौर से गुजरात के सार्वजनिक जीवन मे जो सबसे अधिक गौरव का स्थान माना

जाता था, वह अपने आप उनके पास चला आया। मई मे गुजरात राजनीतिक परिषद का सातवा अधिवेशन बोरसद मे होने जा रहा था। उसके अध्यक्ष पद के लिए काका साहब का नाम सुझाया गया और वह सर्वानुमति से पास हुआ। गुजरात की राजनीति मे काका साहब परिचित थे। अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखनी हो तो इस राजनीति से अलिप्त रहना चाहिए यह भी जानते थे। उन्होने महादेवभाई के द्वारा गाधीजी का निर्णय मागा। गाधीजी ने अध्यक्षपद स्वीकार करने की सलाह दी, तब उन्होने कार्यकर्ताओ से कहा : परिषद के अगले अधिवेशन तक मै अध्यक्ष बने रहना नही चाहता। तीन दिन जो उत्सव चलेगा, उसी का अध्यक्ष रहूगा। आगे का काम वल्लभभाई को और आपको सम्भालना होगा।' इस शर्त पर 13 मई के दिन उनकी अध्यक्षता मे गुजरात राजनीतिक परिषद का अधिवेशन हुआ। काग्रेस की अदरूनी राजनीति के सदर्भ मे यह अधिवेशन बडा महत्त्व रखता था। काग्रेस मे इन दिनो दो दल बन गए थे। एक का अभी भी गाधीजी के सविनय अवज्ञा के कार्यक्रम मे—विशेषत: उसके रचनात्मक पहलू मे—विश्वास था और वह इसी कार्यक्रम को आगे चलाना चाहता था, तो दूसरे का इस कार्यक्रम से विश्वास उठ गया था और वह चुनावो मे हिस्सा लेकर कौसिलो म जाना चाहता था। महत्व की बात यह थी कि गुजरात मे पहले दल के नेता वल्लभभाई थ और दूसर के नेता उन्ही के बडे भाई विट्ठलभाई पटल थे।

पहले को लोग अपरिवर्तनवादी दल के रूप मे पहचानते थे, तो दूसरे को परिवर्तनवादी कहते थे। काका साहब ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे इनका वर्णन अपने ढग से किया पहले को उन्होने 'कानून-भगवादी' कहा तो दूसरे का 'उत्साह-भगवादी' नाम रखा। इस वर्गीकरण से वल्लभभाई बडे खुश हुए थे। वल्लभभाई ने अभी-अभी बोरसद मे सत्याग्रह का एक छोटा-सा प्रयोग किया था और उसमे सफलता भी प्राप्त की थी। गाधीजी इस प्रयोग से काफी प्रभावित हुए थे और वल्लभभाई की सगठन-कुशलता पर बडे खुश थे। बोरसद ने जो छोटे पैमाने पर करके दिखाया वह सारा हिन्दुस्तान बड़े पैमाने पर करके दिखा सकता है, यह विश्वास वे लोगो को दिलाने लगे। इसलिए राजनीतिक परिषद के साथ और दो परिषदो का भी आयोजन किया गया। मामा फडके की अध्यक्षता मे एक 'अंत्यज परिषद' बुलाई गई तो रविशंकर महाराज की अध्यक्षता मे एक 'ठाकोर

परिषद' हुई। फलस्वरूप बोरसद अब न केवल राजनीतिक आंदोलन का बल्कि सामाजिक क्रांति का भी एक केन्द्र बन गया था।

गांधीजी स्वास्थ्य लाभ के लिए बम्बई मे जुहू के समुद्र तट पर टिके हुए थे। वे परिषद में उपस्थित नही रह सके। पर परिषद के लिए उन्होंने अपना संदेश भेजा, जिसमें उन्होंने कहा था :

> बोरसद का काम मैं तभी पूरा हुआ समझूंगा, जब वहां की पूरी प्रजा खादी के सिवा दूसरा कोई कपड़ा नही पहनेगी। जब वहां मिल के कपड़ों की एक भी दुकान नही चलेगी। कोई शराब, गाजा या अफीम नहीं पिएगा। कोई चोरी व्यभिचार नही करेगा। जब वहा के सब लड़के और लड़कियां अंत्यजों के बच्चों के साथ राष्ट्रीय शालाओं में पढ़ाई करेंगे, जब वहां हिन्दू और मुसलमान भाई-भाई बनकर रहेंगे। वहां कोई किसी तरह का झगड़ा नही करेगा और झगडा यदि हो भी गया तो उसका निबटारा बुजुर्गों की पंचायत के द्वारा होगा। बोरसद अगर इतना करके दिखाएगा तो मुझे यकीन है कि वह भारत को स्वराज्य दिला देगा।[1]

मतलब, गांधीजी ने बोरसद मे अपनी कल्पना का स्वराज्य स्थापित करके दिखाने की इच्छा प्रकट की थी। काका साहब के अध्यक्षीय भाषण का स्वर भी यही था। वल्लभभाई ने गांधीजी की इच्छा को अपने लिए आदेश माना और परिषद ने इसी आशय का प्रस्ताव भी पारित कर दिया। फलस्वरूप गांधीजी की कल्पना का स्वराज्य स्थापित करने के लिए दरबार गोपाल दास जैसे समर्थ नेता ने बोरसद में ही पड़ाव डालकर बैठने का संकल्प किया। मामा फड़के और रविशंकर महाराज जैसे समर्थ देश सेवक भी इसी संकल्प को लेकर बोरसद में बैठ गए।

परिषद का तीन दिनों का उत्सव समाप्त होते ही काका साहब आश्रम मे लौटकर राष्ट्रीय शाला के अपने काम म निमग्न हो गए। बाद की घटनाओं का विश्लेषण करते हुए प्रतीत होता है कि काका साहब की यह भारी गलती थी।

1. सरदार वल्लभभाई पटेल : रामनारायण पाठक।

वल्लभभाई मानते थे कि मैं गांधीजी का निष्ठावान अनुयायी हूं। अच्छा और उपयोगी आदमी भी हूं। पर साथ-साथ वे यह भी समझ गए थे कि मैं उनका आदमी नही हूं। मुझ पर वे निर्भर नही रह सकते थे। मेरी भूमिका हमेशा उनके अनुकूल रहने की ही रही, पर वे उससे संतुष्ट नही थे। वे और भी कुछ चाहते थे, जो मुझमें नही था। इस समय मेरे ध्यान मे यह बात नही आई। गुजरात मे रहा, तब तक नही आई थी। मैंने गुजरात छोड़ा, उसके बाद जब परिस्थिति का विश्लेषण करने लगा तब मुझे प्रतीत हुआ कि वल्लभभाई के मन मे मेरे प्रति जो अविश्वास पैदा हुआ, उसका आरम्भ गुजरात राज ीतिक परिषद के इस अधिवेशन के साथ हुआ।[1]

इसी साल दिसम्बर मे बेलगाव मे कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधि-वेशन के अध्यक्ष के रूप मे गांधीजी चुने गए थे। बेलगाव काका साहब का अपना शहर था। अपने सार्वजनिक जीवन का प्रारंभ उन्होंने इसी शहर मे किया था। गंगाधरराव देशपांडे से उनका घनिष्ट सम्बंध था। इस सम्बंध की ओर देखते हुए और इस बीच गांधीजी के एक प्रमुख साथी के रूप मे गुजरात मे काका साहब ने जो स्थान प्राप्त किया था, उसे देखते हुए कइयों का यह ख्याल था कि काका साहब कांग्रेस के इस अधिवेशन मे कोई खास स्थान पाएंगे। पर···

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे श्रीकृष्ण ने मेहमानों के झूठे पत्तल उठाने का काम हाथ मे लिया था। काका साहब ने यहा सफाई का काम अपने हाथ मे लिया। अधिवेशन के एक माह पहले वे बेलगाव आए। गंगाधररावजी ने लगभग डेढ़ हजार स्वयं-सेवक इकट्ठा करके हर्डीकरजी जैसे विवेकशील सेवक को सौप दिए थे। उनमे से केवल डेढ सौ स्वयं-सेवक काका साहब ने सफाई के काम के लिए मागे और एक शर्त रखी : मुझे केवल ब्राह्मण जाति के सेवक चाहिए। पाखाने खड़े करना, उनको साफ करना, सारे कैम्प की सफाई करना आदि पवित्र काम मे सिर्फ ब्राह्मणों से ही लेना चाहता हूं। गंगाधररावजी ने यह शर्त मंजूर कर ली थी और डेढ़ सौ ब्राह्मण स्वयं-सेवक दे दिए और मजाक में कहा, सफाई का काम उत्तम होगा इसमे मुझे सदेह नही। उसकी तारीफ हुई तो मैं कहूंगा :

1. लेखक के साथ बातचीत से।

देखिए, यह काम बेलगाव के काका साहब ने किया है और अगर उसमे कोई त्रुटि दिखाई दी और उसकी आलोचना हुई तो मै कहूगा : मै क्या करू ? मैने तो यह काम गाधीजी के आश्रम के काका साहब को सौपा था।

वाकई काम उत्तम हुआ। गाधीजी ने काका साहब के काम की बहुत तारीफ की।

बेलगाव से काका साहब आश्रम लौट आए। शिक्षा का अब तक का अनुभव ध्यान मे लेकर वे शाला का नव सस्करण करना चाहते थे। साथियो से उन्होने इस विषय मे चर्चा भी की थी और गाधीजी की मजूरी भी ले ली थी। पर यह काम हाथ मे लेने से पहले ही वे बीमार पड गए। डाक्टरो ने जाच की तब मालूम हुआ कि उनके शरीर मे क्षय-रोग के चिह्न प्रकट हो गए हैं।

निवृत्ति में प्रवृत्ति

काका साहब को पुरानी बातो का स्मरण हो आया। मा की अतिम बीमारी मे वे शाहपुर जाकर उनकी तीमारदारी मे लग गए थे, तब बेलगाव के डा० शिरगावकर ने उन्हें बताया था कि मा को क्षय रोग है और यह रोग उनके मायके के कई लोगों को है। नाम लेकर इस रोग से किन-किन की मृत्यु हुई, यह बताकर उन्होने चेतावनी दी थी कि यह रोग आपको भी हो सकता है। आपको अपना स्वास्थ्य सभालने की साधना अभी से शुरू करनी होगी। मासाहार करने की सलाह दू तो मुझे मालूम है कि आप नही मानेंगे। हालाकि मासाहार न करना मेरी राय मे मूर्खता है। मास न खाना हो तो काड लिव्हर आइल लीजिए। कम-से-कम अडे तो आपको लेने ही होगे।

काका साहब ने उन्हे जवाब दिया था, मासाहार से शरीर पुष्ट करने मे मैं विश्वास नही करता। पर आपकी सलाह बेकार नही जाएगी। मै अपना स्वास्थ्य सभालूगा। इतना विश्वास दिलाता हू कि जब मरूगा, क्षय रोग से नही मरूंगा।

पर अब क्या किया जा सकता था ?

स्वामी आनद उनके आत्मीय जन थे। उन्होने काका साहब का केस अपने हाथ मे ले लिया। न जाने कहा-कहा से पैसे ले आए। पहले उन्हें नर्मदा के किनारे ले गए। वहा से पूना के पास चिंचवड़ ले गए। वहा से सिंहगढ़, सिंहगढ़ से बम्बई की उत्तर की ओर बोरडी ले गए।

हजीरा, चिचवड़, यवत, सिंहगढ़, बोरडी— कई स्थानों मे उन्होंने काका साहब को रखा। मेवा मे शामलभाई पटेल, जिनसे जेल मे परिचय हुआ था, कुछ समय रहे। इनके बाद आश्रम की एक बुजुर्ग महिला गंगाबेन वैद्य ने काका साहब को कब्जे मे ले लिया।

स्वामी बीच-बीच में आकर उनसे मिलते थे और व्यवस्था देखकर चले जाते थे। कोई रिश्तेदार भी इतनी चिंता नही करेगा, जितनी स्वामी काका साहब की करते थे। स्वामी की प्रेम-भक्ति देखकर काका साहब का कभी-कभी दम घुटने लगता था। वे अपने आपमे पूछते थे, क्या मै इतनी प्रेम-भक्ति के योग्य हू ? उन्हें और एक बात का सकोच महसूस होता था : स्वामी जी उनके लिए खर्च करते थे, वह उन्हे बहुत ज्यादा मालूम होता था। मै कोई सेवा तो नही करता, फिर, मेरे लिए इतना खर्च किसी को क्यो करना चाहिए ? उधर आश्रम मे भी उनकी तनख्वाह आश्रम के ढंग की कमाऊ खाऊ ही क्यो न हो, उनके खाते मे जमा होती थी। वह लेने का भी मुझे क्या अधिकार है ? गाधीजी ने उनको लिखा : हम सब गरीब है, इसलिए खर्च की कोई मर्यादा तो होनी ही चाहिए, इसमें सदेह नही। पर कहा और कितनी इस विषय मे सबको लागू कर सके ऐसा सामान्य नियम तो हो ही नही सकता। आपके लिए क्या करना आवश्यक है, इस विषय मे हम सब स्वामी से बातचीत करेंगे। पर अत मे वे जो निश्चय करेंगे, वही हमे मानना होगा।...आपकी जिम्मेदारी स्वामी ने उठाई है। इसलिए मै निश्चित हू। सेवा-कार्य के बिना तनख्वाह लेने मे काका साहब जो सकोच महसूस करत थे, उसके बारे मे गाधीजी ने और एक पत्र मे लिखा. 'बिस्तर पर पड़े-पड़े, विद्यार्थियो के नाम पत्र लिखते रहें, जिससे उन्हें भी लाभ होगा और आपको भी सेवा-कार्य का सतोष मिलेगा।'

काका साहब ने विद्यार्थियो के नाम कुछ पत्र लिखे। इनमे से दो-तीन उनकी 'जीवन नो आनंद' नामक पुस्तक मे सग्रहीत कर लिए गए हैं। पर इतने सेवा-कार्य से उन्हे सतोष न हुआ, तब उन्होंने स्वयं दो कार्य अपने हाथ मे ले लिए— एक 'स्मरण-यात्रा' लिखने का और दूसरा गुजराती भाषा का एक 'जोडणी कोश' तैयार करने का। वे लिखते है :

> युवकों के पवित्र साथ मे जिसने बहुत दिन बिताए है, वह जानता है कि उनके मन का संकोच दूर करके उन्हें अपने विषय मे बोलने को प्रवृत्त करना

हो...या उन्हें आत्म-परीक्षण की कला सिखानी हो तो जिन स्वाभाविक साधनों का प्रयोग हम करते हैं, उनमे से एक महत्वपूर्ण साधना है कि हम अपने निजी बचपन का प्रांजल निवेदन उनके सामने नि सकोच पेश करें। ...इससे बच्चों का हृदय कमल अपने-आप खिलने लगता है। अपने गुण-दोष, जय-पराजय आदि का हूबहू चित्र अगर हम उनके सामने खीच दे तो उन्हे असाधारण आनद मिलता है।...उन्हे ऐसा मालूम होने लगता है कि इन बुजुर्गो का जीवन भी हमार जीवन-जैसा ही था।...यह देखकर उन्हें बडी तसल्ली होती है कि उनके अनुभव, उनकी गलतिया, उनकी महत्वाकाक्षाए और उनकी अज्ञानता —इनमे मे कुछ भी असाधारण नही है। उन्ही के जैसे ही बहुतेर हैं।...उन्हे ऐसा लगता है कि उनका महत्व यथोचित है। जो चीज दूसरे लोग कर सके, उसे वे भी कर सकेंगे...इसमे उनका आत्मविश्वास बढने लगता है।

जब चद्रशकर शुक्ल उनके पास आकर रहे, उन्होने उपरोक्त प्रेरणा से उन्हे अपने आठ साल से लेकर अठारहवे साल तक के सस्मरण लिखवाए जो 'स्मरण-यात्रा' के नाम से बाद मे प्रकाशित हुए।

'स्मरण यात्रा' की यह जन्म-कथा है।

'जोडणी कोश' की जन्म-कथा कुछ और प्रकार की है—

दुनिया की सभी प्रगल्भ भाषाओ मे शब्दो की वर्तनी के नियम कब के निश्चित और स्थिर हो चुके है। गुजराती भाषा के अब तक नही हुए थे। गुजराती लेखक इस विषय मे कुछ शिथिल और बेदरकार से थे। गुजराती भाषा के विकास और प्रचार की दृष्टि से उनके शब्दो की वर्तनी निश्चित होना बहुत जरूरी है, यह बरसो से कई विद्वानो को महसूस होता आया था। गाधीजी भी उनमे से एक थे। वे तो वर्तनी की शुद्धि को चारित्र्य की शुद्धि जितनी ही महत्व की मानते थे। 1922 को जेल मे जब उन्होंने सुना कि काका साहब नवजीवन मे बहुत-कुछ लिखने मे लगे हैं और उच्च कोटि के एक साहित्यकार के रूप मे उनकी प्रतिष्ठा प्रस्थापित हो चुकी है, तब उन्होंने एक दिन काका साहब को एक पत्र मे लिखा और कहा, मराठी, बगला, तमिल आदि भाषाओं मे जिस तरह शब्दों की वर्तनी के नियम निश्चित किए गए हैं, वैसे गुजराती मे नही है। गुजराती मे हर कोई जैसा मन में आए वैसा लिखता आया है। इमसे गुजराती भाषा भूत

जैसी हो गई है। कलेवर के अभाव मे भूत की तरह हवा में भटकती है। उसकी यह दुर्दशा दूर करने का काम अगर आपका नही है तो किसका है ? मुझे एक ऐसा कोश तैयार करके दीजिए, जिसमे गुजराती के सब शब्द हों और हर शब्द की वर्तनी नियम के अनुसार शुद्ध हो।

काका साहब ने जब यह पत्र पढ़ा, उन्हे बड़ा आश्चर्य हुआ। पर उस समय तो वे यह काम हाथ मे नही ले सकते थे, क्योंकि वे भी कुछ ही समय के बाद जेल मे चले गए थे। रिहा होने पर जब गांधीजी से मिले, उन्होने कहा, 'बापूजी, आपने मुझसे यह उम्मीद कैसे रखी ? मैं तो अपने को इस काम के लिए सर्वथा अयोग्य समझता हूं। न तो गुजराती मेरी मातृ भाषा है, न ही उसके साहित्य का मैंने अध्ययन किया है, गुजराती भाषा का व्याकरण भी मैं ठीक तरह से नही जानता। गुजराती मे लिखने लगा, इससे गुजराती भाषा का तद्विद मैं थोड़े ही बन जाता हू। मुझसे महादेवभाई या नरहरिभाई यह काम अच्छी तरह कर सकते हैं।'

गाधीजी बोले, 'मैने कब कहा कि यह काम आप अकेले ही करे। जिनकी मदद लेना चाहे, अवश्य लें। पर कोश तो मै आपसे ही मागूगा।'

स्वास्थ्य लाभ के लिए काका साहब जब बोरडी मे जाकर रहे, तब उन्हे गांधीजी के साथ हुई इस बातचीत का स्मरण हुआ और उन्होने यहा की निवृत्ति मे कोश की प्रवृत्ति हाथ मे लेने का निश्चय किया। सबसे पहले गुजराती भाषा का व्याकरण पढ़ डाला। उसके बाद वर्तनी के बारे में पिछले कई वर्षों से गुजरात में चर्चा चली थी, उस सम्बध मे सारा साहित्य मंगवाकर पढ़ डाला। नरहरि भाई उन दिनो सूरत में थे। उनसे सूचनाएं मागी। चद्रशंकर शुक्ल साथ मे थे, उनकी मदद से काम शुरू कर दिया। कुछ दिनो के बाद नरहरिभाई को यहां बुला लिया। गाधीजी को लिखे हुए एक पत्र मे वे कहते हैं .

> कोश का काम यहा अच्छी तरह से चल रहा है। नरहरिभाई उसके पीछे पड़े हैं। मैं रोज डेढ़ दो घटे इस काम के लिए दे देता हू। नरहरिभाई मध्य जून तक यहां रहेगे, तब तक कोश को क्या स्वरूप लेना चाहिए इस विषय में बहुत कुछ निश्चित हो जाएगा। मुझे इस काम में दिलचस्पी है, इसलिए दिमाग पर बोझ-सा कुछ महसूस नही होता। महाविद्यालय के अध्यापको

ने मदद देना कबूल कर लिया है। वे यह मदद उत्साह से न दे तो दो-चार महीने अधिक काम करना पड़ेगा। बस, इतना ही फर्क पड़ेगा।

नरहरिभाई की मदद से काम शुरू करने के बाद उन्होंने रमणभाई नीलकठ केशवलाल हर्षदराय ध्रुव, आनद शकर ध्रुव, नरसिंहराव दिवेटिया आदि विद्वानों से मिलने के लिए नरहरिभाई को भेजा। उन्हे 'सर्वेषाम अविरोधेन' अधिक-से-अधिक लोगो को अनुकूल करके काम आगे चलाना था। नरहरिभाई के नाम एक पत्र मे वे लिखते हैं :

चद्रशकर कहते हैं कि हमारे एक-दो नियम तो विद्वान स्वीकार नही करेंगे। अगर ऐसा हुआ तो अनेक सम्प्रदायो मे वर्तनी का एक गाधी सम्प्रदाय तैयार होगा। हम तो कम-से-कम विरोध हो इस तरह यह काम करना चाहते है। हमारे नियमो को सर्वमान्य होने मे अगर कोई अडचन आए तो हम उसे निकाल ही दे और अगर हमारे नियमो मे कुछ विशेषता हो तो हम विद्वानो के पास जाए, उन्हे समझा दे, प्रार्थना विनय करे और उनकी मान्यता प्राप्त करे। यह काम आप नही करेंगे, तो दूसरा कौन करेगा?

महीनो तक काका साहब इस काम मे डूबे रहे। मदद मे चद्रशकर शुक्ल थे, नरहरिभाई थे। विश्वनाथ मगनलाल भट्ट भी आ गए थे। कोश बोरडी मे पूरा नही हो सका। वह तो बाद मे जब उन्होने गुजरात विद्यापीठ की जिम्मेदारी अपने सिर पर ली, तब पूरा हुआ। विद्यापीठ की ओर से उन्होने कोश के लिए एक समिति नियुक्त की थी, जिसके महादेवभाई और नरहरिभाई प्रमुख सदस्य थे। कोश पूरा करने के लिए उन्हे पाच साल लगे, पर जब पूरा करके उन्होने वह गाधीजी के हाथ मे दिया, गाधीजी बडे प्रसन्न हुए और नवजीवन मे उन्होने लिखा : 'अब किसी को मनमानी वर्तनी मे लिखने का अधिकार नही रहा।'

इस कोश की अब तक कई आवृत्तिया निकल चुकी है। हर आवृत्ति के साथ उसका आकार बढता ही रहा है। आज भी वह 'जोडणी कोश' के नाम से ही पहचाना जाता है और गुजराती भाषा के आदर्श और प्रामाणिक कोश के रूप मे उसकी प्रतिष्ठा बनी हुई है।

नई प्रवृत्ति

अनुकूल आबोहवा, अच्छी खुराक, निश्चित वातावरण और स्वामी की प्रेम भक्ति— इन कारणो से दो-ढाई साल मे तबीअत सुधर गई । पर पूरे रोगमुक्त नही हुए । इसलिए स्वामी ने तय किया कि अब उन्हे इधर-उधर रखने के बदले आश्रम मे ही वापस ले चलना चाहिए और अहमदाबाद के डा० तलवलकर का उपचार शुरू करवा देना चाहिए । डा० तलवलकर क्षय रोग के निष्णात माने जाते थे । उनसे लगभग बाईस इजेक्शन लेकर काका साहब बिलकुल रोग मुक्त हो गए ।

काका साहब ने इसे अपना नया जन्म माना और मन-ही-मन उन्होने निश्चय किया : अब मैं कभी भी बीमार नही पडूगा । स्वास्थ्य लाभ मे बिताए इन दो-ढाई वर्षो मे उन्होने शरीर शास्त्र, आरोग्य शास्त्र और आहार शास्त्र की कई पुस्तके पढ डाली थी । डा० दिनशा महता जैसे प्राकृतिक चिकित्सक मे चर्चाए भी काफी कर ली थी । तबीअत कैसे सभालनी चाहिए, तबीअत अच्छी रखने के लिए रोज कितना श्रम करना आवश्यक है, क्या खाना जरूरी है, कितनी नीद लेनी चाहिए, मन का शरीर पर क्या असर होता है आदि आवश्यक ज्ञान उन्होने प्राप्त कर लिया था । मन पर काबू रखकर सुख और दुख दोनो से अलिप्त रहने की साधना भी चालू कर दी थी और मन को चिता के बदले चिंतन मे मग्न रखना चाहिए यह अपना जीवन सूत्र बना लिया था ।

उनकी इस स्वास्थ्य सभाल की साधना मे गाधीजी ने भी अप्रत्यक्ष रूप से हाथ बटाया । काका साहब की बीमारी उनकी चिता का एक विषय बन गया था । चूकि स्वामी ने काका साहब की जिम्मेदारी उठा ली थी, इसलिए वे उनकी योजनाओ मे दखल नही देते थे । फिर भी, वे चिताओ से मुक्त नही हुए थे । काका साहब को वे नियमित रूप मे पत्र लिखते थे । स्वामी से भी पूछताछ किया करते थे । पर इससे उनको सतोष कैसे हो ? गाधीजी का स्वभाव ही ऐसा था कि जब तक बीमार साथी की वे प्रत्यक्ष सेवा नही करते, उन्हे सतोष नही होता था । काका साहब सिंहगढ मे थे, तब एक बार वे उनकी सेवा करने के लिए वहा पहुच गए । काका साहब कहते हैं

> मुझे बडी शर्म महसूस हुई । इतना बडा यह युगपुरुष मेरी सेवा मे अपना समय खर्च करे, यह मुझे शोभा नही देता । पर मैं क्या करू ? उनका यह

स्वभाव है। कोई बीमार पड़े तो उसकी सेवा करने के लिए वे आ ही जाएगे। उन्हे कोई रोक नही सकता। मेरे मन मे उस दिन काफी मनोमथन चला। मुझे लगा, मेरे पास एक ही इलाज है मै कभी बीमार ही न पडू और अपनी चिता या सेवा करने की नौबत ही न आने दू। मैंने उस दिन यही निश्चय किया। मैं समझता हू, मेरी स्वास्थ्य साधना मे बापूजी को चिंता नही होनी चाहिए, यह एक बहुत बडा घटक-कारण सिद्ध हुआ है।[1]

इस समय का एक मधुर सस्मरण काका साहब सुनाते हैं :

डा० तलवलकर के उपचार शुरू करने के लिए स्वामी मुझे आश्रम मे ले आए। आश्रम मे पहुचे मुझे कुछ ही देर हुई थी कि एक लडकी थाली मे अच्छे-अच्छे फूल लेकर आई। कहने लगी, बापू ने यह फूल आपके लिए भेजे हैं। मेरी आखो मे आसू आ गए। वह आगे बोली, बापू ने हमे कहा है कि काका के पास रोज इसी तरह फूल पहुचाती रहो। काका को फूलो से बडा प्रेम है। बापू मेरा कितना ख्याल रखते थे। रोज समय निकाल कर मेरे पास आ ही जाते थे। मै बिलकुल रोगमुक्त हुआ तब उन्होने कहा, अच्छा हुआ कि आप रोगमुक्त हो गए है। पर अभी किसी काम मे नही लगना है। आप कुछ दिनो के लिए फिर से बोरडी जाकर रहिए। वहा की आबो-हवा आपको अनुकूल आई है। वहा कुछ आराम कर और आगे क्या करना है यह सोचकर बताए।[1]

काका साहब रोगमुक्त होने के बाद बोरडी चले गए। कुछ समय के बाद अपने भावी कार्यक्रम के बारे मे उन्होने वहा से गाधीजी को एक पत्र लिखा

यहा आने के बाद मैने काफी विचार किया ..और अत मे पक्के निर्णय पर पहुच गया हू। ..मेरे अनिश्चय से थक कर स्वामी ने मेरा पीछा छोड दिया था। इससे विचार करने मे मदद ही हुई।...आश्रम व्यवस्था मे अब कोई पेचीदा सवाल ही नही रहा है। सब एकराग से चलेगा। मै द्वैत दूर नही कर सका यह बात सही है, पर मन मे अब कोई विरोध नही रहा है। मेरे मन से जब तक द्वैत दूर नही होगा तब तक मुझे लगता है, व्यवस्था मे हिस्सा लेना मेरे लिए अनुचित है। इसलिए विचारपूर्वक और सतोष से

1. लेखक के साथ बातचीत से।

मैने व्यवस्था की मगजपच्ची छोड दी है।...अब रहा मेरा सवाल। व्यवहार की दृष्टि से और आध्यात्मिक दृष्टि से भी मैंने बहुत विचार किया। मुझे लगता है कि अब मुझे शिक्षक का काम नही करना चाहिए।...मै सलाहकार ही बनकर रह सकता हू। सारी जिंदगी मे शिक्षा की ही दृष्टि मैंने विकसित की है और अब शाला के बाहर की व्यापक सामाजिक शिक्षा पर जोर देना अधिक उपयुक्त लगता है। इस काम का विकास किस तरह होगा, यह तो धीरे धीरे स्पष्ट होगा। फिलहाल तो एक मासिक पत्रिका चलाना यही उत्तम मार्ग मालूम होता है। आपकी सूचना के अनुसार नवजीवन की पूर्ति के रूप मे मासिक चलाना मै भी पसद करता। पर स्वामी का अभिप्राय है कि उसमे व्यवस्था की कठिनाई होगी। इसलिए नया नाम देकर एक स्वतत्र मासिक पत्रिका चलाने की सोच रहा हू।... अब तक के विविध अनुभवो को ध्यान मे रखकर इस नई प्रवृत्ति का पूर्ण रूप से स्वतत्र रखकर काम करना चाहता हू। आपकी सूचनाए मेरे लिए शिरोधार्य रहेगी। साथियो की सूचनाओ और मदद की उम्मीद रखता हू। पर पत्रिका का पूरा तत्र अपने ही हाथ मे रखना चाहता हू। ..मैने अपने लिए यह कार्यक्रम निश्चित तो किया, पर मै सब तरह से आपके अधीन हू। आपकी अनुमति होगी, तभी यह काम हाथ मे लूगा।

गाधीजी ने मासिक पत्रिका चलाने की उन्हे अनुमति दे दी। पर स्वतत्र रूप से नही, बल्कि नवजीवन की पूर्ति के रूप मे ही चलाने का कहा और काका साहब ने 'शिक्षण अने साहित्य' के नाम से वह चलानी शुरू कर दी। वे आश्रम मे ही रहने लगे और चद्रशकर शुक्ल उन्हे इस काम मे मदद करने लगे।

सन् 1927 के अत मे गाधीजी ने दक्षिण भारत मे अपनी खादी-यात्रा जब शुरू की, उन्होने काका साहब को भी साथ मे ले लिया। इस यात्रा के दरमियान गाधीजी को सिलोन (श्रीलका) की यात्रा भी करनी थी। इस यात्रा के कई रोचक किस्से काका साहब सुनाते थे। उनमे से तीन बड़े ही रोचक है :

दक्षिण मे चिकाकोल नामक का एक स्थान है, जहा का खादी केन्द्र बहुत अच्छा चल रहा था। पहले तय किए हुए कार्यक्रम के अनुसार गांधीजी को वहा शाम के सात बजे पहुचना था, पर पहुचे रात के दस बजे। वहा की महिलाओ ने एक प्रदर्शनी आयोजित की थी। गाधीजी की प्रतीक्षा मे बेचारी तीन घटे

बैठी रही थीं। इसलिए चिकाकोल पहुंचते ही गांधीजी सीधे प्रदर्शनी के स्थान पर चले गए। महादेवभाई और काका साहब निवास-स्थान पर गए। खूब थक गए थे, इसलिए निवास-स्थान पर पहुंचते ही दोनों सो गए। सुबह चार बजे प्रार्थना के लिए इकट्ठा हुए तो गांधीजी ने महादेवभाई से पूछा, 'महादेव, कल प्रार्थना का क्या हुआ ?' प्रश्न सुनते ही काका साहब का दिल बैठ गया। उन्होंने कहा, 'मैं तो थक गया था। यहां पहुंचते ही सो गया। प्रार्थना करना भूल ही गया।' महादेवभाई ने कहा, 'मैं भी भूल गया था। किन्तु एक नींद पूरी करने के बाद जब जागा, तब याद आया और बिछौने पर बैठ कर मन-ही-मन प्रार्थना कर ली। काका को नहीं जगाया।'

गांधीजी ने कहा, 'मैं भी भूल गया था। तीन बजे जागा, तब याद आया, 'अरे, प्रार्थना करना तो भूल ही गया।' तबसे पश्चाताप से मेरा शरीर कांप रहा है। मैं बहुत ही बेचैन हूं। सोचता हूं, मैं भगवान को कैसे भूल गया ? जो मेरे सांस का मालिक है, उसे अगर नींद के कारण भूल सकता हूं तो मैं क्या करूंगा ? किस शक्ति के सहारे काम करूंगा ? उसकी प्रार्थना करना मैं कैसे भूल गया ?'

प्रार्थना कर ली और सब अपने-अपने काम में लग गए। गांधीजी को फुरसत तो शायद ही मिलती थी। जब भोजन के लिए बैठे, तब काका साहब ने गांधीजी से पूछा, 'बापूजी, एक किस्सा सुनाऊं ?'

बोले, 'सुनाइए।'

काका साहब ने कहा, एक सूफी संत थे। बड़े ईश्वर भक्त। रोज पांच बार नमाज पढ़ते थे। एक बार वे थके मांदे थे, इसलिए सो गए। जब नमाज पढ़ने का समय हुआ, किसी ने उन्हें जगाया, उठो उठो, नमाज का समय हुआ है। वे उठे और बड़ी कृतज्ञता से उठाने वाले को कहने लगे, भई तुमने तो मेरा बड़ा काम किया। मुझे बचाया। मेरी इबादत रह जाती तो क्या गजब होता...तुम कौन हो ? अपना नाम तो बताओ।

उसने नाम बताया : मैं इब्लीस हूं। इब्लीस याने शैतान।

'इब्लीस ?' संत ने आश्चर्य से पूछा, 'अरे तुम्हारा काम तो लोगों को इबादत करने से रोकना है।...तुम मुझे कैसे जगाने आए ?'

शैतान बोला, इससे पहले एक बार तुम ऐसे ही थक कर सो गए थे। नमाज का समय बीत चुका था, तब मै बहुत खुश हुआ था। पर, जब तुम जागे तो इतने पछताए, इतने रोए, इतने दुखी हुए कि अल्लाह के ज्यादा प्यारे हो गए। तुम्हारा पाप इस पछतावे मे धुल गया। इसलिए मैंने सोचा कि कही फिर से ऐसा न हो और अल्लाह के ज्यादा प्यारे न हो जाओ। इसलिए मैंने तुम्हे जगा दिया। किस्सा सुनकर गाधीजी मुस्कराए। काका साहब कहते हैं :

> मुझे भी बडी खुशी हुई। सन् 1915 से लेकर अत तक मैंने उनका जीवन देखा है। उनका ईश्वर ध्यान, ईश्वर-चितन देखा है। एक क्षण के लिए भी उसमे विलब नही हुआ है। उनमे मैने भक्ति देखी है। फिर भी उन्होने प्रार्थना के लिए ज्यादा समय नही दिया। निश्चित समय पर सबके साथ प्रार्थना मे बैठते थे, तल्लीन हो जाते थे और प्रार्थना पूरी होते ही काम मे लग जाते थे। उनके लिए सारे काम भगवान के ही थे। कहते थे, काम से समय चुराकर नाम मे लगाऊ तो भगवान नाराज होगे।

चिकाकोल के इस अनुभव के बाद गाधीजी ने निश्चय किया, आज से हमारी प्रार्थना शाम को सात बज ही होगी, फिर हम कही भी हो। तब उनकी प्रार्थना शाम को सात बज ही होने लगी – कही भी हो, जगल म, बसती मे, मोटर म शाम के सात बजते ही प्रार्थना शुरू कर ही देते थे।

दूसरा किस्सा इससे कुछ दिन पहले का है। पर इसी यात्रा के दरमियान का है :

यात्रा मे कर्नाटक मे वे सागर शिमोगा के पास पहुचे थे। जोग का प्रपात वहा से बिलकुल नजदीक था—केवल दस बारह मील की दूरी पर। राजाजी ने, जो इस यात्रा के प्रबधक थे, वहा जाने के लिए मोटर गाडियो का प्रबध किया था। गाधीजी की पार्टी मे जितने थे, सभी वहा जाने के लिए तैयार हो गए। काका साहब ने गाधीजी से कहा, 'आप भी चलिए न।...दुनिया का यह सबसे ऊचा प्रपात है।

'नायगरा से भी ?' गाधीजी ने पूछा।

'जी, नायगरा मे पानी का जत्था बड़ा है। ऊचाई मे तो उससे बढ-चढ कर सैकडो प्रपात हमारे देश मे है। पर जोग का प्रपात अद्वितीय है। नौ सौ साठ फुट की ऊचाई से गिरता है। इतना ऊंचा प्रपात दुनिया मे कही नही है।'

'अच्छा ? बारिश का पानी कितनी ऊचाई से गिरता है ?' गाधीजी ने पूछा। काका साहब झेप गए । फिर उन्हे ख्याल आया कि वे एक स्थितप्रज्ञ से बात कर रहे हैं। इसलिए उन्होने उन्हे ललचाने के प्रयत्न छोड दिए और दूसरा एक प्रस्ताव उनके सामने रखा : 'अच्छा, आप भले न आए। महादेवभाई को तो जाने दीजिए।'

'महादव नही आएगा । मै ही उसका जोग हू ।' गाधीजी ने जवाब दिया। काका साहब को ख्याल नही था कि वह उनका 'यग इडिया' का दिन था । अपनी तूफान यात्रा मे भी वे समय निकाल कर यग इडिया और नवजीवन को लेख लिखकर भेज देत थे । उस दिन अगर वे न लिखते तो दोनों पत्रिकाए समय पर न निकल पाती ।

काका साहब नाराज होकर बोले, 'न आप आते है, न महादेव को जाने देते... तो मुझे भी नही जाना है ।'

गाधीजी कहने लगे, 'नही नही, आपको तो जाना ही है । जोग का प्रपात देखना आपका स्वधर्म है । आप शिक्षक हैं, विद्यार्थियो को भूगोल का एक अच्छा पाठ सिखाएगे। आपको जाना ही होगा ।'

काका साहब गए । प्रपात देखकर आए और उसके बारे मे उन्होने एक सुदर यात्रा-वर्णन भी लिख डाला ।

लगभग पद्रह साल के बाद की बात है । गाधीजी न महादेवभाई को किसी काम के सिलसिले मे मैसूर के दीवान मिर्जा इस्माइल के पास भेजा था। महादेवभाई जब जाने के लिए निकले तब गाधीजी ने उनसे कहा, देखो, अबकी बार जोग का प्रपात जरूर देख आना । मैने सर मिर्जा का लिखा है, वे प्रबध कर देगे । काका साहब कहत है :

> महादेभाई प्रपात देखकर आए। उन्हे जितना सतोष हुआ उससे ज्यादा मुझे हुआ और बापू को इस बात का सतोष हुआ कि उन्हाने एक साथ हम दोनो को सतुष्ट किया ।

तीसरा किस्सा इसी तरह का है :

नागरकोविल गाव से कन्या-कुमारी बहुत नजदीक है । गाधीजी इससे पहले एक बार कन्या-कुमारी हो आये थे और वहा के दृश्य से बडे प्रभावित भी हुए थे।

आश्रम में लौटने पर काका साहब से बड़े उत्साह से उन्होंने कन्या कुमारी की बातें की थीं। अबकी बार नागरकोविल पहुंचते ही उन्होंने मेजबान को बुलाकर कहा, मैं काका को कन्या कुमारी भेजना चाहता हूं। गाड़ी का प्रबंध कीजिए।

कुछ समय के बाद उन्होंने मेजबान को बुलाकर पूछा, क्या अभी तक काका का कोई प्रबंध नहीं हुआ ?

किसी को काम सौंपने के बाद क्या हुआ वगैरह पूछने की गांधीजी को आदत नहीं थी। इसलिए काका साहब समझ गए कि गांधीजी कन्या कुमारी से काफी प्रभावित हैं और जब तक काका साहब यह स्थान देखकर नहीं आते, तब तक वे चैन से बैठने वाले नहीं हैं।

काका साहब ने विवेकानन्द की जीवनी में पढ़ा था कि कन्या कुमारी में जब वे पहुंचे थे, बड़े भावावेश में आ गए थे और समुद्र मे कूद कर एक शिला पर जाकर बैठ गए थे।

काका साहब ने गांधीजी से पूछा : 'आप भी आएंगे न ?'

बोले, 'बार-बार जाना मेरे भाग्य में नहीं है। एक बार हो आया, उतने से मुझे संतोष मानना होगा।'

कुछ देर रुक कर कहने लगे, 'इतना बडा आंदोलन लेकर बैठा हूं। हजारों स्वयंसेवक काम में लगे हुए हैं। रमणीय स्थान देखने का लोभ मैं संवरण न कर सकूं तो वे लोग मेरा अनुकरण करने लगेंगे। अब, आप ही हिसाब लगाकर देखिए, हजारों स्वयंसेवक अगर इस तरह इधर-उधर रमणीय स्थान देखने जाएं तो कितने लोगों की सेवा से देश वंचित होगा ? इसलिए, संयम रखना ही मेरे लिए उचित है।'

काका साहब को जोग का अनुभव था। इसलिए उन्होंने कोई आग्रह नहीं किया। उन्होंने इतना ही कहा, 'बा मेरे साथ आए तो आपको कोई आपत्ति तो नहीं होगी ? चंद्रशेखर भी आएगा।'

काका साहब बा को लेकर कन्या कुमारी देखने गए।

पूर्व सागर, पश्चिम सागर और दक्षिण सागर, तीनों महासागरों का यहां सनातन मिलन है। यहां सूर्य एक सागर से उगता है और दूसरे सागर में डूबता है। भारत के पूर्व और पश्चिम, दोनों किनारे यहां एक हो जाते हैं। भारतीय

यात्रा की यहा परिसमाप्ति है। बडा भव्य दृश्य है। काका साहब यह देखकर भावविभोर हो गए। वे लिखते हैं :

> समुद्र मे स्नान करके एक बडी चट्टान पर जा बैठा और उपनिषद के जो मत्र याद आए उन्हे महासागर के ताल के साथ गाने लगा। इस प्राकृतिक और सास्कृतिक कसौटी पर मैने बापू का जीवनक्रम कसकर देखा और मुझे प्रतीत हुआ उनके जीवन की भव्यता इससे कतई कम नही है।

स्वदेशी धर्म

गलतफहमी चाहे कितनी ही हुई हो, वह अगर गलतफहमी ही है तो उसकी सफाई किसी न-किसी दिन हो ही जाती है। स्वय नियति ही सफाई का काम करती है यह काका साहब की एक मूलभूत श्रद्धा थी। इसलिए जब कभी गलतफहमी हो जाती उसे दूर करने के प्रयत्न म वह अपनी शक्ति बरबाद नही करते थे। यह काम वह नियति पर छोड देते थे।

कालिज के दिनो म ही काका साहब स्वदेशी आदोलन के बडे समर्थक बन गए थे। उन दिनो देश मे खास तौर स महाराष्ट्र और बगाल मे यह आदोलन बडे जोर-शोर के साथ चल रहा था। पर इसके बावजूद भी 'स्वदेशी' के बारे मे विशेष कोई चितन नही हु आ था। स्वदेशी के सभी अगो पर किसी ने भी विशेष गहराई म सोचा नही था। आर्थिक स्वदेशी की बात जब की जाती थी लोगो की समझ मे वह आ जाती थी। पर उसकी सफलता के बारे म उनके मन म बडे-बडे देशभक्तो के मन म भी शकाए रहती थी। अग्रेजो को परेशान करने के एक हथियार के रूप मे ही लोग अक्सर आर्थिक स्वावलम्बन को स्वीकार करते थे। सास्कृतिक स्वदेशी की बात जब की जाती, लोगो का वह तुरत जच जाती थी और लोग उसको बडी सहजता से स्वीकार कर लेते थे। उनके स्वदेशाभिमान को वह सास्कृतिक स्वदेशी पोषण देती थी। पर...

वह रूढिप्रेम म विकृत हो जाती थी।

गाधीजी भी स्वदेशी आदोलन के बडे समर्थक थे और 'स्वदेशी' की उनकी व्याख्या बिलकुल साफ और बहुत व्यापक थी। उनकी दृष्टि से उसका अर्थ स्वदेशाभिमान था, सामाजिक तो था, पडोसी धर्म था, अध्यात्म था, सब-कुछ था। वे कहते थे कि ईसा के 'पडोसी पर प्रेम करो' (लव दाय नेबर) के उपदेश को

कार्यान्वित करने का यह मेरा कार्यक्रम है। मान लीजिए, किसी ने मेरे पड़ोस में एक दुकान खोल दी है। जाहिर है, उसे यही उम्मीद रहती है कि मैं उसी की दुकान से चीजें खरीदू। दुकान खोलने मे आजीविका पाने का उसका स्वार्थ भले रहे, पर उस भूभाग की सेवा का भाव भी तो उसके मन मे होता ही है। इसलिए गाधीजी कहते थे : उस दुकान से चीजें खरीदना मेरा कर्त्तव्य हो जाता है। यही मेरा पडोसी-धर्म है। इस धर्म को भूल कर मैं अगर इसलिए बाहर से चीजे खरीदू क्योंकि वहां सस्ती मिलती हैं, तो इसमे पडोसी धर्मभ्रष्ट हो जाता है।

जिस समाज मे और जिस देश मे हम जन्म लेते हैं, उसकी सेवा करना हमारा मुख्य धर्म है और यही स्वदेशी धर्म है।

काका साहब ग्रामोद्योगो और हाथ की कारीगरी का कलात्मक और आध्यात्मिक महत्व पहले से ही समझ गए थे। 'हिन्द-स्वराज्य' पढने पर यत्रो की मर्यादा का महत्व वे समझने लगे। इसलिए गाधीजी की स्वदेशी की व्याख्या स्वीकार करने मे उन्हे कोई दिक्कत महसूस नही हुई। आश्रम मे शरीक होने से पहले 1916 मे वे गाधीजी से बम्बई मे मिले थे, तब बातो-ही-बातो मे स्वदेशी की बात चली। गाधीजी ने कहा, स्वदेशी के द्वारा ही भारत का उद्धार हो सकता है। वे और कुछ कहने जा रहे थे, इतने मे काका साहब ने जवाब दिया, 'इसमे कोई शक ही नही।'

गाधीजी बोले, 'आपने मेरी बात एकदम कबूल की इससे मुझे आनद भी हुआ और आश्चर्य भी। बहुत कम लोगो ने स्वदेशी के बारे से गहराई मे उतर कर सोचा है।'

इस समय तो बात यही रुक गई। बाद मे काका साहब आश्रम के बाकायदा सदस्य बन गए और गाधीजी से इस विषय मे उनकी कई चर्चाएं हुई। एक दिन बात-बात मे धर्मान्तर के बारे मे बात चल पड़ी, तब गांधीजी बोले, 'अपना धर्म छोड़कर दूसरा धर्म स्वीकार करना बिलकुल गलत है। अपने धर्म में कुछ बुराइया हों तो उन्हें हम अवश्य छोड़ दें। दूसरे धर्मों मे कोई अच्छाइयां दिखाई दें तो उनको स्वीकार करने मे कोई हिचकिचाहट महसूस न करें। पर जिस धर्म में हम जन्म लेते हैं, जिसके वातावरण मे हमारी परवरिश होती है, उसका त्याग हमे बिलकुल नहीं करना चाहिए।'

इतना कह कर उन्होंने अपने कथन मे और एक वाक्य जोड़ दिया · 'धर्मान्तर मे स्वदेशी के प्रति द्रोह है ।'

स्वदेशी की इतनी व्यापक व्याख्या काका साहब ने पहले न कही सुनी थी, न सोची थी । स्वदेशी का पालन और स्वधर्म का पालन उनकी दृष्टि मे अब एक हो गया था । ग्रामोद्योग, हस्तशिल्प, उनकी कलात्मकता, आध्यात्मिकता, पड़ोसी धर्म, यत्रो की मर्यादा और स्वधर्म पालन – इन सब को मिलाकर जो एक जीवन-दृष्टि बनती है, उसका विवरण उन्होने 'पूर्ण स्वदेशी' शीर्षक से मराठी म एक लेखमाला लिखकर किया । इस लेखमाला मे उन्होने लिखा कि स्वदेशी इस युग का सर्वश्रेष्ठ युगधर्म है । स्वदेशी के पालन से मानव जाति के स्वार्थ और लोभ पर अकुश लगेगा । युद्ध टलेगे और व्यापक बधुता की स्थापना होगी ।

काका साहब की शैली साहित्यिक होती थी । जो-कुछ वे लिखते थे, उसमे उपमाएं, अलकार आ ही जाते थे । साहित्यकार के इस धर्म के अनुसार उन्होने लिखा कि 'स्वदेशी तो भगवान का एक अवतार है ।' भगवान केवल मत्स्य, कूर्म, वराह या राम कृष्ण, बुद्ध ऐसे ही रूपो मे अवतार लेते हैं, ऐसा थोड़े ही कहा जा सकता है । वह कभी-कभी युग-सिद्धात के रूप मे भी अवतार लेते है ।

उत्साह मे उन्होने 'स्वदेशी' का यह पौराणिक रूप दे दिया ।

काका साहब की यह लेखमाला स्वामी आनद को बहुत पसद आई और उन्होने उसका गुजराती मे अनुवाद किया । उसके लिए गाधीजी से छोटी-सी प्रस्तावना माग ली और इसे 'स्वदेशी धर्म' के नाम से गुजराती म प्रकाशित की ।

किसी ने इसका अग्रेजी मे अनुवाद किया और मद्रास की ओर के गणेशन ने उसे पुस्तिका के रूप मे प्रकाशित भी कर दिया ।

इन्ही दिनों फ्रांस के प्रख्यात मनीषी रोमा रोलां गाधीजी की जीवनी लिख रहे थे । गाधीजी के जीवन से वे बहुत प्रभावित हुए थे और वे यूरोप के लोगों को उनका परिचय करा देना चाहते थे । यूरोप मे उन दिनों अंग्रेजो ने गाधीजी की निंदा शुरू कर दी थी । रोला उनकी जीवनी लिखकर, इसका जवाब देना चाहते थे । गांधीजी के बारे मे जितना कुछ साहित्य मिल सकता था, उन्होने इकट्ठा कर लिया था । डा० कालीदास नाग जैसे रवीन्द्रनाथ के शिष्य, जो अकसर उनसे मिला करते थे, सामग्री इकट्ठा करने मे उन्हे मदद करते थे ।

एक बार ऐसी ही कुछ मामग्री लाकर उन्होंने रोलां को दी और कहा : 'इसमे कोई शक नही कि गाधी एक माहत्मा हैं । पर जैसा कि हमेशा हुआ करता है, इस महात्मा के आमपास भी कुछ दकियानूसी लोग इकट्ठा हो गए हैं ।' और अपनी बात के समर्थन मे उन्होने काका साहब की 'द गोस्पेल आफ स्वदशी' रोला के हाथ मे रख दी । रोला अग्रेजी नही जानत थे, इसलिए काका साहब की पुस्तक के कुछ हिस्सो का फ्रासीसी मे अनुवाद करके उन्होने रोला को सुनाया । वह सुनकर रोला चोके । उनको स्वदेशी का विचार दकियानूसी ही नही, बल्कि भयानक भी मालूम हुआ और उन्होने अपनी पुस्तक मे काका साहब को आडे हाथो लेकर कहा, 'ईश्वर व रे और कालेलकर जैसे पवित्रतावादी लोगो से दुनिया को बचावे'। उनको लगा कि गाधीजी अगर अपने आसपास एसे दकियानूसी और सकुचित वृत्ति के लाग इकट्ठा करेगे तो वे थोड़े ही दिनो मे भारत के चारो ओर बडी-बड़ी दीवारे खडी कर देगे ।

रोला की इस कड़ी आलोचना की ओर सबसे पहले गाधीजी का ही ध्यान गया । उन्होने गणेशन द्वारा रोला को कहलवाया कि स्वदेशी की विचारधारा के सम्बध मे उन्हे किसी निष्कर्ष पर नही आना चाहिए, जब तक कि वे भारत में नही आते और परिस्थिति से परिचित नही हात । 'मुझे विश्वास है कि उन्हे अपनी राय बदलनी होगी ।' गणेशन ने रोला को यह सब लिखा और अपनी ओर से यह भी जोड दिया कि गाधीजी के अनुयायियो के बारे मे आपने जो लिखा है वह बिलकुल योग्य है, पर मुझे खेद हे कि आपने इस सदर्भ मे कालेलकर को चुना, जो महादेव देसाई के साथ गाधीजी के एक श्रेष्ठतम शिष्य हैं, जिन्होने गाधीजी को सबसे अधिक समझा ह ।'

लोग अब काका साहब की ओर देखने लगे । कइयो ने कहा, आप रोला को पत्र लिखकर अपनी भूमिका समझा दीजिए । गाधीजी ने भी कहा, रोला ने आपकी पुस्तक मे जो दोष देखे हैं, उन्हे दूर करने के लिए पूरी पुस्तक फिर स लिख डालिए ।

काका साहब ने अपनी पुस्तक फिर मे पढ डाली । उन्हे उसमे एक ही दोष दिखाई दिया, वह था अवतार की कल्पना का । बाकी बातो मे कोई दोष नही दिखाई दिया । उन्होने गाधीजी से थोडी चर्चा की, पर पुस्तक फिर से लिख डालने की उन्हे प्रेरणा नही हुई । उन्होने मन-ही-मन कहा, परदेश मे मेरे बारे

म गलतफहमी हुई ता उसमे मेरा क्या नुकसान है ? मेरे देश के लोग मेरी बाते समझ सकते हैं, यह मेर लिए काफी है और वह अपने कामो म मग्न हो गए।

कुछ समय के बाद रोला का सिफारिश पत्र लेकर मिस स्लड, जो बाद मे मीराबहन के नाम से प्रख्यात हुई, आश्रम म रहने के लिए आई। काका साहब से परिचय होते ही उन्होने कहा, रोला ने आप पर अन्याय किया है, आप अपनी भूमिका साफ करके एक पत्र लिखकर मुझे दीजिए, मे वह उनके पास भेज दूगी।

काका साहब ने कहा उनकी आलोचना से मेरा कोई नुकसान तो नही हुआ है न मेरे काम मे कोई विघ्न आया है। फिर क्यो सफाई के झझट मे मुझे पडना चाहिए ? छोड दीजिए इस बात को।

पर मीराबहन वो आसानी से छोडने वाली नही थी। कहने लगी, एक सत्पुरुष के मन म दूसरे एक सत्पुरुष के बारे मे गलतफहमी रहे, यह मुझसे बर्दाश्त नही होता। मै दोनो को जानती हू, इसलिए गलतफहमी दूर करना मैं अपना कर्तव्य मानती हू। आप पत्र लिख दीजिए।

मीराबहन के सतोष के लिए काका साहब ने रोला को एक पत्र लिखा। तुरत उनका जवाब आया

विलन्यव
विला ओल्गा
17 मार्च, 1927

प्रिय मित्र

हम दोनो की मित्र मीरा की ओर से भेजा गया आपका कृपा पत्र मुझे मिला। उसके लिए मै आपका दिल म शुक्रगुजार हू। यह खत मिलने से पहले ही मेने आपके बारे म जो कुछ लिखा था, उस अन्याय की ओर मीरा ने मेरा ध्यान आकर्षित किया था। अब मेरी प्रार्थना है कि उस सबके लिए आप मुझे क्षमा करे।

इसमे शक नही कि आपकी पुस्तक के अग्रेजी अनुवाद ने, जिसमे कुछ दृष्टि-बिंदुओ पर विशेष जोर दिया गया था, इतना ही नही, बल्कि उनको एक तरह से विकृत बनाया गया था, मुझे भुलावे मे डाल दिया। किन्तु

इसके अलावा और भी एक बात थी— आजकल यूरोपीय राष्ट्रो मे राष्ट्रीय घमड या अहता ने ऐसा कुछ भयानक रूप धारण किया है कि उसके खिलाफ लड़ते-लडते मुझे अपनी पूरी ताकत खर्च करनी पडी है। ऐसी स्थिति मे मुझे इस राष्ट्रीय अहता के ही भूत जहा-तहा नजर आने लगे हैं और जहा-जहा मुझे वह दिखाई देता है, मै हमेशा कमर कसकर उसके खिलाफ खड़ा हो जाता हू।

सम्भव है कि हिन्दुस्तान की हालत यूरोप से कुछ भिन्न हो। फिर भी मै जानता हू और खूब अच्छी तरह से जानता हू कि किस तरह एक अदम्य गति से यह नैतिकता का सक्रामक रोग यकायक फूट सकता है और किस तरह एक राष्ट्र का अपने न्याय अधिकार, कर्तव्य और अपने वैशिष्ठय-पूर्ण अस्तित्व का स्वाभाविक मान, देखते-देखत कुछ इने-गिने वर्षो मे ही, एक भयानक सर्वग्रामी राष्ट्रीय या वशीय अहता के पागलपन मे पलट सकता है। मानव जाति के सिर पर आज इसी खतरे की तलवार स्थाई•रूप से लटक रही है। इस खतरे से देश को बचाने के लिए, दश का जमीर कहा जा सकता है- ऐसे हमारे गुरु गाधी और आप जैसे लोगो का कडे सयम और सख्ती से काम लेना पडेगा और चूकि आप दोनो हमेशा के लिए तो नही रहेगे, इसलिए आपको चाहिए कि अपने आसपास के लोगो मे से आप इस विचार धारा को मानने वाले उत्साही राष्ट्रीय नेताओ को तैयार करे, जो निस्वार्थ भाव स आपकी जगह ले सकेगे। हम एक विश्वव्यापी तूफान मे फसे हुए हैं और एक क्षण के लिए भी आख झपकना खतरे से खाली नही है।

आपके खत मे सुभाषित जैसा एक वाक्य है, जो मुझे हमेशा याद रहेगा : 'सचमुच कोई ज्ञान विदेशी नही हो सकता, वह तो एक आत्मा की वस्तु है।' इसका मतलब यह हुआ कि हम सब भाई-भाई हैं, एक ही परमपिता के पुत्र हैं। बाकी के और सब मतभेद हम गौण समझे। इसलिए मित्रवर, मेरी प्रार्थना है कि व्यक्तिगत रूप मे नही, बल्कि आपकी पुस्तक के अग्रेजी अनुवाद मे एक गलत तस्वीर सामने आने के कारण मैने जो कडे शब्द आपके बारे मे लिखे हैं, वह आप भूल जाइए। मैं आपको विश्वास दिलाता हू कि अपनी किताब की अगली आवृत्ति मे मै उन्हे हटा दूगा। हाल मे अगर आप मजूर करे, तो गणेशन द्वारा प्रकाशित होने वाला जो सस्करण मीरा सुधार रही है, उसमे वह मेरे इस खत का उपयोग करे। आपके प्रति

मैंने जो अन्याय किया उसके बारे में मेरा प्रेमपूर्ण पश्चात्ताप वह आपके पास पहुंचायेगी। कृपा कर गांधीजी को मेरा सप्रेम प्रणाम कहिए। मै आपका निष्ठावान मित्र हूं, मुझ पर भरोसा रखिए।

आपका,
रोमां रोलां

पत्र फ्रांमीसी भाषा मे लिखा था। मीराबहन ने उमका अग्रेजी अनुवाद करके काका साहब को दिया। इस बीच रोला द्वारा लिखित गाधीजी की जीवनी का अंग्रेजी अनुवाद भारत मे खूब फैला। यह अनुवाद उनकी मूल फ्रांसीसी भाषा की पहली आवृत्ति मे किया गया था। इसलिए उसमे काका साहब की निंदा जैसी की तैसी ही रह गई। फ्रासीसी पुस्तक की दूसरी आवृत्ति से शायद वह निकाल दी गई होगी। पर भारत मे पहली ही आवृत्ति का अनुवाद चलता रहा। अब भी वही चल रहा है। कइयों ने काका साहब को सुझाया कि आप रोलां का पत्र प्रकाशित करें, नाकि रोला की सफाई भारत के पाठको तक पहुंच जाए। पर इतना बड़ा विद्वान क्षमा याचना कर रहा है, इस बात का प्रदर्शन करना काका साहब को उचित मालूम नही हुआ। उन्होने यह पत्र प्रकाशित होने नही दिया और वह अपने अन्य कागजो म रख दिया।

लगभग तीस साल के बाद उनके हाथ में रोला की एक पुस्तक आई। रोलां की यह डायरी थी। उसकी सूची मे काका साहब ने अपना नाम देखा। फ्रासीसी जानने वाले एक मित्र की मदद मे उन्होंने इस डायरी का वह पन्ना पढ़ा जिसमे उनका जिक्र था। रोलां ने लिखा था .

मार्च 1927 : हमारी मित्र मीरा (मेडलेन स्लेड) जो भारत से लगातार मेरी बहन से पत्र-व्यवहार जारी रखे हुए है और जो हमेशा बड़ी ही रुचि के साथ हमे गाधी और उनके शिष्यों के साथ के धार्मिक जीवन के अनुभव बताती रही है, उसने मुझे द० बा० कालेलकर (24 जनवरी, साबरमती) का एक पत्र भेजा है। वह गांधी के प्रमुख शिष्यो मे एक हैं और आजकल सत्याग्रह आश्रम के संचालक भी हैं। गांधी पर लिखी अपनी पुस्तक मे मैंने उनके प्रति कुछ कड़ा रुख अख्तियार किया है। उनकी 'स्वदेशी धर्म' पुस्तक से मैं मर्माहित हुआ था। मैंने उसमें मठों की सी राष्ट्रीय संकीर्णता को देखा और उसका खंडन किया था। असली बात यह है कि अंग्रेजी अनुवाद

मे मूल पुस्तक के अर्थ को बहुत तोड-मरोड दिया था ।...कालेलकर मेरी पुस्तक के प्रकाशन के समय जेल मे थे इस बारे मे वह मै काफी देर से जान पाया । वे शालीनतावश या यो कहिए कि नम्रतावश, मुझे लिख नही सके । मीरा के दिल मे मेरे लिए बडा आदरभाव है, उसने ही उन्हे पत्र लिखने को मजबूर किया । अन्त मे उन्हे लिखना पडा । वह बडे धैर्य और दोस्ताना अदाज मे बताते है कि उनके पास कोई भी सकीर्ण राष्ट्रीयता-वाद नही है । खासकर विचारो के क्षेत्र मे तो बिलकुल नही । उनका उद्देश्य है आर्थिक भूमि पर राष्ट्रीय व्यक्तित्व की स्वस्थ चेतना जमाना, ताकि औद्योगिक रूप से पिछडे देशो का शोषण रोका जा सके । वे चाहते है कि सभी राष्ट्र अपनी आरम्भिक आवश्यकताओ के लिए पूरी तरह अपने ही साधनो पर निर्भर रहे । ..उन्होने मेरी कुछ पुस्तके पढी हैं और मेरे विचारो के साथ उनकी पूरी सहानुभूति है ।...वह मेरे 'कडे शब्दो' के लिए कोई शिकायत नही करते किन्तु उन बातो की आलोचना करते है, जहा उन्हे लगता है कि मै उनके गुरू गाधी को ठीक तरह से व्यक्त नही कर सका हू ।...मै उन्हे पत्र (17 मार्च) लिखकर विनयपूर्वक बताता हू कि उनकी आलोचना बेमानी है और मैं इसके उन्हे कई कारण बताता हू...

(इसके बाद वे उस पत्र के कुछ अश उद्धृत करते हैं, जो उन्होने जवाब मे काका साहब को लिखा था ।...यह ऊपर दिया गया है)...मैंने उनके प्रति जो अन्याय किया है, उसके लिए बाद मे पश्चाताप के प्रेमपूर्ण शब्द व्यक्त किए और मित्रता की अभिव्यक्ति भी..

यह पढते ही काका साहब के मुह से उद्गार निकले : गलतफहमी चाहे जितनी हुई हो, सफाई का मसाला नियति की ओर से कही-न-कही मौजूद पाया ही जाता है । इसके बाद ही उनके अतेवासियो ने उनके पुराने कागजात मे रोला का पत्र ढूढा और 'मगल प्रभात' मे प्रकाशित किया ।[1]

गुजरात विद्यापीठ की जिम्मेदारी

दक्षिण भारत और श्रीलका का दौरा पूरा करके गाधीजी उडीसा के दौरे पर गए । इस दौरे मे भी काका साहब उनके साथ रहे । वह अब पूर्ण रूप से स्वस्थ हो

1. 'मगल प्रभात' : 30 जुलाई 1957

गए थे और बड़ी जिम्मेदारिया उठा सकते थे। उड़ीसा के इस दौरे के दरमियान गाधीजी ने एक दिन उनसे कहा, 'काका, मुझे गुजरात विद्यापीठ की बड़ी चिंता है। उसका मामला बडी उलझन में पड़ गया है। आप उसे अपने हाथ मे लेकर क्यो न सुलझा दे ? आखिर विद्यापीठ है तो आपकी ही कृति।'

काका साहब क्षण-भर के लिए उलझन मे पड गए। वह विद्यापीठ के दैनंदिन व्यवहार से यद्यपि अलग हो गए थे, फिर भी विद्यापीठ की गतिविधियो से पूरे परिचित थे। अध्यापको के बीच मेल नही है, अध्यापक और सचालको के बीच खीचातानी चल रही है, अदरूनी राजनीति से सब तग आ गए हैं, सब-कुछ की जानकारी उन्हे थी। विद्यापीठ के पहले आचार्य के रूप मे असूदमल गिडवाणी आए थे। या यों कहना चाहिए कि वह लाए गए थे। शुरू-शुरू मे उनकी वल्लभ-भाई के साथ अच्छी दोस्ती स्थापित हुई थी। पर बाद मे वल्लभभाई उनसे नाराज हो गए थे। गिडवाणी जी का लगाव राजनीतिक बातो मे ज्यादा था और उनकी राजनीति सम्भवत वल्लभभाई की रुचि की नही थी। इसलिए वल्लभभाई उनकी जगह पर कृपलानीजी को लाने की सोचने लगे थे। वह जानते थे कि कृपलानीजी और काका साहब पुराने मित्र हैं। काका साहब अगर चाहे तो वह उन्हे कल ही ला सकते है। एक बार उन्होंने अपनी यह इच्छा गाधीजी के सामने प्रकट की और गाधीजी ने वह काका साहब को बताई। काका साहब ने कहा, 'आपकी आज्ञा हो तो आज ही पत्र लिखकर उन्हे बुला लूगा। पर वे फिलहाल उत्तर प्रदेश मे खादी-कार्य सगठित करने मे व्यस्त है।'

उस कार्य के लिए दूसरे किसी आदमी को हम ढूढ लेगे। विद्यापीठ के लिए अगर वल्लभभाई उन्हे चाहते हैं तो बुला लेना उचित है।' गाधीजी ने जवाब दिया।

काका साहब ने कृपलानीजी को उसी दिन पत्र लिखा और कृपलानीजी तुरत आ गए। अब सवाल पैदा हुआ कि विद्यापीठ मे कृपलानीजी को कौन-सा स्थान दिया जाए और गिडवाणीजी को किस स्थान पर रखा जाए ? गिडवाणी बड़े चतुर थे। उन्होने देख लिया कि कृपलानीजी को वल्लभभाई का पूरा सहयोग है और काका साहब तो उनके पुराने दोस्त है। उन्होने चुपचाप इस्तीफा दे दिया और कृपलानीजी के लिए जगह खाली करके वह चले गए। कृपलानी मुहफट आदमी थे। उन्होने गिडवाणीजी से कहा, भले आदमी आपने

काका को खोकर अपना ही नुकसान कर लिया। काका गांधीजी के विश्वास पात्र हैं और गुजरात में उनकी जड़ें काफी मजबूत हैं। जो स्थान आपने यहां पाया था, आपको और कहीं भी मिल नहीं सकता।

जो हो, गिडवाणीजी के जाने के बाद कृपलानीजी गुजरात विद्यापीठ के आचार्य बने। (तभी से वह आचार्य कृपलानी कहलाए जाने लगे)। उन्होंने विद्यापीठ को अपने हाथ में ले लिया और अपने ढंग से उसे चलाना शुरू कर दिया। उनकी बड़ी इच्छा थी कि काका साहब भी अब विद्यापीठ में आ जाएं। तबीअत अगर ठीक होती तो काका साहब विद्यापीठ में आ भी जाते। पर ठीक इसी समय उनके शरीर में क्षय रोग के चिह्न दिखाई देने लगे और वे साबरमती छोड़कर इधर-उधर भटकने लगे थे।

विद्यापीठ के विद्यार्थियों में कृपलानीजी तुरन्त लोकप्रिय हो गए। पर दुर्भाग्य-वश एक दो वर्षों में ही उनके और विद्यापीठ के अन्य प्राध्यापकों के बीच कुछ खींचातानी शुरू हो गई।

कृपलानीजी के एक घनिष्ठ मित्र थे नारायण मलकानी। हमेशा वह कृपलानीजी के साथ ही रहे। न मालूम क्यों उनके और अन्य गुजराती शिक्षकों के बीच सिंधी-गुजराती भेदभाव शुरू हो गया। गुजरात के प्रसिद्ध साहित्यकार कन्हैयालाल मुंशी ने गुजरात की 'अस्मिता' का प्रचार इसी अरसे में शुरू कर दिया था, इसी का सम्भवतः यह परिणाम हो। पर कृपलानीजी व मलकानीजी में सिंधीपन जैसा कुछ नहीं था, न ही गुजराती शिक्षकों में गुजरातीपन था। स्वभाव की विशेषताएं हर एक की अपने-अपने ढंग की थीं। इसीलिए उनके बीच मेल नहीं रहा।

इधर वल्लभभाई और कृपलानीजी के बीच भी एकता नहीं रही थी। विद्या-पीठ के लिए जो नया मकान बनाया गया, वह कृपालानीजी को बिलकुल पसंद नहीं आया। वह बोले, 'यह विद्यापीठ है या जेल है? इतना भद्दा बेढंगा मकान क्या विद्यापीठ के लिए बनाया जाता है? किसने नक्शा बनाया था?'

किसी ने कहा, वल्लभभाई ने यह पसंद किया है।

'वल्लभभाई क्या समझते हैं, इस विषय में?' कृपलानीजी ने तपाक से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर दी।

किसी ने जाकर वल्लभभाई से कहा, कृपलानीजी तो समझते हैं कि आप कुछ भी नही जानते।

वल्लभभाई कृपलानीजी से नाराज हो गए। उनके स्वभाव की विशेषता थी कि वह अपने बारे में किसी भी प्रकार की आलोचना सह नही सकते थे।[1]

इन सारी बातो से काका साहब पूर्ण परिचित थे। इसलिए जब गाधीजी ने उनके सामने विद्यापीठ को हाथ मे लेने का प्रस्ताव रखा, तब काका साहब बोले, आप जानते हैं उससे अधिक विद्यापीठ की आतरिक स्थिति के बारे मे मै जानता हू। बडा कठिन काम है। मुझसे नही होगा।'

'कठिन है इसीलिए तो मै वह आपको सौप कर निश्चिन्त होना चाहता हू,' गांधीजी ने जवाब दिया, 'मै आपको कभी भी कोई आसान काम नही दूगा।'

काका साहब एक क्षण के लिए असमजस मे पड गए। दूसरे ही क्षण उन्होंने जवाब दिया 'ठीक है, केवल आपको निश्चिन्त करने के लिए मै यह जिम्मेदारी अपने सिर पर उठा लूगा। पर एक शर्त पर : विद्यापीठ जब तक मेरे हाथ मे रहेगा, मै जो भी कदम उठाऊंगा, आपको बताकर और आपकी सलाह लेकर ही उठाऊगा पर वह कदम मेरा माना जाएगा। आप विद्यापीठ के कुलपति है, मै आपको वचन देता हू कि विद्यापीठ सम्बंधी छोटी से-छोटी बातो से भी मैं आपको परिचित रखूगा। जब तक मैं वहां रहूगा, दूसरा कोई आपके पास आकर विद्यापीठ के सम्बंध मे कुछ बताने की चेष्टा करे तो आपसे उसको उत्तेजन नही मिलना चाहिए। मेरे वहां होते आपसे कोई हुक्म ले आए, ऐसी परिस्थिति पैदा नही होनी चाहिए। आप जब चाहें, मुझे मुक्त कर सकते हैं। पर जब तक मै वहां हूं, जिम्मेदारी भी मेरी रहेगी और अधिकार भी मेरे रहेगे। विद्यापीठ की आतरिक स्थिति के बारे में मै बहुत-कुछ जानता हू, इसीलिए मैं इस तरह की व्यवस्था की माग कर रहा हूं। विद्यापीठ के बारे में आपको निश्चित करना ही जहा मेरा उद्देश्य है, वहा दूसरे लोगों को आपके पास आकर आपको चिंता मे डालने का मौका ही मै क्यों दू ? मैं पाच साल विद्यापीठ के लिए दूगा।'

गांधीजी ने बीच में उन्हें रोककर कहा : 'पाच नही, तीस साल।'

1. कृपलानी : नेहरू मेमोरियल म्यूजियम और लाइब्रेरी को दी गई मुलाकात मे।

काका साहब ने क्षणभर के लिए उनकी ओर देखा और कहा, 'ठीक है। अब सवाल रह जाता है कृपलानी का। पर इसकी आप चिंता न करें। कृपलानी मेरे घनिष्ठ मित्र हैं। किसको कौन-सा स्थान लेना है, यह हम दोनों आपस में तय कर लेंगे। आपको इस बात की चिंता करने की कोई जरूरत नहीं है।

गांधीजी ने सभी शर्तें कबूल कर लीं। पर कहा, 'कृपलानी को तो मैं विद्यापीठ से बाहर खींचकर उत्तर भारत में खादी-कार्य के लिए भेजना चाहता हूं।'

काका साहब फिर एक बार असमंजस में पड़ गए। बोले, मैं विद्यापीठ में जाऊं और वह विद्यापीठ छोड़कर जाएं, इसमें तो लोगों के बीच हमारे बारे में गलतफहमी हो जाएगी। कृपलानी के मन में भी हो जाएगी।

'इसकी फिक्र आप मत कीजिए। कृपलानी और आपके बीच ऐसा कुछ न हो पाए, यह देखना मेरा काम है। मैं देख लूंगा।' गांधीजी ने आश्वासन दिया। काका साहब कहते हैं :

> बापूजी का यह रुख मुझे अच्छा तो नहीं लगा, पर मैं क्या करता? उन्होंने साफ शब्दों में कहा था कि वे मेरे और कृपलानी के बीच गलतफहमी पैदा नहीं होने देंगे। मेरी बड़ी उलझन तो यही थी। बापूजी का आश्वासन स्वीकार करना अनिवार्य था। पर अफसोस की बात है कि हुआ वही, जिस का मुझे डर था। कृपलानी गुजरात छोड़ना नहीं चाहते थे। बापूजी ने उनको पूछा, मैं आपको खादी कार्य के लिए मेरठ भेजना चाहता हूं। फिर भी क्या आपका गुजरात में रहने का आग्रह है? अब ऐसे प्रश्न का उत्तर कोई क्या दे? कृपलानी मेरे पास आए और कहने लगे, बापूजी का रुख तुम जानते थे तो पहले ही तुमने मुझे चेतावनी क्यों न दी? मुझे पहले ही बता देना तुम्हारा धर्म था। तुमने मित्र धर्म का पालन नहीं किया, यह सचमुच आश्चर्य की बात है। मैंने कहा, 'बापूजी ने मुझे आश्वासन दिया था कि कृपलानी को मैं संभाल लूंगा, इसलिए मैं निश्चिंत था।' कृपलानी के दिल को बड़ी चोट पहुंची और करीब चौबीस वर्षों का हमारा हार्दिक सम्बंध उन्होंने समेट-सा लिया। मेरे जीवन में यह एक भारी विषाद रहा।

कृपलानीजी से भी अधिक नाराज स्वामी आनंद हुए। नाराज ही नहीं, गुस्से के मारे आग बबूला हो गए और काका साहब के पास आकर कहने लगे, 'कृपलानी को विद्यापीठ से हटाने की बड़ी चाल चल रही थी। तुम वह जानते थे, फिर भी तुमने उसमें हिस्सा लिया ? विद्यापीठ की जिम्मेदारी सिर पर लेकर तुमने मित्र-द्रोह किया है। उसे लेने से इंकार कर दो।'

काका साहब बोले, 'बापूजी को निश्चित करने के लिए मैंने वह ली थी !' स्वामी और भी गुस्सा हुए। बोले, 'बापूजी से पहले हम तीनो का सम्बंध है।... तुम्हे यह जिम्मेदारी छोड़नी ही होगी।' 'पर, बापूजी को पहले बता तो दूं। उनसे मै वचन-बद्ध हू। तुमसे नही हू। इसलिए उनकी इजाजत तो लेनी ही होगी और वचन मुक्त होना ही होगा।'

काका साहब का यह जवाब सुनकर स्वामी का गुस्सा शात होने के बदले और भी बढ गया और उन्होंने काका साहब से उसी क्षण सारे सम्बध तोड डाले। उनसे बिलकुल दूर हो गए। काका साहब कहते है :

> फिर एक दिन सुना कि स्वामी दूर सिलोन मे जाकर आत्महत्या करने की सोच रहे है। पर नाथजी ने (जो हिमालय में हम दोनो के आत्मीय बन गए थे) उन्हे समझाया कि इस तरह का अद्वैत दो व्यक्तियों के बीच कभी हो ही नही सकता। यह बात उन्हे जंच गई, तभी उन्होंने आत्महत्या का विचार छोड दिया। मुझे खुशी हुई। मैने नाथजी को कहा, आपने उन्हें बचाया यह अच्छा किया, पर उन्हे जो समझा दिया, वह अच्छा नहीं था। उससे उनका आत्महनन हुआ। जो हो, स्वामी मुझसे हमेशा के लिए दूर हो गए और बिलकुल कट हो गए। मैंने उनके नजदीक जाने के प्रयत्न बहुत किए, पर मै कामयाब नही हुआ। मेरे जीवन का यह भी एक बहुत बड़ा विषाद है।[1]

गुजरात विद्यापीठ की जिम्मेदारी काका साहब के लिए प्रारम्भ मे ही बड़ी महगी सिद्ध हुई। उनको अपने दो घनिष्ट मित्रो को हमेशा के लिए खोना पड़ा।

शातिनिकेतन छोड़ते समय उन्होंने निश्चय किया था कि चाहे कही जाऊं, चाहे कितनी ही बड़ी जिम्मेदारी उठाऊ, अधिकार का प्रथम स्थान नही लूगा।

1. लेखक के साथ बातचीत मे।

जब विद्यापीठ की जिम्मेदारी उन्होंने उठाई, तब मन मे एक उधेड़बुन शुरू हुई : कुलनायक के स्थान पर बैठना कहा तक उचित है ? वैसे विद्यापीठ मे अधिकार का प्रथम स्थान कुलपति का था और कुलपति तो स्वय गाधीजी थे। फिर भी लौकिक दृष्टि से कुलनायक—वाइस चासलर—का स्थान प्रमुख माना जाता है। उन्होने नरहरिभाई से कहा, 'हम दोनो ने अपने बीच अब तक कोई भेद-भाव नही माना है। एक होकर हम अब तक काम करते आए हैं। विद्यापीठ की जिम्मेदारी भले ही मैने उठाई हो, मै चाहता हू कि आप कुलनायक का स्थान स्वीकार करे ! मै आपके मातहत काम करूगा।'

नरहरिभाई उनकी परेशानी समझ गए, कहने लगे, 'आपके सतोष के लिए कुलनायक तो मै बन सकता हू, पर मुसीबत यह होगी कि मुझे कदम-कदम पर आपके पास आना पडेगा और आपको पूछ-पूछकर काम करना पडेगा। यह कहा तक उचित है ? मै नाममात्र का कुलनायक बनू और हर समय निर्णय के लिए आपके पास दौडू, यह स्थिति अच्छी नही होगी। इसलिए वस्तुस्थिति को हमे स्वीकार करके ही चलना होगा। आप ही कुलनायक बने। मै आपकी सब तरह से मदद करूगा। आप काम की फिक्र मत कीजिए।'

अत मे यही निश्चय हुआ कि काका साहब विद्यापीठ के कुलनायक का पद स्वीकार करे और नरहरिभाई महामात्र रजिस्ट्रार का पद सभाले।

काका साहब कहते है :

> मेरा सुझाव नरहरिभाई मान जाते और वह कुलनायक बनते तो अच्छा होता। वल्लभभाई के लिए यह अनुकूल हो जाता। किन्तु अवसर बीतने पर ऐसा होता तो कैसा होता, ऐसा विचार करना व्यर्थ है। जो होना था, सो हो गया। उसके जो परिणाम होने वाले थे, वे टाले नही जा सके।

विद्यापीठ की जिम्मेदारी उठाई, उसी सदर्भ मे गाधीजी ने काका साहब को 'सवाई गुजराती' कहा था। काका साहब को जीवन मे कई मान-सम्मान मिले, कई उपाधिया मिली। पर गाधीजी की दी हुई यह सवाई गुजराती की उपाधि उन्हें सबसे अधिक प्रिय थी। हमेशा गौरव के साथ उसका जिक्र करते थे।

विद्यापीठ की पुनर्रचना

जिस समय काका साहब ने विद्यापीठ की बागडोर अपने हाथ में ली, उस समय गांधीजी स्वराज्य के लिए सर्वमेध यज्ञ की लड़ाई में अपना सब-कुछ होम देने की तैयारी में जुट गए थे। उसके अनुरूप विद्यापीठ को मोड़ देने का काम काका साहब के हिस्से में आया था।

उसकी स्थापना के समय ही गांधीजी ने कई बातें स्पष्ट कर दी थीं। मसलन महाविद्यालय (कॉलेज) के उद्घाटन के भाषण में उन्होंने कहा था : 'विदेशी संस्कृति के गुण-दोषों का हम ठीक तरह से नाप नहीं सके हैं। विदेशी संस्कृति हमने किराए पर ली है। मगर चूंकि किराया तो हम नहीं देते, इसलिए यह चोरी की हुई संस्कृति है। चोरी की संस्कृति से हिन्दुस्तान ऊपर नहीं उठ सकता।'

उन्होंने अपनी संस्कृति पर जोर दिया था और अपनी संस्कृति की व्याख्या करते हुए उसे 'चारित्र्य की संस्कृति' कहा था।

इसलिए विदेशी शिक्षा के कारण लोगों के मन में जो भ्रांति पैदा हुई थी, उसे दूर करने का काम विद्यापीठ का प्रथम काम माना गया। भ्रांति दूर करने के बाद विद्यापीठ को निराशा और शिथिलता दूर करने का काम हाथ में लेना था। इसलिए विदेशी सरकार और विदेशी संस्कृति के मोह से मुक्ति पाने के लिए प्रथम असहयोग आंदोलन घोषित कर दिया गया था और उसे दृढ़ करने के लिए भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार का काम हाथ में लिया गया था।

भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार का नाम लेते ही प्राचीनता के मुर्दों की ममियां बनाकर उन्हीं की पूजा करने वाले सनातनी बड़े खुश हुए। उन्हें लगा, यह तो बहुत अच्छा हुआ। अब पुराना युग फिर से आ जाएगा।

पर न गांधीजी, न ही काका साहब जैसे उनके साथी प्राचीनता के समर्थक थे। वे प्राचीन प्रेरणा को स्वीकार तो करते थे, पर देश को प्राचीन काल में ले जाना नहीं चाहते थे। उनकी भारतीय संस्कृति का उद्गम राष्ट्र के अरुणोदय के समान वैदिक काल में भले ही हुआ हो, वह उसी काल में बंधी नहीं रही थी, वह आगे की ओर चलती आई थी। विद्यापीठ प्राचीनता का उपासक नहीं है, यह सिद्ध करने का प्रसंग उसकी स्थापना के समय ही सामने आया था। उसके

नियामक मंडल की एक बैठक मे एक प्रश्न उपस्थित हुआ था : विद्यापीठ मे अस्पृश्यों को प्रवेश मिलेगा या नही? और काका साहब ने बिना हिचकिचाहट जवाब दिया था : हां, अवश्य मिलेगा। बम्बई के कुछ वैष्णव धनिकों ने विद्यापीठ के सामने अपनी थैलिया खोल दी थी। छह-सात लाख रुपयों का दान वे देने वाले थे। काका साहब का जवाब सुनते ही उन्होंने अपनी थैलियां बंद कर दी और वे गांधीजी के पास गए! गांधीजी ने काका साहब का न केवल समर्थन किया, बल्कि यहा तक कह डाला कि अस्पृश्यता कायम रखने की शर्त पर मै स्वराज्य भी नही लूगा।

धनिक नाराज हो गए और अपनी थैलियां लेकर वापस चले गए थे।

विद्यापीठ की शिक्षा का स्तर सरकारी विश्वविद्यालयों की शिक्षा के स्तर से किसी भी तरह नीचा नही होना चाहिए, यह आग्रह पहले से ही रखा गया था। सरकारी शिक्षा के अंगप्रत्यंगो से तुलना हो सके वैसी ही, पर स्वाभिमानमूलक अंगप्रत्यंगो वाली शिक्षा प्रणाली यहा चलती आई थी। विद्यापीठ का संविधान, उसकी फैकल्टीज, पाठ्य पुस्तकें. पदवीदान विधि सबकी स्वदेशी आवृत्ति तैयार करके विद्यापीठ ने स्वतत्रता का अनुभव किया था। विद्यापीठ की एक प्रवृत्ति ऐसी थी, जिसकी विद्वानों की दुनिया मे बड़ी प्रतिष्ठा थी वह थी पुरातत्व सम्बंधी खोज की। बड़े-बड़े विद्वान विद्यापीठ के इस विभाग मे लाए गए थे। इन प्रवृत्तियो मे और एक नई प्रवृत्ति जोड दी गई थी : गुजरात की लोक कथाएं, लोक संगीत, लोक नृत्य, त्योहार, उत्सव, गुजरात की लोक-सस्कृति के सभी अंगो का जोर-शोर के साथ अध्ययन शुरू कर दिया गया था।

विद्यापीठ की स्थापना स्वराज्य के आंदोलन के एक हिस्से के रूप मे हुई थी। स्वाभाविक रूप से विद्यार्थी स्वराज्य के आदोलन मे हिस्सा लेते आए थे। वे कांग्रेस के सदस्य बनाते थे, काग्रेस के लिए चदा इकट्ठा करने का काम करते थे। विधान-सभा बहिष्कार का महत्व लोगों को समझाते घूमते थे। शराब की दुकानों के सामने पिकेटिंग करते थे। यही नही, जहां राष्ट्रीय शालाएं नही थी, वहां जाकर राष्ट्रीय शालाएं खोलने का भी काम करते थे। गांधीजी ने महा-विद्यालय के उद्घाटन-भाषण मे विद्यापीठ के विद्यार्थियो को अर्ध-शिक्षक कहकर उनकी जिम्मेदारी बढ़ा दी थी।

आगे चलकर इनसे भी गम्भीर क्षेत्रों मे वे अपना योगदान देने लगे। कही बाढ़ आई तो राहत का काम उठाने दौड़ जाते थे। साइमन कमीशन के बहिष्कार के काम मे उन्होंने बड़े उत्साह के साथ हिस्सा लिया था। कही सत्याग्रह हुआ तो वहां भी पहुंच जाते। उनसे कहा गया था कि क्रांति की तैयारी करने के दिन अब नही रहे। क्राति कब की शुरू हो चुकी है। हम उसकी मंझधार में हैं। हमें तो अब यही देखना है कि यह क्रांति अंधी न हो जाए, आत्मविनाशी या सर्वविनाशी न बन पाए।

विद्यार्थियों मे यह योग्यता आए, इसलिए गांधीजी ने उनके हाथ मे चरखा सौंप दिया था। चरखे के कार्यक्रम में केवल कातना और बुनना नही आता। उसमे जीवन-परिवर्तन आ जाता है। जहा चरखा है, वहा सादगी है, स्वच्छता है, परस्पर सहयोग है, तेजस्वी संगठन है, सत्याग्रह है, स्वतंत्रता है। मुक्ति की पूरी साधना चरखे मे है। उसकी गति भले मद हो, उसकी शक्ति बडी है। 'एवरी टाइम द व्हील गोज राउड, देयर इज ए रिवोलूशन'। इस तरह विद्यापीठ एक-एक कदम आगे बढती जाती थी।

अब विद्यापीठ काका साहब के हाथ मे सौपकर गाधीजी विद्यापीठ के जीवन मे एक नया अध्याय शुरू करना चाहते थे। वे कहने लगे थे कि अवसर आते ही विद्यार्थी और अध्यापक स्वराज्य-साधना के कामो मे पड़े और बाकी के समय मे साहित्य, सगीत, कला मे रचे-पचे रहें यह भारत जैसे पराधीन राष्ट्र के लिए शोभा नही देता। शहर के अकर्मण्य लोग साहित्य सगीत कला के पुजारी बनने मे धन्यता मानते हैं। उनकी संस्था मे हमे वृद्धि नही करनी है। हमे गांवो मे जाना है, प्रजा का सेवक बनना है, नई तेजमयी संस्कृति के वीर बनना है।

तप, त्याग, उद्योगयुक्त, संयमी जीवन की दीक्षा लेकर विद्यापीठ के विद्यार्थी अगर स्वराज्य-प्राप्ति के कार्य मे अपना सर्वस्व होम देने के लिए तैयार न हो, तो विद्यापीठ की शिक्षा को महज राष्ट्रीयता का लेबल लगाने से वह दूसरी परम्परागत सरकारी शिक्षा से किसी अर्थ मे अलग सिद्ध नही होती, यह गांधीजी का आग्रह ध्यान मे रखकर विद्यापीठ की बागडोर हाथ मे लेते ही काका साहब ने अब तक उसमे चलती आई कई प्रवृत्तियों की कांट-छांट शुरू कर डाली। उसको ग्रामोन्मुख करके उसकी दिशा ही बदल डाली। विनय-मंदिर, महा-विद्यालय, छात्रालय आदि उसके सभी अंगों को नया रूप दे दिया। अभ्यासक्रम

मे कताई-बुनाई के अलावा बढई का काम आदि नए-नए उद्योग शामिल कर दिए गए। विद्यार्थियो और अध्यापको के लिए कातना नियमित और लाजमी कर दिया गया।

गिडवाणी के बाद कृपलानीजी आए तब परिवर्तन सौम्य और शातिपूर्वक हुआ था। कृपलानी के बाद काका साहब आए तब परिवर्तन विद्यार्थियो को भी युग क्राति के जैसा मालूम हुआ।

कइयो को लगा कि काका साहब ने साहित्य-सगीत-कला की उपासना को गौण रूप देकर चरखे, खादी और रचनात्मक कामों को अग्रिमता दी है उससे देश के एक तेजस्वी विद्या केन्द्र व । कीर्ति को उन्होने समेट लिया है। गुजरात के कई सस्कृति धुरीण नेता जोर-शोर के साथ काका साहब की आलोचना करने लगे। आचार्य ध्रुव जैसे सस्कृतिपूजक ने काका साहब के इस कार्य को विध्वसक भी कहा। उन्हे विशेष दुःख इस बात का था कि यह विध्वसक कार्य काका साहब जैसे सस्कृति के उपासक के हाथो हुआ। काका साहब कहते है :

> यह आलोचना सुनकर मुझे बुरा तो लगा, पर मै और कुछ कर ही नही सकता था। इन आलोचको की दृष्टि मुझ म नही थी, ऐसा तो नही कहा जा सकता। विद्या का उपासक तो मै था ही। ग्रथो के सान्निध्य म रहना मेरा सबसे बडा आनद था। भूतकाल को जानना, वर्तमान काल का जाचना और भविष्यकाल की तैयारी करना मेरा महाव्रत था। यह सब करने का अपना कर्त्तव्य मै भूला नही था। पर मुक्ति-सग्राम के समय म यह सब एक ओर रखने के लिए तैयार हो गया। गाधीजी ने मुझसे कहा : 'स्वराज्य-यज्ञ मे सबसे बडा योगदान विद्यापीठ का होना चाहिए। स्वराज्य के लिए साहित्य-विलास का त्याग करना पडे तो करना चाहिए। इसलिए निश्चय-पूर्वक मैने यह परिवर्तन कर डाले। साहित्य, सगीत, कला का या काव्य-शास्त्र-विनोद का मेरा रस मर गया था, ऐसा तो कह नही सकता। उल्टे उसके विरह से उसके प्रति विप्रलभ रस बढा ही था। पर स्वराज्य की एकाग्र उपासना के लिए सब छोड देना पडा। एकाग्र होकर राष्ट्रीय शक्ति की उपासना करने का यह समय था। इसलिए विद्यापीठ मे मैंने युद्ध की तालीम देना शुरू कर दिया था।[1]

1. लेखक के साथ बातचीत से।

काका साहब संस्कृति के जैसे उपासक थे, उससे अधिक स्वतंत्रता के उपासक थे। विद्यापीठ को राष्ट्रोत्थान के कार्य की एक छावनी मे बदल देने के सिवा इन दिनों वह और कुछ कर ही नही कर सकते थे। गांधीजी के नाम लिखे एक पत्र मे वे बताते हैं :

> जब से विद्यापीठ मे आया हूं, सारा समय केवल विद्यापीठ के ही विचार मन मे आते हैं।...रात को जाग जाता हू, तब भी दिमाग मे विद्यापीठ की व्यवस्था का ही चिंतन चलता है।

इन्ही दिनों बम्बई के एक गाधी-भक्त नगीनदास अमुलखराय काका साहब के पास एक योजना लेकर आए। उनकी यह योजना विद्यापीठ अगर हाथ मे ले तो खर्च के लिए एक लाख रुपयों का दान भी वे देना चाहते थे। काका साहब ने उनकी योजना ध्यानपूर्वक देख ली और 'मुझे इसमे दिलचस्पी नही है', कहकर लौटा दी। कुछ-समय के बाद नगीनदासभाई एक और योजना लेकर आए। काका साहब ने वह भी देखकर लौटा दी। नगीनदासभाई को दुःख हुआ और वे शिकायत करने गांधीजी के पास गए। गाधीजी ने उनसे कहा, 'आपने काका से ही योजना क्यो न मागी ? इतना बडा काम लेकर बैठे हैं। उनके पास कोई-न-कोई योजना होगी ही।'

'आप ठीक कहते है।' उन्होंने गाधीजी को जवाब दिया और वे काका साहब के पास आए।

काका साहब के पास ग्राम-सेवा-मंदिर की एक योजना थी। वे नौजवानों को ग्राम-सेवा की दीक्षा देकर गावो मे भेज देना चाहते थे। उनके लिए उन्होंने दो साल का एक अभ्यासक्रम बनाया था। नगीनदासभाई ने उनकी यह योजना देखकर कहा, यह तो बढ़िया योजना है और यह योजना कार्यान्वित करने के लिए उन्होने काका साहब के हाथ मे एक लाख रुपयों की राशि रख दी।

काका साहब ने कहा, 'ग्राम-सेवा-मंदिर के लिए एक ट्रस्ट बनाना होगा। मै आपको चालीस नाम दूंगा। उनमे से बारह नाम आप चुन लीजिएगा। उन्ही का यह ट्रस्ट होगा।'

नगीनदासभाई बोले, 'ट्रस्ट मे आप जिनको लेना चाहे लें। मेरा कोई आग्रह नही है।'

काका साहब ने कहा, 'ठीक है, मै नाम चुन लूगा । पर उनमें आप का नाम नही होगा ।'

'मुझे मंजूर है ?' नगीनदासभाई ने जवाब दिया ।

काका साहब इस जवाब से बड़े प्रभावित हुए और बोले, 'आपने तो मुझे पूरी तरह जीत लिया है, पर मुझे अपना कारण बताना ही होगा । अनुभव यह है कि जो देता है, उसके आग्रह होते हैं । ट्रस्ट मे अगर वह हो तो उसकी ही चलती है, बाकी तो केवल नाम मात्र के ही ट्रस्टी रह जाते हैं ।...'

नगीनदासभाई ने काका साहब को अपना वक्तव्य पूरा करने का मौका ही नही दिया । बोले, 'आप ठीक कहते हैं । आप मुझे ट्रस्टी मडल मे न ले, यही अच्छा है ।'

फिर काका साहब ने कहा, 'आप ट्रस्ट मे हो या न हो, हर छह महीनों मे एक बार आपके पास हिसाब पहुचा दिया जाएगा और जब भी मुझे जरूरत होगी, मै आपसे सलाह लेता रहूंगा ।'

रुपये हाथ मे आते ही काका साहब ने ग्राम-सेवा मदिर की स्थापना कर डाली । यही नही, 'ग्राम-सेवा दीक्षित' नामक एक नई उपाधि भी उन्होने शुरू कर दी । इस ग्राम-सेवा-मदिर ने जो ग्राम-सेवा दीक्षित तैयार किए, वे गुजरात मे जगह-जगह पर भेजे गए । इनमे से दो नाम बड़े महत्व के है : एक है बबेरभाई पटेल का और दूसरा बबलभाई मेहता का जो बाद म ग्राम-सेवा के क्षेत्र मे देश मे काफी प्रख्यात हुए ।

'ग्राम-सेवा मदिर' की ओर से जे० सी० कुमारप्पाजी के मार्गदर्शन मे गुजरात के मातर नामक तालुके के आर्थिक सर्वेक्षण का भी काम किया गया था ।

स्वराज्य युद्ध की छावनी

काका साहब के विद्यार्थी अब गांवों मे फैलने लगे थे । वे गांव वालों के साथ खाना खाते, उन्ही की बोलियों मे उनसे बाते करते । उन्हें विदेशी कपड़े त्याग कर खादी पहनना सिखाते । उनकी शराब की आदत छुड़वाकर उन्हें स्वराज्य का मंत्र देते । सरकार ने जब इन विद्यार्थियों पर अत्याचार शुरू किए, अत्याचारों का जवाब सहनशक्ति से कैसे दिया जा सकता है, इसका प्रत्यक्ष पाठ उन्होने

गांव वालों को दिया। जब बारडोली का सत्याग्रह शुरू हुआ, काका साहब के विद्यार्थी विद्यापीठ को जेल ले गए। इस सत्याग्रह के नेता वल्लभभाई थे। काका साहब ने उनसे कहा था, आपके पास हमेशा मेरे दस विद्यार्थी रहेंगे। इनमें से जितनों को सरकार जेल भेज देगी, उतने नये सत्याग्रही मैं आपको देता रहूंगा। भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई के इतिहास में बारडोली का यह सत्याग्रह एक अपूर्व सत्याग्रह था। सत्य, अहिंसा की मर्यादाओं में वह चलाया गया था और सम्पूर्णत: सफल हुआ था। देश में जो निराशा फैली हुई थी वह दूर करके उसने देश में स्वराज्य प्राप्ति के बारे में आत्मविश्वास जगाया था। इस सत्याग्रह के नेता वल्लभभाई इस सत्याग्रह के बाद 'सरदार' कहलाए जाने लगे थे। गुजरात विद्यापीठ के विद्यार्थियों ने इस सत्याग्रह में अपना अच्छा-खासा योगदान दिया था।

बारडोली सत्याग्रह के बाद देश में नवचैतन्य की हवा बहने लगी। इसी वर्ष के अंत में नव भारत के नौजवान नेता पं० जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में जाग्रत भारतवर्ष ने अंग्रेजी पाशों से सम्पूर्णत: मुक्ति पाने के लिए पूर्ण स्वराज्य की अपनी महत्वाकांक्षा की घोषणा की। देश के राजनीतिक जीवन ने इस घोषणा के साथ एकदम करवट बदल ली। गांधीजी की भाषा में भी अब कुछ फर्क पड़ने लगा। वे अब अन्यायी सरकार को बदलने या मिटाने के जनता के अधिकार की बातें करने लगे थे। उनका यह निश्चय था कि जब तक एक भी सत्याग्रही जिंदा या जेल के बाहर रहेगा, आंदोलन चलता रहेगा। उन्होंने यह भी साफ कर दिया था कि 1920 का संघर्ष देश की तैयारी के लिए था, अब अंतिम मुठभेड़ के लिए है।

11 जनवरी 1930 के दिन गुजरात विद्यापीठ के दीक्षांत समारोह में विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए गांधीजी ने कहा :

> कई लोग भयभीत हो गए हैं। ब्रिटेन से हम अपना सम्बंध तोड़ लेंगे तो यहां देश में अराजकता फैलेगी। हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे को कत्ल करेंगे और खून की नदियां बहाएंगे। मैं अहिंसा को मानता हूं। अहिंसा का पूर्ण उपासक हूं, फिर भी इन लोगों को सुनाना चाहता हूं कि मुझे यदि अराजकता और गुलामी के बीच किसी एक को पसंद करना पड़े तो मैं अराजकता को ही पसंद करूंगा। उन्होंने यह आशा प्रकट की कि स्वराज्य की जो

> लड़ाई अब शुरू होने वाली है, उसमें गुजरात विद्यापीठ के विद्यार्थी सबसे आगे रहेंगे।

काका साहब के लिए इतना इशारा काफी था। उन्होंने तुरंत गुजरात विद्यापीठ को 'स्वराज्य-युद्ध की छावनी' में बदल डाला और वे भावी संग्राम की तैयारी में जुट गए।

लाहौर में अपने अध्यक्षीय भाषण में जवाहरलालजी ने कौंसिलों के बहिष्कार की घोषणा की थी। पर सरकारी कालिजों के बहिष्कार की घोषणा नही की। देश के युवकों का यह अपमान काका साहब से सहा नहीं गया। उन्होंने 13-14 और 15 जनवरी को अहमदाबाद में अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षण परिषद का अधिवेशन बुलाया। भारतवर्ष की तमाम राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं का सहयोग प्राप्त करके पूर्ण स्वराज्य की लड़ाई में कूद पड़ने का उन्होंने निश्चय किया था। अपने स्वागत भाषण में उन्होंने कहा :

> जब महायुद्ध शुरू होता है, तब संडहर्स्ट कालिज बंद नही कर दिया जाता। वह दुगुने उत्साह से चलता है, पर मकानों में नही, बल्कि रणक्षेत्र में।

इसी वर्ष पूना के पास के तलेगाव में महाराष्ट्र की समस्त राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओ ने एक और राष्ट्रीय शिक्षा परिषद बुलाई और काका साहब को अध्यक्ष के रूप में चुन लिया। काका साहब जब से गुजरात में जाकर बसे थे, महाराष्ट्र के लोग भूल गए थे कि वह महाराष्ट्रीय हैं। उसी महाराष्ट्र का जब निमंत्रण आया, काका साहब वहां बड़े उत्साह के साथ गए। काका साहब कहते हैं :

> यदि शांति के दिन होते तो राष्ट्रीय शिक्षा की एक अखिल भारतीय योजना वहां मैं पेश करता। वैसी योजना मेरे पास थी। एक अनुभवी शिक्षा शास्त्री को शोभा दे सके इस तरह का एक व्याख्यान भी मैं लिखकर ले जाता। पर मैं इन दिनों केवल शिक्षा शास्त्री नहीं रहा था। युद्ध की एक नई कला पेश करने वाले युद्धऋषि महात्मा गांधी की सेना का एक सेनानायक बन गया था। इसलिए मुझमें निहित शिक्षा-शास्त्री वहां फीका पड़ गया। मैं एक सेनापति के तौर पर बोला। परिणाम स्वरूप कई महाराष्ट्रीय शिक्षक और विद्यार्थी स्वराज्य की लड़ाई में कूद पड़े।

26 जनवरी के दिन आंदोलन के प्रथम चरण के रूप मे सारे देश ने स्वाधीनता दिवस मनाया। शहर-शहर और गांव-गांव मे लाखो लोगों ने तिरंगा फहराया और प्रतिज्ञा ली कि ब्रिटिश शासन मे रहना मनुष्य और भगवान दोनों के प्रति अपराध है। जब तक भारत पूर्ण स्वाधीन नही होता, हम खामोश बैठने वाले नही हैं। उस दिन विद्यापीठ मे सुबह की प्रार्थना के बाद काका साहब गद्गद होकर बोले :

> बरसो से जिस अवसर की राह हम देखते आए थे, वह अवसर अब आ गया है।...आज की यह घडी हमारे जीवन की धन्य घडी है।...

अपने एक मित्र को लिखे हुए एक पत्र मे वे कहते हैं :

> बचपन से जिस स्वतत्रता की प्रतीक्षा करता आया था, वह नजदीक आ गई है। उसकी आहट अब मुझे सुनाई देने लगी है। सेहत ने अगर धोखा नही दिया तो यह शरीर उसके चरणों मे अर्पण होगा, इसमे कोई शक नही। स्वतत्र भारत के नव विधान मे, राज्य, समाज या धर्म की पुनर्रचना मे मेरा उपयोग बहुत है, यह आत्म विश्वास मुझ मे है। पर एक मात्र इच्छा यही है कि उस शरीर का स्वतत्रता प्राप्ति के यज्ञ मे ही उत्सर्ग हो जाए।[1]

वास्तव मे 26 जनवरी 1930 के दिन ही भारत पूर्ण रूप से स्वतत्र हो गया था। उसके हाथ-पावो मे कुछ शृखलाएं अभी बाकी थी। पर उसकी आत्मा सारे बधन तोडकर मुक्त हो चुकी थी। विद्यापीठ मे काका साहब अब रोज तीन-तीन बार प्रार्थना चलाने लगे और तीन-तीन प्रवचन देकर वे विद्यार्थियों और अध्यापकों का बलिदान के लिए तैयार करने लगे।

गांधीजी लडाई को क्या रूप देते हैं, यह जानने-सुनने के लिए करोडों आंख, कान, मन एकाग्र हो गए थे। एक दिन उन्होंने घोषणा की कि 12 मार्च के दिन वे साबरमती आश्रम से सत्याग्रहियों का एक जत्था लेकर 240 मील की दूरी पर स्थित दांडी नामक समुद्र किनारे पर जाएंगे और नमक का कानून तोड़ेंगे। राष्ट्रव्यापी संघर्ष के लिए यह नमक की समस्या कहां तक उपयोग मे आ सकेगी, इस विषय मे कइयों को संदेह था। पर गाधीजी की प्रतिभा लोक-विलक्षण

1. सप्रेम वंदेमातरम : सं० पुंडलीक कातगडे।

थी। उन्हे पूरा विश्वास था कि इसी समस्या को लेकर वे सारे राष्ट्र का क्षात्र-तेज जगा सकेंगे। काका साहब की छावनी अब बलिदान की पूरी तैयारिया करने लगी। अपनी छावनी मे किसी प्रकार की शिथिलता प्रवेश न कर पाए इसके लिए काका साहब सतत जाग्रत रहने लगे। इसीलिए, जब सगीत के शिक्षक शकरराव पाठक ने उन्हे बताया कि उनकी जेल जाने की तैयारी नही है, काका साहब ने बिना हिचकिचाहटक उन्हे उसी क्षण विद्यापीठ की सेवाओ से मुक्त कर दिया। दूसरे एक शिक्षक ने, जो काका साहब के प्रिय विद्यार्थी भी थे, जब उन्हे बताया कि गाधीजी के कूच मे उनके साथ रहकर वे कूच की फिल्म तैयार करना चाहते हैं, काका साहब ने उनसे पूछा, 'इसका मतलब क्या यह है कि आपको जेल जाना नही है?' शिक्षक का खयाल था कि काका साहब चूकि कला के केवल रसिक ही नही, बल्कि पक्षपाती भी है, इसलिए उनका फिल्म बनाने का यह सुझाव पसद आएगा। पर ज्यो ही काका साहब का प्रश्न उन्होने सुना, वे डर गए और बोले, 'मै समझता हू कि इस लडाई के लिए मेरा वही उत्तम योगदान है।' काका साहब विचार करने के लिए एक क्षण भी नही रुके। ऐसी निष्प्राण कला की हमे कोई जरूरत नही है, कहकर उसी क्षण उन्होने उन्हे काम से मुक्त कर दिया। पिछले तीन महीनो से काका साहब के मुह से — वे चाहे प्रार्थना के बाद प्रवचन करते हो, चाहे विद्यार्थियो के साथ बातचीत करते हो, चाहे पत्र लिखते हो, लगातार प्राण-साधना के मत्र की ही ध्वनि निकलती आई थी। बिना प्राण की विद्वत्ता किस काम की इस आदर्श से वे अपने आस-पास के लोगो को अनुप्राणित करने मे ही लगे हुए थे।

किसी ने उन दिनो उनकी स्वाक्षरी मागी तब उन्होने लिखकर दिया था: 'सलामती शोधता पुरुषार्थ हणाय छे' सलामती की खोज मे पुरुषार्थ का हनन होता है। उनके उस एक वाक्य मे गुजरात के लिए उनका इन दिनो का पूरा सदेश प्रकट होता है।

जैसे-जैसे 12 मार्च नजदीक आता गया, देश-भर के लोगो की जिज्ञासा और आतुरता बढती गई। 12 मार्च को गाधीजी ईश्वर का नाम लेकर साबरमती से निकल पडे। साबरमती से दाडी तक पैदल ही जाना तय हुआ था। सत्याग्रहियो के रूप मे उनके साथ चुनिंदा 79 आश्रमवासी थे। आश्रम से निकलते ही उन्होने घोषणा की कि अगर स्वराज्य नही मिला तो मै रास्ते मे ही मर जाऊगा या आश्रम के बाहर ही रहूगा, पर स्वराज्य लिए बिना आश्रम मे नही

लौटूगा। इस घोषणा से देशभर मे उत्साह की बाढ-सी आ गई। इस पैदल यात्रा मे उनका कार्यक्रम वैसा ही चलता रहा, जैसा आश्रम मे चलता आया था। सुबह चार बजे उठना, प्रार्थना करना और चल पड़ना, दोपहर जहा रुकते वहा चरखा कातना, पत्र-व्यवहार करना लेख लिखना। जो लोग मिलने आते थे, उन को समय देना, फिर शाम को प्रार्थना करना। रोज वे लगभग बारह मील चलते थे और कदम-कदम पर क्राति की चिनगारिया छोडते जाते थे। देश को छात्रवृत्ति की, त्याग की, बलिदान की दीक्षा देते चले जा रहे थे।

लगता था, स्थावर साबरमती आश्रम अब जगम होकर चलने लगा है। 5 अप्रैल को वे दाडी पहुचे। दाडी पहुचते ही उन्होने नमक का कानून तोड दिया। राष्ट्र के नाम प्रसारित सदेश मे उन्होने कहा, 'सत्याग्रही के हाथ के मुट्ठी-भर नमक मे राष्ट्र की सारी प्रतिष्ठा सिमटी हुई है। मुट्ठी भले ही टूट जाए, पर सरकार के हाथ मे नमक पडने न पाए।' यकायक सारा राष्ट्र मानो बगावत मे खडा हो गया।

गाधीजी के सैनिको की टुकडी मे शरीक होने का काका साहब का अधिकार किसी से कम नही था। आश्रम की स्थापना से ही वह आश्रम के एक सम्मानित सदस्य थे। विद्यापीठ की जिम्मेदारी उठाने वाले वे आश्रम के उपाध्यक्ष भी थे। आश्रम मे गाधीजी के बाद उन्ही का नाम लिया जाता था। पर उन्होने अपने इस अधिकार का त्याग किया था क्योकि उससे बडा काम उन्हे सोपा गया था। गाधीजी ने उनसे कहा था आपको तो सबके अत मे जेल जाना है। बाहर रहकर आपको यह देखना है कि गुजरात मे यह आदोलन अहिसा की मर्यादा मे रहे।

काका साहब के विद्यार्थी सारे गुजरात मे फैले हुए थे। सबको उन्होने इस काम मे लगा दिया था। सबके साथ उन्होने व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित किया था और सबको अपने अनुशासन मे रखा था। जिनके बारे मे तूफान मचाने की उन्हे आशका थी, उनकी एक सूची उन्होने बनाई थी और उन्हे वह सबसे पहले जेल भेज देने वाले थे।

इधर विद्यापीठ के चुने हुए विद्यार्थियो की उन्होने दो टुकडिया बनाई। एक का नाम रखा : अरुण टुकडी और दूसरी का नाम . कर्णधार टुकड़ी। गाधीजी

जिन उन्नासी सैनिको को लेकर निकल पड़े थे, उसको नाम दिया था : स्वराज्य का सूर्योदय ।

अरुण और कर्णधार टुकडियो का काम था : गाधीजी जिस गाव मे पड़ाव डालने वाले हो, वहा एक दिन पहले पहुच जाना और गाधीजी की टुकडी का रहने, खाने, पीने आदि का प्रबध करना । गाधीजी जब वहा पहुचते, ये टुकडिया उनका स्वागत करती थी । एक टुकडी उनकी सेवा मे रह जाती थी और दूसरी अगले पडाव की तैयारी करने के लिए आगे चली जाती थी ।

गाव-गाव जाकर गाधीजी क्यो निकल पडे है, क्या करना चाहते है, लोगो से वह क्या उम्मीद रखते है आदि बाते वे समझा देते थे और उनमे स्वराज्य का उत्साह जगा देते थे ।

विद्यापीठ के बाकी सारे विद्यार्थियो को उन्होने गुजरात के अलग-अलग जिलो मे भेज दिया था । उनसे कहा था : घर-घर पहुच जाओ और लोगो को समझा दो कि गाधीजी स्वराज्य लेने के लिए आश्रम से निकल पड़े है, स्वराज्य लिए बिना वे आश्रम मे लौटने वाले नही है । उनको मदद करना हम लोगो का कर्तव्य है ।

इन सब विद्यार्थियो ने गुजरात मे अहिंसा का वातावरण बनाए रखने का जी-जान से प्रयत्न किया । सत्याग्रह का रहस्य, उसका स्वरूप, उसकी मर्यादाए लोगो को समझाते-समझाते सब जेलो मे पहुच गए थे । जो पीछे रह गए थे, वे धारासणा मे - वहा के नमक डिपो पर धावा बोलने का जो सत्याग्रह चला, उसमे शरीक हुए ।

विद्यापीठ का यह काम देखकर गाधीजी के मुह से उद्गार निकले, 'विद्यापीठ के लिए अब तक जितना पैसा खर्च हुआ, सारा का सारा चक्रवृद्धि ब्याज के साथ वापिस मिल गया है ।' गाधीजी के इन उद्गारो से बढकर काका साहब के लिए धन्यता की कौन-सी बात होती ? किसी ने उन दिनो स्वाक्षरी मागी, तब काका साहब ने लिख दिया,'मेरे विद्यार्थियो ने मेरा जीवन धन्य कर दिया है ।'

अपने एक मित्र को लिखे हुए पत्र मे काका साहब सतोष के साथ कहते है :

> नवागाव के अपने भाषण में बापूजी ने हमारे विद्यार्थियो का गौरव के साथ उल्लेख किया । उन्होंने कहा, अब मैं विद्यापीठ को सौ मे से सौ अंक दूंगा ।

> विद्यापीठ ने अपनी योग्यता सिद्ध कर दिखाई है।...हमारे विद्यार्थी वाकई इस स्तुति के पात्र हैं। करीब-करीब हर एक के घरेलू मामलों में मेरा प्रवेश है। मै कह सकता हूं कि दुनिया को मालूम नही ऐसे उनकी वीरता के कई प्रसंग मुझे मालूम हैं।...बड़े संतोष की बात है कि चि० शंकर दो दिन ऊपर आई हुई परीक्षा छोड़कर केवल दो दिन पहले बापूजी की टुकड़ी मे शामिल हुआ। मुझसे मिलकर वह सीधा मातर गया। बापूजी ने कहा, तुम्हे न लू तो किसको लू ? नडियाद मे मै बापूजी से मिला, तब उन्होने खुशी के साथ कहा : 'काका, शंकरे लाज राखी।' और एक जगह पर उन्होने कहा : 'परिपक्व फल छोड़कर शकर-जैसे युवक लडाई मे शामिल होते है तो स्वराज्य क्यो नही मिलेगा ?' मुझे कितना आनद हुआ होगा इसकी आप कल्पना कर सकते है। शकर और बाल दोनों बापूजी की टुकड़ी मे हैं। बदूक की गोली खानी पड़ी तो दोनो साथ खाएंगे। इससे अधिक क्या इच्छा रखू ? नडियाद मे मै दोनो से मिलकर आया।[1]

अपने दोनो बेटो का गाधीजी की सेना मे शामिल हुए देखने के लिए काकी नही थी। 7 अक्तूबर 1929 के दिन वह आश्रम मे ही चल बसी थी।

जेल में

चार मई के दिन गाधीजी गिरफ्तार कर लिए गए। उसस पाच दिन पूर्व काका साहब गिरफ्तार कर लिए गए थे। बात यो हुई : सत्याग्रह मे अठारह वर्ष से कम उम्र के किशोरो को नही लेना चाहिए, ऐसा एक नियम बनाया गया था। पर जहा सारा देश बगावत मे खड़ा हो गया था, वहां इस उम्र के किशोर घर मे खामोश कैसे बैठ सकते थे ? उन्होंने अपनी शरारतो से बुजुर्गों का जीना कठिन कर दिया।

काका साहब ने तुरत घोषणा कर डाली : विद्यापीठ के मकान सब खाली हो गए हैं। मैं अब यहा एक 'स्वराज्य विद्यालय' शुरू करने जा रहा हू। जिनकी उम्र अठारह वर्ष से कम है और जो देश की सेवा करना चाहते हैं, वे सब इस

1. सप्रेम वंदेमातरम : सं० पुडलीक कातगडे।

विद्यालय मे शरीक हो जाए। उनको स्वराज्य की तालीम दी जाएगी और उन्हे उनके योग्य काम भी दिये जाएगे।

फलस्वरूप सैकड़ो किशोर इस नए विद्यालय मे शरीक हो गए और काका साहब उन्हे उच्च जीवन और तेजस्विता के पाठ देने लगे। सारा विद्यापीठ किशोरो के उत्साह से भर गया। इस बात का सबसे अधिक सतोष किशोरो के बुजुर्गो को हुआ। वे निश्चित हो गए कि अब ये किशोर काबू मे भी रहेगे और प्रसन्न भी रहेगे।

उधर गुजरात प्रातिक समिति के कार्यालय मे गुजरात के छोटे-बड़े सब नेता रोज इकट्ठा होते थे और किन को कब आदोलन का नेतृत्व करना चाहिए आदि बाते तय करते थे। वहा एक दिन खबर आई कि बोरसद के आसपास पढियार नामक जो एक आदिम जाति समाज रहता है, उसके कुछ नौजवान हिसक प्रवृतिया शुरू करने की सोच रहे है। बेचारे यह जानते नही थे कि आदोलन किसलिए चल रहा है और उसमे उनका कर्तव्य क्या है। प्रतिकार की जो एक ही पद्धति वे जानते थे, उसी का वे अनुसरण करना चाहते थे। नरहरिभाई पारीख ने जब यह समाचार सुने, वह चितित हो गए। परिस्थिति की गम्भीरता को पहचान कर उन्होंने पढियारो के नेताओ को सदेश भेजा कि एक-दो दिन मे काका साहब वहा आ जाएगे और वे आपको आदोलन के बारे मे सब समझा देगे। तब तक आप कुछ न करे। उन्होने काका साहब की ओर से उन लोगो को वचन दे दिया और उनके जाने का प्रबध भी कर डाला।

काका साहब को जब यह मालूम हुआ, वह क्षण-भर के लिए उधेड़बुन मे पड गए। दूसरे ही क्षण उन्होने निश्चय कर लिया: नरहरिभाई ने वचन दिया है, मुझे वह निभाना चाहिए और वह पढियारो के बीच पहुच गए। इन लोगो की उन्होंने एक बडी सभा बुलाई और इन रगीन-फेंटो वाले हट्टे-कट्टे भीमकाय लोगो को आदोलन का उद्देश्य, स्वरूप, उसका व्याकरण सब-कुछ उन्हे सरल भाषा मे समझा दिया।

वापस लौटते समय जब वह बोरसद पहुचे तो उन्हे समाचार मिला कि अभी कुछ ही क्षण पहले पुलिस ने यहा लोगो पर डडे बरसाए हैं। कई लोग लहूलुहान हो गए हैं और आसपास के सब लोग उत्तेजित हो गए है, चिढ़े हुए है और गुस्से मे हैं।

कुछ समय पहले बोरसद में गुजरात राजनीतिक परिषद का अधिवेशन हुआ था। तब काका साहब यहा परिषद के अध्यक्ष के रूप मे आए थे। स्थानीय स्वागत समिति की मेहमानदारी का उन्होंने आस्वाद लिया था और यहां वे कई व्यक्तियों को जानते थे। बोरसद के प्रति उनके कुछ कर्तव्य थे। वे न होते तो भी लाठी चार्ज के बाद लोगों का मार्गदर्शन करने की जिम्मेदारी वे कतई नही टाल सकते थे। उन्होंने रात को एक सभा बुलाई और लोगों से कहा, लाठी के हमले रोज होते रहे तो भी हम न तो दबने वाले हैं, न उत्तेजित होकर उत्पात मचाने वाले हैं। हम लाठिया खाएगे। जो लाठी खाएंगे, वे हमारे सैनिक बनेंगे और वे स्वराज्य नजदीक ला देगे। उन्होंने सभा मे यह भी एलान कर दिया कि कल सुबह वह खुद नमक बनाएंगे और नमक बेचने गाव मे घूमेंगे और लोगों से उन्होंने प्रार्थना की : मुझे पुलिस पकडने आएगी तब दंगा न हो इसलिए मैं आपसे प्रार्थना करता हू कि कल सुबह जब मै चौक मे नमक बनाऊंगा, वहां लोग इकट्ठा न हो। मेरे साथ केवल मेरा एक विद्यार्थी रहेगा।

इस घोषणा के अनुसार दूसरे दिन सुबह उन्होने चौक मे आकर नमक बनाया और यह आजाद नमक लोगो को देने के लिए वह चौक से निकल पडे। थोड़ी ही देर मे पुलिस वाले एक बडी बस लेकर आए और उन्हे गिरफ्तार करके ले गए। लोगो ने वंदेमातरम और महात्मा गांधी की जय के नारे लगाकर उन्हें विदा किया।

उन्हें उस दिन स्थानीय लाक-अप मे रखा गया। दूसरे दिन उन्हें आणंद के मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया गया। आश्चर्य की बात यह थी कि उन पर गैर-कानूनी नमक बनाने का आरोप नहीं लगाया गया था। 'गाव के चौक मे मैंने लोगो को इकट्ठा होने नही दिया था। इसलिए पुलिस को यह डर था कि बाकायदा कोई साक्षी नही मिलेगा और मैं उसके आरोप मे सम्भवत: छूट निकलूंगा। पुलिस यह जोखिम उठाना नही चाहती थी।' इसलिए पहले दिन रात को उन्होंने जो भाषण दिया, उसकी पुलिस-रिपोर्ट पढ़कर सुनाई गई। मजिस्ट्रेट ने पूछा, आपको कुछ कहना है ? काका साहब ने जवाब दिया : 'रिपोर्ट मे बहुत गलतियां हैं और उसकी अंग्रेजी तो बिलकुल रद्दी है। पर मैं यह बात कबूल करता हूं कि मैंने अपने भाषण मे सरकार के खिलाफ बहुत-कुछ कहा था।'

उन्हें सात महीने की सादी कैद की सजा दी गई और वह 30 अप्रैल 1930 के दिन साबरमती जेल मे भेज दिए गए।

साबरमती जेल में उनके कई विद्यार्थी इससे पहले पहुंच गए थे। कई साथी भी वहां थे। करीब-करीब पूरा तेजस्वी गुजरात वहां मौजूद था। हालांकि सबको उनके अपने स्तर के अनुसार वर्ग दिए गए थे। कुछ 'अ' वर्ग के थे, कुछ 'ब' वर्ग और अधिकतर 'क' वर्ग के थे। फिर भी सत्याग्रहियो की इतनी भीड हो गई थी कि किसी को कोठरियो मे बद करके रखना असम्भव था। इसलिए जेल के अधिकारियो ने सब कोठरियो को खोल दिया था और सब जेल के आगन मे खुले आकाश के नीचे रहने लगे थे, वही खुले मे सोते भी थे। सरदार वल्लभ-भाई भी वहा पहुच गए थे। उन्होने जेल की यह हालत देखी और जेल मे सुपरिंटेंडेंट को सूचना दी कि खाने के बारे मे यह अ ब क का भेद बद कर दिया जाए। खाने के लिए सरकार ने हरएक के लिए जो पैसे मजूर किए हैं, सब इकट्ठा करके हमे दिए जाए। हम खुद अपना खाना पकाएगे और साथ मे खाएगे।

जेल वालो को इसमे कोई आपत्ति नही दिखाई दी। उन्होने वल्लभभाई की सूचना मंजूर कर ली। फलस्वरूप जेल म सत्याग्रहियो का एक सामूहिक रसोडा तैयार हुआ। सब ने आपस मे काम बाट लिए। सब साथ खाना पकाने लगे, साथ खाने लगे। शाम की प्रार्थना भी साथ मे करने लगे। जेल के अदर मानो एक आश्रम ही शुरू हो गया।

जेल सुपरिंटेडेंट को अदाज नही था कि ऐसा कुछ होगा। सत्याग्रही लोगो का यह सामूहिक जीवन देखकर वह घबडा गया। उसने हर एक को उसके अपने अपने वर्ग के अनुसार अलग-अलग रखने का फैसला किया।

सरदार वल्लभभाई इन सब कैदियो के स्वाभाविक नेता थे। उन्होंने जेल वालो को भूख हड़ताल की धमकी दे दी।

यहां यह सब चल रहा था, इतने मे एक दिन 18 जून 1930 को जेल के अधिकारी ने आकर काका साहब से कहा, 'आप तैयार हो जाइए! आपको दूसरी जेल मे ले चलने का हुक्म आया है।'

उन दिनों इस तरह जेल बदली हुआ करती थी, पर जब होती थी तब बीस-बीस, चालीस-चालीस लोगो को एक साथ ले जाते थे। पर यहा तो एक ही व्यक्ति को ले जाने के लिए पूरी पुलिस पार्टी भेज दी गई थी।

'मुझे कहां ले जा रहे हैं?' काका साहब ने पूछा। 'यरवदा मे' उन्हे जवाब मिला।

यरवदा में गांधीजी को रखा गया था। 'उनके साथ रखने के लिए तो नहीं ?' काका साहब के मन में यह विचार आया, पर उन्होंने यह विचार दिमाग से निकाल दिया 'क्योंकि अपने भाग्य पर मेरा इतना विश्वास नहीं था।' दूसरा भी एक कारण था :

> मैं आश्रम के प्रारम्भ से ही गांधीजी का साथी रहा। पर उनकी व्यक्तिगत सेवा करने वाले मंडल में कभी शामिल नहीं रहा। इसलिए उन्हें किस समय किस चीज की जरूरत रहती है, आदि बातें मैं जानता नहीं था। गांधीजी को अगर पूछा जाता कि क्या काका को आपके पास लाकर रखें, तो वे इंकार कर देते। मुझसे पूछा जाता, तो मैं भी इंकार कर देता। पर, दूसरे कारण से। मैंने जिंदगी में अपना भी कोई काम व्यवस्थित ढंग से नहीं किया, मैं उनकी सेवा क्या करता, इस ख्याल से मैं इंकार कर देता। और वे यह कहते : साबरमती जेल में अनेक नौजवान इकट्ठा हुए हैं। उन्हें काका कुछ-न-कुछ पढ़ाते रहेंगे। इतना ही नहीं, अन्य विद्वानों की मदद से वह वहां बाकायदा एक महाविद्यालय चलाएंगे। इस सेवा से उन्हें खींचकर यहां लाना उचित नहीं है, यों सोचकर वे इंकार कर देते।...पर मुझे यहां बापू के साथ रखने के लिए ही लाया गया था।

इसका कारण बड़ा मजेदार है। इंस्पेक्टर जनरल आफ प्रिजंस कर्नल डायल काका साहब को जानते थे। 1923 में काका साहब जब पहली बार जेल में पहुंचे, तब यह सज्जन लश्करी विभाग से नए-नए ही जेल विभाग में सुपरिंटेंडेंट बनकर आए थे। उस समय का पांच सात महीनों का दोनों का परिचय था और दोनों के बीच सद्भाव भी पैदा हो गया था। उन्होंने ही काका साहब को पसंद किया था और उन्हें यरवदा लाकर रखने की व्यवस्था की थी। उनके मन में काका साहब के प्रति पक्षपात था। 'पक्षपात क्यों न हो ? उन्होंने तो काका को मुसलमानों के अधिकारों के लिए सत्याग्रह करते देखा है। डायल ने सत्याग्रह की मीमांसा उन्हीं से सुनी होगी। कई चर्चाएं की होंगी। फिर उनके जैसा आदमी काका के गुणों से आकर्षित हो तो उसमें आश्चर्य की क्या बात है ?'[1]

साबरमती से काका साहब को यरवदा ले जा रहे हैं, यह खबर न जाने कैसे, उनके कुछ विद्यार्थियों को मिल गई। वे अहमदाबाद स्टेशन पर उन्हें विदा

1. गांधीजी : महादेवभाई नी डायरी 15-4-1932

देने के लिए आए और जेल मे कातने के लिए उन्होंने उन्हें ढेर सारी पूनियां ला दीं।

यरवदा पहुंचते ही उनकी जाच की गई। सामान्य तौर से प्रतिष्ठित कैदियो की जांच तो नाम मात्र की होती है। पुलिस ने कंधे पर हाथ रखा, पीठ पर से हाथ घुमाया, बस, इसमे माना जाता था कि जाच पूरी हो गई। पर यहा यरवदा में काका साहब को कपडे उतारने के लिए कहा गया। फिर देखा : कान मे तो कुछ छिपाया नही है? इसके बाद उन्हें मुह खोलने को कहा गया। धोती जरा ढीली करके झंझोडकर बताने को कहा। काका साहब को यह सब अपमानजनक मालूम हुआ। राजनीतिक कैदी अपनी स्वतंत्रता खोकर जेल मे जाता है, इसका मतलब यह तो नही कि वह स्वाभिमान भी खोने के लिए तैयार हो जाए। एक बार तो काका साहब के मन मे आया : साफ इंकार कर दू, अन्यत्र कही यह बात होती तो वह इकार कर भी देते। पुलिस को शारीरिक जबरदस्ती करनी हो तो भले करें। पर, राजी-खुशी से तो वे यह हुक्म कतई न मानते।

काका साहब कहते हैं :

> पर दूसरे ही क्षण मेरे मन मे उदात्त लोभ जाग गया। आते ही सत्याग्रह कर बैठूगा तो नुकसान मेरा ही होगा। बापूजी के साथ रहने का अवसर मैं खो दूगा। इतना त्याग करने के लिए मै तैयार नही था। इसलिए मैंने सारा अपमान सह लिया। पर हे राम ! यह क्या हो गया ?

उन्हे गांधीजी के वार्ड मे ले जाने के बदले, दूसरे ही कमरे मे रखा गया। वहां कई परिचित कैदी थे। विट्ठल रामजी शिंदे थे। विद्यापीठ के उनके साथी नगीनदास पारेख थे, कीकुभाई थे, चतुर्भुज थे। काका साहब को अपने बीच देखकर वे बडे प्रफुल्लित हुए। उन्होंने प्रेम और आदर के साथ उनका स्वागत किया और कई सवाल पूछे। पर काका साहब बेचैन थे।

> इतना अपमान सहन किया, फिर भी क्या बापूजी के साथ मुझे रखा नही जाएगा ? तो फिर इतना खर्च करके मुझे यहां ले क्यो आए ? साबरमती में मैं कैदियों को अगली लड़ाई के लिए तैयार करूंगा, इस डर से तो नही ? इस पशोपेश मे बहुत-सा समय निकल गया।

इतने में एक अधिकारी आया और कहने लगा, 'चलिए ।' वह उन्हे यूरोपियन वार्ड में, जहां गांधीजी को रखा गया था, ले गया । गांधीजी को देखते ही काका साहब आनंद-विभोर हो गए । गद्गद होने की सीमा पर थे, पर कुछ संभलकर उन्होंने उनका चरण स्पर्श किया । उन्हें कौन-से कमरे मे रखा जाए, उनकी खाने-पीने की क्या व्यवस्था की जाए आदि विषयों पर जेल के अधिकारियो ने गाधीजी से चर्चा की थी ।

जेल वाले मुझे वहा छोडकर चले गए । इसके बाद मैंने बापूजी को साबरमती जेल मे भूख हडताल की जो बात चल रही थी, उस विषय मे बताया और पूछा, अब मेरा धर्म क्या हो सकता है ? उन्होंने तुरंत जवाब दिया, साबरमती की बात साबरमती मे । यहां तो तुम पर अब ए० बी० सी० के वर्ग भी लागू नही होते ।...' फिर मैंने जेल के प्रवेशद्वार मे जो जाच हुई थी, उसकी तफसील बताई और अपमान क्यों सहन किया, यह भी बता दिया । मुझे डर था कि शायद मुझे उलाहना मिलेगा । पर बापूजी के मुखमंडल पर मधुर मुस्कान फैल गई, तब मेरा मन आश्वस्त हुआ ।'

गांधीजी के साथ यरवदा में

हम भले ही एक-दूसरे के निकट रहते हो, मनुष्य की बाहर जो पहचान होती है, वह एक प्रकार की होती है और जेल मे जो होती है वह बिलकुल अलग प्रकार की होती है ।

काका साहब गाधीजी को 1915 से जानते थे । 1916 से वह उनके निकट मे रहते आए थे । उनके चरित्र का -बैठना, उठना, बोलना, चलना, खाना, पीना सबका -उन्होने बारीकी मे निरीक्षण किया था । वे केवल एक महापुरुष ही नही, बल्कि एक युगपुरुष हैं इस नतीजे पर वे कब के आ चुके थे । उनका सूक्ष्म विवेक, उनका कवि-हृदय, उनकी मानवता, उनके आदर्श, उनकी निष्ठा, सबसे वे परिचित थे । जीवन के सहस्रों प्रश्नो के बारे में उनसे उन्होने कई चर्चाएं भी की थी । फिर भी, जेल मे उनके साथ अत्यत निकट मे रहने का मौका मिलेगा, इस विचार से ही उन्हे स्वर्गलाभ जैसा आनद महसूस होने लगा । एक तो इतना निकटतम -पांच सवा पाच महीने लगातार दिन-रात का - साहचर्य अपने आप मे एक अलभ्य लाभ था और दूसरे, अपने अनुभव और विचार उनके सामने रखकर चिंतन की गहराई में उतरने के लिए यह उत्तमोत्तम अवसर था ।

यरवदा लाने से कुछ दिन पहले काका साहब कुछ कमजोरी महसूस करते थे। इसलिए ज्यों ही उन्हे उनकी जगह दिखाई गई, उन्होने दो एक दिन बिस्तर पर पड़े रहना ही पसद किया। गांधीजी के सामने इस तरह पड़े रहना असंस्कारिकता थी। उन्हे संकोच तो बहुत हुआ। पर उन्होंने सोचा, पूरा आराम नही करूंगा तो गाधीजी की सेवा करने के लिए अपात्र सिद्ध हो जाऊंगा। इसलिए दो दिन उन्होंने पूरा आराम लिया।

गांधीजी एक आदर्श कैदी थे। सादगी से रहते थे। कहते थे वास्तव मे मुझे मामूली कैदी की तरह ही रहना चाहिए था पर मुझे शरम के साथ कबूल करना पड़ता है कि मेरा शरीर कुछ अधिक सुविधाओ की माग करता है। जब वे यहा लाए गए, मेजर मार्टिन ने अपनी कल्पना के अनुसार उनका कमरा सजाया था। बहुत-सी चीजे लाकर रखी थी। गाधीजी ने वह सब निकलवा दी थी और एक खटिया, गद्दी, दूध आदि रखने के लिए कुछ बर्तन, दूध, फल आदि रखने के लिए एक जाली वाली अल्मारी, लिखने के लिए एक डेस्क और पेशाब का बर्तन रखने के लिए पर्याप्त ऊचा स्टूल, बस इतना ही सामान वहा रहने दिया था।

हा, और एक सुविधा वहा थी। गुसलखाने मे एक धारायंत्र (शावर) लगाया गया था।

उनके खर्च के लिए सरकार ने डेढ सौ रुपये मासिक मंजूर किए थे और इतने बड़े आदमी के लिए डेढ सौ पर्याप्त नही हैं, कहकर मेजर मार्टिन ने तीन सौ की माग की थी। पर गाधीजी ने सारा हिसाब लगाकर मार्टिन से कह दिया था कि मेरे लिए मासिक खर्च पैंतीस से अधिक नही होना चाहिए।

दो दिन आराम करने के बाद अपना कार्यक्रम बनाने की काका साहब सोच रहे थे कि गाधीजी ने उनसे कहा, 'काका, मैंने अपने समय का हिसाब लगाकर देखा। मै आपको रोज आधा घंटा दे सकता हू। मुझे मालूम है कि आपको अपने हाथ से लिखने की आदत नहीं है। स्वामी, जुगतराम, चंद्रशेखर को आप लिखवाते आए हैं। अगर कुछ लिखवाना हो तो मै अवश्य लिख लूंगा। रोज आधा घंटा।'

सचमुच काका साहब को अपने हाथ से लिखने की आदत नही थी। हाथ में कोई दोष नही था, पर हाथ से लिखने बैठते तो थोड़ी ही देर मे ऊब जाते थे और

लिखना छोड देते थे। लिखने वाला कोई मिल जाए तो घंटों लिखवाते रहते थे। गाधीजी उनका यह दोष जानते थे। इसलिए उनकी मदद करने की शुद्ध नीयत से ही उन्होने रोज आधा घटा देने की बात की थी। उनको शरमाने के लिए नही। पर यह प्रस्ताव सुनते ही काका साहब शरम के मारे पानी-पानी हो गए। बोले, 'बापूजी, भगवान ने मुझे विशेष बुद्धि तो नही दी है, पर मै इतना बुद्ध भी नही हू कि आपसे लिखवाने के लिए तैयार हो जाऊ।'

गाधीजी कहने लगे, 'नही, नही, संकोच करने का कोई कारण नही। मै सच-मुच आपको आधा घटा रोज दे सकता हू।'

आपसे लिखवाने जैसा मेरे पास कुछ है ही नही,' कहकर काका साहब ने सकट टाल दिया।

यरवदा मे गाधीजी का सारा समय बधा हुआ था। बाहर लडाई चल रही थी। देश के लगभग सभी सर्वोच्च नेता जेल मे पहुच गए थे। फिर भी जनता न तो हताश हुई थी, न खामोश बैठी थी। उल्टे, उसने यह महसूस कर लिया था कि सिर ऊचा करके सीधे खडे रहने पर जालिम से जालिम सत्ता को भी उखाडकर फेका जा सकता है। सत्याग्रह की यह एक बहुत बडी सिद्धि थी। वाय-सराय ने यह महसूस कर लिया था कि गाधीजी का विरोध करके यहा हुकूमत चलाना अब ब्रिटेन के लिए मुश्किल है। वह गांधीजी से सुलह करना चाहते थे। वे कभी किसी अग्रेज पत्रकार को जेल मे उनसे मिलने भेज देते, कभी सप्रू जयकर-जैसो का भेजते। फलस्वरूप अलग-अलग जेलो मे बदी हुए काग्रेसी नेता बातचीत के लिए यरवदा लाए जाते। इतनी सारी व्यस्तता के बीच यहा गाधीजी का ध्यान बडी एकाग्रता मे चरखे मे लगा हुआ था। वह रोज तकली या चरखे पर सात-सात घटे कातते। कातनेवालो को पर्याप्त मजदूरी मिले और खादी सस्ती बेची जा सके इस हेतु मे उनके यह प्रयोग चल रहे थे। कातने के साथ-साथ चरखे मे सुधार का भी प्रयोग चल रहा था। अब तक पुराना परम्परागत चरखा ही चलता आया था। उसकी उत्पादन क्षमता गाधीजी को सतोषजनक मालूम नही होती थी। वे नए चरखे की खोज मे थे। इन्ही दिनो बाहर से उनके पास तीन नए चरखे आए। एक का नाम था—जीवन चक्र। सम्भवत वह सुदरदास सा मिल की ओर से भेजा गया था। दूसरा था गाडीव चरखा। यह सूरत के बीमावाला बंधुओ ने भेजा था और तीसरा था : बारदोली चरखा।

यह बारदोली के लक्ष्मीदासभाई की ओर से आया था। गाधीजी तीनों को आजमाने मे लग गए, फिर उनमे सुधार करने की ओर उनका दिमाग झुका। चरखे का चक्र खडा नही होना चाहिए। खडा हो तो चक्र घुमाते समय हाथ ऊपर नीचे करना पड़ता है। गुरुत्वाकर्षण के खिलाफ मेहनत करनी पडती है। इससे हाथ जल्दी थक जाता है। चक्र चक्की की तरह चलना चाहिए। धीरे-धीरे उनको लगा कि मुख्य चक्र और मोढिए के बीच और एक चक्र-गतिचक्र आना चाहिए। इससे तकुए की गति बढ सकेगी और चरखा भी कम जगह रोकेगा। गति-चक्र बिठाते ही एक की जगह दो मालाए आई। फिर देखा कि कुछ समय चरखा चलाने के बाद माला ढीली हो जाती है। इसका इलाज करना जरूरी था। दो चक्रो के बीच की माला मोटी करके देखी और मोढिए को रबड़ की लंगोटी पहनाई। रबड का खिचाव मिलने से पतली माला तग बैठने लगी। कातने की गति सुधरी। घर्षण कम-से-कम हो, तकुए की गराडी पर से माला की पकड ढीली होकर वह फिसल न जाए, रबड का पट्टा जोते का काम दे, चमरखे के बदले तांत का उपयोग हो, तकुए की नोक थोडी जमीन की तरफ झुकी रहे इस तरह उन्होने कई सुधार किए और देखते-देखते नया चरखा शुरू हुआ। उद्योगी मधुमक्खी की तरह वह गूजने लगा और गाधीजी उस पर घटो कातने लगे। इस नए चरखे को उन्होने नाम दिया : यरवदा चक्र।

गाधीजी के इन प्रयोगो मे काका साहब ने काफी दिलचस्पी ली। वह उन्हे सुझाव देते रहे मदद करते रहे। यत्रो के बारे मे भी काका साहब का दिमाग चलता है, इसकी गाधीजी को कल्पना भी नही थी। वह तो यही मानते आए थे कि काका साहब शिक्षा-शास्त्री है, साहित्यकार है, समाज-शास्त्री है, चितक है, भाषा-शैली के और शब्द-शास्त्र के रसिया है। यान्त्रिक कामो मे भी उनका दिमाग चलता है और अच्छे वैज्ञानिक ढंग से चलता है —यह उनके लिए नई और सुखद खोज थी। काका साहब कहते है

> इसके बाद चरखे के बारे में जब भी उन्हे कोई नया विचार सूझता या नई उलझन खडी होती, वह मुझे बुला लेते थे।...महाराष्ट्र के कालेजी नामक एक यत्र-विशारद ने एक नया चरखा तैयार किया था। गाधीजी ने उन दिनो जो कोई अच्छा चरखा बनाकर देगा, उसे एक लाख रुपयो का पारितोषिक देने का ऐलान किया था। कालेजी का चरखा इस इनाम के

लिए पात्र है या नही, इसका निर्णय लेने के लिए उन्होने जानकारो की एक समिति बनाई थी। इस समिति मे हम केवल दो व्यक्ति थे : एक, विनोबा और दूसरा मै। यत्रविद्या के सर्वोच्च जानकर के रूप मे हम दोनो के नामों की चर्चा उन दिनो बहुत चली। लोगो को आश्चर्य हुआ कि यह शिक्षक, साहित्यिक, घुमक्कड, यत्र विशारद कैसे बने ?...यरवदा निवास के कारण ही गाधीजी मेरे दिमाग का यह पहलू पहचान सके, इसलिए मै यरवदा के प्रति बडा कृतज्ञ हू।

यरवदा निवास के दरमियान काका साहब ने जीवन के कई प्रश्नो के बारे मे गाधीजी से चर्चाए की। खादी की अर्थनीति तो गहरी चर्चा का एक प्रमुख विषय रही। इसके बाद शोषणरहित अहिसक सस्कृति मे गावो का महत्त्व, ग्रामोद्योगो की आवश्यकता हस्त-उद्योगो के द्वारा कला का विकास आदि प्रश्नो का आना अपरिहार्य था। फिर आदर्शराज्य व्यवस्था मे शिक्षा विभाग सरकार के हाथ मे रहे या सरकार-मुक्त रहे ? सरकार-मुक्त रहे तो बड़े-बडे विद्यालय कौन चलाए ? जेल का विभाग शिक्षा विभाग के मातहत चले या नही, ये भी प्रश्न आ गए। आश्रम-जीवन के बारे मे भी कई चर्चाए हुई, भविष्य के आश्रमो का स्वरूप क्या रहेगा, स्त्रियों का आश्रम के सचालन मे कौन-सा स्थान होना चाहिए, उनमे निर्भयता कैसे लाई जा सकती है आदि प्रश्नो की भी चर्चाएं हुई। सबसे अधिक गहरी चर्चा अहिसा के विविध पहलुओ को लेकर हुई। एक बार कुछ झुझलाकर गाधीजी ने कहा, आपने अहिसा मुझसे ली होगी। पर अब तो वह आपकी अपनी श्रद्धा हो गई है न ? अहिसा का आकलन हर एक का अलग-अलग होता है। आपको अदर से जो जवाब मिले उसी को प्रमाण मानकर चलना चाहिए। ऐसा करते-करते आपका अहिसा का साक्षात्कार अधिक-से-अधिक सूक्ष्म और गहरा होता जाएगा। हर बार मुझसे निर्णय लेने की वृत्ति उचित नही है।'

'मुझे मजूर है', काका साहब ने जबाब दिया। 'पर आप यहा है और मेरे सौभाग्य से आपके पास फुरसत भी है। फिर, इस मौके का फायदा मै क्यों न उठाऊ ? मै चलूगा तो अपनी ही अहिसा के प्रकाश में, पर आपके विचार समझता जाऊं तो क्या मेरी अहिसा परिपुष्ट नही होगी ? ऐसा अवसर फिर से कब मिलने वाला है ?'

गांधीजी ने सिर ऊंचा करके एक क्षण के लिए उनकी ओर देखा और कहा, 'ठीक है, पूछते रहिए'...और काका साहब पूछते गए। एक बार सहयोग-असहयोग के बारे मे चर्चा चली। चर्चा समाप्त होने के करीब एक घंटे के बाद उन्होने मेरी विचार-पद्धति का एक बहुत बड़ा दोष मुझे दिखाया। कहने लगे, काका, मैंने बहुत बार देखा है, आपको अनलिटिकल ढग से—पृथक्करण पद्धति से विचार करने की आदत है, यह अच्छा नही है। विचार करते समय सीथेटिकल —समन्वय पद्धति से ही विचार करना चाहिए। पानी की हर एक बूद को जाचने बैठे तो क्या पार पा सकेंगे? उसमें शक्ति का व्यय होता है।'

यरवदा मे काका साहब ने गाधीजी के साथ करीब पाच महीने और दस दिन बिताए। वह 19 जून को लाए गए थे और 29 नवम्बर को रिहा कर दिए गए। थे। काका साहब कहते हैं:

उन दिनो की सारी बाते मेरे लिए महत्व की है। वह सब मैने एक पुस्तक मे लिखी हैं। उसके पन्ने-पन्ने मे गाधीजी का चरित्र-कीर्तन और मेरी प्रसन्नता भरी हुई है। उस समय मुझे यह जेल नमक का कानून तोड़ने से मिली थी। इसलिए मैंने इस पुस्तक का नाम रखा: 'नमक के प्रभाव से'। वैसे, यह नाम पूरी तरह सार्थक था। फिर भी मुझे लगता है कि यदि 'गाँधीजी के साथ जेल मे' ऐसा कुछ नाम रखता तो पुस्तक की अब तक कई आवृतियाँ निकल जाती। नाम के कारण ही सम्भवत: इस पुस्तक की ओर किसी का विशेष ध्यान नही गया।

इस पुस्तक मे दोनो के बीच के एक झगड़े का किस्सा आया है। काका साहब के ही शब्दो मे:

एक दिन हमारा मुकादम (कैदी ओवरसियर) मेरे लिए सुदर पक्का पपीता ले आया। मुझे भूख नही थी। इसलिए मैने सोचा कि सारा का सारा बापूजी को ही दे दूं। मैंने बापूजी से वैसा कहा और बताया कि आज मुझे पपीता खाना ही नही है। बापूजी ने वह खाया। कुछ समय के बाद मुकादम को मालूम हुआ कि मैंने पूरा पपीता बापूजी को दे दिया, खुद खाया ही नही। इसलिए वह दूसरा एक पपीता ले आया और मुझसे आग्रह करने

लगा, यह तो आपको खाना ही होगा। मैंने कहा, शाम को भोजन के बाद खाऊंगा। उसका आग्रह मैं टाल न सका।...शाम को भोजन के समय मैंने पपीते का टुकड़ा मुह मे डाला ही था कि बापूजी बोल उठे, काका, तुमने मुझे धोखा दिया। सुबह तुमने कहा कि मुझे पपीता खाना ही नही है।... और कुछ कठोर आवाज मे कहा, 'अब मै जेल मे हू तब तक पपीता कभी नही खाऊंगा।' मुझे दुःख हुआ। मैने उनको हकीकत समझा दी और कहा, आप मुझ पर अन्याय कर रहे हैं। आपको इस तरह पपीता नही छाड़ना चाहिए। बापूजी बोले, 'छोडा सो छोडा।' मैने कहा, तो ठीक है, आप जेल अवधि तक पपीता नही खाएगे...मै जब तक जीऊंगा, पपीता नही खाऊगा।' मेरी प्रतिज्ञा सुनकर बापूजी चौके। बोले, 'कोई बात नही। प्रतिज्ञा सयम मूलक होती हैं। मैं तुम्हे प्रतिज्ञा तोडने के लिए नही कहता। पर वह पक्के पपीतो तक ही सीमित हे न ? कच्चा पपीता पकाकर खाने मे यह प्रतिज्ञा बाधक नही बन सकती।' उन्होने मेरी प्रतिज्ञा को मर्यादित करवाया और यह अध्याय यहां पूरा हुआ। अब थोड़ी आगे की बात...बापूजी रिहा होकर अहमदा-बाद आए और एक मिल मालिक मित्र के यहा ठहरे। विद्यापीठ के बगीचे म मैने अच्छे-से-अच्छे पपीते उगाए थे। उनमे से एक बढिया पपीता लेकर मै वहा गया। वह जब खाने बैठे तब पपीता उनके सामने रखकर मैने कहा, आज आपकी प्रतिज्ञा पूरी होती है। आज यह पपीता आपको खाना ही पड़ेगा। बापूजी मुस्कराए। पपीता हाथ मे लेकर खाया और बोले, इसी पपीते ने हमारे बीच झगडा खड़ा किया था न ?

भले कितने ही उत्साह मे आदमी जेल मे गया हो, रिहाई का दिन नजदीक आता है, तब उसे खुशी ही होती है। पर काका साहब की स्थिति इस समय विपरीत थी। बाहर जाने की उनकी इच्छा ही नही थी। गाधीजी का इतना निकटतम साथ मिला, उससे अब वचित होना पड़ेगा, इसका उन्हें बडा दुःख था। आखिर वह दिन --29-11-30 आ ही गया। वह नहा-धोकर जाने के के लिए तैयार हुए। गाधीजी ने उन्हे कुछ सलाह दी : 'इतने दिन के एकात के बाद बाहर की धाधली में जाना होगा, इसलिए मन उत्तेजित होगा। पहले दिन भोजन कम करना। सबसे मिलना तो होगा ही पर उसके लिए रात को देर तक जागना ठीक नही।...'

जब जेलर ने आकर कहा : चलिए, तब काका साहब ने नीचे झुककर गांधीजी को प्रणाम किया। उनकी आखो मे आसू भर आए, यह तो स्वाभाविक था। 'पर गाधीजी की आखें भी भर आई। काका साहब कहते हैं :

उन्होंने मेरी पीठ पर जोर मे थप्पा लगाया और इस तरह प्रेम और आशीर्वाद दोनो प्रदान किए। विरह का मच्चा अर्थ क्या है, इसका अनुभव उमी दिन मैने किया। मेरे जाने के बाद बापूजी ने मीरा बहन को लिखा : सो काका लेफ्ट एंड ही वैप्ट एज ही लेफ्ट। वी हैड कम सो क्लोज टू ईच अदर।

महादेवभाई अपनी डायरी (15-4-32) मे लिखते हैं .

काका के बारे मे बापू के मुह से कई स्मरणीय उद्गार निकले 'काका का अनुभव जैसा मुझे जल मे हुआ वैसा इससे पहले कभी नहीं हुआ। काका को आपने कभी रोते देखा है? कल्पना भी नही कर सकते। मैने उन्हे धडाधड आसू बहाते देखा है। अनेक बार हमारे बीच बहस चलती। तब काका कहते, मुझमे कई बुरी आदतें हैं, वह जैसे-जैसे आपको दिखाई दे, आपको कठोर बनकर मुझे दिखानी होगी और सुधारनी होगी। मैने कहा, आप मुझमे यह जो विश्वास रखते हैं, उसका मै पूरा उपयोग करने वाला हू। इसके अमल मे जब मै सख्त आलोचना करता, तब वे अपनी गलती कबूल करते और आसू बहाते। सत्याग्रह के सिद्धात तो उन्होने घोटकर पी लिए हैं। उनके स्वभाव मे रही कुछ अनिश्चितताओ के कारण सामने वाल आदमी पर उनका जो प्रभाव पडना चाहिए था, उससे कम पड़ता हे। मुझे लगता है कि उनके साथियों ने भी उन्हे अपग कर डाला था। यह अपंगता यहां निकल गई।...

महादेवभाई आगे लिखते है :

काका के सहवास को बापू ने अपने आकाश दर्शन वाले लेख मे 'सत्सग' कहा था और मुझे बडी गहराई मे हमेशा यही महसूस होता आया है कि इस सत्संग की बापू को कई बार प्यास रही है। यह प्यास मै कैसे बुझा सकता हूं? और मुझे आशंका है कि वल्लभभाई भी नही बुझा सकते।

विद्यापीठ की आहुति

बाहर जाकर क्या करना चाहिए इस विषय मे काका साहब के मन मे किसी भी प्रकार संदिग्धता नही थी। विद्यापीठ ही उनका जीवन-कार्य बन गया था। उसे देश का सबसे महत्वपूर्ण विद्या-केन्द्र बनाने की कई योजनाए उनके दिमाग में सक्रिय थी। यरवदा निवास के दरमियान गाधीजी मे उन्होने अपनी इन योजनाओ के बारे मे कई चर्चाए की थी। एक दिन (9-8-30) को बात-बात मे गाधीजी ने उनसे कहा था, 'विद्यापीठ ने इस आदोलन म जा सहयोग दिया उसका गुजरात पर बहुत बडा असर हुआ है। अगर आप विद्यापीठ मे समय पर दाखिल न होते तो यह सहयोग पाना असम्भव था। यह अच्छा ही हुआ कि विद्यापीठ की प्रवृत्ति को आपने एकाग्र किया, वरना हमारा दिवाला निकल जाता। पैसे देकर बुद्धिशाली लोग चाहे जितने लाए जा सकते हैं। पर असल काम तो भक्ति से ही होता है। चौबीसो घटे विद्यापीठ की भक्ति करने वाला ही ऐसे परिणाम ला सकता है। इसलिए मै तो चाहता हू कि आप रिहा होते ही तुरत अहमदाबाद जाए और विद्यापीठ का काम दुगुने उत्साह से हाथ म ले लें।'

उन्होने यह भी सूचना दी थी कि 'जो अस्सी लोग मेरे साथ निकल पड़े थे, उन्हे मै आपके पास विद्यापीठ म रखकर ग्रामसेवा के काम के लिए तैयार करना चाहता हू। उन्हे मै देश के अलग-अलग स्थानो मे बिठाना चाहता हू। यह जरूरी नही है कि वे सब वापिस आश्रम मे जाए और वही रहकर काम करे...उनम से हर एक का एक एक महत्व का स्थान सभालना है। आपने ग्राम शिक्षा का कार्य हाथ मे लिया था। उसका केवल आरम्भ ही हुआ था। अब आपको यह काम बहुत जोरो से आगे चलाना है।'

गाधीजी का आदेश स्पष्ट था। वह यही चाहते थे कि काका साहब रिहा होते ही सीधे अहमदाबाद चले जाए और आदोलन के कारण बिखरी हुई विद्यापीठ फिर से सगठित करे। इसलिए रिहा होते ही काका साहब दो-एक दिन पूना मे रहकर सीधे अहमदाबाद चले गए और विद्यापीठ मे डेरा डालकर बैठ गए।

दो महीने भी नही हुए थे कि गाधीजी और काग्रेस कार्य-समिति के सभी सदस्य बिना शर्त रिहा कर दिए गए। तुरत गाधीजी और वायसराय लार्ड इर्विन के बीच बातचीत शुरू हुई। कुछ बैठको के बाद उनके बीच एक समझौता

हुआ। यह तय हुआ कि कांग्रेस सविनय अवज्ञा बंद कर दे और सरकार सभी अध्यादेशों को वापस लेकर सभी सत्याग्रहियों को रिहा कर दे।

काका साहब के ध्यान में एक बात तुरंत आ गई कि इस गांधी-इर्विन समझौते के कारण अब कांग्रेस और सरकार के पारस्परिक सम्बंधों में एक नए अध्याय का आरम्भ हुआ है। यह समझौता राज्यकर्ता और प्रजाजन के बीच के जैसा नही है, बल्कि जैसा दो राष्ट्रों के बीच बराबरी के स्तर पर होता है, वैसा ही ममझौता है। इससे गांधीजी ने कांग्रेस की प्रतिष्ठा बढ़ा दी है। पर इसी कारण उन्हें यह भी महसूस होने लगा कि ममझौते के परिणाम स्वरूप जो युद्ध विराम हुआ है, उसका लोग यही अर्थ लगाएंगे कि लड़ाई अब खत्म हो गई है, कुछ खास करने की अब जरूरत नहीं रही है और वह राष्ट्र कार्य मे शिथिल हो जाएंगे। असल मे समझौते के बावजूद लड़ाई तो किसी भी क्षण शुरू हो सकती थी। ऐसी स्थिति मे लोगों को शिथिल होने देना खतरनाक है, यों सोचकर एक जागरूक मंतरी की तरह वे दुगुनी उत्कटता से विद्यापीठ के संगठन-कार्य में जुट गए।

11 अप्रैल 1931 के दिन विद्यापीठ का दीक्षांत समारोह हुआ। यह नौवां दीक्षांत समारोह था। उस समय गांधीजी ने अपने दीक्षांत भाषण में विद्यापीठ की बहुत तारीफ की :

> कराड़ी मे गिरफ्तार होने के बाद हिन्दुस्तान मे जो-कुछ हुआ, मैंने वह अखबारों मे पढ़ा। रिहा होने के बाद साथियों के मुंह से भी सुना। विद्यापीठ के योगदान के बारे में मैंने इतना सारा सुना कि मेरा हृदय हर्ष से भर गया। गुजरात विद्यापीठ की तरह काशी विद्यापीठ और बिहार विद्यापीठ के बारे में भी सुना। तीनों विद्यापीठों के अध्यापक और विद्यार्थी लड़ाई में कूद पड़े, यह मामूली बात नहीं है। इस लड़ाई का इतिहास जब लिखा जाएगा, उस समय विद्यापीठों का योगदान देखकर सारा संसार हर्षित हो जाएगा। जेल में पड़े-पड़े विद्यापीठों के अध्यापकों और विद्यार्थियों के बारे में अखबारों मे कुछ भी देखता था तब मैं सरकारी कालिजों के साथ उसकी तुलना कर लेता था...काका साहब ने बताया कि विद्यापीठ के विद्यार्थियों ने पिछले एक साल में जो नाम कमाया है, उतना इससे पहले कभी नहीं कमाया था। विद्यापीठ तो वही की वही थी। राष्ट्रीय भी थी, फिर भी नहीं कमाया

> था ।...सार यही लेना है कि हमारे स्नातकों और ग्राम-सेवा दीक्षितों को ऐसा नहीं लगना चाहिए कि वे किसी मामूली विद्यापीठ के स्नातक और दीक्षित हैं। आप अंजलिभर से दिखाई दिए तो भी सागर-जैसे हैं। स्वराज्य लाने की शक्ति आप में है। आप लोगों ने जो काम किया है, वह इस बात को सिद्ध करता है कि विद्यापीठ के पीछे हमने जो पैसा खर्च किया, उसका सूद तक हमने वसूल कर लिया है।

फिर विद्यार्थियों को सावधान करते हुए उन्होंने कहा :

> आज जो समझौते हुए हैं, वह पक्के समझौते मे परिणत हो इसलिए मुझसे जितना प्रयत्न हो सकता है, उतना तो मैं करूंगा ही ।...पर अगर पक्का समझौता न हुआ तो जो लड़ाई होगी, वह दारुण होगी। उसमें हम सब कुर्बान हो जाएंगे।[1]

जून मे विद्यापीठ की ओर से बोचासण में बारैया जाति के लोगों के लिए 'वल्लभ विद्यालय' नामक एक विद्यालय की स्थापना हुई और इधर विद्यापीठ मे काका साहब की देखरेख में 'स्वराज्य विद्यालय' शुरू कर दिया गया। इसका पहला सत्र 16 अप्रैल को शुरू हुआ और वह पांच महीने चला। दूसरा सत्र 16 नवम्बर को शुरू हुआ था। पर...

वह पूरा न हो सका। देश में एक के बाद एक ऐसी घटनाएं घटती गईं कि किसी को चैन से सांस तक लेने के लिए फुरसत नहीं मिली। लार्ड इर्विन का कार्यकाल पूरा हो गया था और उनकी जगह वायसराय के पद पर लार्ड विलिंगडन आए थे। गांधीजी और उनके राष्ट्रवादी साथियों के साथ किस तरह पेश आना चाहिए, इस विषय मे उनके अपने खास विचार थे। वे अपने को गांधी-इर्विन समझौते से बंधे हुए नहीं मानते थे। ज्योंही वे वायसराय के पद पर आरूढ़ हुए, उन्होंने गांधी-इर्विन समझौता रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। अगस्त में गांधीजी दूसरी गोलमेज परिषद में हाजिर रहने के लिए लंदन गए। तीन महीने के बाद जब वे लौटे, देश में विलिंगडन ने आतंक का राज्य शुरू कर दिया था। तरह-तरह के अध्यादेश जारी कर दिए गए थे और जवाहरलालजी, बादशाह खान जैसे कांग्रेस के बड़े नेता गिरफ्तार कर लिए गए थे। सरदार पटेल, जो कांग्रेस

1. केलवणी वडे क्रांति : विट्ठलदास कोठारी।

के इस समय अध्यक्ष थे, बाहर थे । पर किसी भी क्षण गिरफ्तार कर लिए जा सकते थे । गांधीजी ने जब ये सब बातें सुनी, उन्होंने कहा, इस आतंक का प्रतिकार होना ही चाहिए । सरकार ने चुनौती दी है । हम चाहे तैयार हों या न हो, यह चुनौती हमे स्वीकार करनी होगी ।

बम्बई बदरगाह पर गाधीजी के स्वागत के लिए जो लोग इकट्ठा हुए थे, उनमे काका साहब भी थे । उन्हें देखते ही गांधीजी ने कहा, 'अच्छा हुआ कि आप यहा आए । मुझे आपसे बहुत-सी बातें करनी हैं । आप दो एक दिन यही रुक जाइए ।' बगल मे ही सरदार पटेल खड़े थे, वह बोल उठे, 'नही, नही, इन्हें तो फौरन अहमदाबाद चले जाना चाहिए । कह नही सकते कि वहां किस समय क्या हो सकता है ।'

और काका साहब जो हमेशा गाधीजी की इच्छा को आज्ञा मानते आए थे, आज वल्लभभाई की आज्ञा को शिरोधार्य मानकर फौरन अहमदाबाद चले गए ।

बम्बई मे काग्रेस कार्य समिति की बैठक हुई । उसमे सरकार की चुनौती स्वीकार करने का प्रस्ताव पास हुआ । वायसराय के साथ गांधीजी ने तुरत तार व्यवहार शुरू किया । दूसरे ही दिन उनका रूखा जवाब आया : आर्डिनेंस राज की बात छोड़कर और कुछ बातें करनी हो तो आ जाइए । बस, बातचीत के दरवाजे भी बद कर दिए गए ।

4 जनवरी के दिन सुबह गांधीजी और सरदार गिरफ्तार कर लिए गए । काग्रेस वर्किंग कमेटी की बैठक के लिए जो नेता बम्बई आए थे, वे अपने घर पहुचने से पहले ही रास्ते मे गिरफ्तार कर लिए गए । सारे देश मे आर्डिनेस राज्य शुरू हुआ । हजारो काग्रेसी हिरासत मे लिए गए । काग्रेस और उससे सलग्न सभी सस्थाए गैर-कानूनी घोषित कर दी गई । उनकी सारी सपत्ति जब्त कर ली गई । यहा तक कि देश-भर के सारे खादी भंडार भी सरकार ने अपने कब्जे मे ले लिए ।

इस सर्वमेध यज्ञ मे गुजरात विद्यापीठ कैसे बच पाता ? उसकी भी आहुति इस यज्ञ मे पड़ी । सात जनवरी के दिन रात के बारह बजे काका साहब को हिरासत मे ले लिया गया और कुछ ही समय मे विद्यापीठ के मकान आदि पर सरकार ने कब्जा कर लिया । विद्यापीठ मे अब विद्यार्थी नही रहे, अध्यापक नही रहे ।

सब जेल पहुंच गए। विद्यापीठ के चारों ओर केवल पुलिस ही गश्त लगाती दिखाई देने लगी।

1934 के अंत तक यही स्थिति बनी रही। लगभग तीन वर्ष तक विद्यापीठ सरकार के कब्जे मे रही। देखते-ही-देखते उसके आसपास चारों ओर बबूल का एक बड़ा जंगल खड़ा हो गया और जंगल में दीमकों ने अपना साम्राज्य अनायास जमा लिया। विद्यापीठ का अपना एक बड़ा ग्रथालय था। बड़ी कीमती पुस्तके उसमे थी। कइयों की मेहनत से यह ग्रंथालय खड़ा हुआ था। उस पर दीमकों ने जब धावा बोला, गाधीजी बड़े दु:खी हुए। उन्होने सरकार का ध्यान इस संकट की ओर खीचा, तब हफ्ते मे एक बार उसकी झाड़बुहार करने की खास इजाजत मिली थी।

फिर से जेल

अबकी बार काका साहब को 'क' वर्ग दिया गया। उनको 'क' वर्ग मिला हुआ देखकर नरहरिभाई ने भी वही वर्ग माग लिया। नरहरिभाई काका साहब के न केवल साथी थे, बल्कि एक ऐसे मित्र और आत्मीय थे, जिन पर काका साहब सम्पूर्णत: निर्भर थे। विद्यापीठ में वह जो-कुछ कर सके, नरहरिभाई के कारण ही कर पाए। नरहरिभाई के बिना वह अपने को अपंग समझते थे। जेल मे भी उनको साथी के रूप मे पाकर काका साहब बडे खुश थे।

साबरमती जेल मे दोनो का साथ-साथ रखा गया।

दोनों अभी स्थिर भी न हो पाए थे कि अचानक जेल बदली का हुक्म आया। साबरमती से दोनो विसापुर ले जाए गए। उनके साथ और तीस-पैंतीस सत्याग्रही लाए गए थे। विसापुर जेल की विशेषता यह थी कि उसकी दीवारें नही थी। कंटीली तारो से घिरी हुई वह मानो एक छावनी-सी थी। खुला आकाश दिन रात देखने को मिलता था। इतनी एक सुविधा छोड दें तो बाकी के मामलों मे यह जेल बिलकुल खराब थी। पाखाने गदे थे। पानी का प्रबंध नही था। रहने के लिए जो बैरेक बनाए गए थे, रहने लायक नही थे और जेल का संचालन तो बिलकुल असंतोषजनक था। कैदी एक-दो बार बगावत मे खड़े हुए, तब काका साहब ने जेल के सुपरिंटेंडेंट क्वीन के सामने एक सुझाव रखा : 'आप जेल का संचालन हमीं को क्यों नही सौप देते ?'

'मतलब ?'

'मतलब यह कि हम खुद अपना खाना बनाएंगे। सामूहिक रसोड़ा चलाएंगे। यहां आपका एक छोटा-सा अस्पताल है, उसमे भी हमारे लोग सेवा देंगे। यही नहीं, आपके दफ्तर मे भी आपकी सहायता करेंगे।'

क्वीन राजी हो गए। काका साहब ने नरहरिभाई से कहा, अब सबको काम बांट दीजिए। नरहरिभाई ने सबको काम बांट दिए। एक-दो दिन मे ही क्वीन ने इस व्यवस्था का प्रभाव देखा और वह इतने उदार हुए कि साग-सब्जी और अनाज लाने के लिए वह कैदियों को बाजार मे भी जाने देने लगे। पास ही में एक तालाब था। वहा भी कैदियों को नहाने, कपड़े धोने के लिए जाने देने लगे। कोई अगर उनसे पूछता, 'हम भाग जाएं तो आप क्या करेंगे ?' तो वह जवाब दे देते, 'इसकी मुझे चिंता ही नही है। जो भाग जाएगा, उसका नाम मै गांधीजी के पास भेज दूगा। वही उसको पकड़वाकर यहा ला रखेंगे, फिर मुझे क्यो डरना चाहिए ?'

काका साहब की जन्म-कुंडली मे एक जगह बैठना शायद लिखा ही नही होगा। वह जेल में भी स्थिर नही रह सके। साबरमती से विसापुर लाए गए थे। विसापुर मे कुछ स्थिरता का अनुभव कर रहे थे कि अचानक और एक जेल बदली का हुक्म आया। वह विसापुर से ठेठ कर्नाटक मे बेलगांव की हिंडलगा जेल मे भेजे गए।

इस जेल बदली के समय भी नरहरिभाई उनके साथ थे। अबकी बार और एक साथी उनको दिए गए थे—उनके प्रिय विद्यार्थी प्रभुदास गांधी।

हिंडलगा जेल का सुपरिंटेंडेंट बडा अशिष्ट और उद्धत था। काका साहब रोज नियमित रूप से चरखा कातते आए थे। यहां उनको चरखा नही दिया गया। काका साहब ने उसको समझा कर देखा, पर जब वह रूखेपन मे पेश आया, काका साहब ने सात दिन का उपवास कर दिया। उपवास के कारण उन्हें चरखा तो मिल गया, पर जेल मे उपवास करना जेल नियमों के अनुसार अपराध है। इस अपराध की सजा के तौर पर उन्हें शरारती घोषित कर दिया गया और चोर और डाकुओं के बीच उन्हें रखा गया। नरहरिभाई और प्रभुदासभाई से उन्हें अलग कर दिया गया। काका साहब के लिए यह एक बिलकुल ही नई दुनिया थी। वह हर एक को समझने और उनके जीवन मे प्रवेश करने की

कोशिश में लगे हुए थे कि अचानक दूसरे एक 'शरारती' कैदी उनके कमरे में लाकर रख दिए गए। यह थे पुंडलीक कातगडे। वे गंगाधरराव देशपांडे के साथी थे और काका साहब के न केवल मित्र, बल्कि एक तरह से शिष्य या विद्यार्थी कहिए—थे। गांधी विचारों से पूरे रगे हुए थे। परिणामस्वरूप, दोनो के बीच दिन-रात चर्चाएं शुरू हुई। स्वराज्य का संदेश गांवों तक पहुंचाना है तो ग्रामोद्धार की कोई ठोस योजना हमारे पास होनी ही चाहिए। पर हमारे गाव तो पुरानी संस्कृति मे ग्रस्त भले-बुरे रीति-रिवाजों और मान्यताओ मे जकड़े हुए हैं। इन रिवाजो और मान्यताओ को सुधारकर उन्हे नया और प्राणवान स्वरूप कैसे दिया जाए? ग्रामीण जनता को क्रांति के लिए तैयार करने की प्रवृत्ति के पीछे कौन-सा दर्शन होना चाहिए—आदि प्रश्नों की चर्चाएं उनके बीच चलती रही। फिर पुंडलीकजी को महसूस हुआ कि यह सब अगर लिख नही डाला तो सारा चिंतन हवा मे उड जाएगा। उन्होने काका साहब से कहा, 'यह सब आप लिखवाइए, मैं लिख दूगा।'

और काका साहब ने उनको मराठी मे एक पुस्तक लिखवाई, जो 'हिंडलग्याचा प्रसाद' नाम से बाद मे प्रकाशित हुई। इसके गुजराती और हिन्दी मे अनुवाद हुए है, वे 'लोक-जीवन' के नाम से बड़े लोकप्रिय हुए है। ग्राम जीवन के नव-निर्माण की एक सर्वांगीण दृष्टि इसमे पाई जाती है।

एक दिन काका साहब ने महसूस किया कि जेल का सुपरिटेंडेंट जो अब तक रूखा-रूखा-सा पेश आता था, अचानक बदल गया है। बड़े आदर के साथ पेश आता है। काका साहब के खाने-पीने के प्रबंध के बारे मे बहुत गहरी दिलचस्पी लेता है। उन्हें अच्छा दूध मिले इसलिए दौड-धूप करता है। क्या हुआ होगा? काका साहब को आश्चर्य हुआ।

बात यों हुई थी—

काका साहब ने चरखे के लिए उपवास किया था। उपवास के दरमियान ऐनिमा लेना जरूरी होता है और ऐनिमा के लिए कुनकुने पानी की जरूरत रहती है, वह उन्हें नहीं दिया गया। उपवास समाप्त हुआ तब किसी फल का रस भी उन्हें नहीं मिला, उनको दूध नही दिया जाता—आदि बातें यरवदा मे गांधीजी के कानों में पड़ी। वह चिंतित हुए। वैसे भी, काका साहब की सेहत की उन्हें चिंता रहती ही थी और अब वह एक ऐसी जेल में रखे गए थे, जहां का

सुपरिंटेंडेंट बड़ा रूखा है, इसलिए उनकी चिंता और भी बढ़ गई थी। उन्होने यह बात कर्नल डायल से की और कहा, 'उन्हें यहां मेरे पास लाकर रखिए। मुझे उनके स्वास्थ्य की बड़ी चिंता है।'

डायल काका साहब को खूब जानते थे। उन्होंने तुरंत बेलगाव की जेल से सम्पर्क स्थापित किया। सुपरिंटेडेट से पूछा : वह कहा रखे गए हैं? कैसे हैं? उनको दूध, फल वगैरह दिया जाता है या नही?

स्वयं इंस्पेक्टर जनरल आफ प्रिजन्स काका साहब के स्वास्थ्य की पूछताछ करते हैं, यह देखकर हिंडलगा जेल का सुपरिंटेडेट नम्र हो गया था और वह अब उनकी ओर अधिक ध्यान देने लग गया था।

काका साहब यरवदा में अपने पास रहे, ऐसा गाधीजी को लगा, इसका और भी एक कारण था—

पिछली बार जब वह यहा गाधीजी के साथ रखे गए थे, उन्होने गाधीजी का आकाश के सितारो से परिचय करा दिया था। पर उस समय उनकी इस विषय मे कोई विशेष रुचि जाग्रत नही हुई थी। इस समय की जेल मे आकाश के बारे मे जानने-समझने की एक उत्कट आंतरिक इच्छा उनमे जाग्रत हुई थी। काका साहब से पत्र-व्यवहार करने की उन्हें इजाजत मिली तब 3 जून, 1932 के एक पत्र मे वे काका साहब को लिखते हैं :

> आकाश-दर्शन की एकाध पुस्तक तो यहा मेरे पास रहती ही है। मै इस विषय से ठीक लिपट गया हू। अब आपसे बातें करते समय बिलकुल मूढ जैसा नही लगूंगा। जो पुस्तकें मेरे हाथ मे आई हैं, उनमे अब तक सबसे अधिक उपयोगी तो 'फ्लामेलिया' की ही पुस्तक मालूम होती है। दीक्षित की पुस्तक मे मेहनत खूब दिखाई देती है, पर सीखने वाले की दृष्टि से उसमे कई सुधारों की आवश्यकता है।...एक अच्छी पुस्तक गुजराती मे होनी चाहिए। उसमे खगोल विद्या का ज्ञान भी हो और अनुभव का मिश्रण भी हो। आप अगर यहा होते तो इस तरह की पुस्तकें मै आपसे लिखवाता और उसमे मै भी अपना योगदान देता। मेरी जानकारी बिलकुल कच्ची है, वरना खुद मैं ही लिखने बैठ जाता। मुझे इसमे इतना रस आने लगा है। इस विज्ञान की धार्मिक उपयोगिता मैं देख चुका हूं।

23 जुलाई के पत्र में लिखते हैं :

आपकी तबीअत के बारे में मैंने कर्नल डायल को लिखा है और मेरे पास यहां आपको रखने की सूचना भी दी है । आपको यहां लाकर रखवाते तो आपकी तबीअत तो तुरंत सुधर जाती ही, साथ-साथ खगोल का अध्ययन भी होता और कुछ लिखा भी जाता ।...खगोल के बारे में आप जो अनुमान करते हैं, वही कहने का मेरा भावार्थ है ।...वह सब रोचक ही हैं । पर मेरा रस अलग ही प्रकार का है । आकाश का निरीक्षण करते समय अनंतता, स्वच्छता, नियम और भव्यता का जो ख्याल आता है, वह हमें शुद्ध करता है । ग्रहों और सितारों तक हम पहुंच सके तो पृथ्वी के ऊपर जैसा हमें अच्छे-बुरे का अनुभव होता है, वैसा वहां भी हो सकता है । पर दूर से उनमें जो सौंदर्य है और वहां से जो शीतलता छूट रही है, उसका मन पर शांत प्रभाव पड़ता है । वही मुझे अलौकिक लगता है ।...इन सब विचारों ने मुझे आकाश-दर्शन के बारे मे पागल बना दिया और अपने संतोष के लिए मैं ज्ञान प्राप्त कर रहा हूं । अब तो कई पुस्तकें मेरे यहां इकट्ठा हो गई हैं । इनमें जेम्स जीस की तीन पुस्तकें प्रो० त्रिवेदीजी ने भेज दी । दो बड़ी थी, वे तो मैंने पढ भी डाली । दोनों मुझे अच्छी लगीं...गुजराती में मैं किस तरह की पुस्तक चाहता हूं, इस विषय में फिलहाल कुछ नहीं लिखूगा, क्योंकि विचार अभी आकार ले रहे हैं । अभी से ढांचा बनाना ठीक भी नही है, आसान भी नही है ।

26 अगस्त के पत्र मे लिखते हैं :

मेरे पास यहां खगोल विद्या की पुस्तकों का अच्छा खासा भंडार जम हो गया है । उनमे से जींस की तीनों पुस्तकें पढ़ने लायक हैं । आपने न पढ़ी हों तो उनमें से कौन-सी आपको भेज दूं ?...सुबह के नक्षत्रों के आपने जो नाम दिए हैं, उन सबको मैं अब आसानी से पहचान लेता हूं ।...रोज कुछ-न-कुछ पढ़ता ही रहता हूं ।...आपने जो लिखा है...उसमें मैं एक अभाव देखता हूं । वह है : पश्चिम के खगोल शास्त्रज्ञों के नाम और उनका संक्षिप्त जीवन वृतांत । कई तो बड़े साहसिक और पुण्य जीवात्मा हैं ।...हमारी खगोल विषयक पुस्तक यथा सम्भव पूर्ण होनी चाहिए । अब त की सारी खोज उनमें हो । जींन्स की पुस्तकें पढ़ने के बाद लगता है कि फिजिक्स की भी

जानकारी देनी चाहिए। आप वहां बैठे-बैठे यह सब करें ऐसी उम्मीद मैं नहीं रखता। आपकी सेहत देखते हुए यह आपकी शक्ति के बाहर की बात हो सकती है। सेहत के सामने यह सब गौण है।

30 सितम्बर के दिन उनका एक पत्र आया। इस समय काका साहब का तबादला हिंडलगा से वापस साबरमती जेल में हो गया था। इन दिनों सरकार ने अछूतों के लिए पृथक निर्वाचन की घोषणा की थी। पहले हिन्दू-मुसलमानों के बीच का वैमनस्य बढ़ाकर सरकार ने एक भारत के दो भारत बना दिये थे। अब अछूतों को हिन्दुओं से तोड़कर तीन भारत बनाने की कोशिश में वह थी। गोल-मेज परिषद में हाजिर रहने के लिए गांधीजी लंदन गए थे, तभी उन्हें सरकार की इस कुटिल और दुष्ट चाल के संकेत मिले थे। उसी समय उन्होंने शपथ ली थी कि मैं इस कुटिल चाल का डटकर विरोध करूंगा...जान की बाजी लगाने का अवसर अब आ गया था। हिन्दू समाज का विच्छेद करने वाले पृथक निर्वाचन के निर्णय के विरोध में 20 सितम्बर 1932 के दिन उन्होंने आमरण अनशन शुरू कर दिया, उसी दिन का लिखा हुआ यह पत्र है। काका साहब ने तबीअत के कारण चरखा कातना कुछ समय के लिए छोड़ दिया था और गांधीजी ने इसके लिए उन्हें इजाजत दी थी। पर जेल में वह खूब पढ़ते थे। सम्पूर्ण महाभारत पढ़ डाला था और उस पर कुछ लिखवाने की सोच रहे थे। लिखने-पढ़ने की इस व्यस्तता में वे सुबह शाम टहलना कभी-कभी भूल जाते थे। गांधीजी इस पत्र में लिखते हैं :

आपने कातने से छुट्टी जैसे ले ली है वैसे ही लिखने-पढ़ने से भी ले लें तो कोई हर्ज नहीं। छुट्टी तो सुबह-शाम घूमने और टहलने से नहीं लेनी चाहिए। इसका यरवदा में हमने अनुभव किया था। काफी टहलते रहिए। टहलते, व्यायाम करते, खाते-पीते आराम करते जो समय बचता है, उतना ही पढ़ने-लिखने के लिए पर्याप्त है।...

जिन्स की जो तीन पुस्तकें मेरे पास है, आपको भेज रहा हूं। तीनों मुझे बहुत पसंद आईं। मैं देखता हूं कि उसके विचारों का विरोध करने वाले भी हैं। यह पुस्तक मुझे दो-तीन बार पढ़नी चाहिए। कई बातों का चित्र मेरे सामने स्पष्ट नहीं हुआ है। फिर भी अब इस विषय के प्रति मेरा आकर्षण बढ़ गया है।...

> अनशन की बात सुनकर आपको हर्ष हुआ होगा। आध्यात्मिक दृष्टि से सोचने वालों के लिए जन्म और मृत्यु एक ही है। कोई साथी धर्म के लिए शरीर त्याग दे तो वह शोक का कारण हो ही नहीं सकता। ऐसा अवसर कदाचित किसी को एकाध बार ही कभी मिल पाता है, उसका स्वागत करना चाहिए। आप व्याकुल न हों, बल्कि अधिक जाग्रत और अधिक कर्तव्य परायण हों। सेहत सुधार कर ही बाहर आना। कई आहुतियां पड़ेंगी तभी अस्पृश्यता का कलंक साफ होगा। शंकर मजे में है, उससे मिला था।...

अंतिम वाक्य में गांधीजी के स्वभाव की विशेषता प्रकट होती है। परिस्थिति चाहे जितनी गम्भीर हो, नाजुक हो, वे अपना समत्व संभालकर ही पेश आते थे। शंकर (सतीश कालेलकर) उन दिनों यरवदा जेल में एक अलग जगह मे रखे गए थे। पिता को अपने पुत्र की चिंता होगी, यह गांधीजी भूल नहीं सकते थे, इसलिए शंकर से मैं मिला था, यह वाक्य पत्र में जोड़ना वे नहीं भूले।

जिन्स की पुस्तकें जेल में काका साहब को मिलने में कोई अड़चन न आए, इसलिए उन्होंने पुस्तकों पर इतना ही लिखा : 'चि० काका, बापू, 20-9-32'। काका साहब के पास हमेशा नई-नई पुस्तकें आती रही। उनके ग्रंथालय में इस प्रकार हजारों पुस्तकें आईं। कई महत्व की पुस्तकें इधर की उधर भी हो गईं। पर ये तीन पुस्तकें उन्होंने कभी इधर की उधर नहीं होने दी। उन्हें बहुमूल्य समझकर हमेशा अपने पास ही सजोए रखी। अंत तक वे उनके पास थीं।[1]

अब कुछ आगे की बात—

काका साहब रिहा होकर दांतों के उपचार के लिए पूना में प्रो० जयशंकर त्रिवेदी के यहां टिके थे। गांधीजी यरवदा में ही थे। जेल में ही बैठकर 'हरिजन' पत्र चलाते थे। काका साहब को उनसे जेल में जाकर मिलने की इजाजत मिली थी। इसलिए वह लगभग रोज उनसे जाकर मिलते थे। यरवदा जेल के नजदीक ही लेडी प्रेमलीला ठाकरसी का पर्णकुटी नामक बंगला था। वहां एक बड़ी दूरबीन थी। गांधीजी ने सरकार से लिखा पढ़ी करके यह दूरबीन जेल में मंगवा ली। जेल में उसे खड़ा कर देने का काम सरकार ने मौसम विभाग के दो बड़े

---

1. इन पुस्तकों के नाम हैं : 1. स्टार्स इन देयर कोर्सिस, 2. मिस्टीरिअस यूनिवर्स और 3. द यूनिवर्स अराउण्ड अस।

विद्वानों को सौपा था। दोनो अपने क्षेत्र के निष्णात थे। पर खगोल का उन्हे कोई ज्ञान नही था। न ही दूरबीन का काम वे जानते थे। काका साहब ने उनसे कहा, चलिए मै आपकी मदद करता हू। पर्णकुटी मे जाकर काका साहब ने दूरबीन के सब हिस्से इकट्ठे किए और जेल मे जाकर दूरबीन बिठा दी। काका साहब कहते है :

> तारा-दर्शन के आनद का स्वाद गाधीजी को चखा सका, यह मेरे जीवन की एक बडी धन्यता है। जेल मे बैठे-बैठे उन्होंने आकाश निहारने का आनद खूब लिया। ईश्वर दर्शन का और एक मार्ग उन्हे मिल गया था।

सिंध हैदराबाद की जेल

दिसम्बर के अन्त मे काका साहब रिहा कर दिए गए। वह फिर से सत्याग्रह करके जेल जाना चाहते थे। पर अब की बार की जेल मे उनकी तबीअत लुढ़क गई थी। दात तो करीब-करीब सभी खराब हो गए थे। अहमदाबाद से बम्बई जाकर उन्होने अपनी जाच करवाई, तब डाक्टर कहने लगे, दात सभी निकालने होगे। सभी तो एक साथ निकाले नही जा सकते थे। एक दो निकाले, कुछ दिन आराम किया, फिर एक-दो निकाले और फिर आराम किया, इस तरह सभी दांत निकालने के बाद मसूडे सख्त हो, तब तक आराम करे, इसके बाद कृत्रिम दांत लगाने के लिए और कुछ दिन इन्तजार करें, यह सारी झंझट थी। इसमे कितने दिन लग जाएंगे, कहा नही जा सकता था। इतने दिन जेल से बाहर रहना कहाँ तक उचित है, उनकी समझ मे नही आता था। अपनी परेशानी उन्होने गांधीजी के सामने पत्र द्वारा रखी। तुरन्त गांधी जी का निर्णय आया :

> दांतों को तो पहले ही निकलवा देना चाहिए था। अब जितने निकलवा सकते हैं, निकलवा दें। दांतों के बारे मे सम्पूर्णत: निर्भय न हो जाए, तब तक बम्बई मे रहना उचित होगा। इसमें धर्मविमुखता नही होती। वहा बैठे-बैठे भी कई तरह की सेवाएं की जा सकती हैं।

यानी, जेल जाने की जल्दी न करें। पहले पूर्ण स्वस्थ हो जाएं, यही सलाह थी। काका साहब कुछ दिन बम्बई रहे और फिर दांतो की चिकित्सा के लिए ही पूना आए। पूना मे प्रो० जयशंकर त्रिवेदी जी के यहां रहे।

इस बीच गाधीजी ने एक नया आदोलन शुरू कर दिया था। अछूतो के लिए पृथक निर्वाचन की घोषणा के विरोध मे उन्होने जो आमरण अनशन शुरू किया था, उसके फलस्वरूप सवर्णो और अछूतो के नेताओ के बीच काफी खीचातानी के बाद एक समझौता हुआ। इस समझौते ने अछूत जो चाहते थे, उससे उन्हे ज्यादा मिल गया था। पर इस समझौते का दूसरा एक पहलू था हिन्दू समाज के नेताओ ने यह कबूल किया था कि किसी भी सावजनिक सस्थान मे अस्पृश्यता का पालन नही होगा यही नही, बल्कि सभी जगह अछूतो को सवर्णो के बराबर के अधिकार होग। काका साहब की राय मे गाधीजी के अनशन की सबसे बड़ी उपलब्धि यही थी। 27 सितम्बर को गाधीजी ने अनशन तोडा उस दिन से 2 अक्तूबर तक के एक सप्ताह मे देश मे एक अपूर्व जागृति दिखाई दी थी। जगह-जगह सहभोज के कार्यक्रम हुए थे। कई जगह अछूतो के लिए मदिरो के दरवाजे खोल दिए गए थे और गाधीजी से प्रेरणा पाकर हजारो कार्यकर्त्ता देहातो मे जाकर अछूतो के बीच तरह-तरह के काम करने लग गए थे। सविनय अवज्ञा के काम मे जितने उत्साह से लगे थे, उससे दुगने उत्साह से वह इस हिन्दू समाज की शुद्धि के कार्यक्रम मे लग गए थे।

गाधीजी जेल मे ही थे। जेल मे रहते हुए उन्हे अस्पृश्यता-निवारण का काम करने की छूट मिली थी। इस काम मे उन्होने अपने को पूरी तरह से डुबो दिया था।

काका साहब की राय मे हिन्दू समाज की शुद्धि का गाधीजी का यह आदोलन उनके अब तक के सभी आदोलनो मे सबसे अधिक महत्त्व का था। इसलिए पूना आते ही सरकार से इजाजत लेकर वे गाधीजी से मिलने यरवदा जेल मे गए। उन्होने गाधीजी से जो चर्चाए की उनका बयान महादेवभाई ने अपनी डायरी मे किया है। काका साहब ने पूछा :

> आपने अप्पा (पटवर्धन) का उपवास ओढ़ लिया। केलप्पन का भी ओढ़ लिया। आपका इरादा क्या यह है कि आपके सिवा और कोई उपवास न करे? उपवास तो अनेको को करने पडेगे।
>
> बापू : मैने तो कह दिया है कि हजारो को उपवास करने पडेगे, पर आज नही। उसके कई कारण है। एक तो यह कि उसके लिए योग्यता की आवश्यकता है। दूसरा यह कि यरवदा करार मे सवर्णो की ओर से जो

> कोल दिया गया है, उसका गवाह मैं हू और सवर्णों मे मेरे जैसा दूसरा कौन है, जो इस कोल का पालन कर सके ? तीसरी बात यह है कि दूसरो को अनेक काम हैं । जेल मे आकर करने लायक सब काम मैं कर चुका हू । अब यह काम है । वह सबसे नही हो सकता । पर मैने देखा है कि मुझ मे शक्ति है और अपनी यह शक्ति मैं इसी तरह यहा बैठे-बैठे दिखा सकता हू । इसलिए उपवास मै अकेला करू यही मुझे उचित मालूम होता है ।
>
> काका . मुझे तो लगता है कि निम्न श्रेणी के लोगो के लिए उपवास करने का समय आ गया है । आपके उपवास से लोग डर जाते है । निम्न श्रेणी के लोगो के उपवास से वे नही डरेगे और ये निम्न श्रेणी के लोग उपवास करते-करते मरते जाएगे, तब लोग जाग्रत होगे ।[1]

यह जनवरी के महीने की बात है । छह मई के दिन हिन्दू समाज की अतरात्मा को जगाने के लिए गाधीजी ने यकायक इक्कीस दिन के उपवास की घोषणा कर दी । यह घोषणा करते समय उन्होने यह भी कह डाला कि उनकी अतरात्मा से उनको यह आदेश मिला है ।

काका साहब इस समय स्वास्थ्य लाभ के लिए सिहगढ मे जाकर रह रहे थे । डा० दिनशा मेहता उनका इलाज कर रहे थे । उपवास की खबर मिलते ही डा० दिनशा और काका साहब दोनो यरवदा दौडे आए । दोनो डर गए थे । क्योंकि सितम्बर मे गाधीजी ने जो उपवास किया, उसके छठवे दिन ही उनका स्वास्थ्य गिर गया था, चिताजनक हो गया था और यह इक्कीस दिन का उपवास था । उपवास शुरू करने के पहले गाधीजी ने समाचार पत्रो को एक वक्तव्य दिया था, उसमे उन्होने अन्य बातो के साथ दो बाते कह डाली थी . एक यह कि दूसरा कोई इस समय उपवास न करे और दूसरी यह कि उन्हे उपवास से परावृत्त करने की कोशिश कोई न करे । वल्लभभाई और राजाजी दोनो ने यह प्रयत्न किया था और उसमे असफल हुए थे । फिर भी काका साहब ने अपना प्रयत्न नही छोड़ा । उन्होने कहा

> आपका वक्तव्य मैंने तीन बार पढ़ा । इसे आप ईश्वर का आदेश कहते हैं, तो दलील करने की कोई गुजाइश ही नही रहती । फिर भी मुझे इस

1. महादेव भाई की डायरी, 6-1-1933

उपवास में कठोरता और अधीरता दिखाई देती है। आप ऐसा कोई कदम दुनिया के सामने उठाते हैं, तब उसे नोटिस देते हैं। हिन्दू समाज को नोटिस देने की जरूरत आपको महसूस नहीं होती क्या? संसार में कई जगह खराबी है। देश में भी बहुत है। फिर भी हिन्दू समाज आपको सुनने का प्रयत्न करता है। आपने उसकी भारी उपेक्षा की है। आपका उपवास अनुचित है ऐसा तो मैं नहीं कहूंगा। पर वह समयोचित नहीं है, ऐसा मुझे लगता है। आप एक साल का नोटिस दे देते और अगले साल इसी दिन हिसाब मांगते तो अच्छा होता।

बापू : नोटिस की जरूरत नहीं थी। यही नहीं, इसमें बहुत कुछ समाया हुआ है। मेरी कल्पना तो यहां तक चली कि यह एक तरह की गंगा की कांवर है। इस कंधे मे उस कंधे पर। इस तरह इस उपवास का अंत ही नहीं। अंत होगा तो अस्पृश्यता के नाश के बाद ही होगा। एक ही आदमी उपवास न करे, एक के बाद एक इस तरह अनेक करें।

काका : कइयों को करने होंगे।

बापू : तो फिर नोटिस देने की बात क्या अनुचित नही है ? आप गलत रास्ते जा रहे हैं, यह गणित के उदाहरण की तरह मैं आपके सामने स्पष्ट कर दूगा। दूसरों को समझाने में भले देर लगे।

काका : आपके कामों की ओर आलोचकों की दृष्टि से देखने की हमें आदत ही नहीं है। हम तो जो-कुछ होता है, उसे समझने की कोशिश करते हैं। समझने की कोशिश करने पर भी मुझे तो इसमें उतावली दिखाई देती है।

बापू : यहीं तो आप रास्ता भूल गए है। आपको तो ऐसा कहना चाहिए कि यह देरी से शुरू हुआ और आपसे मैं यह कहलवा दूंगा। आपके लिए तो यह हर्ष से नाचने का समय है। मैं ऐसा निश्चयपूर्वक मानता हूं।...

बहस काफी देर तक चलती रही, पर काका साहब भी उन्हें उपवास से परावृत्त करने में सफल नहीं हुए। उन्हें कहना पड़ा, आपसे दलीलें करके हम क्या पाएंगे ? यही कि आप अपनी स्थिति में अधिक मजबूत बनें।[1]

1. महादेव भाई की डायरी, 1-5-1933

उपवास चला। इक्कीस दिन काका साहब गांधीजी के साथ रहे। मजे की बात यह थी कि गांधीजी ने जिस दिन उपवास शुरू किया, उसी दिन सरकार ने उन्हें रिहा कर दिया। सरकार खतरा उठाना नहीं चाहती थी। फलस्वरूप, गांधीजी जेल से लेडी ठाकरसी की पर्णकुटी में आए और यहीं उन्होंने उपवास पूरा किया। उपवास के दरमियान उन्होंने सत्याग्रह का आंदोलन छह हफ्तों के लिए स्थगित रखा था। उपवास के बाद जब थोड़ी-सी शक्ति महसूस करने लगे, उन्होंने वायसराय से मिलने की इच्छा प्रदर्शित की। पर वायसराय ने बड़ी रुखाई से मना कर दिया। मतलब साफ था। वायसराय गांधीजी से सम्पूर्ण आत्मसमर्पण की मांग कर रहे थे। यह तो बिलकुल नामुमकिन था। जेल से रिहा होकर कई सत्याग्रही बाहर आए थे। वे सत्याग्रह का कार्यक्रम चालू ही रखना चाहते थे। गांधीजी ने उनके सामने एक नया कार्यक्रम पेश किया। उन्होने कहा, देश मे निर्भयता के वातावरण का निर्माण करना चाहिए। जिनमें अभी भी सत्याग्रह करने का उत्साह हैं, वह किसी की मदद की उम्मीद रखे बिना व्यक्तिगत सत्याग्रह करें।

काका साहब को यह कार्यक्रम बहुत पसद आया। वह तुरत पूना मे अहमदाबाद लौटे और धड़ल्ले के साथ भाषण देने लगे। सरकारी दमन के कारण अहमदाबाद के जीवन में जो सन्नाटा फैला हुआ था, वह इससे दूर हो गया। लोग बड़ी संख्या में उनके भाषण सुनने के लिए आने लगे। एक मित्र के नाम लिखे हुए एक पत्र में वे बताते हैं :

> कलेक्टर को पत्र लिखकर मैंने पहले सूचित किया कि मैं अब सविनय अवज्ञा शुरू कर दूगा या तो हस्तलिखित पत्रिकाएं बाटूंगा या रास गाव की ओर कूच करूंगा। उन्होंने हम तीनों को – मुझे, अम्बालाल पटेल और सुरेन्द्र मश्रुवाला को तुरत हिरासत में ले लिया। पर मध्यरात्रि के समय छोड़ दिया। उन्हें लगा होगा, ये लोग यहा से अब रास की ओर कूच करेंगे। वहा की पुलिस भले उन्हे पकड़े। हमारे यहां सब शांत है, ऐसा हम कहते आए हैं, उसे कलंक क्यों लगाएं ? रास की ओर कूच करने का कार्यक्रम मैंने रद्द कर दिया। यहीं बैठकर पत्रिकाएं निकालने लगा। पत्रिकाओं की बौछार ही लगा दी, समझिए। शुरू-शुरू में उन्हें कोई छूता नहीं था, मानो

बिच्छू हों। पर बाद में लोग झपटाझपटी करने लगे। मैंने कलेक्टर को दो पत्रिकाएं भेज दी और साथ में एक पत्र लिखकर बताया कि इस तरह पकड़कर रात के समय छोड़ देना अपने को सर्व-समर्थ मानने वाली सरकार को शोभा नहीं देता। 'सिविल रसिस्टर' की कृति को 'रिस्पौंस' भी 'सिविल' ही मिलना चाहिए। मैंने उन्हें यह भी बताया कि मैं राम की ओर कूच नहीं करूंगा। यहीं रहूंगा। पत्रिकाएं निकालूंगा। भाषण दूंगा।...तब पुलिस भी जोश में आ गई। फिर भी ये लोग हमें गिरफ्तार करना नहीं चाहते थे। हमें क्या? हमने कार्बन पेपर लेकर पत्रिकाएं निकालने का एक कल-कारखाना ही शुरू कर दिया और पत्रिकाएं खुलेआम बांटने का कार्य-क्रम चलाया। हर पत्रिका पर मेरा नाम रहता है। पत्रिकाओं का नाम ही है: काका कालेलकर नी पत्रिका न० 1 2, 3...इस तरह। अंत में पुलिस ने अपनी नीति बदली। पहले अम्बालाल को गिरफ्तार किया, बाद में सुरेन्द्र को।...अब उन पर मुकदमा चलेगा।...मैं अब भी बाहर हूं। खुलेआम पत्रिकाएं निकालता हूं। सी०आई०डी० के लोग घर पर आकर देखते हैं। पर मुझे गिरफ्तार नहीं करते। अब मैं मजदूरों के बीच जाकर भाषण देने लगूंगा। रोज पकड़कर रोज छोड़ देंगे तो त्रिस्थली की यह नई यात्रा रोज करता रहूंगा। साल-भर यही करता रहूंगा।[1]

पर सरकार ने साल-भर यह कार्यक्रम चलाने का उन्हें अवसर नहीं दिया। अम्बालाल पटेल को जब छह महीने की सजा सुनाई, काका साहब ने मजदूरों के बीच जाकर धड़ल्ले के साथ भाषण देना शुरू कर दिया। इससे सरकार डर गई। सरकार से अधिक राजभक्त लोग डर गए। उनमें से एक ने अखबारों में लिखा: 'मालूम होता है, सरकार या तो बहुत उदार हो गई है या बिलकुल सो रही है। काका साहब को देखिए, वह आराम से लोगों को उकसाते, बहकाते, भाषण देते जा रहे हैं।' नतीजा जो होना था वही हुआ। काका साहब गिरफ्तार कर लिए गए और एक साल की सजा देकर जेल भेजे गए। पर अबकी बार सरकार ने उन्हें उनके स्वाभाविक कार्यक्षेत्र महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक की किसी जेल में नहीं रखा। वह दूर की सिंध हैदराबाद जेल में भेजे गए। यहां की जेल

1. सप्रेम वन्देमातरम: पुंडलीक कातगड़े।

में आम तौर से सिंधी कैदी ही रखे जाते थे। पर इस समय इस जेल मे साम्यवादी नेता कामरेड श्रीपाद अमृत डागे भी रखे गए थे। मेरठ षड्यन्त्र केस मे उन्हे गिरफ्तार कर लिया गया था। उन्हे काका साहब के साथ ही रखा गया। दोनों के बीच एक प्रकार की आत्मीयता स्थापित हो गई। काका साहब अपने हाथ से नही लिखते यह उनकी अड़चन कामरेड डागे के ध्यान मे आते ही, उन्होने कहा, 'आपको कुछ लिखवाना हो तो मै लिख लूंगा।' परिणामस्वरूप, काका साहब ने उनको गीता के सोलहवे अध्याय मे वर्णित दैवी सम्पत के छब्बीस गुणो के बारे मे अपनी व्याख्या लिखवाई। गीता के लगभग सभी व्याख्याकारो ने गीता का विचार अध्यात्म दृष्टि से ही अधिक किया है। काका साहब को गीता मे भारतीय समाजशास्त्र दिखाई दिया। बरसो से उनका इस विषय मे चिंतन चलता आया था। कामरेड डागे को मराठी मे जो लिखवाया वह 'गीता का समाजशास्त्र' था। उनके लगभग बीस साल के गहरे चिंतन का वह नवनीत है। कामरेड डागे कट्टर मार्क्सवादी थे। यही नही, उन दिनो तो वह गांधीजी को ब्रिटिश साम्राज्य के एजेंट भी कहते थे। फिर भी उनसे प्रेम के सम्बन्ध स्थापित करने मे काका साहब को कोई अड़चन महसूस नही हुई। बाद मे कभी किसी सदर्भ मे उनका जिक्र होता, तो काका साहब उन दिनो की याद करके कहते थे 'बड़े मीठे स्वभाव के और उम्दा चारित्र्य के आदमी है।'

विद्यापीठ के ग्रन्थालय की घटना

सन् 1933 की जुलाई मे गांधीजी ने साबरमती आश्रम का विसर्जन कर डाला। इससे पहले वह जब पर्णकुटी मे अनशन कर रहे थे, काका साहब के सामने उन्होने आश्रम-विसर्जन का अपना विचार रखा था और अरुचि से ही क्यो न हो, काका साहब ने विसर्जन के पक्ष मे अपनी सम्मति दे दी थी। विसर्जन के पीछे दो कारण थे। एक तो यह कि नमक सत्याग्रह के लिए गांधीजी आश्रम से निकल पड़े थे, तभी उन्होंने घोषणा की थी कि स्वराज्य लिए बिना वे आश्रम मे नही लौटेंगे। स्वराज्य अभी मिला नही था। इसलिए आश्रम मे गांधीजी का लौट आना असम्भव हो गया था और गांधीजी के बिना आश्रम चलाने का कोई अर्थ नही था। आश्रम-विसर्जन के पीछे यह एक सबल कारण था। पर दूसरा भी एक कारण था, जिससे आश्रम चलाने का गांधीजी का उत्साह कम हो गया था। आश्रम की आलोचना बहुत हुआ करती थी। यह आलोचना सुनकर गांधीजी

बिलकुल उक्ता गए थे। आलोचना बेबुनियादी थी, ऐसी बात नहीं है। आश्रम में अवश्य कुछ दोष थे, जो आलोचना को न्यौता देते थे। काका साहब कहते है :

> चन्द दोष तो आश्रम की जीवन-पद्धति के ही थे। चन्द गांधीजी के स्वभाव के कारण आए थे। चन्द दोष आश्रमवासियों की पामरता से पैदा हुए थे और अधिकतर दोष भारतीय समाज के जन-मानस के कारण पैदा हुए थे।

इन सब दोषों के बावजूद आश्रम के द्वारा अच्छा कार्य होता आया था। आश्रम ने देश में चरित्र की उन्नति का एक उज्ज्वल वातावरण पैदा किया था। व्यक्तिगत जीवन, कौटुम्बिक जीवन, सामाजिक, राष्ट्रीय और सार्वजनिक जीवन का गांधीजी ने जो आदर्श देश के सामने आश्रम के द्वारा रखा था, उसका दूर से ध्यान करने से भी देश में चरित्र की सर्वांगीण उन्नति का एक वातावरण पैदा होता था। फिर भी आश्रम की काफी निन्दा देश में होने लगी। औरों की बात तो खैर, आश्रम की निन्दा करके आश्रम जीवन और आश्रम आदर्शों को कमजोर करने वाले लोग गांधीजी ने अपने निकटतम साथियों में ही पाए। काका साहब तीन नाम बताते हैं :

> एक आचार्य कृपलानी, दूसरा सरदार वल्लभभाई और तीसरा जवाहरलाल जी का। इनमें से आचार्य कृपलानी तो स्वयं एक आश्रम के संचालक थे और गांधीजी के सभी सिद्धान्तों को मानते थे। पर उनकी यथार्थ-वादी दृष्टि और उनकी जबरदस्त सिनिसिज्म बहुत कुछ बाधक हुई। सरदार बड़े व्यवहार कुशल थे। उन्हें गांधीजी की कई बातें पसन्द नहीं थीं, पर वह निभा लेते थे। अधिकतर आश्रमवासी बुद्धू, व्यवहार-शून्य, श्रद्धाजड़ और अपनी तुच्छता को न पहचानने वाले हैं, ऐसा उनका ख्याल था। हालांकि उनसे काम लेने की उनकी हमेशा तैयारी रहती थी। कइयों ने उनका बराबर साथ दिया था। पर सामान्यत: आश्रमवासियों के प्रति उनके मन में आदर कम था।...जवाहरलाल जी ने आश्रम जीवन की या आश्रम आदर्शों की कभी खुलेआम आलोचना नहीं की। राष्ट्र पुरुष और इतिहासकार होने के कारण वह हर चीज का समाज पर क्या असर होता है, उसी को देखते थे। फल देखकर वृक्ष की कीमत लगाते थे। गांधीजी कार्य की बुनियाद में आध्यात्मिक निष्ठा और शक्ति है, इतना

तो वह पहचान सके। फिर भी आश्रम के विधि-विधान, नियमावलि, कार्य-क्रम और परम्परा के बारे मे उनके मन मे कोई आदर नही था। आश्रम जीवन मे ग्राह्य वस्तु उन्हे बहुत कम दीख पड़ी।...इन कारणो मे गाधीजी का उत्साह कम हो गया था।

उन्होने आश्रम का विसर्जन कर दिया और उसकी जमीन, मकान, वैसे सब-कुछ हरिजन सेवक सघ को सुपुर्द कर दिया। आश्रम का एक ग्रथालय भी था। वह बीच मे ही विनष्ट न हो जाए, उसका कही कुछ सदुपयोग होता रहे, इस विचार से उन्होने वह अहमदाबाद की नगरपालिका को सौप दिया।

एकाध साल पहले इस ग्रथालय को विद्यापीठ के विशाल ग्रथालय से मिलाकर नगरपालिका को सौप देने की बात उन्होने काका साहब से की थी। उस वक्त विद्यापीठ बन्द था और लड़ाई तो कम-से-कम दस साल चलती रहेगी, ऐसा गाधीजी का ख्याल था। इसलिए ग्रथालय किसी अच्छी जगह पर रहे, ऐसी उनकी इच्छा थी। काका साहब की भी यही इच्छा थी। बल्कि यो कहना चाहिए कि ग्रन्थालय की उन्हे विशेष चिन्ता भी रहती थी। पर वह नगरपालिका को सौप देने के बजाय अम्बालाल साराभाई जैसो को क्यो न सौप दिया जाए, यह उनके सामने एक विकल्प था। नगरपालिका भले ही लोगो की मानी जाती हो, पर उस पर तो कब्जा सरकार का ही रहना है और सरकार किसी भी क्षण ग्रथालय अपने कब्जे मे ले सकती है। इसके बदले अम्बालाल साराभाई के पास वह रहे तो वे इस ग्रथालय का एक ट्रस्ट बना सकेगे, और भविष्य मे जब अच्छे दिन आएगे तब ग्रथालय हम वापस ले सकेगे यह काका साहब की दलील थी। पर यह दलील सुनकर गाधीजी ने कहा, 'ग्रथालय नागरपालिका को सौप देने मे आप जो कहते है, वह दोष रह जाता है, यह बात सही है। पर नगर-पालिका तो वल्लभभाई की है और हम प्रजा की अच्छी सेवा करते रहेगे तो वह हमारे ही हाथो मे रहने वाली है। फिर चिन्ता करने की क्या जरूरत है? मै वल्लभभाई का स्वभाव जानता हू। उन्हे यह बात पसन्द आएगी।' गाधीजी का यह रुख देखकर ग्रथालय नगरपालिका को सौप देने के पक्ष मे काका साहब हो गए थे।

पर उस समय इस बात पर अमल नही किया गया। क्योकि सभी जेल चले गए थे। अब जब सिन्ध हैदराबाद जेल से रिहा होकर काका साहब लौटे

(वह सजा का एक साल पूर्ण होने के पहले ही रिहा कर दिए गए थे) और आश्रम के ग्रंथालय के बारे मे सुना, उन्हे पुरानी बातों का स्मरण हुआ। उन्होंने तुरन्त गांधीजी को 30-7-1934 को एक पत्र लिखा :

> विद्यापीठ का ग्रथालय नगरपालिका को सौप देने की बात आप ही ने उठाई थी। अब चूकि आश्रम का ग्रथालय, जो विद्यापीठ को दिया गया था, आपने नगरपालिका को सौप दिया है, तो मै समझता हूं कि दोनों ग्रंथालय नगरपालिका के पास रहें, यही आपकी इच्छा है। वरना आप यह कदम न उठाते। इस विचार श्रेणी से मैने भी निश्चय किया है कि विद्यापीठ का ग्रथालय नगरपालिका को सौप दू। यही उसके लिए श्रेयस्कर है। दस साल तक या उससे भी अधिक समय तक हम सबको जेलों मे रहना होगा, तो फिर पुस्तके सरकार के कब्जे मे सड़ने क्यो दी जाए ? दस साल के बाद जब परिस्थिति बदल जाएगी, हम सारा विचार दूसरे ढग से करेंगे। यो भी विद्यापीठ की प्रवृत्ति का फिलहाल एक स्वाभाविक अन्त आ गया है। अब ग्रथालय का उपयोग लोग करते रहें, यही अच्छा है।

यह पत्र भेज देने के बाद वे गाधीजी से मिले और दोनो ने ग्रथालय नगरपालिका को सौप देने का निर्णय लिया। गाधीजी की सम्मति से उन्होने कलेक्टर को, जिनके कब्जे मे विद्यापीठ था, एक पत्र लिखकर पूछा :

> विद्यापीठ के ग्रंथालय से जो पुस्तके मैं चाहता हू, वे ले जाने की इजाजत आपने मुझे दी है। तो क्या इसका मतलब मै यह समझू कि विद्यापीठ के मकान मे सभी पुस्तके और जिन मे वे रखी गई है, वे अलमारिया भी वहा से हटा कर ले जाने की मुझे छूट है ? यह सवाल इसलिए उपस्थित हुआ है क्योंकि साबरमती आश्रम की पुस्तके जिस प्रकार लोगो के उपयोग के लिए दी गई है, उसी प्रकार विद्यापीठ का पुस्तक-संग्रह भी देने का विद्यापीठ के ट्रस्टियों का इरादा है।

इस पत्र का मसौदा गाधीजी ने ही तैयार करके दिया था और काका साहब ने महादेवभाई के हस्ताक्षर से पत्र लिखवाकर वह कलेक्टर को भेज दिया था। कलेक्टर की ओर से तुरन्त जवाब आया : विद्यापीठ की पुस्तकें और...अलमारिया रसीद देकर आप ले जाए तो कोई आपत्ति नही होगी।

काका साहब उसी दिन पूना जा रहे थे। इसलिए वह गाधीजी से कहते गए कि विद्यापीठ का ग्रथालय नगरपालिका को सौप देने के बारे मे पत्र आप ही नगरपालिका के अध्यक्ष को लिखे। काका साहब की सूचना के अनुसार गाधीजी ने इस आशय का एक पत्र नगरपालिका के अध्यक्ष को लिखा और ग्रथालय नगरपालिका को सौप दिया।

सरदार वल्लभभाई पटेल इस समय नासिक जेल मे थे। वहा उन्हे जब खबर मिली कि विद्यापीठ का ग्रथालय नगरपालिका को सौप दिया गया है वह सख्त नाराज हुए। ज्यो ही रिहा होकर बाहर आए, उन्होने सारी जानकारी प्राप्त कर ली और ग्रथालय दिया गया यह उचित हुआ या नही, यह सवाल एक ओर रखकर उन्होने काका साहब के अधिकारो के बारे मे आपत्ति उठाई। कहने लगे विद्यापीठ एक ट्रस्ट है और ट्रस्ट की सम्पत्ति ट्रस्टियो की सम्मति के बिना दूसरी किसी संस्था को सौप देने का काका साहब को कोई अधिकार नही था। उन्होने और एक सवाल उठाया

विद्यापीठ का जन्म असहयोग आन्दोलन मे हुआ है। उसके संविधान मे यह स्पष्ट कहा गया है कि सरकार के अकुश से सब तरह से स्वतन्त्र रहकर विद्यापीठ शिक्षा का कार्य करेगी। यही नही बल्कि अपनी नीतिया निर्धारित करते समय या अपनी सस्थाओ की व्यवस्था करते समय वह सरकार से सम्पूर्णत स्वतन्त्र रहेगी। नगरपालिका भले ही आज लोक-प्रतिनिधियो के हाथ मे हो, कानूनन उस पर कलेक्टर, कमिश्नर और अन्य सरकारी अधिकारियो का अकुश रहता है। अपने कर्तव्य अदा करते समय वह अगर कसूर करे तो सरकार उसे फौरन अपने कब्जे मे ले सकती है। अत विद्यापीठ-जैसी असहयोगी और सरकार से सम्पूर्णत स्वतन्त्र रहने के सिद्धान्त को मानने वाली सस्था अपनी सम्पत्ति सरकार के अकुशो मे रहने वाली सस्था को कैसे सौप सकती है? इसमे ट्रस्ट के सिद्धान्तो का भग होता है। एक बात और जिन दाताओ ने विद्यापीठ को दान दिया उन्होने विद्यापीठ के सिद्धान्तो को ध्यान मे रखकर ही दिया था। दान मे प्राप्त सम्पत्ति नगरपालिका जैसी सरकारी अकुशो वाली सस्था को सौप देना दाताओ के प्रति भी विश्वासघात है।

उन्होने अपने विचार गाधीजी के सामने रखे। उस दिन गाधीजी का मौन था। इसलिए सरदार से उन्होने लिखकर बाते की—

गांधीजी : मेरी राय यह है कि ग्रथालय नगरपालिका के पास ही रहने दें। वहां रखकर भी अगर उसका ट्रस्ट बनाया जा सकता हो तो बनाना अच्छा है। मुझे लगता है कि वहीं उसका अच्छे-से-अच्छा उपयोग हो सकता है। मगर यह बात दूसरों को न जचे तो वह वापस लेने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए। इसमें किसी की प्रतिष्ठा का या काका के मनोभावों का सवाल नहीं है। काका सहन कर लेंगे। सोचने बैठें तो यह भी कहना चाहिए न, कि काका ने गलती की तो भी मुझे उनके अधिकार की छानबीन करनी चाहिए थी। जल्दी मे अनेक काम एक के बाद एक कर डाले, उनमें यह भी एक बिना छानबीन के कर डाला।...

काका साहब के अधिकार के बारे मे जब सरदार ने कहा, तब गाँधीजी ने लिखकर जवाब दिया : काका को अधिकार नहीं था. यह मैं कबूल करता हूं। मैं इतना ही कहूंगा कि अधिकार के बिना दिया गया दान अधिकारी वापस ले सकते है। वस्तुतः पुस्तकें वापस ले लेना यह अगर धर्म हो तो मेरी राय है कि वह ले लेनी चाहिए। उस समय काका अगर सबको पूछते तो शायद सभी अपनी सम्मति दे देते। पर उस समय तो हम सबको जेल जाना था न?

सरदार : सरकार के अंकुश वाली सस्था को दान देने का अधिकार ट्रस्टी मण्डल को ही नही है।

गाँधीजी : क्या आप यह कहते है कि ट्रस्टियों को ही अधिकार नही है? तो फिर पुस्तकें वापस ले लेनी ही चाहिए।[1]

पक्का निश्चय करने के लिए सरदार ने मूलाभाई देसाई और कन्हैयालाल मुंशी जैसे तद्विदो की राय पूछी। यह भी साफ कर दिया कि अगर ग्रथालय देने का कानूनन अधिकार पूरे विद्यापीठ को हो तो काका साहब की कार्रवाई को हम मंजूरी दे देंगे। अतः काका साहब को अधिकार था या नही, यह देखने की आवश्यकता नही है। पूरे विद्यापीठ मंडल को यह अधिकार है या नहीं यही देखें।

---

1. सरदार वल्लभभाई : नरहरि परीख।

दोनों वकीलों ने राय दी कि विद्यापीठ के सिद्धांतो को देखते हुए पूरे विद्यापीठ मंडल को नगरपालिका जैसी सरकार के अकुश मे रहने वाली सस्था को विद्यापीठ की सम्पत्ति देने का अधिकार नही है।

तदविदो की यह राय मिलते ही सरदार ने नगरपालिका के अध्यक्ष को पत्र लिखकर विद्यापीठ ग्रथालय वापस माग लिया और नगरपालिका ने अपने वकीलों की राय लेकर ग्रथालय विद्यापीठ को वापस लौटा दिया।

इस घटना मे काका साहब का मन उकता गया। उन्होने अपने पक्ष का स्पष्टीकरण करते हुए वल्लभभाई को कहा . ग्रथालय नगरपालिका को मैने अपनी इच्छा से नही दिया था। गाधीजी के आग्रह के कारण दिया था और गाधीजी तो विद्यापीठ के कुलपति थे। विद्यापीठ के ट्रस्टियो को मैंने पूछा नही, यह बात सही है, पर आदोलन के कारण जो नाजुक परिस्थिति पैदा हुई थी उसमे विद्यापीठ मडल ने सभी अधिकार मुझे द दिए थे। अत: मडल की सलाह लेने के लिए मै बधा हुआ नही था। फिर भी महादेवभाई के हस्ताक्षर से मैने कलेक्टर को पत्र लिखवाया था। अत: कम-से-कम एक महत्व के सदस्य की सलाह और सम्मति मेरे साथ थी ही और सबसे महत्व की बात : नगरपालिका को ग्रथालय देने की बात कई दिनो से चल रही थी। उसकी काफी चर्चा भी हो चुकी थी। आपने (वल्लभभाई ने) भी यह चर्चा सुनी थी। पर उस समय आपने विरोध नही किया था। फिर भी, मैने जो कदम उठाया उसे आप अगर अनधिकार चेष्टा मानते हो और ग्रथालय वापस लेना चाहते हो, तो उसमे मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। मैने जो कदम उठाया, वह भले ही गाधीजी की सलाह से उठाया हो, उसकी जिम्मेदारी तो मै अपनी ही मानता हू और उसके लिए जो प्रायश्चित करना आवश्यक हो, करने के लिए तैयार हू।

पर वल्लभभाई ने एक शब्द भी मुझे नही कहा कि अब तुम यह सब भूल जाओ। मेरे विषय मे वे बिलकुल उदासीन और भावशून्य हो गए थे। ऐसे ही पेश आने लगे थे, मानो मैने उनका बहुत बडा अपराध किया है।... पिछले कुछ वर्षो मे मै यह महसूस करता आया था कि वे मुझसे दूर चले जा रहे है। बोरसद की राजनीतिक परिषद के समय यह अपना आदमी नही है, इस प्रकार जो गाठ उनके मन मे पड़ी थी, वह खीच-खीचकर उन्होंने मजबूत कर डाली थी। बारडोली सत्याग्रह के समय सम्भवत: वे चाहते थे

कि मैं विद्यापीठ बन्द करके अध्यापकों और विद्यार्थियों के साथ सत्याग्रह में कूद पड़ूं। उन्होंने उस समय किसी से कहा भी था कि हम यहां प्राणों की बाजी लगाकर बैठे हैं और काका वहां विद्यापीठ में चिपककर बैठे है। उन्हें सत्याग्रह की कुछ परवाह ही नही है।' पर विद्यापीठ बन्द करना मैंने उचित नहीं माना। मैंने उनको दस-दस विद्यार्थी देने का वचन दिया था और कहा था कि इन्हें अगर सरकार गिरफ्तार कर ले तो मैं उतने ही और सत्याग्रही आपको दूगा। मैंने इस वचन का पालन भी किया था। पर उन्हें इससे सन्तोष नही हुआ होगा। इन बातो के अलावा और दो बातों ने हमारे सम्बध खराब किए। गुजरात के एक बड़े कवि से उनका मनमुटाव था, वे विद्यापीठ मे मेरे पास आते थे, यह उन्हे पसन्द नही था और दूसरी, मेरा एक विद्यार्थी मार्क्सवाद के प्रभाव मे आ गया था और वह उनकी बहुत आलोचना करता था। वल्लभभाई को लगा होगा कि मै उसको इन बातों के लिए प्रोत्साहित करता हू या बहकाता हू।...इन सब कारणो से वल्लभभाई मुझसे नाराज थे।...मैंने गुजरात को अपनी केवल सेवाएं नही, बल्कि हृदय भी दिया था। मै बिलकुल गुजराती—गाधीजी के शब्दो मे कहू, तो 'सवाई गुजराती' बन गया था। फिर भी मुझे लगा कि मुझे गुजरात से अब हट जाना चाहिए। यहां का मेरा काम पूरा हो गया है। मैंने यह निर्णय वल्लभभाई को निश्चिन्त करने के लिए और अपनी स्वतन्त्रता को सभालने के लिए लिया था। भइया को यह मालूम भी हो गया था कि मैं गुजरात छोड़ने की सोच रहा हूं। विद्यापीठ के ग्रथालय की घटना इस निश्चय को दृढ़ करने के लिए केवल निमित्त मात्र बनी। बापूजी को मेरा यह निश्चय बिलकुल पसन्द नही आया। वे कहने लगे, तुम यह आत्महत्या कर रहे हो। जब वे बहुत जोर देकर कहने लगे कि तुम चाहे विद्यापीठ से अलग हो जाओ, पर गुजरात मत छोड़ो, तब मै उन्हें सभी बाते बताने के लिए मजबूर हुआ। मैंने कहा, वल्लभभाई स्वय चाहते है कि मै गुजरात छोड़कर बाहर जाऊ। बापूजी बोले, 'नहीं, नहीं, तुम्हारी यह गलतफहमी है। उन्हे तुम्हारी शक्ति के बारे में सदेह था। अब तुम्हारा काम उन्होने देखा है, इसलिए वह सन्देह नही रहा। मैंने कहा, 'नही, वह सचमुच नही चाहते कि मैं यहा रहू।' तब उन्होने कहा, तुम उनसे जाकर मिलो और कहो मैं विद्यापीठ से अलग होता हूं। पर गुजरात में किसी देहात में बैठकर काम करना चाहता हूं। मैं किस

गाव मे जाऊ ? मैने वैसा ही किया। वल्लभभाई ने ऐसे एक गाव का नाम सुझाया, जहा न पोस्ट आफिस था, न तार आफिस। रेलवे स्टेशन भी नजदीक मे कही नही था। मैने बापू को यह बता दिया तब वह समझ गए और उन्होने मुझे बाहर जाने की इजाजत दे दी।[1]

काका साहब ने जब सितम्बर 1934 मे गुजरात छोडा तब गाधीजी ने उन्हे सलाह दी आपका अगर यही निश्चय है तो फिर गुजरात की जिन-जिन सस्थाओ से आपका सवैधानिक सम्बन्ध है, उन सबमे आपको मुक्त हो जाना चाहिए। काका साहब ने उनकी यह बात प्रसन्नता से मान ली और जिन सस्थाओ से उनका सम्बन्ध था, उन सबमे वह इस्तीफा देकर मुक्त हो गए।

1. लेखक के साथ बातचीत मे।

जंगम विद्यापीठ

राष्ट्रभाषा प्रचार-कार्य

गाधीजी के पास काका साहब के योग्य कामो की कमी नही थी। ज्यो ही वह गुजरात छोडकर बाहर आए, गाधीजी ने उनसे पूछा : क्या आप राष्ट्रभाषा प्रचार का काम अपने हाथ मे लेगे ?

काका साहब ने बिना हिचकिचाहट हा कह दिया। पर इस काम का एक पूर्व इतिहास है जिसे समझ लेना आवश्यक है।

सन 1917 मे काका साहब गाधीजी के आश्रम मे दाखिल हुए, उन्ही दिनो भड़ौच मे गुजरात शिक्षा परिषद् का दूसरा अधिवेशन हुआ था। गाधीजी इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे। गाधीजी के आग्रह से काका साहब भी इस अधिवेशन मे उपस्थित रहे थे। यही नही, उन्होने वहा एक निबन्ध भी पढ़ा था। इस निबन्ध का विषय था : हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा। काका साहब कहते है :

> मैने यह निबन्ध मराठी मे लिखा था और किशोरलाल भाई ने मुझे इसका गुजराती अनुवाद करके दिया था। इस निबन्ध मे मैने यही प्रतिपादन किया था कि देश को एक राष्ट्रभाषा की जरूरत है और यह भाषा केवल हिन्दी ही हो सकती है। किन्तु मुझे कबूल करना चाहिए कि मैने इस विषय मे कोई विशेष चिन्तन नही किया था। गाधीजी ने मुझे इस विषय पर लिखने को कहा, तब देश के विद्वानो ने इस विषय पर इससे पहले जो-कुछ लिखा था, सब एकत्र करके पढ डाला और अपने विचार बना लिए। किन्तु मै यह नही कह सकता कि उसमे कुछ मौलिकता थी।

मौलिकता भले ही न हो, दिशा स्पष्ट थी और विचार साफ-सुथरे थे। उन्होने कहा था :

> हम नही चाहते कि इस देश मे केवल एक भाषा चले। जब हम कहते है कि

देश के लिए एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता है, तब इसका मतलब यह नही है कि यही एक भाषा चले और बाकी की सब भुला दी जाएं। हिन्दुस्तान जैसे एक बड़े और विशाल राष्ट्र को अपनी सर्वांगीण उन्नति के लिए जिस प्रकार अलग-अलग गुण स्वभावो वाली प्रान्तीय रहन-सहन की आवश्यकता है, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति के सर्वदेशीय विकास के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं की भी आवश्यकता है। किन्तु जिस प्रकार अलग-अलग इंद्रियों के बीच विचरने वाला मन तो एक ही होता है—जिसके कारण पूरे शरीर मे एक-रूपता और एकप्राण का सचार होता है—उसी प्रकार आज के भारत में एकराष्ट्रीयता का भाव जाग्रत तथा व्यक्त करने के लिए एक राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता है।

यह आवश्यकता आज ही उत्पन्न हुई है, ऐसी बात नही। प्राचीन काल से देश को यह आवश्यकता महसूस होती रही है और देश ने समय-समय पर उसकी पूर्ति की है। देश जब मजबूत था, सुसस्कृत था, जगत मे श्रेष्ठ था, तब उसने अपने उत्तमोत्तम विचार, अपना काव्य, अपने पूर्वजो के पराक्रमो के वर्णन, अपने अनुसधान आदि की अभिव्यक्ति के लिए एक शुद्ध और उदात्त संस्कृत भाषा विकसित की थी। इसी कारण वह देववाणी का गौरवपूर्ण पद भी प्राप्त कर सकी थी। देश के ऊपरी स्तर के लोग इस भाषा के द्वारा एक-दूसरे से जुड गए थे। आज जब हमारा राष्ट्रीय जीवन फिर से आज उत्थान के पथ पर आरोहण कर रहा है, उसे अपनी अभिव्यक्ति के लिए ऐसी ही एक समान भाषा की आवश्यकता महसूस हो रही है। यह भाषा कौन-सी हो सकती है? अंग्रेजी?

बिलकुल नही। अंग्रेजी की उपयोगिता चाहे जितनी हो, उससे हमे चाहे जितने लाभ होते हो, उसका हमारे मानस पर चाहे जितना प्रभाव हो, वह हमारी संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम नही बन सकती। क्योंकि उसकी जडे इस भूमि मे नही है। भाषा केवल विचारो के आदान-प्रदान का साधन नही है। वह प्रजा की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम भी है। अंग्रेजी भाषा का सबसे बडा दोष यह है कि वह इस देश मे पढ़े-लिखे और अनपढ लोगो के बीच एक बहुत बड़ी खाई पैदा करती है। अंग्रेजी पढ़ा-लिखा आदमी आम जनता से बिलकुल अलग पड़ जाता है। इस तरह अगर समाज मे यह खाई बढती गई तो हमारे समाज का विघटन हो जाएगा।

अंग्रेजी का यह दोष बताकर काका साहब कहते हैं :

राष्ट्रभाषा तो कोई देशी भाषा ही बन सकती है। कौन-सी देशी भाषा? बंगला? मराठी?

इस प्रश्न का उत्तर जन-समाज ने कब का दे दिया है। आज देश में ईमानदारी के साथ दरबान की जो नौकरी करता है, वह भैया' क्या बताता है? यही न कि भारत की सार्वजनिक भाषा हिन्दी ही हो सकती है। भारत के अनेक पंथों के साधुओं को देखिए, फिर वे चाहे बंगाली हों, चाहे मद्रासी, किस भाषा के माध्यम से कश्मीर से कन्या कुमारी तक और द्वारका से कामाक्षी तक के अपने भ्रमण में अपना व्यवहार चलाते हैं? देश के साधुओं ने बता दिया है कि भारतवर्ष में सम्पर्क भाषा तो हिन्दी ही हो सकती है। महाराष्ट्र के संस्थापक शिवाजी ने कवि भूषण को अपना राजकवि बनाकर और उसे कन्याकुमारी से हिमाचल तक भेजकर राष्ट्रभाषा का स्थान हिन्दी को ही दिया था। नामदेव और सोहिरोबा जैसे मराठी सन्तों ने हिन्दी में पद्य-रचना करके यही सिद्ध किया कि देश की समान भाषा तो हिन्दी ही बन सकती है। अभी-अभी स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी को ही स्वाभिमान की अमृत संजीवनी पिलाकर उसमें नवजीवन का संचार कर दिखाया और दयानन्द तो गुजराती भाषी थे।...यह सब यही सिद्ध करता है कि राष्ट्रभाषा अगर कोई देशी भाषा बन सकती है तो वह हिन्दी ही है।

भारत के अलग-अलग प्रदेशों के बीच का व्यवहार बढ़ाकर राष्ट्र-संगठन को मजबूत करने वाली और संस्कृत की उत्तराधिकारी, हिन्दू-मुसलमान दोनों को एक-सी प्रिय एक लोक भाषा के रूप में ही उन्होंने हिन्दी का वरण किया था। हिन्दी की व्याख्या भी उन्होंने अपने भाषण में स्पष्ट कर दी थी। वे हिन्दी और उर्दू दोनों को दो अलग भाषाएं नहीं, बल्कि 'एक ही भाषा के दो साहित्यिक रूप' मानते थे।

शिक्षा के बारे में विचार करना यही भड़ौच की इस शिक्षा परिषद का उद्देश्य था। पर शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृ भाषा के स्थान की चर्चा करने के बाद उसी सन्दर्भ में राष्ट्रभाषा का प्रश्न भी अपने आप चर्चा में आ गया था।

गाधीजी ने भी अपने अध्यक्षीय भाषण मे राष्ट्रभाषा के प्रश्न की चर्चा की और हिन्दी का जोरदार समर्थन किया। उन्होने अग्रेजी और हिन्दी दोनो की तुलना की और राष्ट्रभाषा के रूप मे अग्रेजी बिलकुल निकम्मी सिद्ध होती है, यह बताकर कहा :

> राष्ट्रभाषा तो वही हो सकती है जो अमलदारो के लिए सरल हो, जो भारतवर्ष के अधिकाश लोग बोलते हो, जो आम जनता के लिए समझने मे बिलकुल आसान हो और जिसमे भारतवर्ष के लोगो के लिए आपसी धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवहार चलाना सुलभ हो। ऐसी भाषा केवल हिन्दी ही हो सकती है।

यह प्रतिपादन करके गाधीजी ने हिन्दी की अपनी व्याख्या स्पष्ट की :

> मै 'हिन्दी' उस भाषा को कहता हू, जो उत्तर भारत मे हिन्दू और मुसलमान दोनो बोलते है और जो देवनागरी या फारसी लिपि मे लिखी जाती है।... हिन्दी और उर्दू दो अलग भाषाए है, यह जो कहा जाता है, वह वास्तविक नही है। हिन्दुस्तान के उत्तरी हिस्से मे हिन्दू और मुसलमान दोनो एक ही भाषा बोलते है। भेद सिर्फ पढे-लिखे लोगो ने पैदा किया है। पढे-लिखे हिन्दू हिन्दी को केवल सस्कृतमय बना डालते है। नतीजा : मुसलमान उसे समझ नही पाते। पढे-लिखे मुसलमान उसे फारसीमय बनाकर ऐसी शक्ल दे देते है कि हिन्दू समझ न सके।...उत्तरी हिन्दुस्तान मे जिस भाषा को वहा का आम जनसमाज बोलता है, उसे आप चाहे उर्दू कहे चाहे हिन्दी, बात एक ही है। फारसी लिपि मे लिखकर उसे उर्दू के नाम से पहचानिए और उन्ही वाक्यो को नागरी मे लिखकर उसे हिन्दी कह लीजिए।

हिन्दी के स्वरूप के बारे में गाधीजी ने जो विचार यहा प्रकट किए, वे नए नही थे। वह दक्षिण अफ्रीका मे थे, तभी से यही कहते आए थे कि 'हिन्दी और उर्दू दो अलग भाषाए नही है। बल्कि एक ही भाषा की दो कृत्रिम साहित्यिक शैलियां है, जो आम लोगो से दूर कर दी गई है।' 1909 मे प्रकाशित 'हिन्द स्वराज्य' पुस्तक में उन्होंने यह विचार प्रकट किए थे।

गाधीजी के भड़ौच के इस भाषण का वृतान्त राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन जी

ने पढ़ा। सन् 1910 में उन्होंने पं० मदनमोहन मालवीयजी के साथ हिन्दी साहित्य सम्मेलन नामक एक संस्था स्थापित की थी, वह हिन्दी का प्रचार करती आई थी। टण्डन जी इस संस्था के मानो प्राण थे। गांधीजी जैसे एक प्रभावशाली नेता को हिन्दी के पक्ष में पाकर वे बड़े प्रसन्न हुए और इन्दौर में अगले वर्ष यानी 1918 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जो आठवां अधिवेशन होने जा रहा था, उसका सभापति पद स्वीकार करने का उन्होंने गांधीजी से अनुरोध किया। और गांधीजी ने, हिन्दी भाषा के मेरे असीम प्रेम ने मुझे यह स्थान दिलाया है, यों मानकर प्रेम की परीक्षा में मैं हमेशा उत्तीर्ण होऊंगा—इस वृत्ति से उसे स्वीकार किया था।

इस अधिवेशन में उपस्थित रहने के लिए काका साहब भी गाधीजी के साथ इन्दौर गए थे।

यहां के भी अपने अध्यक्षीय भाषण मे गाधीजी ने वही विचार दोहराए, जो उन्होने पहले 'हिन्द स्वराज्य' में और बाद मे भड़ौच के भाषण मे प्रकट किए थे। उन्होने कहा :

> मै कई बार व्याख्या कर चुका हूं कि हिन्दी वह भाषा है, जिसको उत्तर में हिन्दू और मुसलमान बोलते है और जो नागरी अथवा फारसी लिपि में लिखी जाती है।...यह हिन्दी एकदम संस्कृतमयी नहीं है, न वह एकदम फारसी शब्दो से लदी हुई है।

हिन्दी की अपनी इस व्याख्या के साथ उन्होंने और एक महावाक्य का उच्चारण किया, जो उनकी भाषा विषयक जीवनदृष्टि पर प्रकाश डालता है। उन्होंने कहा :

> भाषा वही श्रेष्ठ है, जिसको जनसमूह सहज में समझ लेता है। भाषा का मूल करोड़ों मनुष्य रूपी हिमालय में मिलेगा और उसी में ही रहेगा। उन्होंने हिन्दी के क्षेत्र के बारे में भी अपने विचार स्पष्ट किए। उन्होंने कहा : हिन्दी का क्षेत्र केवल उत्तर भारत रहना नहीं चाहिए, बल्कि पूरा भारतवर्ष होना चाहिए।[1]

1. राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी : गांधीजी।

भाषण देकर बैठे रहना गांधीजी के स्वभाव में नहीं था। जब वह कोई विचार प्रकट करते थे, उसे कार्यान्वित करने की योजना भी वह तुरन्त बना लेते थे। विचार प्रकट करके उन्हें ऐसे ही हवा में छोड़ देना, बच्चे पैदा करके उन्हें समाज में आवारा छोड़ देने के समान है, ऐसा वह कहते थे। इसलिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का समर्थन करते ही उन्होंने हिन्दी प्रचार का कार्य हाथ में ले लिया। हिन्दी प्रचार के लिए सबसे कठिन क्षेत्र दक्षिण भारत है, ऐसा माना जाता था। इसलिए उसी क्षेत्र को उन्होंने पहले चुन लिया और दक्षिण में काम करने के लिए उन्होंने सम्मेलन के अन्तर्गत ही 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' नाम की एक स्वतन्त्र संस्था भी स्थापित कर डाली।

यह काम अब किसको सौंप दिया जाए, इस विषय में जब वह सोचने लगे, तब उनकी दृष्टि काका साहब पर पड़ी। भड़ौंच में काका साहब ने जो निबन्ध पढ़ा था, वह उन्हें बहुत पसन्द आया था। उन्होंने काका साहब से पूछा, 'हिन्दी प्रचार के लिए क्या आप दक्षिण भारत में जाना पसन्द करेंगे?'

'आपकी आज्ञा होगी तो जाऊंगा।' काका साहब ने तुरन्त जवाब दिया और कहा, 'किन्तु आप अगर मेरी पसन्दगी जानना चाहेंगे तो कहूंगा कि मैं अभी-अभी आपके पास आया हूं। मैं आपको समझने की कोशिश करता हूं। आश्रम में आपके मातहत काम करके आपके विचार, आपकी कार्य-पद्धति, आपका व्यक्तित्व समझना फिलहाल मेरा प्रधान कार्य बन गया है। मैं अभी भी नही कह सकता कि मैने आपके विचार आत्मसात कर लिए है। जब तक मै इन्हें पूर्णरूपेण आत्मसात नही कर लेता, तब तक मै आश्रम से कहीं दूर नही जाना चाहता।'

यह जवाब सुनकर गांधीजी जब खामोश हो गए तब काका साहब ने कहा, 'पर मेरे पास आपके इस काम के योग्य एक सज्जन है। आप पं० हरिहर शर्मा को शान्तिनिकेतन के दिनो से ही जानते हैं। उनका असली नाम राजंगम है और वे तमिल भाषी है। वह हिन्दी के प्रचार का महत्त्व खूब जानते है। दक्षिण मे यदि हिन्दी का प्रचार का कार्य एक तमिल भाषी सज्जन के द्वारा शुरू हो तो मैं समझता हूं कि यह सब तरह से उचित होगा।'

गांधीजी ने तुरन्त शर्माजी को बुलाकर पूछा। वह जब तैयार होकर मद्रास

गए, तब गांधीजी ने उनकी मदद के लिए स्वामी सत्यदेवजी के साथ अपने उन्नीस वर्षीय पुत्र देवदास गांधी को भी मद्रास भेज दिया। काका साहब ने शायद स्वप्न में भी नहीं सोचा होगा कि जो काम उन्होंने आज टाल दिया था वही सत्रह वर्षों के बाद उनसे चिपक कर उनके जीवन के उत्तमोत्तम वर्ष लेने वाला था।

इन सत्रह वर्षो मे दक्षिण में काफी काम हो चुका था। लगभग छह लाख दक्षिणवासी हिन्दी मे प्रवश पा चुके थे। करीब बयालीस हजार लोग परीक्षाओं मे उत्तीर्ण हुए थे। लगभग चार सौ पचास परीक्षा-केन्द्र चल रहे थे और लगभग छह सौ शिक्षक तैयार हुए थे। सन् 1931 मे स्नातक परीक्षा का आरम्भ हो चुका था और अब तक उनकी संख्या तीन सौ तक पहुच चुकी थी। 1918 से पहले किसी भी हाई स्कूल मे हिन्दी की पढ़ाई नही होती थी। आज लगभग सत्तर हाई स्कूलों मे हिन्दी की पढ़ाई चलने लगी थी।

और सबसे महत्त्व की बात : हिन्दी के इस प्रचार-कार्य में सबसे बड़ा सहयोग दक्षिण की बहनो का रहा था।

गाधीजी ही यह करामात कर सकते थे। एक बड़े साम्राज्य के कपड़े के धन्धे को एक छोटे-से चरखे द्वारा आघात पहुचाने का स्वप्न गांधीजी ही देख सकते थे। जिस साम्राज्य का फौजी बल सारी दुनिया मे प्रथम पंक्ति का माना जाता था, उसे चुनौती देने के लिए 'अबलाओं की सेना' गांधीजी ही खड़ी कर सकते थे। दक्षिण मे हिन्दी का प्रचार करना बड़ा कठिन काम है, यह सभी कहते आए थे। उसी दक्षिण मे गाधीजी लोगो मे हिन्दी सीखने का उत्साह पैदा कर सके थे।

शुरू-शुरू मे उन्होंने यह काम हिन्दी साहित्य सम्मेलन की मदद से चलाया था। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अन्तर्गत ही काम करती थी। प्रचारको के रूप में गांधीजी यहां उत्तर भारत के हिन्दी जानकारों को ले आए थे। पर काम शुरू होने के बाद थोड़े ही दिनों में उन्होंने यह महसूस किया कि हिन्दी प्रचार के लिए उन्होंने सम्मेलन के कार्यकर्ताओं को यहां लाकर रखा, यह बड़ी भारी गलती हुई। दक्षिण में प्रचार करने के लिए जिस कुशलता

की आवश्यकता थी, उसका सम्मेलन के इन कार्यकर्ताओं में सम्पूर्णतः अभाव था। उनमें दूरदृष्टि भी कतई नहीं थी। दक्षिण के लोगों को हिन्दी के अनुकूल करने के बदले उन्हें प्रतिकूल करने मे ही वे निष्णात थे। गलती ध्यान में आते ही गांधीजी ने फौरन उत्तर भारत के प्रचारकों को वापिस अपने-अपने गांवों मे भेज दिया। यही नही, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा को भी दृढ़तापूर्वक हिन्दी साहित्य सम्मेलन से अलग कर दिया।

पर जो हानि होने वाली थी, वह हो चुकी थी। गांधीजी के प्रभाव के बावजूद दक्षिण के लोगों के मन में यह डर बैठ गया था कि हिन्दी के द्वारा उत्तर भारत दक्षिण मे अपना प्रभुत्व जमा लेना चाहता है। राष्ट्रीयता के उत्साह में हम अगर गफलत में रह गए तो देखते-ही-देखते हिन्दी हमारी अपनी भाषाओ का गला घोट देगी। पंजाब, राजपूताना से लेकर बिहार तक फैले हुए मध्य प्रदेश की दस-पन्द्रह भाषाओ को, जिन्हें हिन्दी अपनी प्रादेशिक बोलिया कहती है, दबाकर यह भाषा पुष्ट-समृद्ध हुई है। क्या यह हमारी भाषाओं को आसानी से जीने देगी, यह कतई सम्भव नही है। लोगों के मन में यह डर इतना दृढ हो चुका था कि उत्तर की ओर से जो भी कोई नेता यहा आता था, उसकी आधी शक्ति तो इस डर को दूर करने के प्रयत्नो मे ही खर्च हो जाती थी।

काका साहब ने जब हिन्दी प्रचार का काम अपने हाथ मे लिया, गांधीजी ने उन्हें सबसे पहले दक्षिण मे भेज दिया। पं० हरिहर शर्मा बड़ी निष्ठा से यहा हिन्दी प्रचार का काम करते आए थे और उनके इस कार्य के लिए जमनालालजी बजाज अब तक रुपयों की मदद देते आए थे। हिन्दी कार्य के लिए निधि एकत्र करना जमनालालजी ने अपना कार्य माना था। अब गांधीजी कहने लगे थे कि दक्षिण के काम के लिए अब दक्षिण से ही पैसे मिलने चाहिए। शर्मा जी की इसी काम में मदद करने के लिए गांधीजी ने काका साहब को यहा भेजा था।

मद्रास में काका साहब को लोगों से अच्छा सहयोग मिला। राजाजी ने उन्हें बहुत मदद की। राजनीति में जो राजाजी के साथ नही थे, उनका भी काका साहब को सहयोग मिला। मद्रास से काका साहब कोचीन गए। शाम को पहुंचे थे। दूसरे दिन सुबह ज्यों ही उन्होंने अखबार खोला, पहले ही पृष्ठ पर बड़े-बड़े अक्षरों में उन्होने यह समाचार पढ़ा : एनअदर आर्यन इन्वेजन फ्राम द नार्थ—

उत्तर के आर्यों का एक और आक्रमण—इसके नीचे छोटे अक्षरों में लिखा था : हिन्दी प्रचार के सिलसिले में काका कालेलकर का दक्षिण भारत में दौरा।

काका साहब के मेजबान उलझन में पड़ गए। उन्हें यह उम्मीद ही नही थी कि केरल प्रान्त काका साहब का इस तरह स्वागत करेगा। उन्होने काका साहब का कार्यक्रम ठसाठस भरा हुआ बनाया था। अब क्या होगा? ये लोग प्रदर्शन तो नहीं करेंगे? या काका साहब के कार्यक्रमों का ही बहिष्कार करेंगे?

मेजबानों की परेशानी देखकर काका साहब ने उनसे कहा, आप फिक्र मत कीजिए, मैं इनसे लेन-देन कर लूगा। आप इतना बताइए, ये लोग कौन है? क्या इनसे मिलना सम्भव होगा? मै मिलना चाहूंगा।

मेजबान दौड़े, उन सबको लाने का उन्होंने प्रयत्न किया और इसमे वे सफल हुए। वे लोग भी कुछ सुनाने की इच्छा से अच्छी-खासी संख्या में मिलने आए।

प्रारम्भ मे ही काका साहब ने उनसे कहा, देखिए भाई, मैं न उत्तर का हूं, न दक्षिण का। उत्तर और दक्षिण के बीच का—जरा पश्चिम की ओर का हू। अगर उत्तर के लोग दक्षिण मे आक्रमण करने के लिए आए तो बीच मे जो हम लोग है, वे क्या उन्हें नही रोकेंगे? मैं आपको विश्वास दिलाता हू कि आपकी ओर से मै उन लोगो के खिलाफ लड़ूगा। आप जानते होगे कि मैं महाराष्ट्र का हू। महाराष्ट्र के लोगो को उत्तर के लोग दक्षिणी कहते है। इसलिए मै दक्षिण का भी हू। मै उत्तर के लोगों की ओर से आप पर आक्रमण क्यो करूंगा?...भाषा के बारे में कुछ कहू, इससे पहले एक बात की ओर मै आप लोगो का ध्यान खींचना चाहता हू। संकट देखकर अपने आसपास दीवारे खड़ी करना और उनके अन्दर रहकर आत्मरक्षा करना, यह आत्मरक्षा का अच्छा तरीका नही है। जिनके आक्रमण का आपको डर है, उन्हीं पर आप आक्रमण क्यों न करे? मैं एक उदाहरण देता हूं। संस्कृत भाषा उत्तर की ही भाषा थी न? और शंकराचार्य कौन थे? कहां के थे? केरल के ही न? केरल के बचाव के लिए उन्होंने आस-पास सांस्कृतिक दीवारें खड़ी नहीं कीं। उन्होंने उत्तर की भाषा सीख ली और उत्तर पर ही आक्रमण किया। यह केरली नौजवान सारे देश में अकेला वाद-विवाद के लिए लोगों को चुनौती देता हुआ घूमता था। आपको शंकराचार्य का

ही अनुकरण करना चाहिए ।...मैं आपको यह कहने आया हू कि कल जब भारत स्वतन्त्र होगा, केरल का राज्य न अंग्रेजी मे चलेगा न हिन्दी मे। वह तो केवल मलयालम मे चलेगा। मलयालम का यह अधिकार है, वह उससे कोई नही छीनेगा। पर साथ-साथ हमे भारत की एकता को भी सभालना है। बिना एकता के न हमारी स्वतन्त्रता टिकेगी, न हमारा सामर्थ्य। ससार मे हमारी प्रतिष्ठा भी नही जम पाएगी। इस एकता के लिए हम एक स्वदेशी भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप मे चुनना है। वह हिन्दी ही हो सकती है। अपनी भाषा के अलावा हम सबको एक और जरूरी दूसरी भाषा के रूप मे हिन्दी सीखनी है। शंकराचार्य की तरह आप यह उत्तर की भाषा सीख लें और उत्तर पर ही सास्कृतिक एकता का आक्रमण करे। जो काम किसी जमाने मे शकराचार्य ने किया था, वही आज आपको दूसरे ढग से करना है।...

महत्त्व की बात यह है कि जो लोग काका साहब को कुछ सुनाने के ख्याल से आए थे वे उनकी बातें सुनकर इतने बदल गए कि केरल मे हिन्दी प्रचार का काम बाद मे वे ही पूरे जोश से चलाने लगे।

1934 के अन्त मे काका साहब दक्षिण मे गए थे। लगभग दो महीने उन्होने वहा बिताए। जो हिन्दी कार्य वहा चलता आया था, उसे मजबूत बनाने और व्यवस्थित रूप देने का उन्होने यहा प्रयत्न किया। निधि भी ठीक-ठीक इकट्ठी की। दो महीनो के बाद जब वह वर्धा लौटे, अनुभव मे काफी समृद्ध होकर लौटे थे और विशेष बात यह हुई कि वे हिन्दीमय बन गए थे।

इस दौरे का एक विचित्र अनुभव वे कभी-कभी सुनाते थे। हिन्दी के लिए निधि इकट्ठा करना उनका यहा एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। यह काम आसान नही था। ऐसे कामो मे आदमी कभी-कभी ऊब जाता है। काफी जगह अप्रिय भी हो जाता है। पर इस निमित्त लोगो को समझाने का मौका मिलता है, यह एक प्रकार का लाभ ही है। लोगो के स्वभाव, तकलीफो और मनोभावो से परिचित होने का यही एक अच्छा अवसर होता है। कभी-कभी समाज के अच्छे किन्तु मूक लोगो का भी परिचय होता है और सारी मेहनत ठिकाने पर लग जाती है। मद्रास मे घूमते-घूमते वे एक दिन एक अच्छे पढ़े-लिखे सज्जन के यहा पहुचे। सम्भवतः वे एक आई० सी० एस० अफसर थे। काका साहब ने उन्हें राष्ट्रभाषा का महत्त्व

समझा दिया। यह भी बताया कि इस सन्दर्भ मे दक्षिण मे अब तक क्या-क्या काम किया गया है। यह भी कहा कि इतने कम खर्च में इतना सारा काम शायद ही दूसरी किसी सस्था ने किया होगा। बोलते-बोलते परोक्ष रूप मे यह भी बता दिया कि वे स्वय इस सस्था मे काम नही करते, वर्धा मे गाधीजी के पास रहते है। पैसे इकट्ठा करने में उनका कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लाभ नही है। काम इसी प्रान्त का है। यहा के लोगों को उससे फायदा होने वाला है। लगभग सोलह वर्षो मे उत्तर मे पैसे लाए गए। अब यह भार यहा के लोगों को उठाना होगा।

उन सज्जन ने ठण्डे दिल से सब-कुछ सुन लिया और कहा, 'काका साहब, आपने यहा आने का कष्ट उठाया इसलिए मै आपका बडा आभारी हू। किन्तु मुझे बता देना चाहिए कि मेरा राष्ट्रभाषा हिन्दी मे विश्वास नही है। मैं यह मानता हू कि सारी दुनिया म अग्रेजी ही चलनी चाहिए। मै घर मे अग्रेजी मे ही बोलता हू। बच्चो को भी मैने शुरू से ही अग्रेजी मे शिक्षा दी है। आपके इस काम मे मेरी रत्ती-भर भी हमदर्दी नही है। किन्तु मैं यह जानता हू कि आपकी यह प्रवृत्ति अग्रेजो का साम्राज्य तोडने के लिए उपयुक्त है। इसलिए खुशी से मैं आपको यह पाच रुपये देता हू।' इतना कहकर उन्होने पाच रुपयो का एक नोट काका साहब के हाथ मे थमा दिया और उन्हे नमस्कार किया। काका साहब कहते है :

> इस विचित्र अनुभव से मै इतना अवाक रह गया कि वह सज्जन उठकर कब चले गए, इस ओर मेरा ध्यान ही नही गया। घर लौटकर सोचा कि उनके पैसे उन्हे लौटा दू और एक विवेकपूर्ण पत्र लिखू कि ये पैसे मै नही चाहता। किन्तु जैसे-जैसे अपना खत मै मन मे लिखता गया, मुझे अपने ही हेतु के बारे मे सन्देह मालूम होने लगा। राष्ट्रभाषा का महत्त्व, हमारी सस्कृति मे उसका स्थान, सब-कुछ महत्त्व का है। पर उसके द्वारा अग्रेजो को निकाल भगाने का उद्देश्य अगर उसके पीछे न होता, तो क्या मै इस प्रवृत्ति मे कूदता ? मुझे निर्णय लेने मे देरी लगी। निर्णय तो उस सज्जन के कथन से उलटा ही लगा था। किन्तु तब तक इतनी देरी हो चुकी थी कि पैसे वापस लौटा देना मुझे शोभा न देता। पैसे तो दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के खाते मे जमा हुए और एक विचित्र अनुभव मेरे मन में अंकित हुआ।

सांस्कृतिक स्वराज्य की ओर

अब वर्धा चूंकि गांधीजी का मुख्यालय बन गया था, काका साहब भी स्वाभाविक रूप से वही रहने लगे।

दक्षिण भारत के दौरे से जब वह वर्धा लौटे, उनके मन में देश की भाषा-समस्या का पूरा चित्र स्पष्ट हो गया था। वह मानने और कहने लगे थे :

> स्वराज्य तो किसी-न-किसी दिन मिलने ही वाला है। स्वराज्य मे शासन हमारे हाथ मे आएगा, पर प्रशासन तो उन्ही के हाथ मे रहेगा, जो आज अग्रेजो का राज्य चला रहे है। वे अग्रेजी के आदी बन गए है। स्वराज्य मे भी वे देश का कारोबार अग्रेजी मे चलाएंगे। हमारे नेता, जो सत्ता में आएंगे, भले ही राष्ट्रवादी हो पर इन अफसरों के बिना राज्य चला नही सकेंगे। उन्हे हटाने की न तो उनमे शक्ति होगी, न इच्छा। अतः स्वराज्य मे राज्य अग्रेजी मे ही चलेगा। यही नही, स्वराज्य में अग्रेजी सम्भवतः पहले से अधिक मजबूत होगी और चूकि राज्य अग्रेजी मे चलेगा, हर एक मा-बाप अपने बच्चो को, टूटी-फूटी ही क्यो न हो, अग्रेजी मे ही पढ़ाना पसन्द करेगा, ताकि सरकारी नौकरियां मिलने मे उन्हे कठिनाई न हो। राज-कारोबार की भाषा अगर अंग्रेजी ही रही तो देश के सार्वजनिक जीवन की भाषा भी अग्रेजी ही होगी। अग्रेजी की प्रतिष्ठा बढ़ जाएगी। फिर लोग कहने लगेंगे : अग्रेजी का प्रचलन इतना सार्वत्रिक है तो फिर उसे एक भारतीय भाषा ही क्यों न मानी जाए?

अग्रेजी के पक्ष मे उन्हें तीन जबरदस्त ताकतें दिखाई दी : पहली-अग्रेजी के आदी प्रशासक, दूसरी-अग्रेजी का राष्ट्रीय नेता और तीसरी-अग्रेजी अखबार।

इस हालत में राजनैतिक स्वराज्य के साथ-साथ देश में अगर सांस्कृतिक स्वराज्य भी लाना हो तो चार दिशाओं में मोर्चा लेना होगा—

1. देश की छोटी-बड़ी सभी प्रादेशिक भाषाओं को पुरस्कृत करके उन्हें स्पष्ट कहना होगा कि स्वराज्य मे आपके प्रदेश मे आपकी ही प्रादेशिक भाषा में प्रशासन चलेगा। शिक्षा के माध्यम के रूप में आपकी ही भाषा प्रधान भाषा होगी। उसे सब तरह का संरक्षण मिलेगा।

2 इन सभी भाषाओ को कहना होगा कि हमारी भाषाए भिन्न-भिन्न भले ही हो, हम सब भारतवासियो की संस्कृति एक है। सगीत में जिस प्रकार किसी राग में सा रे ग म प ध नी सा सभी स्वर होते है और बीच में श्रुतियां भी होती है, वैसे ही बगाल और पजाब, असम और सिन्ध, राजपूताना और बिहार, केरल और कश्मीर नेपाल और कर्नाटक, महाराष्ट्र और तमिलनाडु, गुजरात और उत्कल, आन्ध्र और महाकौशल सभी एक ही सस्कृति के उन्मेष है।

3. इन सभी भाषाओ को पूर्णरूप से निर्भय करके कहना होगा कि हमारी अपनी-अपनी भाषाओ के अलावा हमे एक अतिरिक्त भाषा अपनानी होगी, जो अन्तर-प्रान्तीय व्यवहार के लिए उपयोग मे ली जा सकेगी। यह भाषा हम सब मे एकता स्थापित करेगी। भारतीय सस्कृति को व्यक्त कर सके और जिसे करोड़ो लोग आसानी से समझ सके, ऐसी वह होगी। वह भाषा हिन्दी ही हो सकती है।

4 सभी प्रादेशिक भाषाए परस्पर नजदीक आ सके, उनके बीच साहित्यिक आदान-प्रदान बढे, इसलिए यह आवश्यक है कि ये सभी भाषाएं एक ही देवनागरी लिपि मे लिखी जाए। हमारी अधिकाश लिपिया—एक उर्दू लिपि को छोड़कर—नागरी के ही अलग-अलग रूप है। हमे सस्कृत के लिए नागरी सीखनी पड़ती है, तो इसी लिपि मे हम अपनी भाषाए भी लिखने लगे। इससे क्या होगा—सभी भाषाए एक-दूसरे के निकट आ जायेगी और भारत आन्तरिक जीवन मे सुदृढ होगा।

अभी भी इस देश मे नब्बे फीसदी लोग अशिक्षित है। इन्हे हमे जल्दी-से-जल्दी सुशिक्षित करना ही है। तब एक सामान्य लिपि के द्वारा ही हम यह काम क्यो न करे?

दक्षिण से वर्धा पहुचते ही काका साहब ने अपने यह विचार गाधीजी के सामने रखे और भविष्य मे अपने कार्य की दिशा साफ कर ली। कुछ ही दिनो मे, 20 अप्रैल 1935 को इन्दौर मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का चौबीसवा अधिवेशन हुआ और गाधीजी दूसरी बार उसके सभापति चुने गए और राष्ट्रभाषा कार्य का एक नया अध्याय शुरू हुआ। सभापति के नाते गांधीजी ने अपने भाषण मे आगे के काम की रूपरेखा पेश की। उन्होने कहा कि दक्षिण में जिस प्रकार

हिन्दी का प्रचार कार्य चल रहा है, उसी प्रकार अब उसे पूर्व और पश्चिम के अहिन्दी प्रदेशों में पूरे जोश से चलाना होगा। फलस्वरूप, हिन्दी प्रचार के लिए और एक नई समिति बनाने का निश्चय हुआ।

अगले वर्ष जब नागपुर में डा० राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का पच्चीसवा अधिवेशन हुआ, तब इस निश्चय को अमली स्वरूप दिया गया। 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा' नाम से एक नई समिति बनाई गई और इसके अध्यक्ष के रूप में राजेन्द्र बाबू तथा उपाध्यक्ष के रूप मे काका साहब चुने गए।

समिति ने सिन्ध, गुजरात, महाराष्ट्र, बम्बई, विदर्भ, बगाल, उत्कल और असम इन प्रान्तों में हिन्दी प्रचार की दृष्टि से संगठन करने का पूरा भार काका साहब को सौंप दिया।

दक्षिण के अनुभव को ध्यान मे रखकर काका साहब ने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को हिन्दी साहित्य सम्मेलन से स्वतन्त्र रखने के पक्ष मे अपनी राय दी थी। जमनालाल बजाज भी इसी राय के थे, पर टण्डन जी आग्रह कर बैठे कि समिति का दफ्तर भले ही वर्धा में रहे, पर समिति सम्मेलन के अन्तर्गत ही रहेगी। गाधीजी टण्डनजी को नाराज करना नही चाहते थे। वे मान गए और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अन्तर्गत काम करने लगी।

काका साहब ने तुरन्त प्रान्तीय संगठन का काम शुरू कर दिया। कराची से लेकर मणिपुर डिब्रूगढ़ तक और कुर्सियांग से लेकर मद्रास, कन्याकुमारी तक वे लगातार घूमते रहे। हिन्दी का संदेश लेकर देश के कोने-कोने मे पहुंच गए। कई बार देश के चक्कर लगाए। स्वभाव से ही घुमक्कड़ थे, अतः यह प्रवृत्ति उनके स्वभाव के अनुकूल थी। फलस्वरूप, देश में एक भी महत्त्व का ऐसा स्थान नहीं रहा होगा, जहां वह एक से अधिक बार न पहुंचे हों और सांस्कृतिक, ऐतिहासिक या प्राकृतिक दृष्टि से महत्त्व का एक भी स्थान ऐसा नही होगा, जो उन्होंने देखा न हो। एक भी राष्ट्र सेवक ऐसा नहीं होगा, जिसके घनिष्ठ सम्पर्क में वे न आए हों। देश की विभिन्न भाषाओं में एक भी महत्त्व का साहित्यकार खास तौर से कवि ऐसा नहीं होगा, जो उनका आत्मीय न बना हो।

जहां पर भी वह गए लोगों को हिन्दी का महत्त्व समझाते रहे। हिन्दी के सम्बन्ध में प्रान्तीय भाषाओ के मन मे जो डर दिखाई देता था, वह दूर करने की कोशिश करते रहे। जिन लोकभाषाओं की जडे लोकजीवन मे मजबूत हुई हैं, उनको बढ़ावा देते रहे।

बम्बई में उन्होने पेरीन बहन कैप्टन की मदद से हिन्दी प्रचार का एक सगठन खड़ा किया, जिसमे बाला साहब खेर जैसो को वह खीच लाए। महाराष्ट्र मे शकरराव देव की अध्यक्षता मे एक सगठन बनाया गया, जिसमे महामहोपाध्याय दत्तो वामन पोतदार भी आए। विदर्भ मे वीर वामनराव जोशी, असम मे गोपी नाथ बरदलै, उत्कल मे गोपबन्धु चौधरी, सिन्ध मे नारायण मलकानी, बगाल में ज्यादातर मारवाडी व्यापारी हिन्दी के प्रचार मे लगे हुए थे, वहा डा० सुनीति कुमार चटर्जी और प्रो० प्रियरजन सेन जैसे कई समर्थ लोगो को वे राष्ट्रभाषा प्रचार-कार्य में खीच सके।

इन प्रान्तीय संगठनो का काम जब हाथ मे लिया, उन्ही दिनो और एक बडी जिम्मेदारी उन पर आ पडी। 3 अप्रैल 1936 के दिन नागपुर मे भारतीय साहित्य परिषद का जो पहला अधिवेशन हुआ, उसके वह स्वागताध्यक्ष चुने गए।

अब तक सभी देशी भाषाओ के अपने-अपने सगठन थे, जो साल मे या दो एक साल के बाद एक बार अपने-अपने साहित्यकारो को एक मच पर लाकर अपनी भाषा और साहित्य के विकास की योजनाएँ बनाने आए थे।

हर एक भाषा अपनी-अपनी सीमाओ मे ही सीमित रही थी। फलस्वरूप साहित्य का जो विचार देश मे हुआ करता था, वह प्रादेशिक स्वरूप का ही रह जाता था। भारतीय साहित्य का विचार अभी तक किसी ने नही किया था, हालाकि ऐसा होना चाहिए, यह विचार कइयों ने इससे पहले व्यक्त किया था। भारतीय साहित्य एक है—भले ही वह अनेक भाषाओ मे लिखा जाता हो, यह विचार बरसों बाद स्वराज्य में साहित्य अकादमी की स्थापना के साथ प्रचलित हुआ, उसका प्रारम्भ पहले पहल नागपुर मे आयोजित इस भारतीय साहित्य परिषद में हुआ था। गुर्जर साहित्यिक कन्हैयालाल मुंशी और हिन्दी के लेखक मुंशी प्रेमचन्द इस विचार से बहुत प्रभावित हुए थे और लगभग एक वर्ष के

अथक परिश्रम के बाद यह परिषद बुलाने मे वे कामयाब हुए थे। जवाहरलाल नेहरू जो इन दिनो राष्ट्रपति थे (कांग्रेस के अध्यक्ष को उन दिनो राष्ट्रपति कहते थे) इस भारतीय साहित्य की सकल्पना मे बहुत रुचि रखते थे। वे इस परिषद मे उपस्थित रहते थे। इसमे भी परिषद की ओर देश का ध्यान खिच गया था। भारत के इतिहास मे पहली ही बार भिन्न-भिन्न भाषाओ के लेखक और कवि एक मच पर आकर सास्कृतिक आदान-प्रदान करे यह अपने-आप मे एक बहुत बडी बात थी। स्वागताध्यक्ष के नाते काका साहब ने जो यहा भाषण दिया, वह बडा ही ओजस्वी और सारगर्भित था। काका साहब कहते है

> गाधीजी की इच्छा थी कि रवीन्द्रनाथ इस परिषद् के अध्यक्ष बनाए जाए। पर कन्हैयालालमुशीजी को यह सुझाव पसन्द नही आया। उन्हे गाधीजी की मदद से काम करना था। अत गाधीजी को ही उन्होने अध्यक्ष के रूप मे चुन लिया। गाधीजी ने अपने भाषण मे कहा कितनी शर्म की बात है कि चैतन्य महाप्रभु की प्रसादी आज केवल बगाल, उत्कल और असम को ही उपलब्ध है, भारतवर्ष की और किसी भी भाषा मे प्राप्य नही है। दक्षिण के तिरुवल्लूवर का नाम तक उत्तर भारत के लोग नही जानते। उन्होने थोडे शब्दो मे जो ज्ञान दिया है, वैसा बहुत कम सन्त दे सके है। इस कोटि के दूसरे एक सन्त का नाम याद आता है, वह है मराठो के तुकाराम। गाधीजी के इस भाषण ने परिषद का सारा स्वर और उसका वातावरण निर्धारित कर दिया। हम लोगो ने विभिन्न भाषाओ की ऐसी रचनाए सभी भाषाओ मे—खासतौर मे हिन्दी मे लाने की एक योजना बनाई। पर यह काम आगे नही चला। 1937 मे परिषद् का दूसरा अधिवेशन मद्रास मे हुआ। स्वागताध्यक्ष तमिल के मूर्धन्य साहित्यकार स्वामीनाथ अय्यर थे। बस, यहा यह सारी प्रवृत्ति रुक गई। मै हिन्दी प्रचार के कार्य मे इतना व्यस्त रहा कि मुझे इस काम के लिए समय निकालना मुश्किल प्रतीत हुआ। मुशी जी कांग्रेस की राजनीति मे व्यस्त रहे और मुशी प्रेमचन्द का देहान्त हो गया। प्रेमचन्द ने अपनी मासिक पत्रिका 'हस' परिषद् को दे दी थी, वह चल नही सकी। मराठी मे 'विहगम' नाम की एक पत्रिका शुरू हुई थी। उसमे मै दो-तीन वर्ष लगातार लिखता रहा। पर, भारतीय साहित्य एक है, भले ही वह अनेक भाषाओ मे लिखा जाता हो, यह विचार तब से मेरे भाषणो का एक विषय

बन गया था। हिन्दी प्रचार के लिए मै जहां भी गया, यह विचार लोगों के सामने रखता रहा।[1]

पर इन सारी प्रवृत्तियों में काका साहब का सबसे अधिक समय लिया—नागरी-लिपि सुधार की प्रवृत्ति ने। वह नागरी के वड़े भक्त थे। देश की सभी भाषाएं इसी एक लिपि के क्षेत्र मे आ जाए, यही उत्कटता से चाहते थे। पर जनता के लिए यह लिपि आसान बने और यन्त्र युग मे वह पिछड़ न जाए, इसलिए वे उसमे कुछ सुधार करना चाहते थे। मुद्रण, मुद्रा-लेखन, दूर-लेखन और द्रुत-लेखन इन क्षेत्रों मे रोमन लिपि की रफ्तार बड़ी तेज है, वह अगर नागरी प्राप्त न करे तो समय की प्रतिस्पर्धा में वह मन्द साबित होगी और पिछड़ जाएगी, यह उन्हें डर था। उन्होंने यह देख लिया था कि हिन्दी के टाइपराइटर अंग्रेजी के समान आसान और तेज नही है, इसलिए कई हिन्दी भक्त अंग्रेजी टाइपराइटर लेते है और लाचारीवश अंग्रेजी चलाते हैं। नागरी की यह मन्दता देखकर सुभाषबाबू और जवाहरलाल जैसे राष्ट्र-नेता भी रोमन के पक्षपाती हो गए थे। यही नही, सुनीति कुमार चटर्जी जैसे भाषाविद् और किशोरलाल मश्रुवाला जैसे तत्वचिन्तक भी सभी देशी भाषाओं के लिए रोमन लिपि चलानी चाहिए, इस राय के हो गए थे। काका साहब का कहना था कि आज की नागरी में हम अगर थोड़ा सुधार कर लें तो वह रोमन की प्रतिद्वन्द्विता में निश्चित रूप से विजय प्राप्त कर सकती है।

नागरी ने जो रूप आज धारण किया है, वह हमेशा ऐसा नही था। वह बदलते-बदलते बना है। प्रिंटिंग प्रेस नही आया था, तब लोग ताड़पत्र या भोज-पत्र जैसे पत्रों पर लिखते थे। ताड़पत्र पर आड़ी लकीर कुरेदने से ताड़पत्र फट जाता था, इसलिए उड़िया लिपि ने शिरोरेखा का रूप गोल कर लिया। वस्तुतः उड़िया लिपि, नागरी लिपि ही है। देश की सभी लिपियां परिस्थिति के अनुरूप अलग-अलग रूप धारण की हुई नागरी ही हैं।

लोग अकसर गड़बड़ करते हैं। वे वर्णमाला और लिपि को एक ही मानते हैं। वस्तुतः दोनों अलग चीजें हैं। वर्णमाला प्रधानतया ध्वनि व्यवस्था होती है और लिपि उन वर्णों को व्यक्त करने के लिए पसन्द की हुई आकृतियां हैं। वर्ण ज्यादा-तर श्रवण का विषय है। लिपि देखने की और हाथ से खींचने की चीज है। देव-

1. लेखक के साथ बातचीत से

नागरी की वर्णमाला वैज्ञानिक है, पर लिपि प्रिंटिंग प्रेस के पहले की है। इसी-लिए उसके कालभेद से और स्थलभेद से कई रूप पाए जाते हैं। वर्णमाला के गुणों का लिपि माला पर आरोपण करके हम नागरी के गुण गाते हैं, यह गलत है। असल में यह सब गुण वर्ण-व्यवस्था के हैं।

वे कहने लगे :

गुजराती ने 'ए' 'ऐ' के बदले 'अ' के सिर पर एक और दो मात्रा लगाकर 'अे' 'अै' बना दिए उसी ढंग से हम इ ई और उ ऊ के बदले अि अी और अु अू बनाए, जिससे सभी स्वर एक ही ढंग के बन जाएंगे।

इसके बाद सवाल आता है युक्ताक्षरों का। युक्ताक्षरों के सब व्यंजन एक के बाद एक लिखने से पढ़ने की और छापने की सहूलियत हो जाती है—जैसे शुक्ल, प्लवग, पक्व, रक्त। पुराने द्म और द्य छोड़ दिए जाएं। उसके बदले हलन्त का उपयोग करके द्‌म, द्‌य—पद्‌म, पद्‌य लिखा जाए। धर्म, कर्म में जो रेफ आता है वह छोड़ दिया जाए और धरम्, करम् ऐसे लिखा जाए।

नागरी का 'ख' अक्षर अच्छा नहीं है। शिरोरेखा हटाने पर खा अनेक ढंग से पढ़ा जाएगा—खा खा, र वा खा, खा रवा, रवा रवा। इसके बदले 'क्ष' के नज-दीक कैथी, मोड़ी और गुजराती क्ष के जैसा एक नया अक्षर बनाया जाए।

इतने सुधार करने पर लिपि सुधार की पहली मंजिल तय होगी। दूसरी मंजिल में आएंगी मात्राएं।

नागरी की कुछ मात्राएं अक्षर के सिर पर बैठती है। जैसे के, कै, कं और कुछ मात्राएं अक्षर के पांवों तले बैठती है। जैसे, सु, मू, मृ और टू। कुछ मात्राएं अक्षर के पहले आती हैं, जैसे ह्रस्व 'कि' और बंगला तथा मलयालम के 'ए'। नतीजा यह होता है कि छापने में टाइप की तीन पंक्तियां होती हैं—ऊपर की मात्राएं, बीच के अक्षर और नीचे की मात्राएं : स्वर्ग, मृत्यु और पाताल। इन तीन लोक की व्यवस्था के कारण छपाई में क्या-क्या कठिनाइयां आती हैं, यह प्रेसवाले ही जानते हैं। बेचारे तंग आ जाते हैं, क्योंकि मात्राएं हटती हैं, टूटती हैं या उड़ जाती हैं। अखण्ड टाइप बनाए तो टाइपों की संख्या इतनी बढ़ती है कि कम्पोजिटर

थक जाता है। लोकतन्त्र में यह नियम बनाना चाहिए कि आदमी चाहे अपना सिर ऊंचा करे पर किसी के सिर पर चढ़ न बैठे। चाहे जितना नम्र हो पर किसी के पाव के नीचे न रहे--यही नियम मात्राओं के लिए भी होना चाहिए।

यह हुई लिपि सुधार की दूसरी मंजिल। ये दो मंजिलें तय करने के बाद वह तीसरी मंजिल की बात आगे करना चाहते थे। पर जब तक इन दो मंजिलों के सुधार लोग हजम न कर ले और उनकी आंखे सुधार की आदी न बन जाए तब तक तीसरी मंजिल के लिए जल्दबाजी करना वह नही चाहते थे। पर तीसरी मंजिल भी उन्होंने छेड़ दी थी। उनका कहना था कि—

अंग्रेजी और उर्दू लिपि मे महाप्राण के अलग अक्षर नही होते। ख, छ, ठ, थ, फ और घ, झ, ढ, ध, भ, ये अक्षर अंग्रेजी मे 'एच' लगाकर और उर्दू मे दुचश्मी 'हे' लगाकर बनाए जाते है। उसी तरह क, च, ट, त, प और ग, ज, ड, द, ब को महाप्राण का कुछ चिन्ह लगाकर ख, छ, ठ, थ, फ और घ, झ, ढ, ध, भ अक्षर बनाए जाने चाहिए। आज भी म का महाप्राण 'म्ह' बनता है और न का 'न्ह' बनता है,—'म्ह' और 'न्ह' के लिए नए अक्षर बनाए नही गए है, वैसा ही कुछ अन्य महाप्राणो के बारे मे भी करना जरूरी है। नागरी ने अगर यह आवश्यक सुधार किए तो उनका विश्वास था कि दुनिया के सामने वह नि शंक होकर बढ़ सकती है।

इन्दौर मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जब चौबीसवा अधिवेशन हुआ, उसी समय उसके साथ-साथ लिपि सुधार परिषद् भी चली। काका साहब उसके अध्यक्ष थे। उन्होने गाधीजी से पूछा, 'क्या मै इस परिषद में अपने सुझाव पेश करूं?'

गाधीजी ने कहा, 'चीज आपकी है। आप अगर मानते है कि लिपि सुधार से देश का और हिन्दी का भला होगा, तो जरूर अपने सुझाव रखे और सुधार का बोझ भी उठाएं।'

काका साहब ने कहा, 'यन्त्रयुग में नागरी लिपि पिछड़ न जाए, इसलिए मेरी यह सारी कोशिश है।...मुझे आपके आशीर्वाद चाहिए।'

गांधीजी बोले, 'आशीर्वाद तो है ही। मैं तो यहां तक जाने को तैयार हूं कि

सम्मेलन जब आपके सुधार कबूल करेगा, तब मैं स्वयं उसी लिपि में लिखना शुरू कर दूंगा।'

सम्मेलन ने एक लिपि सुधार समिति कायम की और काका साहब को ही उसके अध्यक्ष और संयोजक के रूप मे नियुक्त किया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वायुमंडल रूढ़िग्रस्त और सुधार विरोधी होगा इसकी उन्हें कोई कल्पना नही थी। दो तीन वर्षों मे उनके ध्यान मे यह बात आई। फिर भी टंडनजी और बाबूराम सक्सेना जैसो की मदद उन्हें मिली और दो तीन साल के प्रयत्नो के बाद सम्मेलन ने उनके सुझाव मंजूर किए। पर मंजूरी एकमुश्त नहीं मिली, हिस्से-हिस्से मे मिली। काका साहब कहते है :

अत्यन्त आवश्यक सुधार हमने पेश किए थे। मै जिसे लिपि सुधार की पहली मंजिल कहता था, उसमे भी पहली मंजिल के ये सुधार थे। मुझे गांधीजी ने कहा कि ऐसे सुधार टकटक से नही होंगे, मम् मम् से होगे। और यह बात मुझे जच गई थी और मै धीरे-धीरे ही आगे कदम बढ़ाता था। टंडनजी और सक्सेना जी की सहानुभूति मेरी ओर थी और सम्मेलन की स्थाई समिति मे कई बार ये सुधार भारी बहुमत से स्वीकृत हुए थे। केवल वाराणसी के विराट सम्मेलन की स्वीकृति पानी रह गई थी। बहुमत तो हम पा चुके थे। पर बनारस मे रूढ़िवादियो का जोर अधिक था। वे तो तरह-तरह की दलीले देकर सुधारो का विरोध करने लगे। आखिर किसी ने सुझाया, आप युक्त प्रान्त को छोड़कर अन्य जगह जहा हिन्दी का प्रचार करते है, वहा यह सुधार लागू कर सकते है। मै हक्का-बक्का रह गया। मैने टंडनजी की ओर देखा। वह कहने लगे, 'मान जाओ, इसे मान्य करने में ही बुद्धिमानी है। मै मान गया।[1]

फलस्वरूप राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की ओर से जो पाठ्य पुस्तके तैयार हुई, उनमें यह सुधरी हुई नागरी अपनाई गई। भारत-भर के अहिन्दी प्रान्तो मे विद्यार्थी जो हिन्दी सीखते थे, इसी लिपि मे सीखने लगे। गांधीजी ने अपने हिन्दी साप्ताहिक 'हरिजन सेवक' के लिए भी इसी लिपि को स्वीकार किया।

1. लेखक के साथ बातचीत से।

यही नहीं, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर की ओर से हिन्दी में गांधीजी की जो पुस्तकें प्रकाशित होती थीं, सभी इसी लिपि में छपने लगीं।

बीमारी

लगभग 1920 से कांग्रेस का सारा काम अधिकतर हिन्दी में ही चलने लगा था। हिन्दी की प्रतिष्ठा गांधीजी ने इतनी बढ़ा दी थी कि कुछ अंग्रेजीदां नेता उनसे नाराज होकर कांग्रेस छोड़कर भी चले गए थे।

फिरभी, कांग्रेस में कई लोग ऐसे थे—जिनमें हिन्दी के बड़े समर्थक भी शामिल थे—जो हिन्दी के बदले अंग्रेजी में इसलिए भाषण देते थे, क्योंकि अंग्रेजी में दिए गए भाणणों की रिपोर्ट चौबीस घंटो के अन्दर देश के कोने-कोने में पहुच जाती थी।

यह करामात अंग्रेजी की आशुलिपि या शीघ्र लेखन पद्धति की थी।

इस स्थिति को अगर बदलना हो और राष्ट्र-जीवन में हिन्दी को उसका स्वाभाविक स्थान दिलाना हो तो जल्द-से-जल्द हिन्दी के लिए भी एक आशुलिपि तैयार करनी होगी, जो सरलता और तेजी में अंग्रेजी का मुकाबला कर सके, यह आवश्यकता काका साहब महसूस करने लगे थे। इसके बाद आशुलिपि के संकेताक्षरों में से उनको नागरी में लिखने के लिए और उनकी एक ही साथ अनेक प्रतियां बनाने के लिए ऐसे टाइपराइटर की भी आवश्यकता थी, जो अंग्रेजी की रोमन लिपि के टाइपराइटर को अपेक्षा अधिक सुगम और सर्वांगपरिपूर्ण हो।

तार घरों के लिए भी देशी वर्णमाला संकेत निश्चित करन की आवश्यकता थी।

इस प्रकार लिपि सुधार के साथ-साथ आशु-लेखन पद्धति, सुलभ-मुद्रा लेखन-यन्त्र और नागरी में विद्युल्लिपि (टेलीग्राफिक कोड) तैयार करने का काम भी काका साहब ने अपने सिर पर उठा लिया था।

राष्ट्रभाषा की प्रतिष्ठा के लिए ये बातें नितान्त आवश्यक थीं।

इस क्षेत्र में जिनकी सहायता से वह बहुत कुछ काम कर सके ऐसे दो होनहार नवयुवक उनको मिले, एक था, पांडुरंग भुरके और दूसरा, गजानन दाबके।

पांडुरंग कालिज की शिक्षा-प्राप्त युवक था। उसे एक अच्छी सरकारी नौकरी भी मिल गई थी। पर सिर पर देश-सेवा की धुन सवार थी। वह पूना से वर्धा आया और काका साहब के साथ रहने लगा। उसके लिए जीवन में कर्त्तव्य और आनन्द दो भिन्न चीजें नहीं थीं। वह सदा तत्पर, सदा प्रगतिशील और सदा विकास का चिन्तन करने वाला एक महाराष्ट्रीय युवक था। वह मराठी, संस्कृत और अंग्रेजी जानता था। काका साहब के पास उसने हिन्दी भी सीख ली और गुजराती का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

गजानन दाबके आशुलिपिक था। उन दिनों देश में भारतीय भाषाओ के लिए जो आशुलिपियां चलती थी, सभी पिटमैन का ही अंधानुकरण करती थी। गजानन ने अपनी एक आशुलिपि तैयार की थी और एक मिनट में 140 शब्दों तक उसकी गति पहुंच गई थी। काका साहब उसकी वैज्ञानिक बुद्धि और असाधारण प्रतिभा पर बहुत प्रसन्न हुए और उसे अपने पास रख लिया। उसने मुद्रालेखन की यन्त्ररचना का भी अच्छा अध्ययन किया था और हिन्दी के लिए मुद्रालेखन सुलभ करने की दृष्टि से उसमें नए-नए आविष्कार भी किए थे। यह नौजवान काका साहब के लिए कई क्षेत्रों में उपयोगी था।

उसकी मदद मे काका साहब ने हिन्दी के लिए एक आशुलिपि तैयार की, टाइपराइटर के लिए उसका एक वर्णफलक—की बोर्ड—तैयार किया और तारघरों के लिए एक टेलीग्राफिक कोड भी तैयार किया।

वर्धा में काका साहब ने राष्ट्रभाषा-प्रचारकों के लिए पहले से ही एक प्रशिक्षण केन्द्र शुरू कर दिया था। कई अहिन्दी प्रदेशों के विद्यार्थी वहा आकर हिन्दी की तालीम पाते थे। अब हिन्दी लेखन और हिन्दी टाइपराटिंग की भी एक कक्षा खोल दी थी और देश के विभिन्न प्रान्तों से विद्यार्थियों को बुलाकर उन्हें तालीम देकर अपने-अपने प्रदेशों में भेज देने का भी काम शुरू कर दिया था।

पांडुरंग और गजानन दोनों काका साहब के साथ ही रहते थे। दोनों की अच्छी बनती थी। दोनों के बीच कभी-कभी होड़ भी लगती थी। काका साहब कुछ लिखवाने बैठते तो दोनों एक साथ लिखने के लिए बैठ जाते। गजानन आशुलिपि में लिखता, तो पांडुरंग सीधे टाइपराइटर पर ही टाइप कर लेता था।

हिन्दी को प्रतिष्ठित करने का काका साहब का काम पुरजोर से चल रहा था, इतने मे एक दिन एक ऐसी घटना घटित हुई जिससे वर्धा का सारा वातावरण कंपकपा उठा।

ग्रामोद्योग सघ की स्थापना हो चुकी थी। उसकी अनेक प्रवृत्तियो मे ताड, माड, खजूरी या शिंदी के रस से गुड बनाने की भी एक प्रवृत्ति थी। गुड जिस रस मे बनाया जाता है, उसे 'नीरा' कहते है। वह बडा मीठा और पौष्टिक पेय है। सेवाग्राम मे उन दिनो खजूर के पेड से नीरा निकाला जाता था।

31 जुलाई, 1938 की सुबह की बात है। काका साहब जो उन दिनो हरिजन छात्रावास मे रहते थे, गजानन और पाडुरग को कुछ लिखवा रहे थे। उनके पास महिलाश्रम के आचार्य नाना आठवले और मुरलीधर सबनीस नाम के एक और कार्यकर्ता बैठे थे। इतने मे बाबू कामत वहा एक टीन मे नीरा लेकर आए। काका साहब को और उनके आसपास बैठे हुए सबको उन्होने नीरा पिलाया।

उन दिनो वर्धा के आसपास के देहातो मे हैजे की बीमारी फैली हुई थी। हैजे के जीवाणु सभवत. नीरा मे पहले मे ही प्रविष्ट हुए होगे। दोपहर तक तो सब ठीक था। पर उसके बाद सबसे पहले पाडुरग और गजानन को हैजा हो गया। थोडी ही देर मे सबनीस और दूसरे एक कार्यकर्ता श्रीपाद जोशी पटक गए। इतने मे काका साहब को भी हैजे ने पछाड दिया। शुश्रूषा की सहूलियत की दृष्टि से गजानन, पाडुरग, मुरलीधर और श्रीपाद इन चारो को वर्धा को सिविल अस्पताल मे भेजा गया। काका साहब हरिजन छात्रालय मे ही रहे। दो ही दिनो मे पाडुरग और गजानन चल बसे। नाना आठवले महिलाश्रम मे मृत्यु से लडते-लडते ग्यारहवे दिन चल बसे। मुरलीधर और श्रीपाद जैसे-तैसे बच गए। काका साहब की तबीअत दिन-ब-दिन गिरने लगी। तीसरे ही दिन उनकी आखे गहरी हो गई। हाथ-पैर ठडे हो गए। काका साहब लिखते है :

> मै गम्भीर रूप से बीमार पडू और बापूजी मुझे देखने न आए, यह तो असम्भव था। वे फौरन आ गए। मैने उनसे कहा, मै नही चाहता कि आप मेरे लिए तकलीफ उठाए।' इसलिए वे सेवाग्राम वापस चले गए। पर उनको चिन्ता

दूर नहीं हुई। सेवाग्राम से एक चिट्ठी लिखकर उन्होने मेरे पास भेज दी : 'मैं जानबूझ कर हृदय कठोर करके नही आता—जल्दी अच्छे हो जाइए।' वर्धा के एक डाक्टर महोदय मेरा उपचार कर रहे थे। उनकी मदद के लिए बापू जी ने सुशीला नैयर को भेज दिया। अमृतलाल नाणावटी उन दिनो सेवाग्राम में थे। उनको मेरी सेवा करने के लिए भेज दिया। इस पर भी वह बीच-बीच मे आ ही जाते थे। पाडुरंग और गजानन को अस्पताल ले गए थे। वहा दोनों चल बसे। पर यह खबर साथियो ने मुझसे छिपा कर रखी। उनकी चिन्ता मै न करूं यह तो असंभव था। पर उनके बारे मे साथियो ने बोलना ही बन्द कर दिया, तब मैं समझ गया। बापू जी को जब मालूम हुआ कि पाडुरग और गजानन की मृत्यु की बात मुझसे छिपा ली गई है, उन्हें दुःख हुआ। वह कहने लगे, काका को दुःख होगा यह तो स्वाभाविक है, क्योंकि दोनो उनके निकट के साथी थे। पर इस दुःखद समाचार मे उन्हे जो आघात होगा, वह वे सह नही सकेंगे ऐसा मानना गलत है। उन्हें आप पहचानते नही है, ऐसा ही कहना होगा। कबतक आप यह उनसे छिपाकर रखेंगे? और जब वह पूछेंगे तब क्या आप झूठ बोलेंगे? उन्होने तुरन्त मुझे एक चिट्ठी लिखी : 'पांडुरंग और दाबके तो वहा गए, जहा हम सबको किसी-न-किसी दिन जाना है। यह बात आपसे छिपाकर रखी गई है, पर छिपाकर क्या रखना है? आपको यह मालूम हो जाए और आप दुःखी न हों, यही जरूरी है। ऐसे दुःखद समाचार हजम करने मे ही हमारे गीता-अभ्यास की भी परीक्षा होती है न?' मुझे दोनो की मृत्यु का दुःख तो हुआ, पर मुझे भी उनके पीछे-पीछे जाना था। मैं उसी की तैयारी मे था। महादेव भाई चिट्ठी लेकर आए थे। मैंने उनसे कहा, 'हैजे की बीमारी में विचार-शक्ति क्षीण नहीं होती। उससे जो ग्रसित हो जाता है, वह बच नही पाता, सौ फीसदी चल बसता है। इसलिए मैं चित्तवृत्ति शान्त रखकर जन्म-मृत्यु का समान भाव से चिन्तन करने की साधना मे मग्न हूं। बापू जी को बताना कि उनके पत्र से मेरे चिन्तन की मजबूती बढ़ी है।'

पांचवें दिन जब उनकी तबीअत बिलकुल लुढ़क गई, हरिजन छात्रालय का सारा अहाता वर्धा के कार्यकर्त्ताओं से भर गया। महादेवभाई, जमनालाल जी

विनोबा, किशोरलालभाई, जाजूजी—उनके लगभग सभी साथी उनके आसपास खडे थे। डा० महोदय अपने साथ सिविल सर्जन और अन्य दो-तीन डाक्टरो को ले आए थे। सभी ने चर्चा करके यह तय किया कि उन्हे दो सौ सी०सी० का ग्लुकोज सेलाइन का इजैक्शन देना चाहिए। शाम का समय था। डा० महोदय ने इजैक्शन दिया और सभी प्रार्थना मे बैठ गए। अमृतलाल नाणावटी ने प्रार्थना शुरू की। उसमे उन्होने तम्बूरे के साथ आर्त स्वर मे 'अबकी टेक हमारी, लाज राखो गिरिधारी', भजन गाया। प्रार्थना के बाद महादेवभाई गद्गद होकर बोले, 'राखशे, भाई, भगवान जरूर लाज राखशे।'

ग्लुकोज ने जादुई असर किया। दूसरे ही दिन उनके चेहरे पर बदलाव दिखाई दिया। उनमे एक नई शक्ति आ गई। डाक्टर चार छ दिन तक उन्हे ग्लुकोज देते रहे। तबीअत धीरे-धीरे सुधरने लगी। आखिर जब वह लकडी के सहारे धीरे-धीरे चलने लगे, तभी सब निश्चिन्त हुए।

नागरराव गुणाजी की बेटी इन्दू उन दिनो महिलाश्रम मे थी। वह काका साहब की सेवा मे आकर रहने लगी। बीमारी के बाद आराम के दिनो म काका साहब ने उसे खलील जिब्रान की "सैंड एण्ड फोम" पुस्तक का मराठी अनुवाद बोलकर लिखवाया। पिछले पाच छ वर्षो से जिब्रान उनके एक प्रिय लेखक बन गए थे।

हैजे के इस प्रसग को लेकर कुछ मराठी अखबारो ने एक बडा बवन्डर उठाया। पिछले कई बरसो से महाराष्ट्र मे गांधी-निन्दा का एक बडा कल-कारखाना शुरू हो गया था। गाधीजी को बदनाम करने के अपने कार्य मे ये अखबार सभी मर्यादाए भूल गए और इस हद तक अरोप लगाने लगे कि गाधीजी ने अपने महाराष्ट्रीय साथियो को नीरा मे जहर पिलाकर मारने का प्रयत्न किया था। अपने प्रिय महाराष्ट्र की यह अधोगति देखकर काका साहब को जो मानसिक पीडाए हुई वे उनके लिए बीमारी की पीडाओ से भी अधिक असह्य थी। वे बैचेन हो उठे। काका साहब लिखते है :

> मुझे इन लेखो का प्रत्युत्तर देने की इच्छा हुई। महादेवभाई के सामने मैने अपना रोष व्यक्त किया। उन्होंने यह बात बापू जी को बता दी। उनका

तुरन्त सन्देश आया : 'कुछ करने की जरूरत नही है। आप महाराष्ट्रीय हैं, यह मानकर क्यो बेचैन होते है ?...जहर भरा हुआ था, वह इस प्रकार निकल गया, अच्छा ही हुआ। प्रत्युत्तर देगे तो उसमे बृद्धि होगी, वरना वह अपने-आप घट जाएगा। इस पत्र के बाद मेरी बेचैनी समाप्त हो गई।

हा, पर उनके स्वभाव मे एक बडा परिवर्तन भी आ गया। मराठी अखबारो और महाराष्ट्रीय नेताओ के प्रति उनका रुख हमेशा के लिए कड़ा हो गया। किसी प्रश्न को लेकर उन्हे जब वह खरी-खोटी सुनाने बैठते, तो अपनी रूखाई छिपा न पाते। गुजराती मे लिखते समय जो अनुनय-विनय की वृत्ति उनमे हमेशा दिखाई देती थी, वही मराठी मे भी दिखाई देती थी। पर इस प्रसग के बाद वह कभी नही दिखाई दी। वह कुछ तीखे बन गए और तब मे महाराष्ट्र के साथ हमेशा ऐसे ही पेश आने लगे।

हिन्दी-हिन्दुस्तानी का विवाद

कुछ दिन आराम करने के बाद जब सेहत घूम फिर सकने लायक सुधर गई, काका साहब फिर से राष्ट्रभाषा-प्रचार के काम मे जुट गए।

इस काम के साथ-साथ इस बार व और एक काम मे दिलचस्पी लेने लगे थे। 1937 मे कई प्रान्तो मे काग्रेस ने अपनी सरकारे बनाई थी। फलस्वरूप, खादी ग्रामोद्योग, नशाबन्दी, अस्पृश्यता-निवारण, राष्ट्रभाषा-प्रचार जैसे कई रचनात्मक कामो को बढ़ावा मिल गया था। इसी अरसे मे गाधीजी ने देश के सामने शिक्षा का अपना क्रातिकारी विचार रखा, जो 'बुनियादी तालीम' के नाम से पहचाना जाता है। शिक्षा के आदर्शो और पद्धतियो मे आमूलाग्र परिवर्तन करने वाला यह विचार था। इस शिक्षा पद्धति के आविष्कार मे स्वय काका साहब का भी बड़ा हिस्सा था। वह इसे 'देश के लिए गाधीजी की सर्वोत्तम देन' मानते थे। इस शिक्षा पद्धति को अमल मे लाने के लिए सेवाग्राम मे हिन्दुस्तानी तालीमी संघ नाम की एक स्वतन्त्र सस्था की स्थापना हुई, तब स्वाभाविक रूप से काका साहब उसके कामो मे दिलचस्पी लेने लगे। बुनियादी तालीम का पाठ्यक्रम निश्चित करना, शिक्षको को आवश्यक तालीम देना आदि कई काम वे स्वेच्छा से करने लगे थे। देश के अलग-अलग हिस्सो मे दौरे करते थे, तब राष्ट्रभाषा

प्रचार के केन्द्रो के साथ-साथ बुनियादी तालीम की योजना को अमल मे लाने वाली सस्थाओ को भी भेट देते थे और वहा के शिक्षको को सलाह मशविरा देते थे।

राष्ट्रभाषा प्रचार का काम देश मे अब तक निर्विघ्न रूप से चलता आया था। अहिन्दी प्रातो के हजारों लोग हर साल बडे उत्साह के साथ हिन्दी की परीक्षाओ म बैठकर उत्तीर्ण होते थे। हिन्दी का प्रचलन देश मे इस समय इतना बढ गया था, उतना इससे पहले कभी नही हुआ था। पर ज्योही काग्रेस ने अपनी सरकारें बनाई और राष्ट्रभाषा के काम को प्रोत्साहन देना शुरू किया, तरह-तरह के विवाद शुरू हो गए।

देश की एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए, यह सभी महसूस करते आए थे। देश एक है, इसकी सस्कृति एक है, इस पर जो सकट छाया हुआ है, वह भी एक है और उसकी मुक्ति का मार्ग भी एक ही है, इतना सब होते हुए भी हमारे पास एक भी ऐसी सर्वमान्य भाषा नही है, जिसके द्वारा हम आपस मे और लोगो के साथ बोल सके, यह कमी सब को खलती आई थी। सर्वमान्य सम्पर्क भाषा केवल हिन्दी ही हो सकती है, यह भी सब लोगो ने कबूल किया था। फिर भी इस हिन्दी को सार्वत्रिक बनाने की किसी के पास कोई योजना ही नही थी। गाधीजी ही पहले राष्ट्रीय नेता थे, जिन्होने हिन्दी को सार्वत्रिक बनाने की योजना बनाई और पहले दक्षिण के चार और बाद मे पूर्व पश्चिम के आठ अहिन्दी प्रातो मे हिन्दी का सफलता के साथ प्रचार किया था। यही नही, हिन्दी के जो अनुकूल नही थे, ऐसे कई प्रभावशाली नेताओ का विरोध कुशलता के साथ दबाकर उन्हे भी हिन्दी के प्रति अनुकूल बना दिया था। 1918 मे जब वह पहली बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गए, तभी उन्होने हिन्दी के स्वरूप के बारे मे अपनी व्याख्या स्पष्ट कर दी थी। उन्होने कहा था, 'हिन्दी वह भाषा है, जो उत्तर भारत मे हिन्दू और मुसलमान दोनो बोलते है और जो नागरी अथवा फारसी लिपि में लिखी जाती है।' वे हिन्दी और उर्दू को दो अलग भाषाए नही, बल्कि एक ही भाषा की दो शैलिया मानते थे। उस समय किसी ने भी उनकी इस व्याख्या के बारे मे आपत्ति नही उठाई थी। 1935 मे वे दुबारा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गए, तब भी उन्होने हिन्दी के स्वरूप के बारे में वही विचार प्रकट किए, जो

उन्होंने 1918 में अपने अध्यक्षीय भाषण में पेश किए थे और सम्मेलन ने अपने विधान के फुटनोट में उनकी यह व्याख्या उद्धृत की थी। यही नहीं, सम्मेलन ने एक प्रस्ताव भी पास किया था, जिसमें कहा गया था :

> यह सम्मेलन घोषित करता है कि राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिन्दी का वह स्वरूप मान्य समझा जाए, जो हिन्दू-मुसलमान आदि सब धर्मों के ग्रामीण और नागरिक व्यवहार करते हैं, जिसमें रूढ सर्वसुलभ अरबी, फारसी, अंग्रेजी या संस्कृत शब्दों या मुहावरों का बहिष्कार न हो और जो नागरी या फारसी लिपि में लिखी जाती हो।

यहां एक बात जो ध्यान में रखने योग्य है, वह यह है कि गांधीजी ने हिन्दी के स्वरूप की ही केवल व्याख्या की थी। उसके नाम का सवाल उठाया नहीं था। वह राष्ट्रभाषा को 'हिन्दी' ही कहते आए थे और इसी नाम से उसका प्रचार करते थे।

प्रचार कुछ फलने-फूलने लगा था, ठीक इसी समय नाम का सवाल उपस्थित कर दिया गया। मुसलमान कहने लगे कि हिन्दी तो वह भाषा है, जो उर्दू को हटाने के लिए पैदा की गई है। कुछ हद तक यह बात सही थी। पर यह बात उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही समझ लेनी चाहिए—

मुसलमानों के शासनकाल में अमृतसर से पटना तक के उत्तर भारत में उर्दू एक प्रतिष्ठित भाषा थी। भारत के इस हिस्से के लोगों की अपनी-अपनी भाषाएं अवश्य थीं। ब्रज जैसी भाषा तो साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध भी थी। पर मुसलमानों के शासनकाल में ब्रज-मंडल का राजनैतिक महत्त्व कम हो गया था और दिल्ली-मेरठ के हिस्से का महत्त्व बढ़ गया था। स्वाभाविक रूप से यहाँ की 'खड़ी बोली' की बुनियाद पर बनाई गई उर्दू प्रतिष्ठित भाषा हो गई। उर्दू को राजाश्रय मिला। फलस्वरूप, दूसरी भाषाओं का महत्त्व अपने-आप कम होता गया और वह भी इस खड़ी बोली से उत्पन्न उर्दू के सामने अपने को 'पड़ी बोलियां' मानने लगी थीं।

उत्तर भारत में सभी लोग मदरसों में उर्दू ही पढ़ते थे।

उर्दू के गठन में हिन्दुओं का हिस्सा कम नहीं था। कुछ जानकारों का कहना

है कि मुसलमानो मे हिन्दुओं का योगदान अधिक था। फिर भी उसकी लिपि पराई थी और उसकी प्रेरणा अरबी और फारसी ये दो पराई भाषाएं थी। इसके कारण वह मुसलमानो की भाषा मानी जाती थी। एक दृष्टि से वह मुसलमानों की भाषा थी भी। हर एक भाषा अपनी-अपनी संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम होती है, यह सिद्धात अगर सच है तो उर्दू इस्लामी संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम था, इस बात से इंकार नही किया जा सकता। इसलिए देशभर के मुसलमान उर्दू को अपनी मातृभाषा मानने लगे थे। काका साहब एक बड़े मजे का किस्सा सुनाते थे :

> हिन्दी प्रचार के सिलसिले मे मै असम गया था। असम की भाषा है तो असमिया। मै असमिया जानता नही था। इसलिए हिन्दी में ही बोलता था। अधिकतर लोग समझ जाते थे। समझ मे न आए तो लोग अंग्रेजी मे प्रश्न पूछते थे और मै कभी अंग्रेजी मे तो कभी हिन्दी मे जवाब दे देता था। एक दिन मेरे व्याख्यान के समय अध्यक्ष के रूप में एक सज्जन बैठे, जो असम के एक प्रख्यात मुसलमान नेता थे। मैंने उनसे पूछा, आपकी मातृभाषा कौन-सी है? 'आफ कोर्स उर्दू' उन्होने कुछ जोश के साथ जवाब दिया। मैने कहा 'तब तो आप आज उर्दू मे ही बोलेंगे।' उनका उत्तर सुनकर मै अवाक् हो गया। उन्होने कहा, 'मेरी मातृभाषा तो उर्दू ही है। पर मैं उर्दू नहीं जानता। मुझे असमिया में बोलने की आदत है। इसलिए मैं असमिया में ही बोलूगा।' अपनी मातृभाषा में मनुष्य बोल नही सकता, यह बात जिन्दगी मे पहली ही बार मुझे यहा मालूम हुई।...तबसे मै कहने लगा, 'इस देश में दो उर्दू है। एक मामूली, जो बहुत से हिन्दू-मुसलमान जानते है और दूसरी, 'आफ कोर्स उर्दू।'

मतलब, जिन मुसलमानो की अपनी-अपनी भाषाएं थी, वह भी उर्दू का एक लफ्ज भी न जानते हुए उर्दू को अपनी मातृभाषा मानते थे। मुसलमानो के साथ उर्दू का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध था।

उत्तर भारत के हिन्दुओं को मुसलमानो के शासनकाल का बड़ा कटु अनुभव था। जैसे राष्ट्रवाद का उदय हुआ, उत्तर भारत के हिन्दू स्वाभाविक रूप से उर्दू को पराई भाषा समझने लगे। इस राष्ट्रवाद ने उनके सांस्कृतिक अभिमान को

पोषण दिया। परिणाम स्वरूप, पिछले सौ सवा सौ साल से उत्तर भारत के हिन्दू अपने जीवन से उर्दू को हटाकर उसकी जगह संस्कृतमयी हिन्दी को देने के प्रयास में लगे थे।

मुसलमान जो कहते थे कि 'उर्दू को हटाने के लिए ही हिन्दी का जन्म हुआ है,' वह इस सन्दर्भ मे बिल्कुल गलत नही था।

पर, गाधीयुग मे राष्ट्रवाद का स्वरूप जड़मूल मे बदल गया था। वह पुराना हिन्दू राष्ट्रवाद नही रहा था। बल्कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी लोगों को साथ में लेकर भारत को अंग्रेजों की दासता मे मुक्त करने की महत्त्वाकाक्षा रखने वाला नया उदार प्रगतिशील और 'सैक्युलर' राष्ट्रवाद था।

गाधीजी कहते थे कि युक्त प्रात एक ऐसा प्रात है, जहा भारत के इतिहास मे प्रकट हुई सभी लोगो की शक्तिया और कमजोरिया अच्छी मात्रा मे पाई जाती है। राष्ट्रीय एकता का प्रयोग अगर यहा सफल हुआ तो पूरा देश सुरक्षित रहेगा। इसलिए यह प्रयत्न यही सबसे अधिक मात्रा मे होने चाहिए। सौभाग्य से ऐसे प्रगतिशील अत:प्रवाह युक्त प्रात मे इस समय दिखाई भी देने लगे थे। गगा और यमुना इन दो नदियो का संगम जैसे यहा हुआ है, वैसे ही जनता के स्तर पर हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियो का भी एक सगम यहा दिखाई देता है। साहित्य के क्षेत्र में तो इस प्रदेश ने ऐसे लेखको को भी जन्म दिया है, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों समझ सकें, ऐसी लोक-सुलभ भाषा मे लिखते थे। मुंशी प्रेमचन्द ऐसे एक लेखक थे, जिनकी रचनाए नागरी मे लिखते ही हिन्दी बन जाती है और उर्दू लिपि में लिखते ही उर्दू कहलाई जाती है। इसी बुनियाद पर राष्ट्र-भाषा विकसित की जा सकती थी।

पर, इन प्रगतिशील शक्तियों के अलावा युक्त प्रात मे वे शक्तिया भी मौजूद थी, जो नया कुछ सीखती नही थी, न पुराना कुछ भूल पाती थी। इन शक्तियों ने गांधीजी के काम में रोड़े अटकाना शुरू कर दिया।

'हम इस देश के शासक थे' यह मुसलमान कभी न भूल सके और 'इन्होंने अपने शासनकाल मे हिन्दुओं पर कई अत्याचार किए थे' यह हिन्दू कभी न भूल सके।

स्वराज्य के आन्दोलन मे गाधीजी को मुसलमानो का उतना सहयोग नही मिला, जितना चाहते थे। खान अब्दुल गफ्फार खान, डा० जाकिर हुसेन, मौ० अबुल कलाम आजाद जैसे कुछ मुसलमान गाधीजी से आकृष्ट होकर उनके पक्ष मे जरूर आए। पर वे केवल अपवाद रूप थे। समस्त मुस्लिम कौम का सहयोग उन्हे विशेष कभी भी नही मिला, यह हकीकत है और वह कभी सहयोग न दे पाए, हमेशा अलग रहे, इस प्रयत्न मे अग्रेज हमेशा जागरूक थे। हिन्दू और मुसलमानो के बीच वैमनस्य बढाने मे वे जितने प्रयत्नशील थे उतना ही भाषा के क्षेत्र मे हिन्दी और उर्दू के बीच खाई पैदा करने मे भी वे मशगूल थे। और अब तो वह पाकिस्तान के पौधे को खाद-पानी देने के काम मे भी लग गए थे।

मुसलमानो ने जिद रखी 'उर्दू ही राष्ट्रभाषा बननी चाहिए।' हिन्दुओ ने उसी की प्रतिध्वनि चलाई 'विशुद्ध हिन्दी ही राष्ट्रभाषा होनी चाहिए।' काका साहब कहने लगे, 'मालूम होता है, हम गुलामी से उतना नही डरते है, जितने आपसी मेलजोल से, राष्ट्रीय एकता से डरते है।' इस खींचातानी मे एक दिन प० सुन्दरलालजी ने गाधीजी से कहा, 'हिन्दी की व्याख्या आप चाहे जितनी व्यापक करे उसमे सभी उर्दू शब्दो को स्वीकार करे, फिर भी जब तक आप राष्ट्रभाषा को हिन्दी कहेगे, तब तक आपकी यह प्रवृत्ति हिन्दू-राज की ही प्रवृत्ति मानी जाएगी। मुसलमानो का सहयोग आपको कभी नही मिलेगा। इसलिए हिन्दी और उर्दू दोनो नाम छोडकर राष्ट्रीय व्याख्या की राष्ट्रभाषा को आप 'हिन्दुस्तानी' कहिए और उसके लिए नागरी तथा उर्दू दोनो लिपिया मान्य रखिए। तभी मुसलमान आपको साथ देने लगेगे।' सुन्दरलाल जी का यह सुझाव लगभग अलटीमेटम-जैसा था।

हिन्दी शब्द के लिए मुसलमानो को आपत्ति है, यह गाधीजी जानते ही थे। कई मुसलमान मित्रो ने उन्हे बताया था :

> सियासी और समाजी जिन्दगी मे नामो का बड़ा असर होता है, क्योकि नाम के साथ बहुत-सी बाते याद आ जाती है। अभी तक उर्दू ही एक ऐसी जबान थी, जो किसी एक सूबे की या किसी एक मजहब की भाषा नही थी। हिन्दुस्तान-भर के मुसलमान उसे बोलते थे और शुमाली हिन्दुस्तानी मे उर्दू बोलने वाले हिन्दुओं की तादाद ज्यादा है। अगर हमारी कौमी जबान उर्दू

नही कहला सकती तो कम-से-कम उसका नाम ऐसा होना चाहिए, जिससे यह जाहिर हो कि मुसलमानो ने एक जैसी जबान बनाने की खास कोशिश की, जो करीब-करीब कौमी जबान कही जा सकती है। हिन्दुस्तानी से यह मतलब पूरा हो सकता है, हिन्दी से नहीं हो सकता।...अदबी हैसियत के अलावा हिन्दी की एक मजहबी और तहजीबी हैसियत है, जिसे मुसलमानों की पूरी जमात अपना नही सकती। हम जानते है कि हिन्दी से आपका मतलब आम लोगों की जबान है।...लेकिन बहुत-से लोग जो हिन्दी का प्रचार कर रहे है, उनको इस जबान से कुछ मतलब नही। ये जब हिन्दुस्तानी की जगह हिन्दी कहते है तो बस एक नाम की जगह दूसरा नाम ही नही लेते, बल्कि एक पूरी लुगत (कोश) ही सियासी और मजहबी खयालात की जगह धर देते है।[1]

गाधीजी ने बारह अहिन्दी प्रदेशो मे बड़ी मेहनत से राष्ट्रभाषा के नाम से हिन्दी का प्रचार किया था। नाम का झगड़ा चलाकर उन्हें यह सारा काम चौपट करना नही था। उन्हे 'हिन्दुस्तानी' नाम से कोई एतराज नही था। सन् 1925 से काग्रेस यह नाम चलाती आई थी। उस वर्ष सरोजिनी नायडू की अध्यक्षता मे कानपुर में काग्रेस का जो अधिवेशन हुआ था, उसमे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्राण-स्वरूप टडनजी ने एक प्रस्ताव पेश किया था, जिसमे 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग हुआ था। प्रस्ताव इस प्रकार था .

यह कांग्रेस तय करती है कि काग्रेस का, काग्रेस की महासमिति का और कार्यकारिणी समिति का कामकाज आमतौर पर हिन्दुस्तानी मे चलाया जाएगा। जो वक्ता हिन्दुस्तानी मे बोल नही सकते, उनके लिए या जब-जब जरूरत हो, तब अंग्रेजी का या किसी प्रांतीय भाषा का इस्तेमाल किया जा सकेगा।

स्वय टण्डन जी ही जब इस प्रस्ताव मे हिस्सेदार रहे है, तब 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग करने मे क्या हर्ज हो सकता है ? फिर भी गांधीजी ने हिन्दी नाम नहीं छोड़ा। राजेन्द्र बाबू जैसे निष्कलंक साथी की मदद लेकर उन्होने राष्ट्रभाषा का

1. राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी : गांधीजी।

प्रचार 'हिन्दी-हिन्दुस्तानी' जैसे द्वन्द्व नाम से चलाना शुरू किया। काका साहब कहते है :

> उन्हे नाम से नही, काम से मतलब था। नाम का क्या झगड़ा? श्रीकृष्ण को जनार्दन कहें, चाहे मुरारी कहे या हरि कहे, श्रीकृष्ण ही रहते है। वैसे हम हिन्दी को चाहे हिन्दुस्तानी कहे, चाहे हृदय की भाषा, स्नेह भाषा, स्वयं-भाषा, स्वराज्य भाषा कहे या 'सबकी बोली' कहे, बात एक ही है। मैने तो 'सबकी बोली' ही कहना शुरू किया और अपना काम चलाया। इन दिनो जब यह नाम का झगड़ा शुरू हुआ, स्वय टण्डनजी ने हिन्दुस्तानी की बहुत ही सुन्दर व्याख्या की थी उन्होने कहा था : 'इस देश में सर्वत्र अग्रेजी की ही प्रभुता चल रही है।...जब हिन्दी और उर्दू दोनो भाषाए मिलकर काम करेगी, तभी हम अग्रेजी को हटा सकते है।...अगर यह सवाल एक ही सूत्र मे जाहिर करना हो तो हम कहेंगे—हिन्दी + उर्दू बनाम अग्रेजी। अब हर जगह हिन्दी और उर्दू कहने की अपेक्षा दोनो का सयुक्त नाम 'हिन्दुस्तानी' रखा गया है।[1]

इस पर भी गृह-कलह टल नही सका। गाधीजी ने ज्यो ही राष्ट्रभाषा को 'हिन्दुस्तानी' कहना शुरू किया, उर्दू वाले और हिन्दी वाले दोनो बिगड़ गए। उर्दू वालो ने चिल्लाना शुरू किया कि हिन्दुस्तानी की आड़ मे उर्दू को दबाने की यह सारी साजिश है। हिन्दी वालों ने हा-हाकार मचाया कि हिन्दुस्तानी की आड़ मे हम पर उर्दू को थोपने का यह सारा प्रयास है। हिन्दू कहने लगे, 'उर्दू भले ही इस देश की एक साम्प्रदायिक भाषा बनकर रहे। हम उसे मिटाना नही चाहते। उल्टे, उसकी उन्नति मे मदद करने के लिए भी हम तैयार है। पर किसी भी हालत मे हम उसे राष्ट्रभाषा बनने नही देगे।' मुसलमान कहने लगे, हम इस देश के राजकर्ता थे, तब हमारी राजभाषा थी फारसी और धर्मभाषा थी अरबी। हम चाहते तो दोनो भाषाए वैसी ही रहने देते और बेशक हिन्दू दोनो भाषाएं पढ़ते। हिन्दू पढते भी थे। आज भी इन दोनो भाषाओ के निष्णात हिन्दुओ मे पाए जाते है। पर हमने ही इन दोनो भाषाओ का आग्रह छोड़ दिया और एक स्थानिक भाषा को—खड़ी बोली को—अपनी भाषा मानकर उसका विकास किया। उसमे अरबी-फारसी शब्दो का आना स्वाभाविक था। क्या वह मराठी, गुजराती, बगला

---

1. सबकी बोली : दिसम्बर 1940

भाषाओं मे नही है ? फिर वह खडी बोली मे आए तो किसी को क्या एतराज हो सकता है ? हमने यह स्थानिक भाषा अपनाई उसके लिए उस समय की अन्तर-राष्ट्रीय लिपि चलाई। यह लिपि मध्य एशिया, उत्तर अफ्रीका और दक्षिण यूरोप मे फैली हुई थी। राष्ट्रीयता के लिए हमने इतना समझौता किया। गाधीजी ने जब कौमी जबान की बात चलाई, हममे से कईयो ने उर्दू को सादा और घरेलू बनाने की कोशिश शुरू कर दी। मौ० सैयद सुलेमान नदवी जैसे लेखक, जिनकी सारी उम्र अरबी किताबे पढने गुजरी है, उन्होने भी बडे जोश के साथ अपनी भाषा को सादा बनाने की कोशिश शुरू कर दी। अब क्या हिन्दुस्तानी की आड मे आप हम पर हिन्दी थोपना चाहते है ? हम यह हरगिज मजूर नही करेगे।

जब वहम बढ जाते है, ठडे दिमाग मे सोचने की शक्ति ही कुण्ठित हो जाती है और अबुद्धि का ही राज चलने लगता है। राष्ट्रभाषा प्रचार-कार्य मे यह अबुद्धि का राज लगातार चलता रहा। काका साहब दोनो को समझाते रहे कि इस वक्त तो हम नागरी और उर्दू दोनो लिपियो को चलने देगे, उसी तरह हिन्दी और उर्दू दोनो शैलियो की समन्न शब्दावली को मजूर करेगे। राष्ट्रभाषा मे दोनो के लिए स्थान है। हम उसे हिन्दी भी कहेगे, हिन्दुस्तानी भी कहेगे। क्योकि दोनो की हमारी व्याख्या एक ही है।

पर लोग सुने तब न ? हमारा दुर्भाग्य यह रहा कि देश मे ऐसे दो दल पैदा हो गए थे, जो एकता के हर प्रयास का विरोध करने आए थे। कभी-कभी मन मे आता था, राष्ट्रीय एकता के लिए हम जो प्रयत्न कर रहे है, उसमे अगर झगडे ही पैदा होते हो तो यह आन्दोलन हम चलाए ही क्यो ? गुलाम रहकर ही जो शात रहना चाहते है, उनके लिए अग्रेजी ही राष्ट्रभाषा अच्छी है। क्योकि उनके लिए गुलामी ही राष्ट्रीय एकता का एकमात्र साधन है। पर गाधीजी मे कभी यह निराशा नही आई। वे तो 'राष्ट्रप्रेम का निश्चय ही यह तकाजा है', कहकर लोगो को दोनो लिपिया और दोनो शैलिया सीखने के लिए प्रोत्साहित करते रहे और बावजूद नाम के इस झगड़े के दक्षिण के चारो ओर पूर्व पश्चिम से आठो प्रान्तो मे हजारों लोग हर साल हिन्दुस्तानी, दोनों लिपियो मे और दोनो शैलियों मे पढ़ते रहे।[1]

1. लेखक के साथ बातचीत से।

वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का हिन्दी साहित्य सम्मेलन से केवल वैधा निक सम्बन्ध था। प्रचार करना, सगठन करना, अलग-अलग स्थानो पर परीक्षा केन्द्र खोलना, परीक्षाए चलाना, यह सारा काम गाधीजी, काका साहब, राजेन्द्रबाबू या इन्ही के साथी करते आए थे। पैसे इक्ट्ठा करने का काम ज्यादातर जमना-लालजी करते थे। सम्मेलन की एक पाई भी इसमे खर्च नही हुई थी। सम्मेलन से किसी भी प्रकार की मदद नही मिली थी। अब सम्मेलन ने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के कामो मे दखल देना शुरू कर दिया। 'हिन्दुस्तानी' शब्द पर उसके नेता आपत्ति उठाने लगे। राष्ट्रभाषा के लिए हिन्दी शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए, परीक्षाओ के लिए जो पुस्तके नियत की जाती है, उनमे जहा तक हो सके, उर्द शब्द आने नही देने चाहिए, इस तरह का आग्रह उन्होने शुरू कर दिया। इतना ही नही, एक नेता की धृष्टता अविवेक की इस हद तक पहुच गई कि उन्होने 'हिन्दी शब्द-सागर' की एक प्रति काका साहब के पास भेज कर और उसमे लाल-नीली पेंसिल से निशान लगाकर राष्ट्रभाषा मे किन शब्दो का प्रयोग होना चाहिए और किन शब्दो का नही, इस विषय मे उनका मार्गदर्शन करने की भी कोशिश की।

> और तो और इन लोगो ने कई मनगढन्त किस्से बनाकर गाधीजी की और मेरी हिन्दी की हसी-मजाक करने का भी धन्धा शुरू कर दिया था। किसी दु खद घटना का जिक्र करते हुए गाधीजी ने कहा होगा, 'यह कैसी दिल को चोट लगाने वाली बात है।' इसको विकृत करके ये लोग कहने लगे कि गाधीजी ने कहा, यह कैसी 'दिल्लगी' की बात है! गाधीजी हिन्दी के पडित नही थे न ही उन्होने किसी पडित के पास बैठकर बाकायदा हिन्दी सीखी थी। वे तो बातचीत करते करते ही हिन्दी बोलने लगे थे। जिन्होने हिन्दी की इतनी बडी सेवा की उनकी 'दिल्लगी' करने मे इन लोगो को शर्म महसूस नही हुई। मेरे बारे मे भी वे तरह-तरह के किस्से फैलाने लगे। कहने लगे कि मैने किसी जगह महिलाओ की सभा मे कहा, 'देवियो, मै तो आप पर आशिक हो गया हू।' मै भी हिन्दी का पडित नही हू। मेरी भाषा मराठी है और मराठी और हिन्दी दोनो भाषाए इतनी दूर की नही है कि मै आशिक शब्द का मतलब ही न समझ सकू। मराठी मे आशिक शब्द का प्रयोग कामुकता या लम्पटता के अर्थ मे किया जाता है। मेरे मुह से ऐसा शब्द कभी

निकल ही नही सकता। पर ये लोग मेरा जिक्र ऐसी आधा तीतर और आधा बटेर वाली भाषा के प्रचारक के रूप मे करने लगे।[1]

ऐसा ही एक 'बादशाह राम' और 'बेगम सीता' वाला किस्सा इन लोगो ने फैलाया था। राष्ट्रभाषा के इतिहास मे यह एक बड़ा महत्त्व का अध्याय है। युक्त प्रात मे और बिहार मे काग्रेस सरकारो की स्थापना हुई थी। युक्त प्रान्त मे डा० सम्पूर्णानन्द जी शिक्षा मन्त्री थे, तो बिहार मे डा० सैयद महमूद। दोनो राष्ट्रीय वृत्ति के थे। पर, एक जन्म से हिन्दू थे और दूसरे मुसलमान। दोनो का यही 'अपराध' था। दोनो ने राष्ट्रभाषा की बुनियाद डालने का प्रयत्न किया। पर सम्पूर्णानन्द जी ने इस विषय मे जो-कुछ किया वह मुसलमानो को पसन्द नही आया। और डा० महमूद ने जो किया, वह हिन्दुओ को पसन्द नही आया। डा० महमूद के मन मे आया कि प्रौढ लोगो के लिए ऐसी छोटी-छोटी पुस्तक निकाली जाए, जिनकी भाषा टकसाली हिन्दुस्तानी हो और जो एक-एक पैसे मे बेची जा सके। एक प्रकाशक ने यह बीडा उठाया। हमारे देश मे बडो की खुशामद करने का तरीका बहुत पुराना है, इस राष्ट्रीय स्वभाव के अनुसार उस प्रकाशक ने 'महमूद सीरिज' नाम की एक ग्रन्थ-माला शुरू की। लाखो पुस्तके छापी और बिक भी गई। इनमे एक पुस्तक रामायण के बारे मे थी, वह भी हिन्दुस्तानी मे लिखी गई थी। काका साहब को किसी ने बताया कि इस पुस्तक मे वशिष्ठ को 'बादशाह' दशरथ के बच्चो का 'उस्ताद' बताया गया है और सीता को 'बादशाह राम की 'बेगम' बताया है। हिन्दू धर्म पर यह कितना बडा सकट आ गया था ' काका साहब कहते है

जहा भी मै गया, हिन्दुस्तानी का नाम लेते ही मेरे सामने लोग बेगम सीता की तोप दागने लगे। काका साहब बिहार गए और डा० महमूद से मिलकर उनसे कहा, डा० आपने तो हमारा सारा काम चौपट कर डाला। क्या सीता देवी को 'बेगम सीता' कहना आपको पसन्द है ?

डाक्टर साहब ने चुनौती देकर कहा, 'मुझे पुस्तक की एक नकल लाकर दिखाइए, जिसमे सीता देवी को बेगम बताया गया है। मै मन्त्रीपद से इस्तीफा दे दूगा।'

1. लेखक के साथ बातचीत से।

'तो क्या ऐसी पुस्तक ही नहीं निकली ?'

'नहीं ।'

काका साहब 'महमूद सिरीज' के प्रकाशक के पास गए। उन्होंने कहा, 'यह तो युक्त प्रांत के प्रकाशकों ने हंगामा मचाया है। इससे पहले बिहार का बाजार उनके हाथों में था, अब वह हमारे हाथ में आ गया है। इसलिए वे हमसे जल-भुन रहे हैं और इस तरह की मनगढ़न्त बातें फैला रहे है।'

> बेगम सीता वाली कोई पुस्तक मुझे बिहार में कहीं पर भी नही मिली। युक्त प्रान्त मे गया, लोगों ने जब मुझ पर यह तोप दागी, तो मैंने कहा, बिहार में ऐसी कोई पुस्तक ही प्रकाशित नही हुई है। तो वे कहने लगे, 'अजी आप क्या जानें, हमने शोर मचाया तब सबकी सब प्रतियां वापस लेकर जला दी गई।' अब ऐसे लोगों का क्या किया जाए ? एक जगह सभा में मुझ से किसी ने पूछा, क्या आप सीता को बेगम कहना पसन्द करते है ? मैंने कहा, कोई कहे तो मैं बिगड़ नही बैठूंगा। क्या पिछले सौ डेढ़-सौ बरसो मे हम अंग्रेजी रीडरों में सीता को 'क्वीन सीता' कहते नही पढ़ा है ? बस, मुझे भी उसी गुनाह में शरीक किया गया और मेरे खिलाफ भी हो-हल्ला शुरू हो गया। ऐसी गलतफहमियां फैलाई जाती थी।[1]

इधर डा० धीरेन्द्र वर्मा जैसे हिन्दी के बडे जागरूक और दक्ष संरक्षक कहने लगे, 'हिन्दी जैसी है वैसी ही अगर राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती तो आप अपनी अलग एक राष्ट्रभाषा बनाइए। हम अपनी हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनने के लोभ में, बिगाड़ना पसन्द नही करेंगे। भले ही हमारी हिन्दी राष्ट्रभाषा न बन सके। हमारी हिन्दी, हिन्दी ही बनी रहे, इसी की हमें चिन्ता है। वे हिन्दी की सत्वरक्षा के लिए मनचाहा मूल्य देने के लिए तैयार थे। इस पृष्ठभूमि मे सन् 1940 के अन्त में पूना में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का उनतीसवा अधिवेशन बुलाया गया। उन दिनों राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की महाराष्ट्र शाखा पूना में काम करती थी और शंकरराव देव इसके अध्यक्ष थे। काका साहब ने उन्हें चेतावनी दी और कहा, महाराष्ट्र में हिन्दुत्ववादी शक्तियां काफी कार्यरत हैं। आपको सावधानी से काम करना होगा। अपनी समिति को ही स्वागत समिति में परिवर्तित कर डालिए और आप स्वागताध्यक्ष बनिए। सारी झंझटों से आप बच जाएंगें।

---

1. लेखक के साथ बातचीत से।

शंकररावजी ने काका साहब की सलाह जिस गम्भीरता में लेनी चाहिए थी, नहीं ली। परिणाम वही हुआ, जिसकी काका साहब को आशंका थी। हिन्दुस्तानी के विरोधियों ने वहा अपना बहुमत बनाया और स्वागताध्यक्ष के रूप में शंकरराव जी के बदले ग० र० वैशंपायनजी को चुन लिया। सारी स्वागत समिति उन्ही के पक्ष की बनी और सम्मेलन की बागडोर वैशंपायनजी और उनके साथियों के हाथ में आ गई। इस अकल्पित घटना से टण्डन जी भी चौक गए। पर वे लोकतांत्रिक पद्धति की अवगणना तो नही कर सकते थे। यह बात अब निश्चित हो गई थी कि राष्ट्रभाषा की गाधीजी ने जो व्याख्या की थी वह अब सम्मेलन की नियमावलि से हटाई जाएगी। पर टण्डन जी की मध्यस्थता से वह हटाई नहीं गई, उसमें कुछ बदल कर दिया गया। गाधीजी की व्याख्या थी : 'हिन्दी वह है, जो नागरी या फारसी दोनो लिपियों में लिखी जाती है।' सम्मेलन में जो फेर-बदल किया गया वह यह था : 'जो मुख्यतया नागरी में और कही-कही फारसी लिपि में लिखी जाती है।'

यह बहुत बड़ा मूलगामी परिवर्तन था। इस परिवर्तन के साथ टण्डन जी में भी परिवर्तन हो गया।

काका साहब ने उनसे कहा, 'इतना मौलिक और बुनियादी विरोध हो तो हमारी राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की प्रवृत्ति सम्मेलन के हाथ मे नही रखी जा सकती। उसको सम्मेलन से स्वतन्त्र करना होगा।'

टण्डनजी ने जवाब दिया, 'सारी प्रवृत्ति आप ही ने सगठित की है। आप और गाधीजी चाहे तो पूरी प्रवृत्ति को सम्मेलन से अलग कर दें। उसे मैं सहन कर लूगा। किन्तु गांधीजी की हिन्दुस्तानी को अब हम स्वीकार नही कर सकेंगे।'

काका साहब ने गाधीजी से कहा, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के माध्यम से हमने आठ प्रान्तों मे जो सगठन किया है, वह बड़ी मेहनत से पैदा किया हुआ सगठन है इसे सबसे पहले सम्मेलन से स्वतन्त्र कर डालिए। टण्डनजी इसके लिए अनुकूल है। 'पर गाधीजी ने न तो मेरी बात मानी, न मुझे कोई दलील दी।

जहाँ तक हो सके, सम्मेलन को साथ में लेकर ही वे आगे बढ़ना चाहते थे। इसलिए उन्होंने टंडनजी से पत्र-व्यवहार शुरू किया और हिन्दुस्तानी नाम का ही आग्रह कायम रखा। परिणाम, जो होना था वही हुआ। अगले वर्ष अबोहर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का तीसवा अधिवेशन हुआ। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति

और सम्मेलन के बीच जो अन्तर बढ़ गया था, वह पाटने के इरादे से गांधीजी ने सम्मेलन के अध्यक्ष के लिए राजेन्द्रबाबू का नाम सुझाया। राजेन्द्रबाबू अगर चुनकर आते तो सम्भवतः दोनो संस्थाओं के बीच एकात्मकता कायम रह पाती। पर 'विशुद्ध' हिन्दी वालों ने राजेन्द्रबाबू को चुनाव में हराकर डा० अमरनाथ झा को अध्यक्ष के रूप में चुन लिया। इसके बाद सम्मेलन के अधिवेशन मे राष्ट्रभाषा के बारे मे एक प्रस्ताव स्वयं टंडनजी ने पेश किया, जिसमे कहा गया :

> वास्तव मे उर्दू भी हिन्दी से उत्पन्न अरबी-फारसी मिश्रित हिन्दी का हां एक रूप है। हिन्दी शब्द के भीतर ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू का समावेश है। किन्तु उर्दू की साहित्यिक शैली, जो थोड़े-मे आदमियों में सीमित है, हिन्दी से इस समय इतनी विभिन्न हो गई है कि उसकी पृथक स्थिति सम्मेलन स्वीकार करता है और उसे हिन्दी की शैली से भिन्न मानता है।... हिन्दुस्तानी शब्द का प्रयोग मुख्यतः इसलिए हुआ करता है कि वह देशी शब्द व्यवहार से प्रभावित हिन्दी शैली, तथा अरबी-फारसी शैली से प्रभावित उर्दू शैली दोनो का एक शब्द से एक समय मे निर्देश करे।...कुछ लोग इस शब्द का प्रयोग उस प्रकार की भाषा के लिए करते हैं, जिसमे हिन्दी और उर्दू शैलियों का मिश्रण हो।...इस विषय में सम्मेलन का कोई विरोध नही है। किन्तु सम्मेलन साहित्यिक और राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से अपने और अपनी समितियों के काम मे हिन्दी शैली का और उसके लिए हिन्दी शब्द का ही व्यवहार और प्रचार करता है।[1]

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति अभी सम्मेलन मे अलग नही हुई थी। अतः उसके लिए यह प्रस्ताव बधनकारक था। अबोहर सम्मेलन के बाद टंडनजी जो राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति को सम्मेलन से स्वतन्त्र करने के बारे में काका साहब के साथ सहमत हो गये थे, अब एक नया प्रस्ताव गांधीजी के सामने लेकर आए और कहने लगे : सम्मेलन का नाम लेकर आपने जो वर्धा समिति चलाई है, वह समिति, उसका कार्य, उसकी जायदाद, उसका फंड, सब-कुछ अब सम्मेलन के सुपुर्द कर दीजिए।

गांधीजी इंकार नहीं कर सके। उन्होंने सब-कुछ टंडनजी को सौंप दिया और

1. बा-बापू की गोद में : अमृतलाल नानावटी।

खुद राष्ट्रभाषा प्रचार समिति से अलग हो गए। उनके अलग होते ही राजेन्द्रबाबू, जमनालालजी, काका साहब सभी उससे अलग हो गए। अपनी दृष्टि से राष्ट्र-भाषा-प्रचार का कार्य करने के लिए गांधीजी ने 1942 के मई महीने मे 'हिन्दुस्तानी प्रचार सभा' नामक एक नई संस्था की स्थापना की, जिसके राजेन्द्रबाबू अध्यक्ष और खुद गाधीजी उपाध्यक्ष बने। श्रीमन्नारायण इसके मत्री बनाए गए। उसके सस्थापक सदस्यो मे काका साहब, जवाहरलाल, मौलाना आजाद, राजकुमारी अमृतकौर, डा० ताराचद, प० सुन्दरलाल आदि कई मान्यवर सज्जन थे। पर यह नई संस्था अपने काम को व्यवस्थित रूप दे सके, इसके पहले ही अगस्त 1942 मे 'भारत छोड़ो' आन्दोलन शुरू हो गया और देश के सभी छोटे-बडे राष्ट्रीय नेता और कार्यकर्त्ता जेल पहुच गए। काका साहब भी जेल पहुच गए।

अगस्त आन्दोलन में

काका साहब ने अब तक राष्ट्र-सगठन के कई काम किए थे, पर वह मूलतः एक स्वतत्रता सेनानी थे। जितनी प्रवृत्तियों मे अब तक उन्होने अपनी शक्ति खर्च की थी, वह देश को स्वतत्रता की ओर ले जाती है, यह विश्वास अगर उन्हे न होता तो वह सम्भवतः अपनी शक्ति उनमे खर्च ही न करते।

ज्ञान-मात्र मेरा क्षेत्र है, यह उनका एक जीवन-सूत्र था। पर ज्ञान के लिए ज्ञान मे या जो ज्ञान हमे स्वतत्रता की ओर नही ले जाता, उसमे उन्हे कोई रुचि नही थी।

उनमे जो स्वतंत्रता सेनानी था, उसको गाधीजी के सम्पर्क में काफी पोषण मिलता था और इस समय वह परिपक्व होकर सोचता-विचरता था।

1 सितम्बर 1939 को जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण किया। उसके दो दिन बाद इग्लैड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। इसी दिन दूसरे विश्वयुद्ध का आरम्भ हुआ और भारत उसमे उसकी इच्छा के विरुद्ध घसीटा गया। गाधीजी की अहिंसा के लिए यह एक बहुत बड़ी चुनौती थी।

उन्होने अहिंसा का प्रयोग पहले दक्षिण अफ्रीका में करके देखा था और सन् 1915 से जब वह भारत लौट आए, देश की आजादी के प्रयत्नों में भी इसे प्रयुक्त

करके देखा था। बरसों के इन प्रयत्नों से अहिंसा की जो एक शैली उनके मन में परिणत हुई थी, उसमें चिंतन, मनन, प्रयोग और अनुभव के कारण उनका विश्वास दृढ़ होता गया था और वह आत्मविश्वास से कहने लगे थे कि अहिंसा से न केवल आजादी की प्राप्ति की जा सकती है, वलिक अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र की जटिल-से-जटिल समस्याएं भी सफलतापूर्वक हल की जा सकती है।

जो युद्ध अब शुरू हुआ, उसने उनको इसके उद्‌गायन के लिए एक सुनहरा अवसर उपलब्ध करा दिया। विदेशी आक्रमण से भयभीत देशों को वह अधिकार के साथ कहने लगे : आप सब—देश के सभी बालक, बूढ़े, जवान—आक्रमण-कारियों को साफ कह दें कि हम आपका प्रतिकार फौज से नहीं करेंगे। पर आपके सामने घुटने भी नहीं टेकेंगे। हम आपको किसी तरह का सहयोग नहीं देंगे, भले ही आप हमे कुचल डालें। आपको हमारी लाशों पर चलकर ही विजय प्राप्त करनी होगी।

ये भयभीत देश पुराने तरीकों से अपना सैन्य-बल बढ़ाकर या शस्त्रसज्जित देशों का सरक्षण लेकर आक्रमणकारियों का सामना करते थे। गांधीजी उन्हें कहते थे, 'नही, यह तरीका असफल हो चुका है। आप अहिंसात्मक प्रतिरोध से आत्मरक्षा करें। हो सकता है, आप सब मर जाएं। यों भी आप मरने के रास्ते पर ही चल रहे है। अगर मरना ही है तो बलिदान देकर मरें, शिकार होकर नहीं।'

विचारों में काका साहब गाधीजी से न केवल सहमत थे, बल्कि उनके साथ एकरूप हो गए थे। अहिंसा अब उनके लिए केवल गाधीजी से ली हुई दृष्टि नहीं थी, बलिक उनकी अपनी श्रद्धा बन गई थी। जब हिंसा का ताडव चारों ओर चल रहा हो, अहिंसा को हिंसा के मुख में इस तरह झोंक देना चाहिए, जिससे हिंसा की भूख शात हो जाए, वह इस विचार के हो गए थे। वह कहते थे, 'इसका एक ही उपाय है, पवित्रतम बलिदान।' 'सर्वोदय' में, जो गांधी सेवा संघ का मुखपत्र था और जिसके वे सम्पादक थे, वह इसी विषय पर लेख के बाद लेख लिखने लग गए थे।

दुर्भाग्यवशात ठीक इसी समय कांग्रेस ने, जिसने अब तक गांधीजी का साथ दिया था, हिम्मत हार दी। गांधीजी के साथ बलिदान की हद तक जाने के लिए वह तैयार नहीं थी। मौ० आजाद के शब्दों में कांग्रेस एक राजनीतिक संगठन था।

उसने अहिंसा को श्रद्धा के रूप में नही, बल्कि एक पालिसी के रूप मे स्वीकार किया था। जवाहरलालजी भी इसी विचार के थे। उन्होंने तो अहिंसा को केवल एक कार्यसाधक व्यावहारिक उपाय के रूप मे ही स्वीकार किया था। अहिंसा-दर्शन मे उनकी कोई श्रद्धा नही थी। अतर्राष्ट्रीय मम्मलों मे काग्रेस के वे सर्वश्रेष्ठ प्रवक्ता थे और विचारों मे कट्टर फासिस्टवाद विरोधी थे। अतः भारत की आजादी के लिए हिटलर, मुसोलिनी जैसे तानाशाहो से सौदा करने की बात तो दरकिनार, किसी तरह का समझौता करने के लिए भी वे तैयार नही थे। प्रस्तुत युद्ध मे उनकी सहानुभूति पूरी इंग्लैंड के साथ थी। वे इग्लैंड को हर तरह की सहायता देने के लिए भी इच्छुक थे, पर उनकी एक बड़ी कठिनाई थी। खुद उनका देश गुलामी की जजीरों मे जकड़ा हुआ था। वे दूरवर्ती पोलैंड या चेकोस्लोवाकिया की आजादी के लिए कैसे लड़ सकते थे? वे कहते थे, भारत को इसी वक्त आजादी दे दी जाए। आजाद भारत बराबरी के नाते इंग्लैंड की मदद करेगा। अधिकाश काग्रेसी नेता जवाहरलालजी के साथ थे।

इस पृष्ठभूमि मे काग्रेस कार्यकारी समिति ने युद्ध के प्रति अपना रुख स्पष्ट कर दिया था। उसने घोषित किया कि मित्र राष्ट्रो के प्रति भारत को पूर्ण सहानुभूति है। फासिस्टवाद के खिलाफ लडे जा रहे युद्ध मे मित्र राष्ट्रो को फौजी मदद करने के लिए भारत तत्पर है, बशर्ते कि जिस स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए लड़ाई लडी जा रही है, वह स्वतन्त्रता भारत को पहले दे दी जाए। काका साहब कहते हैं :

> गांधीजी के नेतृत्व मे काग्रेस का रथ, जो अब तक जमीन से चार अंगुल ऊपर चल रहा था, अहिंसा की मर्यादा को स्वीकार करते ही, जमीन पर आ गया।...व्यवहार हजार बार परास्त होने पर भी अपने आपको सफल ही समझता है।...काग्रेस ने बता दिया कि अहिंसा पर निष्ठा होते हुए भी, उस रास्ते चलने की उसकी हिम्मत नही है। अहिंसा का अमोघ शस्त्र धारण करने की शक्ति न होने से जो शस्त्र निकम्मा साबित हो चुका है, उसी का सहारा लेकर चलने का निश्चय अब कांग्रेस ने किया।

जब सारी दुनिया पागल हो गई थी, भारत अपना दिमाग ठिकाने रख सकता था और अपनी प्रज्ञा संभालकर दुनिया को भी संभाल सकता था। पर इसके

लिए जो श्रद्धा आवश्यक थी, उसी का ऐन मौके पर कांग्रेस में अभाव दिखाई दिया। काका साहब को यह देखकर बड़ा दुःख हुआ। वे पूछते रहे, 'क्या कांग्रेस ने अहिंसा का चमत्कार नहीं देखा था? अमृतसर हत्याकांड के बाद देश में जो अभूतपूर्व जागृति दिखाई दी थी, वह कैसे सिद्ध हुई थी? दांडी-कूच के पन्द्रह दिनों मे ही भारत ने जो युग-परिवर्तन कर दिखाया था, वह कैसे सम्भव हो सका था? सन् 1919 से लेकर आज तक के वर्षों में देश ने जो प्रगति की थी, वह केवल इस देश के इतिहास में ही नही, बल्कि दुनिया के इतिहास में बेमिसाल है। इस प्रगति की बुनियाद मे कौन-से तत्त्व थे, कौन-सी शक्तियां थीं, कौन-सी प्रेरणाएं थी, जिनके कारण हम इस मृतवत् देश मे प्राण का सचार कर सके, उसमें आत्म-विश्वास और सामर्थ्य पैदा कर सके। क्या यह सारा अहिंसा का प्रताप नहीं था? अब तो केवल धीरज का सवाल था। ठीक ऐसे समय पर हम अपनी श्रद्धा कैसे खो बैठे? क्या हम डर गए? या किसी लालच में आ गए?'

काग्रेस जैसे-जैसे परिस्थिति से समझौता करती गई, काका साहब की अहिंसा-सम्बन्धी श्रद्धा वैसे-वैसे अधिकाधिक दृढ़ होती गई। सितम्बर 1939 से लेकर अगस्त 1942 तक के समय में वे मानो किसी मसीहा की तरह बलिदान की अमोधता पर बोलते-लिखते रहे। वे यह महसूस करने लगे थे कि गांधीजी इस देश में अहिंसा का और एक बड़ा प्रयोग करने जा रहे हैं—जो सम्भवत· उनका सबसे बढ़िया प्रयोग सिद्ध हो सकता है। उसके लिए अपने प्रभाव की दुनिया को तैयार करना उन्होंने अपना मिशन माना था। उन दिनों उन्होंने इस विषय पर जो-कुछ लिखा, वह प्रासंगिक होते हुए भी अत्यन्त मौलिक है। अहिंसा के वैज्ञानिक विवरण की दृष्टि से यह साहित्य आज भी उतना ही संगत है, जितना उन दिनों था। वह स्पष्ट कहते थे कि अगर इस देश पर हिटलर का आक्रमण हुआ तो हिंसक तरीकों से हम देश की रक्षा कदापि नहीं कर सकेंगे। उस समय अगर काम आएगी तो गांधीजी की अहिंसा ही काम आएगी, इसके अलावा ओर कोई पद्धति नहीं।

उन दिनों लिखे हुए 'मृत्यु' विषयक उनके लेख हमारा सबसे अधिक ध्यान खींचते हैं। मृत्यु का रहस्य समझने की जो स्वाभाविक जिज्ञासा मनुष्य में होती है, उसे तृप्त करने के लिए ये लेख नहीं लिखे गए, बल्कि बलिदान की तैयारी में

जो सबसे बाधक हमारी पामर जिजीविषा है, उससे ऊपर उठकर परमोच्च आत्मोत्सर्ग के लिए लोगों को तैयार करने के लिए लिखे गए थे।

व्यावहारिक राजनीति के स्तर पर उतरते ही धीरे-धीरे कांग्रेस की कसौटी भी शुरू हो गई। अहिसा हमारी पालिसी है, श्रद्धा नही, कह कर वह अपने पहले मंच से नीचे उतर कर आई। उसी सीढ़ी पर खड़े रहकर वह इंग्लैड को कहने लगी, पहले हमें आजादी दीजिए, बाद मे हम आपकी मदद करेंगे। पर जब 1940 की गर्मियो में हिटलर ने सारा पश्चिमी यूरोप रौद डाला और इंग्लैंड हारा तो हिटलर को भूमध्य सागर के रास्ते भारत में घुस आने से दुनिया की कोई ताकत रोक नही सकेगी यह डर पैदा हुआ, तब कांग्रेसी नेता अपने मंच से और एक सीढ़ी नीचे उतर आए और कहने लगे, ठीक है, तुरंत आजादी की माग हम छोड़ देते है, युद्ध के बाद आजादी देने की घोषणा करें, हम सरकार से सहयोग करेंगे।

फिर भी सरकार ने कोई आश्वासन नही दिया। कांग्रेस के इस स्खलन से गाधीजी को बड़ा दुःख हुआ। पर वे खामोश भी बैठना नही चाहते थे। उन्होने कहा कि सरकार ने भारत को उसकी मर्जी के खिलाफ ऐसे एक युद्ध मे घसीटा है, जिसके संचालन मे उसका कोई हाथ नही है। इसके विरुद्ध हम अपना पहले असन्तोष प्रकट करेगे। फलस्वरूप उन्होने व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ कर दिया। 17 अक्तूबर 1940 से 15 मई 1941 तक के समय में लगभग पच्चीस हजार सत्याग्रही जेल मे जा पहुचे। हर एक सत्याग्रही का चुनाव स्वय गाधीजी ने किया था।

जब जापान ने युद्ध में प्रवेश किया, महायुद्ध भारत के दरवाजे तक आ पहुचा। सिंगापुर, जावा, सुमात्रा, रोंदकर जापान ने 7 मार्च 1942 को रंगून अपने कब्जे में ले लिया। तब जापान की सेनाओं के सामने अंग्रेजों की फौजे पीछे हटने लगी। सैनिक-असैनिक सभी यूरोपीय घबराकर इधर-उधर भागने लगे, तभी चर्चिल साहब—वही चर्चिल साहब जिन्होने कुछ समय पहले बड़ी रूखाई से यह ऐलान किया था कि वह ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री इसलिए नहीं बने हैं कि वे अंग्रेजी साम्राज्य को अपने हाथ से मिटा दें, अब कांग्रेसी नेताओं से बातचीत के लिए तैयार हो गए। उन्होंने सर स्टेफर्ड क्रिप्स को एक प्रस्ताव के साथ दिल्ली भेजा। यह प्रस्ताव स्वीकार करने योग्य कतई नहीं था, क्योंकि उसमें भारत की स्वतन्त्रता के साथ-साथ केवल एक पाकिस्तान नहीं, बल्कि बीसियों अलग-अलग

स्वतन्त्र राज्यों में भारत को विभाजित करने की व्यवस्था कर दी गई थी। इसलिए क्रिप्स को खाली हाथ वापस लौट जाना पड़ा। अब यह साफ हो गया था कि सरकार न भारत का संरक्षण कर सकती है, न लोगों को शस्त्रास्त्र देना चाहती है, न ही आत्मरक्षा की कोई तालीम देना चाहती है। भारत भारतीयों को सौंपने के बजाय जापानियों को सौंपने की सरकार तैयारी कर रही है। फिर भी कांग्रेस अन्धेरे में टटोलती रही। गांधीजी ने कांग्रेसी नेताओं को कहा कि 'भई, बहुत हो गया। इस अवसर पर आपने अगर लोगों को ठीक रास्ता नहीं दिखाया तो भारत के लोग जापानियों का मुक्तिदाता के रूप मे स्वागत करने के लिए उद्यत हो जाएंगे और हम अंग्रेजों की दासता से तो मुक्त हो जाएंगे, पर बदले में जापानियों की दासता मोल ले लेंगे। जापानियों को रोकने का एक ही रास्ता है। भारत से अंग्रेजी राज तुरन्त ही खत्म हो जाना चाहिए। अगर अंग्रेज अपने आप न हटें तो सविनय अवज्ञा शुरू करके उनको जाने के लिए बाध्य कर देना चाहिए। आजाद भारत ही जापानियों से मोर्चा ले सकेगा। अब हिचकिचाहट छोड़ दीजिए और मेरे साथ हो लीजिए। फिर भी कांग्रेस के नेताओं की हिचकिचाहट दूर नहीं हुई। उन्हें यह डर था कि हम यहां अंग्रेजों को भगाने के लिए सत्याग्रह करेंगे तो चीन, रूस और अमरीका की सहानुभूति खो बैठेंगे। गांधीजी ने अन्त में उनसे कहा, ठीक है आप भले ही कोई मुझे साथ न दे, मैं अकेला यह कार्यक्रम अपनी जिम्मेदारी से कार्यान्वित करूंगा।

काफी लम्बी बहस के बाद कांग्रेस गांधीजी के रास्ते पर चलने के लिए तैयार हुई। काका साहब इन दो-ढाई वर्षों में पूरी तरह गाधीजी के साथ थे और उनका सन्देश देश में जगह-जगह पहुंचाने में दिन-रात लगे रहते थे। सन् 1922 या 1930 में जिस उत्साह से वह काम करते थे, उससे दुगुने उत्साह से वे अब काम करने लगे थे।

अन्तिम निर्णय लेने के लिए 7 अगस्त को कांग्रेस महासमिति की बैठक बम्बई में बुलाई गई। सात और 8 दो दिन की काफी चर्चा के बाद 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास हुआ। काका साहब उस दिन बम्बई में थे। वे कहते हैं :

> गोवालिया टेंक की सभा में जाने से पहले मैं बापूजी से मिलने बिड़ला हाउस गया। मुझे और एक पास की जरूरत थी। वहां महादेवभाई से भेंट हुई। उन्होंने कहा, पास तो आपको मिल जाएगा, पर आप जाने की जल्दी

मत करें। आज की सभा बापूजी की जिन्दगी मे सबसे महत्त्व की है। इस-लिए प्रार्थना करके ही निकलने का उनका सकल्प है। सौभाग्य की बात है कि आप इस समय यहा उपस्थित हैं। हम साथ बैठकर प्रार्थना करेगे। मै रुक गया। उस दिन का स्मरण करता हू तो आज भी धन्यता का अनुभव करता हू। बापूजी जब तैयार हुए, हम प्रार्थना मे बैठ गए। 'वैष्णव जन तो तेने कहिए' के स्वरो से शुरू मे ही वातावरण गूज गया। बापूजी के चेहरे पर ईश्वर निष्ठा, दृढता और नम्रता का सात्विक तेज झलक रहा था। प्रार्थना पूरी होते ही बापूजी निकल पडे। तब मैने महादेवभाई से कहा, 'इस प्रार्थना मे उपस्थित रह सका यह कोई साधारण बात नही है।' बापूजी अपनी मोटर मे गए। मैं अपनी मोटर मे जा बैठा। महादेव भाई से मेरी यह आखिरी बातचीत थी। सात दिन के बाद आगाखा महल मे उनका निधन हो गया।...सभा मे बापू का भाषण मैने ध्यानपूर्वक सुना। बापू के कई भाषण मैने इससे पहले सुने थे, पर इतना प्रभावशाली भाषण कभी नही सुना था। हर शब्द मे उनका दृढ निश्चय प्रतीत होता था। भाषण समाप्त होते ही मैं घर लौट आया। मन-ही-मन लडाई की योजनाए बनाई। बापूजी मे इनके सम्बन्ध मे बातचीत करके मै काम मे लगने वाला था। पर दूसरे दिन सुबह ही सुना कि वे गिरफ्तार कर लिए गए है। उसी दिन शाम की ट्रेन से मै वर्धा लौट आया।[1]

गाधीजी की गिरफ्तारी के कारण सारा देश भभक उठा। लोगो ने दूसरे ही दिन अग्रेजो के खिलाफ बगावत का झडा खडा कर दिया। वे विक्षुब्ध और क्रुद्ध हो गए। उन्होने उत्तेजित होकर डाकघर, थाने, अदालते, रेलवे स्टेशन जला दिए। काका साहब यह महसूस करने लगे कि आन्दोलन को अगर अहिंसा की मर्यादा मे रखना हो तो कार्यकर्ताओ के सामने अहिंसक 'तोड़-फोड' की भी एक योजना रखनी चाहिए वरना आन्दोलन उच्छृखलता मे बह आएगा। फिर उस पर किसी का नियन्त्रण नही रहेगा। वह बे-लगाम हो जाएगा। गाधीजी ने कोई सूचनाए नही दी थी, इसलिए—

मैंने किशोरलालभाई और कुमारप्पाजी से लम्बी चर्चा की और इस तोड-फोड के सम्बन्ध मे एक लेख लिखा। लेख मे मैने कहा, मान लीजिए, हमे

1. लेखक के साथ बातचीत से।

सरकार के फौजी संचालन को रोकना है। इस उद्देश्य से अगर हम रेलवे का कोई पुल उड़ा देना चाहते हों, तो अवश्य उड़ा सकते हैं। पर पुल उड़ाने से पहले सरकार को इस सम्बन्ध में सूचना देनी होगी। यह तोड़फोड़ अहिंसा के व्याकरण में बिठाई जा सकती है। महिलाश्रम की लड़कियों ने इस लेख की कई नकलें कीं और वह कार्यकर्ताओं के बीच बांट दीं। किशोरलालभाई और मैंने इसी अर्थ का संयुक्त वक्तव्य भी निकाला था। उस पर हम दोनों के हस्ताक्षर थे। हमारे गिरफ्तार होने के बाद, तोड़फोड़ में लगे हुए कार्यकर्ताओं ने हमारी सूचनाओं में कुछ 'सुधार' किए। जेल में जब इन सुधारों की खबर आई, किशोरलालभाई बड़े दुःखी हुए। उनको लगा कि हमने हिंसा को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने सरकार को पत्र लिखकर अपना खेद प्रकट किया। इससे अरुणा आसफअली बहुत नाराज हुई। उन्होंने जेल मे ही मुझसे किसी के द्वारा पूछवाया, किशोरलालभाई की तरह आप भी तो हमे निराश नहीं करेंगे। मैने जवाब भेजा, मुझे पश्चाताप करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। अहिंसक युद्ध में तोड़फोड़ के लिए स्थान है—बशर्ते कि तोड़फोड़ करने वाले अपना नाम न छुपाएं और गुप्त रूप से कुछ न करें—इस विषय पर तो मैं एक प्रबन्ध ही यहां जेल मे बैठे लिखने की सोच रहा हूं।[1]

काका साहब ज्यादा दिन बाहर नहीं रह सके थे। तोड़फोड़ के समर्थन मे दो तीन लेख लिखवाते ही अगस्त के अन्त में वे गिरफ्तार कर लिए गए थे। अगस्त-आन्दोलन बाहर अपने ढंग से चलता रहा—बे-लगाम, अनियन्त्रित और अनिरुद्ध। फलस्वरूप, उसने हमारे सार्वजनिक जीवन को ही एक अनिष्ट मोड़ दे दिया, जिसके दुष्परिणाम हम अब तक भुगत रहे हैं।

अन्तिम कारावास

जेल पहुंचते ही काका साहब ने सोचा, चलिए, अब की बार अहिंसा के सभी पहलुओं पर एक अच्छा खासा प्रबन्ध ही लिख डालें। 'अहिंसा का युग आ रहा है' इस शीर्षक से दो-तीन लेख लिखवाकर उसका प्रारम्भ भी कर डाला। पर यह काम यही रुक गया, आगें नहीं चल सका।

1. लेखक के साथ बातचीत से।

एक तो यह कि उन्हे एक जेल मे रहने नही दिया। वर्धा, नागपुर, अकोला, जबलपुर, वेलौर और सिवनी—कुल मिलाकर छह जेलो मे घुमाया और दूसरी बात, जेल मे इस विषय मे रुचि रखने वाला उन्हे कोई लिपिक नही मिला। काका साहब हर किसी को सब-कुछ नही लिखवा सकते थे। लिखने वाला यन्त्रवत लिखता रहे तो उनका लिखवाने का उत्साह ही मन्द हो जाता था।

जिन छह जेलो मे उन्हे सरकार ने घुमाया उनमे से तीन जेलो मे—नागपुर, वेलौर और सिवनी मे उनके साथ विनोबा और किशोरलालभाई को भी रखा गया था। विनोबा तो उन्ही के कमरे मे रहते थे। तीनो मे से किशोरलालभाई बावजूद 'गाधी विचार दोहन' के गाधी जी के पीछे-पीछे चलने वालो मे से नही थे। आध्यात्मिक प्रश्नो मे तो उनका गाधीजी से मौलिक दृष्टिभेद भी था। इस क्षेत्र मे वे गाधीजी से अधिक नाथजी के अनुयायी थे। गाधीजी के ही शब्दो मे कहे तो

> उनका मार्ग मुझसे कुछ अलग-सा है। जिस मार्ग पर मै चल रहा हू उसी मार्ग पर वे नही चल रहे है। परन्तु मेरे मार्ग के समानान्तर उनका दूसरा मार्ग है।

फिर भी गाधीजी के विचारो से उनका असाधारण परिचय था। इस सदर्भ मे ही वे गाधी विचार के व्याख्याकार माने जाते थे। काका साहब और विनोबा की बात अलग थी। हालाकि दोनो स्वतत्र प्रज्ञा के थे, फिर भी पिछले पच्चीस वर्षों से वैचारिक भूमिका पर दोनो गाधीजी के साथ ही रहे थे। स्वाभाविक रूप से तीनो के बीच लगातार तीन साल अनेक विषयो पर अखड चर्चाए चलती रही। चर्चा के विषय भी कई थे : गाधीजी की जीवन दृष्टि, अहिसा, सस्कृति, धर्म समन्वय, अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय, भाषा, साहित्य, लिपि—राष्ट्र-जीवन और मानव जीवन से सम्बधित कोई विषय उनसे अछूता नही रहा। विनोबा कहते है

> मै तो कभी-कभी रात के बारह बजे काका साहब को नीद से जगा देता था और जो शका मेरे मन मे उठती थी, उनके सामने रख देता था। वे जवाब देते और फिर मध्य रात्रि मे हमारी चर्चाए चलती रहती।

विनोबा के प्रति काका साहब के मन मे आदर भी था और वात्सल्य भी था। उम्र मे विनोबा उनसे दस साल छोटे भी थे।

काका साहब साहित्य रसिक थे। कहानियों, उपन्यास आदि पढ़ते थे। हिन्दी, मराठी, गुजराती में पिछले कुछ वर्षों मे जो बहुचर्चित उपन्यास प्रकाशित हुए थे, उन्होने जेल में पढ़ने के लिए मंगवा लिए थे। बाहर कामों की व्यस्तता में उन्हे ये उपन्यास पढ़ने के लिए फुरसत नही मिली थी। जेल के शान्त वातावरण में उन्होंने इनके लिए समय निकालना था। विनोबा को यह देखकर आश्चर्य होता था और वे पूछ बैठते, आप ये उपन्याम पढ़ने मे समय क्यो बरबाद करते हैं ?

'उपन्यासो में हमें जीवन का दर्शन होता है।'

'पर वह तो इतिहाम पढ़ने मे भी होता है।'

'मनुष्य स्वभाव का चित्रण इतिहास नही करता।'

'उमके लिए महाभारत पढ़िए।'

'विनोबा, इतिहास और महाभारत जैसे ग्रथों मे महापुरुषों का ही जीवन-चित्रण मिलता है। सामान्य लोगों के सुख-दुख को समझना हो तो उत्तम से उत्तम उपन्यास ही पढ़ने होंगे।'

विनोबा का इस विषय में काका साहब से मतभेद रहा।

एक दिन वह कहने लगे, 'काका, मुझे बगाली भाषा सीखने की इच्छा हुई है।'

काका साहब ने कहा, यह बहुत अच्छा सकल्प है। मेरे पास रवि बाबू की पुस्तकों का एक सैट है, वह मंगवा लेता हू।'

स्वय रवीन्द्रनाथ ने काका साहब को यह सैट भेट मे दिया था। वर्धा में पत्र लिखकर उन्होने वह मंगवा लिया। काका साहब के साथ इन दिनों शिवबालक बिसेन थे। उनकी मातृभाषा मराठी थी। पर वह मराठी के साथ गुजराती, हिन्दी और बंगाली के भी अच्छे जानकार थे। ताड़ गुड़ की प्रक्रिया सीखने के लिए पूर्व बंगाल में कई महीने जाकर रहे थे और बोलचाल की बंगाली की खूबियां भी अच्छी तरह जानते थे। काका साहब ने विनोवा से कहा, 'बिसेन आपको बंगाली सिखाएंगे।'

बिसेन ने रविबाबू का 'गोरा' उपन्यास उनके साथ पढ़ना शुरू किया। पढ़ते-

पढ़ते विनोबा को उसमे रस आने लगा। जब पूरा पढ़ डाला तब वह काका साहब से कहने लगे, 'काका, हिन्दू धर्म क्या है, यह बड़े-बड़े ग्रन्थ पढ़कर भी समझ मे नही आता, वह रवि बाबू ने गोरा की मा का चित्रण करके कितने सुदर ढग से बता दिया है। उपन्यासो मे इतना सुदर जीवन-दर्शन अगर हो सकता है तो फिर इतिहास पढकर समय बरबाद करने की क्या जरूरत है?'

काका साहब जोर से हस दिए और बोले, 'विनोबा, कितनी जल्दी आप सुधर गए, आपको मालूम है?'

इन दिनो का और एक सस्मरण काका साहब कुछ विषाद के साथ सुनाते थे

> मैने हिन्दी प्रचार का काम हाथ मे लिया, उसके साथ-साथ नागरी लिपि सुधार का भी लिया था। पुराने जमाने मे महाराष्ट्र मे महादेव गोविंद रानडे ने लिपि सुधार का आदोलन चलाया था और महाराष्ट्र के कई अग्रणियो ने उसे अपना समर्थन दिया था। वही मैने आगे चलाया था। टाइपराइटर, टेलीप्रिंटर के लिए नागरी-लिपि सुलभ हो, इसलिए मैने उसमे कुछ सुधार किए थे। बापूजी का आशीर्वाद इस प्रवृत्ति के लिए मिल गया था और हम दोनो सभी भारतीय भाषाओ के लिए एक ही लिपि का प्रचार करते आए थे। ठीक इसी समय किशोरलालभाई ने अग्रेजी की रोमन लिपि का समर्थन शुरू कर दिया। रोमन लिपि के पक्ष मे जवाहरलालजी थे, सुभाष बाबू थे, सुनीति कुमार चटर्जी थे। बापूजी ने इन लोगो को समझा-कर उन्हे शात कर दिया था। पर घर के किशोरलालभाई शात नही हुए। वह तो अपना प्रचार चलाते ही रहे। विनोबा ने इस विषय मे अब तक कुछ सोचा नही था। सिवनी जेल मे हमारी चर्चाए शुरू हुई, तब उन्होने इस विषय मे सोचना शुरू किया। उन्हे मेरी बात जच गई। कहने लगे, युक्ताक्षर सभी निकाल देने चाहिए। रोमन मे जिस तरह सभी व्यजन एक के बाद एक आते है, उसी तरह नागरी मे व्यजनो को हलत करके लिखना चाहिए। मैने कहा, इतनी पराकोटि तक सुधार को ले जाने की जरूरत नही है। लोगो की आखे रूढ नागरी की आदी हैं। अतिम छोर तक आप जाएगे तो लोग आपका सुधार स्वीकार नही करेगे। ऐसे मामलो मे धीरे-धीरे ही आगे बढ़ना होगा। कुछ सुधार हजम होने के बाद हम दूसरे सुधार

लोगों के सामने रखें और क्रमशः आगे बढ़ते जाएं, यही सुधार का सच्चा रास्ता है। पर विनोबाजी ने कभी किसी की बात सुनी है क्या ? उन्होंने पूरी देवनागरी सुधार कर उसे नया नाम भी दे दिया—लोक-नागरी। जेल से बाहर आने के बाद उन्होंने लोक-नागरी के नए टाइप भी बनवा लिए। और अपना साहित्य उसी में छापने लगे। नतीजा वही हुआ, जो होना था। उनका साहित्य बिकता ही नहीं था। कुछ समय बाद उन्होंने सोचा, मेरा काम विचार-प्रचार का है, लिपि-प्रचार का नहीं। लिपि-सुधार अगर विचार-प्रचार में बाधक होता है तो सुधार ही छोड़ देना चाहिए। उन्होंने 'अ' की बारहखड़ी भी छोड़ दी और वह रूढ़ नागरी की शरण में फिर से आ गए। विनोबा सुधार में एक ओर मुझसे बहुत आगे निकल गए थे, दूसरे ही क्षण पूरे रूढ़िवादी बन गए। मैंने उनसे कहा, कम-से-कम 'अ' की बारहखड़ी तो चलाइए। पर उन्हें उसमें भी खतरा मालूम हुआ। उन्होंने कहा, मैं पत्र व्यवहार अपनी लोक-नागरी में ही चलाऊंगा। पर प्रकाशन रूढ़ नागरी में चलता रहेगा। इस परिस्थिति का लाभ युक्त-प्रांत के रूढ़िवादी लोगों ने उठा लिया। जब स्वराज्य आया, पं० गोविन्द बल्लभ पंत युक्त-प्रांत के मुख्य-मंत्री बने। उन्होने एक अखिल भारतीय लिपि सुधार परिषद बुलाई। इस परिषद ने युक्त प्रांत के रूढ़िवादी लोगों के दबाव से अ की बारहखड़ी का सुधार भी रद्द कर दिया। जो काम बापूजी मुझे सौंपते थे, उसमें वह हर तरह की मदद देते थे। मैंने कभी दूसरों के काम में दखलंदाजी नहीं की। पर मुझे जो काम सौंपे गए थे, उनमें घर के ही लोग अचानक दिलचस्पी लेना शुरू करें, विरोध करें या मुझसे आगे बढ़ें और फिर कठिनाइयों को देखते ही उत्साह छोड़ दें, यह अपनी तकदीर देखकर मैं समझ गया कि यदि पूरा पूर्वपुण्य न हो तो महात्माओं की मदद भी काम नहीं आती। मैंने जब भारत की सभी भाषाओं के लिए एक लिपि चले, यह प्रचार छोड़ दिया तभी किशोरलालभाई भी शांत हुए। उन्होंने इसके बाद रोमन लिपि के पक्ष में एक भी लेख नहीं लिखा।[1]

पर यह तो आगे की बात है। जेल में इन तीन वर्षों में उन्हें चिंतन-मनन के

1. लेखक के साथ बातचीत से।

के लिए और अध्ययन-लेखन के लिए काफी अवकाश मिला। 1945 में जब वह जेल से रिहा हुए, अपने साथ निम्न पुस्तकों की पाडुलिपियां लेकर आए थे—

1. गीता के सौ गूढ़ शब्दों का मनन, जो 'गीता रत्न प्रभा' के नाम से हिन्दी मे प्रकाशित हुआ है।

2. गाधीजी के 'गीता पदार्थ कोश' की परिवर्धित आवृत्ति, जो इसी नाम से प्रकाशित हुई है।

3. रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि और नैवेध इन दो गीत-संग्रहों के हर गीत का व्याख्यात्मक भावानुवाद (मराठी में) जो 'रवीन्द्र मनन,' 'रवीन्द्र वीणा,' 'रवीन्द्र झंकार' और 'नैवेध' के नाम से चार खंडों मे प्रकाशित हुआ है।

4. रवीन्द्रनाथ की 'लिपिका' पुस्तक का अनुवाद मराठी मे और उसकी हर कथा की व्याख्या, जो 'रवीन्द्र प्रतिभेचे कोवले किरण' नाम से छपा है।

5. रवीन्द्रनाथ के 'मालच' नामक एक छोटे उपन्यास का मराठी अनुवाद, जो इसी नाम से प्रकाशित हुआ है।

6. गाधीजी के लगभग सौ शब्द-चित्र हिन्दी मे, जो 'बापू की झाकिया' नाम से बहुत लोकप्रिय हुए है।

7. कुष्ठ रोग सम्बंधित एक अंग्रेजी उपन्यास 'हू वाक्स अलोन' लेखक डा० पेरी बर्जिस का किशोरलालभाई के साथ किया हुआ गुजराती अनुवाद, जो 'मानवी खंडीयेरो' के नाम से छप चुका है।

8. प्रकीर्ण लेखों की आठ कापियां, जिनमे जेल मे पढ़ी अच्छी पुस्तकों का सार-ग्रहण भी है। और—

9. स्मरणयात्रा का अगला हिस्सा मराठी में, जो अप्रकाशित रहा है।

स्वराज्य का आगमन

सन् 1945 मे जब वह जेल से रिहा होकर बाहर आए, दुनिया का नक्शा ही नही, बल्कि मस्तिष्क भी बदल गया था। उपनिवेशवाद के दिन अब खत्म हो चुके थे। उनके साथ साम्राज्यवाद का भी अंत हो चुका था। अब भारत स्वतंत्र

होगा, इसमें काका साहब को कोई सन्देह नही था। अंग्रेजी हुकूमत यहाँ अब एक तरह से बारूद के ढेर पर बैठी हुई थी, जो किसी भी क्षण भभक उठ सकता था। ऐसी हालत में भारत पर शासन करना इंग्लैंड के लिए असम्भव था।

पर साथ-साथ देश एक विकट परिस्थिति से गुजर रहा था। हिन्दू-मुसलमानों के बीच वैमनस्य चरम स्थिति तक पहुच गया था। सबके मन मे यही डर बैठ गया था कि जब भारत स्वतन्त्र होगा, तब वह अखण्ड रहेगा या विभाजित हो जाएगा ? विभाजित होगा तो कितने हिस्सो मे ? हिन्दुस्तान और पाकिस्तान इन दो हिस्सों मे या और कई हिस्सों मे ?

देश के सारे पुराने राष्ट्रीय और सामाजिक रोग सिर ऊचा करके सबको डरा रहे थे।

जेल के एकान्त में काका साहब ने सबसे अधिक उत्कट चिन्तन अगर किसी विषय का किया तो वह इन्ही रोगो का और इनके निदान का ही किया था। राष्ट्रभाषा प्रचार-कार्य मे उनको इसके कई आसार दिखाई दिए थे। वह इस नतीजे पर पहुंचे थे कि इस बहुवंशी, बहुधर्मी, बहुभाषिक भारत के पिछले तीन-चार हजार वर्षों के इतिहास का अगर कोई अर्थ है और भारत भाग्य विधाता ने इस राष्ट्र के हाथों साधना चलाकर अगर हमे किसी मिशन के लिए तैयार किया है तो वह धर्म-समन्वय के विशाल और गम्भीर युग कार्य के लिए ही है। धर्म-समन्वय की गहरी और ठोस बुनियाद पर ही अब हमें सारे काम करने होगे।

धर्म-समन्वय का प्रतिपादन तो वह बरसों से करते आए थे। स्वामी विवेकानन्द की यह प्रेरणा थी। इस प्रेरणा को गाधीजी ने दिशा और दृष्टि प्रदान की थी। पर यही मेरा जीवन-कार्य है, यह बीज उनके मन मे बोया गया, सन् 1937 मे जब वे कलकत्ते की सर्वधर्म परिषद् में उपस्थित हुए थे। श्रीरामकृष्ण मिशन ने यह परिषद् 3 मार्च 1937 को बुलाई थी। परिषद् मे मुख्य अतिथि के रूप में गाधीजी जाने वाले थे। पर वह अचानक, रक्तचाप से ग्रसित हो गए और नही जा सके। अपने प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने काका साहब को भेज दिया। परिषद् के आयोजको ने परिषद् में पढ़ने के लिए गांधीजी से सन्देश मागा, तब उन्होंने कहलवा भेजा : 'काका साहब ही मेरा सन्देश है।' परिषद् के अध्यक्ष स्थान पर वार्धक्य से मुर्झाई हुई रवीन्द्रनाथ की भव्य मूर्ति बैठी थी। देश-विदेश के विद्वान परिषद् में उपस्थित थे। बड़ा ही दिव्य, भव्य, गम्भीर वातावरण था। काका साहब का

लोगों को परिचय देते हुए रवीन्द्रनाथ ने उनका 'आधुनिक समय के एक ऋषि' के रूप में वर्णन किया था। काका साहब के लिए रवीन्द्रनाथ गुरुतुल्य थे। उनके मुंह से इस तरह के शब्द निकलना काका साहब के लिए संकोच का भी विषय था और गौरव का भी। इस परिषद् में काका साहब ने एक निबन्ध पढ़ा था, जिसका शीर्षक था, 'धर्मो का धर्म।[1]' यह बड़ा ही विचार प्रवर्तक निबन्ध था। वह पढ़ते समय काका साहब अपने विचारो से स्वय प्रभावित हुए थे और यह महसूस करने लगे थे, शायद यही मेरा जीवन-कार्य है। उस समय जो यह बीज उनके मन में बोया गया था, वह जेल के गहन चिन्तन मे अब अंकुरित हुआ था। इसी अंकुरित पौधे को लेकर काका साहब जेल मे बाहर आए।

पर बाहर नियति ने उनके लिए एक काम तैयार ही रखा था। उनके एक निकटतम साथी अमृतलाल नानावटी ने अपनी ही प्रेरणा से गुजरात मे हिन्दुस्तानी प्रचार का काम शुरू कर दिया था और गांधीजी का उन्हें आशीर्वाद भी मिल गया था। गाधीजी अब भी हिन्दुस्तानी प्रचार की जरूरत महसूस करते थे, बल्कि यो कहना चाहिए कि अब जब हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे से दूर होते जा रहे थे, हिन्दुस्तानी प्रचार की जरूरत वे पहले से अधिक महसूस करने लगे थे और नानावटीजी के काम से वे बहुत प्रसन्न थे। अतः काका साहब जब रिहा हुए, हिन्दुस्तानी प्रचार सभा संगठित करने का काम अपने आप उनके पास आ गया।

पूरे सात साल के कडे प्रयत्नों के बाद जो सगठन उन्होंने खड़ा किया था, वह पूरा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिकार में चला गया था। अब एक नई संस्था खड़ी करने की काका साहब में न शक्ति थी, न उत्साह। सेहत भी पहले जैसी नहीं रही थी। नई संस्था खड़ी करने की जिम्मेदारी उठाने की अपनी असमर्थता जब काका साहब ने गाधीजी के सामने प्रकट की, तब वह बड़े दुःखी हुए। बोले, 'यह काम तो अब किसी भी हालत मे छोड़ा नहीं जा सकता। छोड़ने में सत्व-हानि है। काम आपका ही है और आप इसके विशारद हैं। आप जेल में थे और मैं आपसे पहले रिहा होकर आ गया था, इसलिए मैंने वह संभाला था। अब वह आपको अपने हाथ में लेना होगा।'

गांधीजी की आज्ञा के अनुसार चलना, यह काका साहब की हमेशा वृत्ति रही थी। अतः उन्होंने यह काम चुपचाप हाथ में ले लिया।

---

1. यह निबन्ध उनकी 'जीवन-व्यवस्था' पुस्तक में संग्रहीत हुआ है।

पर काम आसान नहीं था। 1946 मे हिन्दू-मुस्लिम दंगो ने बड़ा ही भद्दा रूप ले लिया। इन दंगों से तंग आकर कांग्रेस के नेता देश के विभाजन के लिए भी तैयार हो गए। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के सदस्यों मे भी ऐसे कुछ सदस्य थे, जो भले ही मजबूरी से हिंदू-मुसलमान ऐक्य मे श्रद्धा खो बैठे थे। वे हृदय-भेद के लिए तैयार हो गए थे। गांधीजी हृदय-भेद को स्वीकार करने के लिए कतई तैयार नही थे। वह कहने लगे थे, देश भले हारे, हम क्यों हारे ? हम अपने आदर्शों को नही छोड़ेंगे। काका साहब वैचारिक स्तर पर सम्पूर्णतः गांधीजी के साथ रहे। हालांकि वे स्पष्ट देखने लगे थे कि राष्ट्रीय एकता को मानने वाले लोग भी, अब हिन्दुस्तानी के पक्ष मे नही रहेंगे। एकता अगर अंग्रेजी के द्वारा स्थापित होती हो तो वह अंग्रेजी को भारत मे कायम रखेंगे। सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दू और मुसलमान एक हैं, एक हो सकते है, यह आशा इन लोगों ने छोड़ दी। इस परिस्थिति मे हिन्दी-उर्दू दोनो का समावेश करने वाली दो लिपियो वाली हिन्दुस्तानी किसके सहारे चलाए ?

काका साहब को प० सुदरलालजी का स्मरण आया। इन्ही के आग्रह से गांधीजी ने दो लिपियो वाली हिन्दुस्तानी का प्रचार शुरू किया था। काका साहब ने उन्हे मदद के लिए बुलाया। उन्होंने ठंडे दिल से जवाब भेजा : 'मैं तो अब दोनों लिपियों को छोड़कर रोमन लिपि चलाने के पक्ष मे हो गया हू।'

काका साहब कहते हैं :

> मैं समझ गया कि अब मुझे कही से मदद मिलने वाली नही है। गाधीजी ने जो नीति अपनाई है, वही देश के लिए हितकर है, फिर भी वह अब आगे चलने वाली नही है। मैंने यह भी महसूस किया कि अब हिन्दी भी चलने वाली नही है। हिन्दी का प्रचार जब तक अहिन्दी प्रातों के लोगों के हाथ मे था, तब तक वह सुरक्षित थी। अब प्रचार युक्त-प्रांत के हिन्दी भाषियो के हाथ मे चला गया है। अब हिन्दी का विरोध अहिन्दी प्रात भी करने लगेंगे और सभी मिलकर अंग्रेजी को मजबूत करेंगे। गाधी निष्ठा के कारण मुझसे जो हो सकता था, वह मैं करता रहा। गीता की परिभाषा मे कहूं तो मेरा यह निष्काम कर्मयोग था।[1]

---

1. लेखक के साथ बातचीत से।

इधर नियति ने गांधीजी की भी अग्नि-परीक्षा शुरू कर दी थी। जैसे-जैसे स्वराज्य नजदीक आने लगा, देश की चेतना विलुप्त होती गई। हिन्दू-मुसलमान सभी पागल होकर एक-दूसरे का गला काटने लगे। मुस्लिम लीग ने सभी वैधानिक मार्ग छोड़कर हिंसा का सहारा ले लिया। फलस्वरूप, जिस दिन लीग की सीधी कार्रवाही शुरू हुई, कलकत्ते मे पहले ही दिन पाच हजार हिन्दू मारे गए और पद्रह हजार घायल हुए। उधर तुरंत हिन्दुओ ने हिंसा का बदला प्रतिहिंसा से लिया।

अब बदले का हिंसात्मक चक्र शुरू हुआ। जब कलकत्ते के मुसलमान मारे गए, नोआखाली मे हिन्दुओ का कत्ले आम शुरू कर दिया गया। वहां हिन्दुओ के घर जला दिए, मदिर तहस-नहस कर दिए गए। हजारो हिन्दू स्त्रियों का अपहरण कर जबरदस्ती उनकी मुसलमानो से शादिया करवा डाली। नोआखाली का बदला बिहार ने लिया। नोआखाली से ज्यादा यहां मारकाट हुई।

व्यथित चित्त से गाधीजी अपने आपसे पूछने लगे—यह सब क्या चल रहा है? क्या, देश पागल हो गया है? दंगे अब तक शहरो मे होते आए थे, वे अब देहातो मे फैल गए। हिंसा की आग बुझाने के प्रयत्नो मे गाधीजी एक प्रात से दूसरे प्रात मे भटकते रहे। एक प्रात का काम सभल भी न पाता, तब तक दूसरे प्रात मे आग धधक उठती। उनको लगा, मानो जीवन-भर की उनकी तपस्या क्षण-भर मे विफल होती जा रही है। फिर भी उनकी श्रद्धा विचलित नही हुई। वह तो अपनी प्रेम की जड़ी-बूटी लेकर आग मे कूदते रहे। गाधीजी ने अपने जीवन मे कई छलागें मारी थी। पर अब की—हिंसा की आग बुझाने की—उनकी छलांग सबसे बड़ी थी। विनोबा के शब्दों मे कहे तो उनकी यह 'हनुमान छलाग' थी। इस अराजकता से उनको बहुत दुःख हुआ था, पर उसका उन्हे डर नही लगा। उन्हें डर सिर्फ एक बात का था, इतने बड़े पैमाने पर हिंसा का यह जो ताडव चल रहा है, उसका असर कही उनके साथियो के निर्णयो पर न पड़े।

पर यह भी वह टाल नही सके। साथियो ने देश का बटवारा करने का निश्चय पक्का कर लिया।

ध्यान मे रखने जैसी बात है कि देश के भाग्य के बारे मे यह इतना बड़ा निर्णय था, पर उनके साथियो ने उनको इस सम्बंध में कुछ भी नही बताया। उनका विरोध वे जानते थे। 'पाकिस्तान नही बन सकता, पाकिस्तान अगर बनेगा तो

मेरी लाश पर बनेगा' गांधीजी अब भी यही कहा करते थे, उनकी उन्हें अड़चन महसूस होने लगी थी। अतः वे जानबूझ कर उन्हें अंधेरे में रख रहे थे। स्वराज्य के आगमन के समय सचमुच गांधीजी अकेले पड़ गए थे।

15 अगस्त 1947...

भले ही विभाजन की कीमत देकर, पर सैकड़ो बरसो की गुलामी की जंजीरों को तोड़कर भारत आज आजाद होन वाला था। सदियो बाद हम एक आजाद देश के आजाद नागरिक के रूप मे सास लेने वाले थ। भारत पूर्ण स्वतंत्र होने जा रहा था। 14 अगस्त को काका साहब एक ट्रेन मे थे। बंगाल, बिहार और असम के बीच के पार्वतीपुर नामक एक स्टेशन पर रात के बारह बजे ट्रेन रुक कर स्वतंत्र भारत का स्वागत करने वाली थी। काका साहब बारह बजे तक जागते रहे। उनकी आंखों के सामने अपना पूरा जीवन पट सरकने लगा --

ठेठ बचपन में अपने भाई विष्णु की मृत्यु के बाद कलेक्टर ने पिताजी का जो अपमान किया था वह असह्य होकर छोटे दत्तू के रूप मे उन्होंने प्रतिज्ञा ली थी कि मैं इन अग्रेजो का राज मिटा डालूगा, जिंदगी मे और कुछ नही करूगा। यह दृश्य सबसे पहले आंखों के सामने आया। इसके बाद, एक के बाद एक कई दृश्य आ खड़े हुए। कालिज के दिनों मे सावरकर की साक्षी में शिवाजी की तस्वीर के सामने मातृभूमि को मुक्त करने की शपथ ली थी, उसका स्मरण हो आया। फिर, फासी के तख्ते पर लटके कई साथियो का स्मरण हुआ। राष्ट्रमत, गगनाथ विद्यालय, हिमालय- कितनी प्रवृत्तियों मे पड़े, किननी योजनाए बनाई, कितनी विफलताए मोल ली। देश को स्वतंत्र कराना कितना कठिन है, यह ज्यों-ज्यों प्रतीत होता गया, त्यों-त्यों देश के लिए मर-मिटने का सकल्प दृढ़ और दृढ़तर होता गया। स्वराज्य देखने की कोई उम्मीद मन मे नही रखी थी। यह माना था कि स्वराज्य प्राप्ति के प्रयत्नो मे शरीर मिट जाएगा और इसी से प्रतिज्ञा-पूर्ति का सतोष कर लेना होगा।

फिर एक दिन इस यात्रा मे गाधीजी के दर्शन हुए। उनके पीछे चलते-चलते कहा के कहां पहुंच गए। साबरमती आश्रम, असहयोग आंदोलन, गुजरात विद्यापीठ, नमक सत्याग्रह, सन् 42 का आंदोलन...चलते-चलते स्वराज्य की मजिल तक पहुंच ही गए। अब, कल सुबह स्वराज्य प्रत्यक्ष देखेंगे।

जीवन कितना सफल हुआ। कितनी बड़ी धन्यता है यह।

सोचते-सोचते रात के बारह बज गए।

उनको महादेवभाई का भी स्मरण हो आया। पांच साल पहले इसी दिन आगाखां महल में उनका देहांत हो गया था। वह आज होते तो कितने खुश होते।

पार्वतीपुर जंक्शन पर कई गाड़ियां खड़ी थीं। ठीक बारह बजते ही सबने अपने भोंपू बजाए। भारत की स्वतन्त्रता का यह जयनाद सुनते ही काका साहब की आंखों में आनंदाश्रु उमड़ पड़े। उनके साथ उनकी मानस कन्या सरोज बहन थीं और साथी अमृतलाल नानावटी थे। तीनों ने साथ बैठकर प्रार्थना की। अमृतलालजी ने अपनी सुरीली आवाज में भाव विभोर होकर 'आज मिल सब गीत गाओ' भजन गाया। प्रार्थना पूरी होते ही काका साहब गद्‌गद् हो उठे। सरोजबहन और अमृतलालजी दोनों को उन्होंने गले लगाया और तुरंत गांधीजी को पत्र लिखा—

पार्वतीपुर स्टेशन
मध्म रात्रि के बाद
15-8-47 के प्रारम्भ में

परम पूज्य बापूजी,

परमात्मा की कृपा से और आपके पुण्य प्रताप से हम आज का दिन देख सकें।...स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा मैंने 1906 में ली थी। तब से जीवन ने कई पलटे खाए, फिर भी यह एक सकल्प अविचल रहा। वही मुझे हिमालय से वापस सेवा क्षेत्र में ले आया।...1915 में शांतिनिकेतन में आपके दर्शन हुए। देश की स्वतंत्रता और आध्यात्मिक मोक्ष दो भिन्न आदर्श नहीं हैं, इस बात का स्पष्ट साक्षात्कार आप ही ने करा दिया। इसलिए मैंने अपनी तुच्छ सेवाएं आपके चरणों में अर्पित कर दीं। तबसे देश की स्वतंत्रता का अर्थ भी स्पष्ट होता गया। आज जब सारे देश के साथ हृदय की उमंग से स्वातंत्र्य प्राप्ति का उत्सव मना रहा हूं, तब दिल कहता है कि सच्ची स्वतंत्रता तो अभी दूर ही है। फिर भी विश्वास है कि वह नजदीक आ ही जाएगी। भविष्य में जो भी करूंगा, उसमें साम्प्रदायिक एकता और दीन-दलित और पतित लोगों की सेवा, यही मुख्य उद्देश्य रहेगा। इस

काम के लिए जो दृष्टि, निष्ठा और पवित्रता आवश्यक है, वह मुझे उपलब्ध हो, यही आशीर्वाद आप मुझे दें। संस्था के द्वारा काम करने का उत्साह अब मुझमें विशेष नही रहा है। फिर भी हाथ में लिया हुआ संगठन-कार्य करना ही होगा। पर अब से जो कार्य अकेले या साथियो के सहयोग से सहजता से हो सकेगा, उसी की ओर विशेष झुकाव रहेगा।

परम आनंद की बात है कि पहले पैंतीस वर्षों से अंग्रेजों के प्रति मन मे जो द्वेष दृढ़ हुआ था, वह धीरे-धीरे कम होकर आज सम्पूर्णतः विलुप्त हो गया है। यह सब आपके चरणो की सेवा का प्रतिफल है। आज महादेवभाई का स्मरण हुए बिना कैसे रहेगा ?

आपके पुण्य चरणों में,
सेवक काका के
सादर प्रमाण।

आजादी की खुशी मे सारा देश नाच रहा था। दिल्ली में तो राजसी ठाठ-बाट के साथ उत्सव मनाया जा रहा था। पर इस दिन गांधीजी कहां थे ? वह दिल्ली मे नही थे। कलकत्ते मे थे। उस दिन उन्होंने उपवास रखा था। जिस दिन के आगमन के लिए उन्होंने जीवन-भर परिश्रम किया था, उसके आगमन पर उनमे कोई उमंग नही थी, कोई उत्साह नही था। आजादी पाने के लिए देश की एकता की बलि चढ़ानी पड़ी, इस विषाद से उनका मन घिरा हुआ था। अखबारों के लिए उन्होंने उस दिन कोई वक्तव्य भी नही दिया। पाकिस्तान को उन्होंने उस तरह स्वीकृति नही दी थी, जिस तरह राजनीतिक लोगो ने दी थी। बंटवारे के बावजूद वे देश को अब भी एक मानते थे।

छह सितम्बर 1947 के दिन दिल्ली में हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की कार्य समिति की बैठक हुई। गांधीजी इस बैठक में उपस्थित नही रह सके। पर उन्होंने कार्य समिति मे पास करने के लिए कलकत्ते से एक प्रस्ताव का मसविदा भेजा, जो उन्होंने अपने हाथ से लिखा था। यह प्रस्ताव इस प्रकार था :

हिन्दुस्तान के दो हिस्से हो गए हैं। एक का नाम पाकिस्तान है, दूसरे का इंडियन यूनियन। क्या हमारे दिल के भी टुकड़े हो गए हैं ? कुछ कहते हैं हां, कुछ कहते है ना। इसलिए यह भी सवाल पैदा हुआ है, क्या हुकूमतें दो

बनी हैं तो राष्ट्रभाषाएं भी दो बनेंगी ?...आंदोलन हो रहा है कि यूनियन की नागरी लिपि में हिन्दी और पाकिस्तान की फारसी लिपि में उर्दू राष्ट्र-भाषा हो। अगर यह बात दोनों टुकड़ों में कबूल हो गई तो साफ सबूत होगा कि दोनों के दिल भी जुदा हैं। इससे अधिक दुःख की बात क्या हो सकती है ? इस दुःख को रोकने के लिए हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का खास फर्ज हो जाता है और ऐसी आशा रखी जाती है कि हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के सभासद और हिन्दुस्तानी भाषा के प्रचारक हिन्दुस्तानी को, जो नागरी और फारसी दोनों लिखावटों में लिखी-पढ़ी जाती है, फैलाने में भरसक मेहनत करते रहेंगे।...सभा की प्रचार और परीक्षा की नीति में कोई फर्क करने की जरूरत नहीं है।

कुछ समय के बाद 14 दिसम्बर 1947 को हिन्दुस्तानी प्रचार सभा की कार्य समिति की दिल्ली में एक और बैठक हुई। इस बैठक में गांधीजी उपस्थित थे। एक महाशय ने हिन्दुस्तान के मुसलमानों की गिनती करते हुए गांधीजी से कहा, अमुक करोड़ की मुसलमानों की संख्या में से पाकिस्तान के इतने मुसलमानों को कम कीजिए।

गांधीजी ने गम्भीर आवाज में प्रतिवाद किया, 'कम क्यों करें ? मेरे लिए तो कश्मीर से कन्याकुमारी तक सारा देश एक है। एक देश में दो हुकूमतें चलती हैं।'

गांधीजी का बलिदान

काका साहब अपनी मर्यादाओं से अच्छी तरह परिचित थे। हिन्दुस्तानी प्रचार का काम अपनी शक्ति से बाहर का है, यह भी वे जानते थे। पर अपनी मर्यादाओं से ऊपर उठने की भी उनमें एक असाधारण शक्ति थी। खासतौर से असाध्य कठिनाइयों से भरा कोई काम गांधीजी उन्हें सौंप देते—और गांधीजी तो उन्हें ऐसे ही कठिन-से-कठिन काम सौंपते थे, तब पूरी शक्ति केन्द्रित करके कठि-नाइयों का सामना करने के लिए वे उद्युत हो जाते थे।

गांधीजी का आदेश स्पष्ट था, किसी भी हालत में काका साहब को हिन्दुस्तानी के काम से अलग नहीं होना है। कई प्रसंगों से यह स्पष्ट हुआ था।

जेल से रिहा होने के बाद काका साहब जब वर्धा आए, उन्हें शंकरराव देव का एक पत्र मिला। असहयोग युग में स्थापित हुई पूना की तिलक विद्यापीठ

की पुनर्रचना चल रही थी और काका साहब इसके कुल नायक (वायस चांसलर) बनें, यह शंकररावजी की इच्छा थी। आचार्य लिमये, आचार्य भागवत जैसे काका साहब के मित्र इस विद्यापीठ में काम करते थे, उनकी भी यही इच्छा थी। शंकररावजी काका साहब के स्वभाव से परिचित थे, इसलिए उन्होंने पत्र में यह भी लिखा था, आप तुरंत इंकार न करें। मैं आपकी कठिनाइयां जानता हूं। एक बार हम मिल लेंगे। मुझसे पूरी परिस्थिति समझने के बाद ही आप निर्णय लें। शंकररावजी ने गांधीजी को भी पत्र लिखकर काका साहब की मांग की थी। काका साहब के मन मे पूना का आकर्षण तो था ही नहीं, पर निकट के मित्रों को ना कैसे कहें, यही एक धर्म-संकट उनके सामने था। उन्होंने अंतिम निर्णय गांधीजी पर छोड़ दिया। गांधीजी का तुरंत जवाब आया। आप तिलक विद्यापीठ में जाएं या न जाएं इस सम्बंध में मेरे मन मे दो अभिप्राय है। अतः निश्चयपूर्वक मैं यह नही कह सकता कि कौन-सा अच्छा है। पर आप यह जिम्मेदारी उठा लें तो आपको अपना मुख्यालय पूना बनाना होगा, इस राय का मै हो जाऊंगा। फिर वर्धा के काम का क्या होगा ? आप इस विषय में चर्चा करने की आवश्यकता महसूस करते हों तो आ जाइएगा, वरना इसी पत्र से समझ लीजिएगा। मतलब स्पष्ट था, आप वर्धा का काम छोड़ नही सकते।

काका साहब ने तुरंत शंकररावजी को पत्र लिखकर इंकार कर दिया। शंकररावजी और तिलक विद्यापीठ के उनके साथी इससे काका साहब पर बहुत नाराज हुए थे।

इसी तरह का और एक प्रसंग दूसरे वर्ष उपस्थित हुआ। गुजरात के लिए नई यूनिवर्सिटी स्थापित करने की एक योजना बनी थी। इस योजना के अनुसार यूनिवर्सिटी का स्वरूप निश्चित करने के लिए बम्बई सरकार की ओर से एक समिति नियुक्त की जा रही थी। इसके अध्यक्ष काका साहब बने यह बात कस्तूरभाई लालभाई बाला साहब खेर और मोरारजी देसाई की ओर से दादासाहब मावलंकर ने रखी थी। गुजरात विद्यापीठ छोड़ने के बाद काका साहब ने गुजरात के किसी भी काम में हिस्सा नही लिया था। पर यह तो पुरानी बात हो गई थी। स्वयं, गांधीजी ने उनसे एक बार कहा, ऐसी बातें कहां तक लेकर बैठेंगे ? इन बातों को भूल जाना चाहिए और वाकई वह भूल भी गए थे। अब तो गुजरात के लिए कोई सेवा मांगे तो इंकार करने की उनकी वृत्ति नही थी और साहित्यिक तथा सांस्कृतिक गुजरात से उनका बराबर सम्बंध बना रहा था।

गुजरात छोड़ने के बाद भी सृजनात्मक जो-कुछ लिखते थे, अधिकतर गुजराती में ही लिखते आए थे।

पर इस विषय में भी काका साहब ने निर्णय गांधीजी पर छोड़ दिया और गांधीजी का तुरंत जवाब आया था, 'मुझे लगता है, आप वर्धा नही छोड़ सकते। वर्धा के काम की जिम्मेदारी जो है, वह छोड़ी नही जा सकती।'

इतना स्पष्ट आदेश मिलने के बाद मन मे कोई विकल्प आने देना काका साहब की दृष्टि से गाधीद्रोह हो जाता। इसलिए वे हिन्दुस्तानी का काम एकनिष्ठा से करने लगे।

बीच में एक विचार आया: हिन्दी का काम अब तक हिन्दुओं के बीच ही अधिकतर चला। अब हिन्दुस्तानी प्रचार का काम मुसलमानों के बीच क्यो न किया जाए? और मुसलमानों के बीच करना हो तो उसका प्रारम्भ नोआखली से ही क्यों न किया जाए? गांधीजी उन दिनों नोआखली मे थे। जो काम राजनीतिक दृष्टि या धार्मिक समझौते से नही हो सकता, उसे अपना जीवन अत्यंत शुद्ध, अत्यत अहिंसामय करके तपस्तेज की सात्विक पराकाष्ठा से करने के लिए गांधीजी वहां देहातों मे घूम रहे थे। उन्होंने अपने साथ मनु गांधी को छोड़कर किसी को रहने नही दिया था। बिलकुल असहाय अकेले और पूर्ण निर्भय बनकर वह नोआखली के उपद्रवग्रस्त इलाके मे इस तरह घूस रहे थे, जिससे उनकी कोई हत्या करना चाहे तो भी उसे किसी तरह की कठिनाई न हो। अपनी अहिंसा-निष्ठा, निर्भयता और निर्विकारिता को उन्होंने अंतिम कसौटी पर चढ़ा दिया था। गांधीजी का यह प्रयोग उनके जीवन का सबसे बढ़िया और सबसे कठिन प्रयोग था। उनके इस प्रयोग में शामिल होने की काका साहब की तीव्र इच्छा हुई और वह नोआखली पहुंच गए। हिन्दुस्तानी के काम का यहीं से प्रारम्भ करने का अपना विचार उन्होंने यहां गांधीजी के सामने प्रकट किया। गांधीजी बोले, इस होमकुंड मे मेरे अकेले की ही आहुति पड़ेगी और किसी को अपना जीवन उत्सर्ग करने की आवश्यकता नहीं है। आपका काम हिन्दुस्तानी को चलाने का है, उसी को सफल बनाने का है और वह भी वर्धा में अपना मुख्यालय रखकर। सब अपने-अपने नियत काम करते रहें, यही मेरी इच्छा है।

इन सारे अनुभवों के बाद काका साहब ने और कोई विकल्प मन में आने ही नहीं दिया। निष्काम कर्मयोग के रूप में सही, पर वे उत्कटता से हिन्दुस्तानी

का काम करने लगे। देश अब स्वतंत्र हो चुका था। सभी प्रदेशों में सरकारें कांग्रेस की ही थीं। सरकार की ओर से कुछ हो सकता है या नहीं, यह देखने के लिए उन्होंने लगभग सभी मंत्रियों के दरवाजे खटखटाए। दुर्भाग्य से लगभग सभी ने हिन्दुस्तानी छोड़ दी थी। सभी कहने लगे थे, 'हिन्दुस्तानी के द्वारा सांस्कृतिक एकता सिद्ध होगी यह आशा करना अब व्यर्थ है।' काका साहब उनसे पूछते, 'हिन्दू राष्ट्र अलग और मुस्लिम राष्ट्र अलग इस कमजोरी को कायम रखकर हम कहां तक भारत की राजनीतिक एकता को सिद्ध कर सकेंगे? अब तो हमारे बीच अंग्रेज नहीं हैं। खंडित भारत में भी सर्वधर्म समभाव वाली सांस्कृतिक एकता हमें मजबूत करनी ही होगी।' किसी के पास इस सवाल का कोई जवाब नहीं था। काका साहब लिखते है :

> कहीं से कोई सहयोग मिलने की आशा ही नहीं है, यह जब देखा तब मैंने अपनी नीति में कुछ बदलाव करने की सोची। मैने कहा, भाषा और लिपि की भूमिका पर आरूढ़ होकर सांस्कृतिक एकता स्थापित करना अगर असम्भव है तो दूसरे सिरे से काम चलाए। सर्वधर्म समभाव का आधार लेकर भारत में सर्वधर्मी आध्यात्मिक परिवार की स्थापना करने का काम करें। यह असम्भव नहीं है। इस भूमिका पर हम सारी शक्ति एकत्रित करेंगे तो अवश्य कुछ-न-कुछ काम होगा। कम-से-कम विरोध तो कहीं नहीं होगा। दूसरे सारे सवाल राष्ट्र को परेशान करते है। इस कार्य से राष्ट्र को राहत मिलेगी। इसलिए मैंने साम्प्रदायिक एकता पर जोर देना शुरू किया।[1]

काका साहब की सर्वधर्म समभाव की साधना बरसों से चलती आई थी। लगभग सभी धर्मों के ग्रंथों का अध्ययन उन्होंने किया था। पर इससे उन्हें संतोष नहीं हुआ, तब उन्होंने अपना प्रस्थान बदल दिया। धर्म का मतलब सिर्फ धर्म ग्रंथ नहीं, बल्कि धर्म का पालन करने वाले लोग—उनके रस्म-रिवाज, उनके त्यौहार और सामान्यतः रुचि-अरुचि के द्वारा प्रकट होने वाले उनके मनोभाव यह सब-समझ लें, यथा-सम्भव अपना लें और बाद में उनके समाज में ओतप्रोत हो जाए, तभी कह सकेंगे कि समभाव के व्रत का पालन हम करते हैं, वे इस नतीजे पर आए, ठीक इसी समय उनका पूना में आलाबेन पोचा नामक

1. लेखक के साथ बातचीत से।

एक पारसी बहन से परिचय हुआ। यह लगभग दस-पंद्रह साल पहले की बात है। गांधीजी के माध्यम से ही यह परिचय हुआ था। काका साहब उन दिनों पूना में प्रो० जयशंकर त्रिवेदी के यहां स्वास्थ्य लाभ के लिए रहते थे। वहां उनसे मिलने एक और पारसी नौजवान आते थे—पेस्तनजी ड्राइवर। उनके प्रति भी काका साहब को कुछ आत्मीयता महसूस होने लगी। आलाबेन की कुछ मानसिक समस्याएं थीं। काका साहब से उनकी इस विषय में गहरी चर्चाएं होने लगीं। धीरे-धीरे आलाबेन के द्वारा और कई पारसियों से उनका सम्बंध बढ़ा। इनमें एक थे : लाल काका। लाल काका के कारण उनकी बेटी आलू से परिचय हुआ और आलू काका साहब की बेटी बन गई। देखते-ही-देखते काका साहब का कई पारसियों से कौटुम्बिक सम्बंध स्थापित हो गया।

> भारतीय नागरिकता का उत्तम नमूना देखना हो तो पारसियों मे देखना चाहिए। बड़े होशियार, दिलदार और स्वावलम्बी लोग हैं ये। मुसलमान, इसाई सभी के साथ इनकी बनती है। इन लोगों ने कभी किसी तरह का झगड़ा देश में उत्पन्न नहीं किया।

पारसियों से जो इस समय सम्बंध स्थाप्ति हुआ था, वह दिन-ब-दिन बढ़ता ही गया था। कई पारसी घरों में उन्होंने अपने लिए स्थान पा लिया था। क्या, इस तरह का कौटुम्बिक सम्बन्ध मुसलमानों और इसाईयों से स्थापित नहीं किया जा सकता? अगर किया जा सकता है तो इस सम्बंध को हम सर्व धर्म समभाव तक ले जा सकते हैं और हम भारत में सभी धर्मों का एक धर्म कुटुम्ब अवश्य स्थापित कर सकते हैं।

उन्हें एक और मीठा अनुभव था··

वल्लभभाई को छोड़कर गुजरात के प्रमुख नेताओं में सबसे बड़े थे : अब्बास तैयबजी। काका साहब जब बड़ौदा जाते थे, अब्बास साहब से मिले बिना कभी नहीं लौटते थे। वहीं अब्बास साहब के यहां उनकी बेटी रेहाना से काका साहब का परिचय हुआ। रेहाना श्रीकृष्ण की भक्त थी—बिलकुल राधा-जैसी। उसकी बड़ी सुरीली आवाज थी और इस आवाज में वह भजन गाती थी। कुछ भजन तो खुद के लिखे हुए थे और किसी के यहां ऐसी बेटी होती तो बात अलग थी। पर अब्बास साहब मुसलमान थे। उनके यहां उन्हीं की बेटी श्रीकृष्ण की तस्वीर की पूजा करे, श्रीकृष्ण के भजन गाए, यह सब आघात करने वाली और

विक्षुब्ध करने वाली बातें थी। घर से तस्वीर निकाल दें तो रेहाना भी निकल जाती और अब्बास साहब के लिए रेहाना तो प्राणप्रिय बेटी थी।

रेहाना से जब परिचय बढ़ा और जब वह आत्मीयता में परिणत हुआ, काका साहब ने उससे पूछा, 'रेहाना, क्या तुम मेरे साथ रहोगी ?'

रेहाना ने फौरन कहा, 'जी', और वह काका साहब के साथ उनकी बेटी बनकर रहने लगी। गांधीजी को जब यह मालूम हुआ, वे बड़े ही प्रसन्न हुए। 'विनोबा को भी यह सम्बंध बहुत पसंद आया। एक बार विनोबा ने कहा : 'काका ने रेहाना को खीच लिया, यह हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की दृष्टि मे बहुत बड़ा पराक्रम है।' काका साहब कहते हैं :

> पर यह श्रेय मुझसे ज्यादा अब्बास साहब का मेरे प्रति उनके अनन्य स्नेह भाव को जाता है और बिना किसी संकोच के कह सकता हू कि चि० सरोज (सरोजिनी नानावटी) को जाता है। रेहाना के कारण सरोज भी मेरे साथ मेरी बेटी बनकर रहने लगी। दोनों गहरी दोस्त थीं। सरोज मे हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य सौ फीसदी व्याप्त था। उसके पिताजी (जस्टिस धीरजलाल नानावटी) के कारण होगा, बचपन से ही उसमे मुसलमान खानदान और मुस्लिम संस्कृति के प्रति आत्मीयता रही है ओर मसजिदों के प्रति उसका आकर्षण मंदिरों के जितना ही स्वभाविक था।

इतने मीठे अनुभवों के बाद काका साहब को अगर सर्वधर्मी आध्यात्मिक परिवार की स्थापना करने की प्रवृत्ति हाथ मे लेने की इच्छा हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

अपने यह विचार गांधीजी के सामने रखकर उनसे मार्ग-दर्शन लेने की इच्छा से वे जनवरी 1948 के प्रारंभ मे दिल्ली गए। 8 जनवरी और 9 जनवरी दो दिन उनसे मिले। पर गांधीजी के चेहरे पर जो विषाद छाया हुआ था, उसे देखकर, उन्हें किसी परेशानी में डालना उचित नही है, ऐसा सोचकर वे लौट आए। दूसरी सब बातें कीं, सिर्फ यह एक बात छोड़ दी। उन्हें क्या मालूम कि उनकी यह अंतिम भेंट होगी। 30 जनवरी के दिन शाम को उन्हें यह दुःखद समाचार मिला कि प्रार्थना में जाते समय किसी ने गांधीजी की हत्या कर डाली है। काका साहब कहते हैं :

यह दुःखद समाचार सुनते ही मेरी आंखों में आंसू आ गए। क्षण-भर लगा, जापानी लोग अपने सम्राट की मृत्यु की खबर सुनते ही हाराकिरी करते थे। कितना अच्छा रिवाज था उन लोगों का। मैं टूट पड़ता, पर ठीक इसी समय मेरा छोटा बेटा बाल बेसुध होकर गिर पड़ा। हम उस दिन कलकत्ते मे थे। उसको संभालने में व्यस्त रहा। इससे जो आघात हुआ था, उसकी तीव्रता ने केवल आंसुओं का रूप धारण किया। दूसरे ही क्षण मेरे मुंह से एक वाक्य निकला, नही, उनका झडा हम कभी नीचे गिरने नही देंगे और यकायक आंसू रुक गए। उस दिन सारी रात मुझे नीद नही आई।[1]

वे सोचते रहे— क्या पंद्रह अगस्त की घटना का तीस जनवरी की इस घटना से हम कोई ऐतिहासिक अनुबंध स्थापित कर सकते हैं? पिछले एक हजार साल के इतिहास के सदर्भ मे ही हमे इन दोनों घटनाओं का अर्थ और अनुबंध ढूढना होगा। भारत वर्ष की किन शक्तियों के कारण हम केवल बत्तीस वर्षों के आंदोलन से स्वराज्य पा सके? और किन कमजोरियों के कारण हम स्वराज्य के छह महीनों के अंदर ही राष्ट्रपिता को खो बैठे? किसी ने कहा है कि इस देश के लोग—खासतौर से हिन्दू—पृथ्वीराज के समय गे न कुछ नया सीख सके, न पुराना कुछ भूल सके। क्या, यह सही नही है? वही पुरानी गलतियां करते रहना और वही पुराने निष्फल इलाज आजमाते रहना हिन्दुओं का मानो स्वभाव बन गया है। हिन्दुओं मे ये दोष न होते तो विदेशों से जो मुसलमान यहां आए उनका और हमारा सम्बंध केवल व्यापार तक ही सीमित रह जाता। संस्कृति विनिमय के क्षेत्र मे वह आ ही न पाता। हिन्दू अपने सामाजिक दोषों के प्रति उदासीन रहे। आपसी ऊंच-नीच भेदभाव को प्रश्रय देते रहे, उसी को धर्म सर्वस्व मानने लगे। इसीलिए बाहर के मुसलमान आकर यहा अपनी हुकूमत चला सके। हिन्दुओं ने अपने सामाजिक दोषों को सुधारने का प्रयत्न तक नही किया। नतीजा यह हुआ कि जिन्हें हिन्दू समाज में अपमानित जीवन जीना पड़ा था, वे या तो हिन्दू समाज छोड़कर बाहर चले गए या हिन्दुओं ने स्वयं उन्हें बाहर धकेल दिया। आज देश मे जो करोड़ों मुसलमान हैं, वे इसी तरह मुसलमान बने हैं, वे हमारे ही समाज के लोग थे। असल में उन्हें हिन्दुओं ने ही मुसलमान बनाया है। प्रलोभन के कारण भी कई लोग मुसलमान बने होंगे, पर अगर हिन्दू समाज शुद्ध होता तो

1. लेखक के साथ बातचीत से।

लोग प्रलोभन के शिकार भी क्यो बनते ? आज हिन्दू और मुसलमान दोनो अपने को अलग कौमे मानने लगे हैं । क्या वे सचमुच दो अलग कौमे हैं ? तब तो कहना होगा कि हिन्दू और ईसाई भी, हिन्दू और सिख भी, हिन्दू और बौद्ध भी, सभी अलग-अलग कौमे हैं । फिर यह भारतवर्ष किसका है ? नही, हिन्दू और मुसलमान दो अलग कौमे नही हैं । दोनो के हित सम्बध भी परस्पर विरोधी नही है । दोनो भाई-भाई है । दोनो की सस्कृतिया भी परस्पर पोषक हैं, परस्पर विरोधी नही । आज जो दोनो के बीच वैमनस्य दीख पड़ता है, वह अग्रेजो का बनाया हुआ है । दोनो को अलग रखने की नीति के कारण ही देश का विभाजन हो सका । इससे मुसलमानो का फायदा हुआ होगा, पर उनका सामाजिक और नैतिक सामर्थ्य तो क्षीण ही हुआ है । उनकी दृष्टि भी सकुचित हुई है । दोनों के बीच अलगाव को क्या हम ऐसे ही चलने देगे ? नही ? तो इलाज क्या है ?...

सोचते-सोचते पुरान ऋषियो का एक सूत्र उनके सामने आया—दीर्घंपश्यत् मा ह्रस्वम् । हमेशा दूर का देखो, पास का नहीं । जीवन-विद्या के इस सूत्र को सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्र में अब चलाना होगा । हिन्दू-मुसलमान, हिन्दू-ईसाई, हिन्दू-सिख सभी सम्प्रदायो के लोगों को एक जगह लाकर उनके बीच भाईचारा स्थापित करना होगा । समन्वय का यही एक रास्ता भारत को बचा सकता है ?...

उन्हे उत्कटता के साथ महसूस होने लगा कि इसी समन्वय के कार्य के लिए ही अपना शेष जीवन अर्पित करना होगा । यही एक काम है, जो मुझे शेष जीवन मे उत्कटता के साथ करना है ।

संस्कृति के परिव्राजक

गांधीजी को बचाने के लिए

शेष जीवन के कार्य की दिशा तो निश्चित हो चुकी थी। पर शेष जीवन कितने वर्षों का है, यह कौन बताए ? जवानी मे प्रवेश किया तभी से वह न जाने क्यो—यही मानते आए थे कि उन्हे साठ साल ही जीना है, बस इतनी ही अपनी आयु है। इस समय उनकी उम्र बासठ साल की थी—साठ से दो साल अधिक। मनुष्य के जीवन मे साठ से उनहत्तर साल का काल बडा निर्णायक होता है। अधिकतर लोग अकसर इसी बीच चल बसते हैं। इसलिए मृत्यु किसी भी क्षण आ सकती है—उसे न टालने की कोशिश करनी चाहिए, न पाने की उत्कठा रखनी चाहिए, बल्कि उसका सतत स्मरण रखकर ही जीना चाहिए। इस मनोभाव से वह जीने लगे। इसका नतीजा यह हुआ कि एक ओर उनका आतरिक जीवन बडी तीव्र गति से प्रगति करता रहा और दूसरी ओर से उनका बाह्य जीवन सभी तरह के झझटो से निर्लिप्त रहने लगा। गीता की परिभाषा मे कहे तो उनका जीवन अकर्म मे कर्म और कर्म मे अकर्म का एक उत्कृष्ट नमूना बन गया।

समन्वय कार्य के लिए उन्होने कोई बडा आयोजन खडा नही किया। भाषणो, सम्भाषणो, चर्चाओ, लेखों, पत्र-व्यवहार और प्रत्यक्ष सम्पर्क के द्वारा जो-कुछ हो सकता था, उसी से सतोष कर लिया। कोई बडा आयोजन खडा किया और बीच मे ही चल बसे तो ? उन्हे अपने पीछे कोई अव्यवस्था नही छोडनी थी। इस विषय मे वह बड़े सजग रहे। उन्होने ऐसी सस्थाए देखी थी, जो सस्थापको की मृत्यु के बाद कार्यकर्त्ताओ की अदरूनी राजनीति का अखाड़ा बन गई थी और अपने मूल उद्देश्यो को बिलकुल भूल गई थी। इसलिए ऐसी कोई सस्था उन्हे अपने पीछे नही छोडनी थी। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा को भी उन्होने उतनी ही मर्यादा मे रखा, जिससे आवश्यकता महसूस होने पर उसको अपने जीवन मे ही अपने हाथो से किसी भी क्षण भग किया जा सके।

उनका विश्वास था कि यह दुनिया अनाथ नही है, इसका सचालन करने वाली एक शक्ति है। यह विश्वास उनमे इतना अत्यधिक जीवत था कि वह लगभग अनुभव-जैसा बन गया था और उनके जीवन के साथ एकरूप हो गया था। इसलिए उन्हें किसी भी प्रकार की चिंता नही थी। जो छोटी-मोटी सेवा अपने हिस्से मे आई, उसे वे ईश्वर की भेजी हुई समझकर बडी ही लगन के साथ, पर फलाशा रहित कहते रहे।

शेष जीवन मे ऐसी कई छोटी-मोटी सेवाए उनके हिस्से मे आई।

गाधीजी के बलिदान के बाद छह हफ्तो मे--यानी 1948 के मार्च के मध्य मे, सेवाग्राम मे एक सम्मेलन हुआ, जिसमे गाधीजी की जीवन-दृष्टि को मानने वाले लगभग पाच-सौ छोटे-बड़े रचनात्मक कार्यकर्त्ता इकट्ठा हुए थे। इस सम्मेलन ने जो कई निर्णय लिए उनमे एक गाधीजी के जीवन से सम्बधित एक सग्रहालय (म्यूजियम) की स्थापना करने का भी निर्णय था। काका साहब इसके सगठक बनाए गए।

काका साहब ने यह काम बडी लगन के साथ हाथ मे ले लिया। वह जानते थे कि इस देश मे महापुरुषो की हमेशा पूजा होती आई है और लोग महापुरुषो का अनुसरण करने के कर्त्तव्य से अपने को बचाते आए हैं। जिन्होने असमिया भाषा की प्रतिष्ठा बढाई, उनमे सबसे बड़े थे सत कवि शकरदेव। उनकी कलम से लिखी गई पोथियो की असम मे पूजा की जाती है, यह उन्होने देखा था। गुजरात मे सहजानंद स्वामी के शिष्यो के पास स्वामीजी की इस्तेमाल की हुई कई चीजे हैं, जो पूजी जाती है। महाराष्ट्र मे संत रामदास की पादुकाओं की पूजा होती है। श्रीलका के कडी मे बुद्ध भगवान का एक दात पूजा मे रखा गया है। गोवा मे ख्रिस्ती सत फ्रासिस जेवियर का शव भी पूजा जाता है। काका साहब कहते थे कि गाधीजी को इस संकट से बचाना हो तो यह नितांत आवश्यक है कि उनका एक म्यूजियम खड़ा कर दिया जाए, जिसमे उनकी इस्तेमाल की हुई चीजे, उनके फोटो, चित्र, व्यग्यचित्र, उनकी आवाज के रिकार्ड आदि चीजें रखी जाए और संग्रहालय की बगल मे एक पुस्तकालय भी खड़ा कर दिया जाए, जिसमे उनकी लिखी पुस्तकें, उनके साथियों की पुस्तकें, उनके विरोधियों की लिखी हुई पुस्तके, उनके पत्र आदि साहित्य एकत्र रखा जाए। अगर हमने ऐसा कुछ नही किया तो लोग या तो उनके मंदिर स्थापित करेगे या उनके माहात्म्य

लिखेंगे। कुछ भी न करना मनुष्य स्वभाव के विरुद्ध है और जब कुछ किए बिना रहा नही जाता, तब शुद्ध और शुभ प्रवृत्ति हम क्यों न करें ? गांधीजी अपने बलिदान के द्वारा अब केवल भारत के नही रहे है, बल्कि सारे संसार के बन गए हैं। अब बाहर के लोग भी इस देश मे आएगे, गाधीजी के बारे मे जानना चाहेंगे, उनके लिए प्रामाणिक जानकारी किसी एक जगह उपलब्ध करा देनी चाहिए।

वह यह भी कहते थे कि इस देश के लोगो ने महापुरुषो की जीवनिया कभी नही लिखी। जीवनियो के बदले माहात्म्य लिखे और सत्य घटनाओ के बदले चमत्कार लिखे। और चमत्कार एक ऐसा मसाला है जो अपने-आप फैलता जाता है। गाधीजी के जीवन काल मे ही उनके बारे मे तरह-तरह की गाथाएं प्रचलित हुई थी। सत्य के अनन्य उपासक की असत्य कथाए फैलने देना एक तरह का गाधी-द्रोह है। इसलिए यह आवश्यक है कि गाधीजी के बारे म जो भी सामग्री मिल सकती है, वह सारी इकट्ठी कर दी जाए, ताकि जो उनकी प्रामाणिक जीवनी लिखना चाहे, उसे वह उपलब्ध हो। समय पर यह सब एकत्रित नही किया गया तो सम्भवत. काल के अन्तराल मे वह सब लुप्त हो जाएगा और हम लोग उनके मदिर बनाने के लिए और उनके माहात्म्य लिखने के लिए प्रवृत्त हो जाएगे और उनका अनुसरण करने के कर्त्तव्य से बच जाएगे।

गाधीजी को इस सकट से बचाने के लिए उन्होने यह सग्रहालय और उसके साथ एक पुस्तकालय खड़ा करने का काम अपने हाथ मे ले लिया। पूरे पाच साल उन्होने इस काम के लिए दिए और उसे व्यवस्थित रूप देकर उससे मुक्त हो गए।

नई दिल्ली मे राजघाट पर गाधीजी की समाधि के पास ही यह गांधी स्मारक सग्रहालय आज स्थापित है।

भारत सरकार ने संपूर्ण गांधी वाङ्मय ऐतिहासिक क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया, तब इस विभाग की सलाहकार समिति के भी वे सदस्य रहे और इस काम मे सम्पादकों को मौलिक योगदान देते रहे।

इसी बीच और एक महत्व का काम उनके जिम्मे आ पडा। सन् 1953 मे भारत सरकार ने देश के पिछड़े वर्गों की स्थिति का अध्ययन करने के लिए और उनकी मदद करने के उपाय सुझाने के लिए एक आयोग नियुक्त किया और उसका अध्यक्ष पद काका साहब को सौपा गया।

इस आयोग के सदस्य सभी सरकार के चुने हुए थे।

आयोग के कार्यादेश ने पिछड़े वर्गों को तीन श्रेणियों में बांट दिया। 1. अनुसूचित जातियां—अर्थात अस्पृश्यता के अन्याय की शिकार बनी हुई हरिजन जातियां। 2. अनुसूचित आदिम जातियां—अर्थात् गिरिजन जातियां, जो पहाड़ों मे या मैदानी इलाकों मे समाज से दूर रहकर जीवन बसर कर रही है। और 3. ऐसी जमातें, जो यद्यपि न सामाजिक बहिष्कार की शिकार बनी हैं, न समाज से अलग रहती हैं, फिर भी अपने ऊपर थोपे गए हीन भाव से इतनी ग्रस्त हैं कि अब उस हीनभाव को ही अपने लिए स्वाभाविक मानने लगी है।

इनके अलावा और एक जाति के लोगों का इस श्रेणी मे समावेश किया गया था, जिन्हें अंग्रेजों के जमाने मे जरायमपेशा या अपराधी जनजातिया कहते थे।

जो लोग सरकार चलाते थे और जो देश के नवनिर्माण मे और अपने केरीयर को साधने में लगे हुए थे, वे पिछड़े वर्गों की समस्याओ को हरिजन-गिरिजनों की समस्याओ के रूप मे देखते थे। हरिजन-गिरिजनों की समस्याओ को काका साहब अल्पसंख्यकों की समस्या मानते थे, जबकि पिछड़े वर्गों की समस्या उनकी दृष्टि से बहुसंख्यकों की— अर्थात राष्ट्र के पुनर्निर्माण की समस्या थी।

आयोग की नियुक्ति के बाद दिल्ली के पत्रकारों की एक सभा मे उन्होने जो भाषण दिया, उसमें उन्होंने कहा था :

> कमीशन की रिपोर्ट को दो भागों मे प्रस्तुत करने का हमारा विचार है। एक भाग ऐसा होगा, जिसमे वे बातें रहेंगी जो सरकार के करने की है— अर्थात ऐसे कानून बनाना, जिनसे पिछड़े वर्गो की हालत सुधरे और उनकी कठिनाइया दूर हों। दूसरा भाग सारे राष्ट्र के लिए होगा, जिनमे वे बातें दी जाएंगी, जो सारी जनता के करने की हैं।

इस काम को लेकर काका साहब ने फिर एक बार कश्मीर से कन्याकुमारी तक और द्वारका से सदिया तक भारतवर्ष के कई चक्कर लगाएं। देश के कोने-कोने में वे घूम आए और पिछड़े वर्गो के लोगों के बारे में आवश्यक जानकारी इकट्ठा करके दो वर्षों के भीतर सरकार को उन्होंने अपनी रिपोर्ट पेश की। समाज विज्ञान में गहरे पैठे हुए एक क्रियाशील चिंतक की अध्यक्षता का लाभ इस आयोग को मिला था। पर दुर्भाग्यवश आयोग के सदस्यों और उनके बीच

हमेशा दृष्टिभेद रहा। फलस्वरूप जो रिपोर्ट पेश की गई, उस पर सद्भाव कायम रहे इसलिए उन्होने दस्तखत किए—विरोध-टिप्पणी नही लिखी, किन्तु प्रस्तावना के रूप मे राष्ट्रपति के नाम उन्होने जो पत्र लिखा, उसमे उन्होंने अपने ऐसे कई विचार रखे, जो रिपोर्ट की सिफारिशों से मेल नही खाते थे। नतीजा : सरकार ने यह रिपोर्ट विवादास्पद मानी और ताक पर रख दी।

पिछड़े वर्गों की उन्नति के बारे मे काका साहब के अपने विचार थे, जो गहरे चिंतन के बाद और अब निरीक्षण के बाद स्थिर हुए थे। आयोग की कालावधि समाप्त होते समय सन् 1955 मे लिखे हुए लेख मे उन्होने बताया था कि इन लोगों का पिछड़ापन अगर दूर करना हो तो :

> देश का राज-कारोबार अंग्रेजी मे नही चलना चाहिए, बल्कि लोगों की भाषा मे चलना चाहिए। इससे इन लोगों का राजनीतिक ज्ञान भी बढ़ेगा और वे सरकारी नौकरियो मे भी पहुच सकेंगे। इन लोगों को अंग्रेजी पढाना नामुमकिन भी है और बेवकूफी भी है। दूसरी बात, इन लोगो के अपने उद्योग हुनर है, जो आज नही चलते। उन्हे फिर से जीवित करना चाहिए। उनके चलने मे जो बाधाए आती हैं, उन्हे दूर करना चाहिए। इससे उनको रोजी भी मिलेगी, उनमे आत्मविश्वास भी पैदा होगा और उनका पिछडा-पन भी दूर हो जाएगा। तीसरी बात, 'इन लोगो मे शिक्षा का प्रचार बहुत ही कम है। अत. सबसे पहले बुनियादी शिक्षा गावो तक ले जानी चाहिए और चौथी बात, 'समाज मे जो ऊच-नीच का भाव है, उसे मिटाने के लिए हर गाव मे समता आश्रम खोल देने चाहिएं, जहा ब्राह्मण और हरिजन, शहरबासी और गिरिजन, हिन्दू, मुसलमान, इसाई सब एक साथ रहे, साथ खाना पकाएं, साथ बैठकर खाए, पाखाना-सफाई का काम भी सब एक साथ करे।

लोक भाषाओ मे शासन का कारोबार चलाना, शिक्षा को गांवो तक ले जाना, लोगो का सहजीवन बढ़ाना और ग्रामोद्योगों को पुनर्जीवित करना—यही था काका साहब का देश के पिछड़ेपन को दूर करने का चतुर्विध कार्यक्रम। रिपोर्ट के साथ राष्ट्रपति के नाम लिखे गए पत्र मे उन्होने लोगों को चौकाने वाली एक-दो बातें कही थी। उन्होने यह बताया था कि पिछड़े वर्गों को परेशान करने मे उनके वर्ग के ही कई लोग बड़ा हिस्सा लेते हैं। अतः उनका सुझाव था कि

पिछड़े वर्गों मे से जो आगे बढ़ चुके हों, उनकी सफेदपोश लोगों के साथ लड़ने की शक्ति अवश्य बढ़े। पर साथ-साथ यह देखना होगा कि अपने ही वर्ग के लोगों को परेशान करने की उनकी शक्ति घटे। उन्होने एक और सुझाव रखा था कि मैला उठाने का काम जो लोग करते आए हैं, उनके हाथ से यह काम तुरंत छीन लिया जाए और उन्हें विद्यार्थियों के होस्टलो मे तुरंत जगह दी जाए। तीसरी एक बात थी, सम्पूर्ण स्त्री जाति को जिनमे उच्च वर्ग की पढ़ी-लिखी महिलाएं भी आती हैं, उन्होने पिछड़ी हुई जातियो मे समाविष्ट कर दिया था।

> इससे सरकार मे और संसद मे जो महिलाएं थी, बहुत नाराज हुई। मगर मैं क्या करता ? पवित्र और तेजस्वी समाज सेवको के प्रचार के कारण हम हरिजन-गिरिजनो की हालत समझ सके। हरिजन गावो के बाहर रहे, गिरिजन जंगलों मे जाकर बसे। पर स्त्री जन तो हमारे साथ ही रहती हैं। हमारे कुटुम्ब की अग हैं। इसीलिए सम्भवत: उनके प्रति होने वाला अन्याय हमारे ध्यान मे नही आता। पश्चिमी शिक्षा के कारण हममे भले ही स्त्री-दाक्षिण्य आ गया हो, भले ही स्त्रियो मे शिक्षा का प्रचार हुआ हो, हमारी कुटुम्ब और समाज-व्यवस्था मे स्त्रियो को अभी भी योग्य स्थान नही मिला है। वह अब भी अबला ही मानी जाती हैं।[1]

आचार्य कृपलानी कभी-कभी कहते थे, हम एक बहुत बड़े देश के बहुत छोटे नागरिक हैं। एक बहुत बडी संस्कृति के बिलकुल नालायक वारिस हैं। काका साहब को लगता था : कृपलानी का कथन भले ही मुहफट-सा लगता हो, पर वे जो कहते हैं, यह बात सौ फीसदी सही है। भारत मे इससे पहले इतने बड़े पैमाने पर प्रजातत्र की स्थापना कभी नही हुई थी। भारत ने इतिहास काल मे बड़े-बड़े साम्राज्य जरूर देखे। पर प्रजातत्र के तौर पर छोटे-छोटे गणराज्य ही देखे थे। आज का हमारा प्रजातत्र अभूतपूर्व है, अनोखा है। उसका भविष्य हम पुराना मानस लेकर नही बना सकते। अनोखे प्रजातंत्र का भविष्य अनोखा हो, यह अगर हमारी इच्छा हो तो हमे सबसे पहले अपना मानस बदलना होगा। स्वराज्य के पहले कांग्रेस ही एक ऐसी संस्था थी, जो नए जमाने की चुनौतियों को स्वीकार करके देश को आगे ले चलने का प्रयास करती थी। काग्रेस ने अपनी

1. लेखक के साथ बातचीत से।

राष्ट्रीयता के आदर्श मे धर्मभेद और जातिभेद जैसे दृढ़मूल असामाजिक शक्तियो को हस्तक्षेप नही करने दिया। आज? आज तो इस संस्था की सारी शक्ति और प्रतिष्ठा छोटे-बड़े यंत्रोद्योगों को बढ़ावा देकर लोगों की आर्थिक स्थिति सुधारने के प्रयासो मे ही खर्च होने लगी है और अगले चुनाव की ओर नजर रखकर ही वह सारे काम करती है, मानो चुनावों के लिए ही वह जीती हो। कांग्रेस विरोधी दूसरे राजनीतिक पक्षों की भी यही स्थिति है। वे भी जो-कुछ करते है, चुनाव जीतने की दृष्टि से ही करते है। इस हालत मे राष्ट्र का मानस बदलने का, राष्ट्रीय एकता का प्रयास करने का, लोगो को प्रबोधन करने का, उन्हे नीद से उठाने का, उनके कर्तव्यों के प्रति उनका ध्यान खीचने का काम किसका है? राष्ट्रीय एकता ऊपर से लादी नही जा सकती। वह तो लोगों के दिल मे उत्पन्न होनी चाहिए। राष्ट्रीय एकता की इतिहास-सिद्ध शर्ते कई हैं। यह सब ज्ञान लोगों को कौन दे? जो राष्ट्रीय मानस हमने विरासत मे पाया है, वह भी बड़ा विचित्र है या यों कहिए, अपने ढंग का है। उसे अगर हम ठीक तरह से न समझें तो हम सही रास्ते पर चल ही नही सकेगे। इस देश के लोगों ने राजा को भले ही विष्णु का अवतार माना हो, पर उससे उन्होंने कोई बड़ी उम्मीदे कभी नही रखी। बाहरी या अंदरूनी क्षोभ हो तो उसका वह सामना करे, लोक-सस्कृति के अनुकूल न्यायदान दे, खेती को नष्ट करने वाले पशुओं का शिकार करे। बस, राजा के इतने ही कर्तव्य हमने मान्य किए थे। लोक-शिक्षा की जिम्मेदारी समाज-मान्य ऋषियों की थी। सामाजिक नियत्रण के कानून ऋषि ही बनाते थे। यही नही राजा किस तरह राज्य करे यह भी वे ही तय करते थे।

समाज-मान्य संस्कृति के बदले कोई राजा अगर लोगो पर नई सस्कृति थोपने का प्रयत्न करता तो और तभी लोग बगावत में खड़े होते थे। हिरण्यकशिपु ने ऐसा एक प्रयत्न किया, तब उसे अपने बेटे का ही सामना करना पड़ा था। इतना यह अपवाद छोड़ दें तो देखेंगे कि इस देश की प्रजा हमेशा राजाओं के और राज-काज के बारे में सदा उदासीन ही रही।

सत्यवान का पिता बड़ा लोकप्रिय राजा था। उसे दूसरे एक राजा ने खदेड दिया। प्रजा ने क्या किया? केवल 'हाय, बेचारे को राज खोना पड़ा। बहुत अच्छा राजा था।' बस इतना ही कहकर वह अपने दैनंदिन कामों मे व्यस्त रही। कुछ समय के बाद सत्यवान के पिता ने अपना राज्य फिर से अपने हाथ में ले लिया। लोगों के मुंह से बस इतना ही निकला, 'यह अच्छा हुआ। बेचारे को

नाहक इतना कष्ट सहन करना पड़ा ।' ऐसे वर्णनों से यहां की प्रजा के मानस का क्या अनुमान लगाया जा सकता है ? ऐसा मानस लेकर हम स्वराज्य मजबूत कर ही नहीं सकते ।

अब दूसरी बात––मुसलमान यहां आए, उनसे पहले इस देश पर कइयों ने आक्रमण किए थे, पर बाद में वे सब यहां की संस्कृति से प्रभावित होकर भारतीय समाज में घुलमिल गए । इसीलिए बाहर के आक्रमणों का प्रजा को कभी कोई डर महसूस नहीं हुआ । आक्रमणों से डरने का काम गद्दी पर बैठे हुए राजाओं का ही था । देश को मुट्ठी-भर पठानों ने हराया । उन्होंने हमारे समाज का निरीक्षण किया था । उन्होंने देखा था कि यहां तो अंधेर नगरी है । कौन राज्य करता है, इसकी किसी को पड़ी ही नहीं है । वे आए और एक-के-बाद एक राजा को हराते गए और आसपास के राजा केवल देखते रहे ।

हमने कभी बाहर के देशों का निरीक्षण किया है क्या ? हम बाहर जाते ही नहीं थे, ऐसी बात नहीं है । पर बाहर के समाजों का निरीक्षण करने की इच्छा ही हमें नही थी ।

जब विदेशी आक्रमण होता है तब आपसी बखेड़े, मतभेद आदि सब भूलकर सर्वनाश से बचने के लिए राजाओं और प्रजाओं को संगठित होना चाहिए, इस तरह की शिक्षा वेदकाल से लेकर अब तक किसी ने हमें नहीं दी । हम धर्म का रक्षण करेंगे तो धर्म हमारा रक्षण करेगा—धर्मो रक्षति रक्षितः, इस धर्मवचन पर हमने विश्वास रखा । स्मृतियों में क्षात्र-धर्म के बारे में विस्तार से लिखा गया है । पर जब लड़ाई होती है, तब उसमें धर्म पालन करके स्वर्ग पाना यही उद्देश्य नहीं होता, बल्कि शत्रु को हराकर विजय पाना यही एक उद्देश्य हो सकता है, यह क्षात्र-धर्म में कहीं नहीं लिखा है । इसलिए हम लड़ाई में बहादुरी से लड़ते रहे और स्वर्ग ही पाते रहे—देश को बचा नहीं सके ।

हमने यह भी माना कि देश की रक्षा करने का काम केवल क्षत्रियों का है । उसी का वह धर्म है, इसलिए जब क्षत्रिय गफलत में रहते और हार जाते, तब सारा राष्ट्र अपने आप हार जाता था । देश की रक्षा की जिम्मेदारी आम प्रजा की भी होनी चाहिए, यह तो अब भी हमें कोई नहीं बताता ।

जाति-भेद के कारण लोग अलग-अलग समाज बनाकर रहने लगे । फलस्वरूप, जो अपनी जाति के हैं, वे ही अपने हैं, इस तरह सोचने की हमें आदत पड़ गई

है। बाहरी व्यवहार में यानी लेन-देन मे हम एक-दूसरे से मिलते है, इसमे कोई शक नही। पर इस सहयोग मे आत्मीयता का अभाव ही रहता है। फिर जितनी जातियां उतने समाज, ऐसी स्थिति हो जाती है। धर्म समाजों की बात ही दर किनार। किन धर्म-समाजों के लोग धार्मिक जोश-जुनून से देश को धोखा दे देंगे, कह नहीं सकते, ऐसे संदेह मन मे उत्पन्न होते हैं। भले सभी भारतीय नागरिक हों, राष्ट्र-हित की दृष्टि से कुछ धर्म-समाजों के लोगों को प्रशासन मे ऊंचे स्थान पर रखना खतरनाक है, इस तरह के विचार मन मे आते हैं। पाकिस्तान को स्वीकार करने के बाद भारतीय मुसलमानों की निष्ठा के बारे मे मन में सदेह रखना बिलकुल गलत है, न रखना यह भी गलत है। सभी मुसलमानों को पाकिस्तान भेज दें, तो भी सवाल हल नही होता। क्योंकि देश मे ईसाई भी हैं, सिख भी हैं। नतीजा जितने धर्म-समाज उतने राष्ट्र, इस स्थिति को स्वीकार करने के लिए हम बाध्य है।

इतने राष्ट्रीय दोष, इतनी कमजोरियां जिस राष्ट्र मे हैं, वह राष्ट्र अपना अनोखा भविष्य किस तरह बनाएगा। कहां तक हम इन दोषों और कमजोरियों को निभाते रहेंगे। इस रुग्ण स्थिति को अगर हम स्वाभाविक मानने लगें, जैसाकि हम मानने लगे है, तो जीवन के इस कलह के कारण इस देश को हार ही खानी पड़ेगी। लोगों को अलग-अलग रहने देना और जिनके लिए यह स्थिति अनुकूल नही है, उन्हें खास सहूलियतें, खास अधिकार देना, इस 'अंग्रेजी इलाज' से हमने अपनी राष्ट्रीय कमजोरी को दृढ़ ही बना दिया है। राजनीति मे पड़े हुए नेताओं को न तो कोई दूसरा इलाज सूझता है और यदि सूझता है तो लोगो के सामने रखने की उनमें हिम्मत नही है।

जाति-भेद तोड़ने होंगे, धर्म-भेद मिटाने होंगे, यह देश के लोगों को कौन समझाएगा। राजनीतिक पक्ष यह काम नही कर सकते। देशहित की चिंता रखने वाले और अधिकारों की स्पर्धा से अपने को अलग रखने वाले मनीषियों का ही यह काम है।

काका साहब का यह एक स्वेच्छा-स्वीकृत काम रहा। सन् 1950 से हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के मुखपत्र के रूप मे उन्होने 'मंगल प्रभात' नामक एक पत्रिका चलानी शुरू की। काका साहब ने अब तक जो पत्रिकाएं सम्पादित की, उनमें 'मंगल प्रभात' सबसे अनोखी पत्रिका है। 1950 से 1956 तक वह मासिक पत्रिका के रूप में चलती रही। 1957 से 1959 तक वह साप्ताहिक पत्रिका

के रूप में चलने लगी। 1959 से 1976 तक वह पाक्षिक रूप मे चलती रही। इसमें न समाचार रहते थे, न विज्ञापन। मनोरंजन की सामग्री का तो उसमे प्राय: अभाव ही रहता था। पर उसमें जो आता था, वह काका साहब की परिपक्व प्रतिभा और चिंतन का निचोड़ था। 'मंगल प्रभात' की पुरानी फाइलों पर एक सरसरी निगाह डालने पर यही प्रतीत होता है कि राष्ट्रीय जीवन का शायद ही ऐसा कोई प्रश्न होगा, जो उनकी कलम से अछूता रहा हो। जीवन के सहस्रों प्रश्नों मे शायद ही ऐसा कोई प्रश्न होगा, जो उनके मौलिक चिंतन से अस्पृष्ट रहा हो। एक ही व्यक्ति द्वारा सर्जित इतनी विपुल और इतनी विविध सामग्री शायद ही और कही देखने को मिलेगी। उनके पास ज्ञान का अखंडित स्रोत था। इसलिए कामधेनु की तरह उनकी कलम से अप्रतिहत रूप मे प्रवाहित होती रही।

काका साहब एक जन्मजात शिक्षक थे। पत्रकारिता को उन्होंने व्यापक राष्ट्रीय शिक्षा का एक अंग माना था। शिक्षक के मनोभावो को लेकर ही वह इस क्षेत्र मे विचरते रहे। उन्होंने राष्ट्र कार्य मे हिस्सा लेना शुरू किया, उस समय देश मे पत्रकारो के दो आदर्श चलते थे। एक मोतीलाल घोष, रामानंद चट्टोपाध्याय, नटराजन-जैसों का तो दूसरा तिलक, आगरकर, अरविंद घोष, गांधीजी-जैसो का। दोनों सर्वांगीण विचार-प्रचार के हिमायती थे। पर पहली कोटि के पत्रकार साहित्य के द्वारा जो सांस्कृतिक सेवा हो सके उतनी करके संतोष मानने वाले थे, जबकि दूसरी कोटि के पत्रकार प्रधानतया कार्य परायण होने से देश-सेवकों की अडिग सेना खड़ी करने में विशेष रुचि रखते थे और उसी मे पत्रकारिता की सफलता मानते थे।

काका साहब इस दूसरी कोटि के पत्रकार थे।

समाज को कटु सत्य सुनाने मे वे कभी बाज नही आए।

गांधी-विचार के व्याख्याता

काका साहब की साहित्य सम्पदा मे पत्रकार काका साहब का योगदान बहुत बड़ा है। समीक्षको ने इस साहित्य को प्रचारक काका साहब का साहित्य कहा है। वस्तुत: वह शिक्षक या मिशनरी काका साहब का साहित्य है। जिंदगी-भर वे शिक्षक ही रहे। गुजरात विद्यापीठ छोड़ने के बाद उन्होंने विधिवत कही नहीं पढ़ाया। फिर भी उनके आसपास का वातावरण हमेशा मानो किसी विद्यापीठ

के जैसा ही रहा। ज्ञान का आगम और निर्गम उनके आसपास हमेशा चलता रहा। प्रवास में भी वे यही वातावरण लेकर घूमते थे। पढ़ना, लिखना, लिखवाना रेलवे में भी चलता था। पत्रकार काका साहब शिक्षक काका साहब का ही एक रूप था।

शिक्षक काका साहब की जो पहली पुस्तक गुजराती में प्रकाशित हुई, उसका नाम था 'स्वदेशी धर्म'। इसके अंग्रेजी अनुवाद की ओर रोमा रोलां का ध्यान गया और वह कुछ विवादास्पद सिद्ध हुई। इसके बाद अपने साथी नरहरिभाई परीख के साथ उन्होंने एक पुस्तक गुजराती में लिखी, जिसका नाम है, 'पूर्वरंग'। भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास की धाराओं का इसमें विवेचन आता है और यह इतिहास किस तरह लिखा जाना चाहिए, इसकी एक रूपरेखा उन्होंने इसमें प्रस्तुत की है।

असहयोग के दिनों में वे 'नवजीवन' के लेखक बने। साथ-साथ गुजरात की अन्य कई पत्रिकाओं में वे लिखने लगे। सत्याग्रह आश्रम से 'मधपुडी', 'विनिमय' जैसी पत्रिकाएं निकलती थीं और नवजीवन की पूर्ति के रूप में 'शिक्षण अने साहित्य' नामक एक पत्रिका निकलती थी। इन सब पत्रिकाओं में वे नियमित रूप से लिखते आए थे। सन् 1935 तक इस तरह जो लिखा गया, वह सब इकट्ठा करके नवजीवन प्रकाशन मंदिर ने दो खंडों में प्रकाशित किया। इन खंडों का नाम था : 'कालेलकर ना लेखो' भाग 1 और भाग 2। इन दोनों खंडों ने गुजरात के कई नौजवानों को साहित्य सेवा और राष्ट्र-सेवा की दीक्षा दी है। एक राष्ट्र सेवक का नाम अवश्य बताया जा सकता है : गुजरात के प्रसिद्ध ग्राम सेवक बबलभाई मेहता का, जिन्होंने इन खंडों से प्रेरणा पाकर अपना जीवन ग्राम-सेवा के लिए अर्पण कर दिया था।

बाद में इन खंडों का विषयवार सम्पादन शुरू हुआ। फलस्वरूप, सन् 1936 में सबसे पहले 'जीवन विकास' नामक एक ग्रंथ प्रकाशित हुआ—खासा आठ सौ पृष्ठों का। 'शिक्षा शास्त्री' काका साहब के चिंतन का यह नवनीत है। इसमें लगभग 134 लेख हैं, जो आठ खंडों में बांटे गए हैं। यह आठ खंड इस प्रकार हैं : शिक्षा का आदर्श, राष्ट्रीय शिक्षा, शिक्षा के कई अंग, छात्रालय जीवन, विशिष्ट शिक्षा, विद्यार्थी, शिक्षकों का आदर्श और प्रकीर्ण। दूसरे ही वर्ष सन् 1936 में उतना ही दमदार दूसरा एक ग्रंथ प्रकाशित हुआ : 'जीवन भारती'। करीब आठ-

सौ पृष्ठों का, साहित्यकार के रूप में काका साहब के चिंतन का सार इसमें दिया गया है। इसमें उनके साहित्य विषयक लगभग 117 लेख हैं, जो साहित्य विवेचन, साहित्य परिचय, भाषा चर्चा, राष्ट्रभाषा और एक लिपि, इन पांच खंडों में बांटे गए हैं। जगत मान्य कई पुस्तकों का रसास्वादन और मूल्यमापन भी इसमें दिया गया है। दो वर्ष बाद सन् 1939 में सामाजिक जीवन और सांस्कृतिक आदर्शों की चर्चा करने वाला और एक ग्रंथ प्रकाशित हुआ -- पहले दो ग्रंथों जैसा ही भारी : 'जीवन संस्कृति'। आठ सौ सोलह पृष्ठों के इस ग्रंथ में 165 लेख संग्रहीत किए गए हैं, जो संस्कृति, समाज की नींव, वर्ण और जाति, संसार सुधार, गांवों के प्रश्न, गरीबी की समस्या, श्रमजीवन, समाज सेवा की प्रवृत्तियां, हरिजन-सेवा और प्रासंगिक लेख, ऐसे दस विभागों में बांटे गए हैं। इसमें समाजशास्त्री के रूप में काका साहब के चिंतन का निष्कर्ष आता है।

सामाजिक जीवन की चर्चा करने वाली उनकी एक पुस्तक इससे पहले मराठी में प्रकाशित हुई थी : 'हिंडलग्याचा प्रसाद'। बेलगांव के नजदीक की हिंडलगा जेल की यह दैनंदिनी है। इसके गुजराती और हिन्दी में अनुवाद प्रसिद्ध हो चुके थे। नाम था : 'लोक जीवन'।

सामाजिक जीवन में धार्मिक त्योहार असाधारण महत्व रखते हैं। त्योहारों के द्वारा ही समाज अपनी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति करता आया है। कई त्योहारों के पीछे भारत का इतिहास भी छिपा हुआ है। पुराने त्योहारों में से आज रखने लायक कौन-से हैं, वे आज किस रूप में मनाए जाएं, कौन-से नए त्योहार आज प्रचलित किए जाएं, इन बातों की सूचनाएं देने वाली और हर एक त्योहार के अर्थ का मौलिक और रसिक विवेचन करने वाली उनकी पुस्तक 'जीवता तेहवारो' सन् 1934 में प्रकाशित हुई। गुजराती में अब तक इसकी छह आवृत्तियां निकल चुकी हैं। इसके हिन्दी, मराठी और मलयालम अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। मराठी अनुवाद 1940 में प्रकाशित हुआ था। सन् 1972 में जब उसकी दूसरी आवृत्ति प्रकाशित की गई, तब काका साहब ने पिछले पैंतीस वर्षों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के परिवर्तनों को ध्यान में रखकर उसमें काटछांट की और नए आदर्शों के अनुरूप उसमें कई सुधार दाखिल किए। यह 'जीवता तेहवारो' की अद्यतन आवृत्ति कही जा सकती है। इसका मराठी में नाम है : 'जिवंत व्रतोत्सव'।

शिक्षक या मिशनरी के रूप मे काका साहब का सबसे प्रिय विषय रहा : 'गांधीजी'। उनको वह अपने जीवन की सबसे बड़ी खोज मानते थे। उन्ही के शब्दों में कहें तो उन्होंने अपनी सारी मौलिकता गांधीजी को ढूंढ़ने मे खर्च कर डाली थी। हिमालय के एक-से-एक भव्य और दिव्य दृश्यों को देखकर वे इस प्रकार प्रभावित हुए थे कि उनके बारे में बोलते या लिखते कभी थकते नही थे, उसी प्रकार गांधीजी के जीवन के एक-से-एक अद्वितीय पहलुओं को देखकर वे प्रभावित हुए थे और उनका वर्णन या कीर्तन करते कभी थकते नहीं थे। काका साहब की दृष्टि बड़ी विवेकशील थी। बड़े-से-बड़े बुद्धिवादियों से भी अधिक विभेदक और चिकित्सक थी। अंधश्रद्धा के लिए उसमें कोई गुंजाइश नही थी। फिर भी वे अपने को गांधीजी के अंध भक्त कहलाने में गौरव महसूस करते थे। किशोर-लालभाई ने उनके बारे में एक जगह लिखा है :

> गांधीजी के प्रति काका साहब की भक्ति विलक्षण है। कोई उन्हें गाधीजी का अंध भक्त कहे तो उसमें उन्हें शर्म नही मालूम होती। गांधीजी के विचारों का अनुसरण करके अपने विचार बनाने का प्रयत्न करने मे उन्हे हीनता नही लगती। हुबली में हुए गांधी सेवा संघ के सम्मेलन मे गंगाधर-राव देशपांडे ने कहा था : कई लोग हमें गांधीजी के अंध अनुयायी कहते हैं। मैं कहता हूं कि हां, मैं हूं।...गांधीजी की सूझबूझ का अनुभव हमे हो चुका है और हमने देख लिया है कि उनके सामने हमारी बुद्धि बालक-जैसी है। तब फिर विश्वासपूर्वक उनका अनुसरण क्यों न करें ? इसी विचारधारा को काका साहब ने दूसरे रूप मे व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है, धारा-सभाओं में जाने-न-जाने के प्रश्न पर पहली बार जब विवाद हुआ, तब जो लोग धारा सभाओं मे जाने के पक्ष मे थे, उन्हें परिवर्तनवादी (प्रो-चेंजर) कहा जाता था और जो धारा सभाओं मे जाने के विरुद्ध थे, उन्हें अपरि-वर्तन-(नो चेंजर) कहा जाता था। मैं कहता था कि मैं न तो परिवर्तन-वादी हूं, न अपरिवर्तनवादी। मैं तो सहपरिवर्तनवादी (को-चेंजर) हूं। ...यानी गांधीजी जिस पक्ष में जाए, उसी में मैं जाऊंगा। पढ़ने में यह विचित्र लगेगा। पर गंगाधररावजी की पृष्ठभूमि के साथ विचार करने पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह वृत्ति सर्वथा दोषपूर्ण ही है।...काका साहब केवल श्रद्धावान भक्त ही नहीं हैं, बल्कि एक सिपाही भी हैं और सिपाही ऐसे कि योजना बनाने और पूरी करने की क्षमता भी रखते हैं।

गांधीजी ने जिस क्षेत्र मे उन्हें रखा, उसमे पुराने सनातनधर्मी की श्रद्धा, आर्यसमाजी का जोश, सत्याग्रही का हठ, नैयायिक की वाक्पटुता और सफल प्रबंधक की चतुराई से उन्होंने गाधीजी के मत का प्रचार किया। उस मत को दूसरे को हृदयंगम करा कर उसे सुदृढ़ किया और इस प्रकार उसके अमल की व्यवस्था की।

गांधीजी जब तक जीवित थे, काका साहब उनके सिद्धांतो का ही विवेचन करते आए थे। उनके व्यक्तित्व के बारे मे बोलते या लिखते समय उन्हें हिच-किचाहट महसूस होती थी। नोआखली की यात्रा मे गांधीजी अपनी साधना की पराकाष्ठा के अंतिम बलिदान की तैयारी कर रहे थे, तब काका साहब बिलकुल पत्थर-जैसे भावनाहीन होकर लिख नही सकते थे। उन्होंने उस समय एक लेख लिखकर गाधीजी के पास 'हरिजन' मे देने के लिए भेज दिया था। इस लेख मे गांधीजी के बारे मे उनके मन में जो निष्ठा, भक्ति और श्रद्धा थी, वह प्रकट हुई थी। गांधीजी ने वह लेख पढ़कर उन्हे पत्र लिखा : 'अपना नाम निकाल कर लेख प्रकाशित करने भेज दूंगा।...ऐसा तो मेरी मृत्यु के बाद ही आप लिख सकते है, वह भी कलम को अंकुश में रखकर, इसलिए गांधीजी जब जीवित थे, उनके व्यक्तित्व के बारे में वे अधिक लिखते नही थे और अगर लिखते तो कलम को अंकुश मे रखकर ही लिखते थे। पर गाधीजी के देहात के बाद जब देश धीरे-धीरे गांधी-मार्ग से दूर हटता जा रहा—यही नही, पर स्वराज्य-प्राप्ति के दिनों में जो लोग अप्रतिष्ठित थे, जिन्होंने स्वराज्य-प्राप्ति के लिए कोई त्याग नही किया था, राष्ट्रीय विकास के लिए राष्ट्रीय सद्‌गुणों की उपासना भी कभी नही की थी, वे स्वराज्य में जब सिर ऊंचा करके कहने लगे कि गांधीजी का जमाना अब खत्म हुआ है, उनका मार्ग, उनके इलाज आज के जमाने मे चल नही सकते, तब काका साहब बड़ी ही प्रगाढ़ता, उत्कटता और ओजस्विता के साथ गांधीजी के व्यक्तित्व, उनके जीवन सिद्धांतों और कार्यक्रमों के बारे में जोरशोर से लिखने-बोलने लगे। गांधीजी के जीवन सिद्धातो का विवेचन करना, उनके कार्यक्रम समझाना— एक बार कहने से न समझें तो दस बार समझाना, लोग समझें तब तक समझाते रहना, उन्होंने अपना एक प्रमुख कार्य माना।

गांधीजी के बलिदान के बाद की काका साहब की साहित्य-सम्पदा मे सबसे अधिकता इसी साहित्य की है।

सन् 1942 की जेल में उन्होंने गांधीजी के अनोखे रेखाचित्र— लगभग एक सौ एक—लिखवाए थे, जो गांधीजी के देहांत के बाद 'बापू की झांकियां' नाम से मूल हिन्दी में प्रकाशित हुए। हिन्दी मे ही इस पुस्तक की लगभग एक लाख प्रतियां बिक चुकी हैं। इसके गुजराती, मराठी और अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं और हिन्दी के समान ही लोकप्रिय सिद्ध हुए हैं। इसी परम्परा की उनकी दूसरी एक पुस्तक है। 'मीठाने प्रतापे' (हिन्दी मे :' नमक के प्रभाव से') इसमे गाधीजी के साथ यरवदा जेल में बिताए दिनों का वर्णन है। इस पुस्तक के 52 किस्सों मे गांधीजी की एक बडी ही लुभावनी तस्वीर उभर कर आती है।

गाधी कार्य मे शरीक होने के बाद गांधीजी का मुझे जो अनुभव हुआ, उनके चरित्र के जो पहलू मैंने देखे और गांधीजी मे मैने जो-कुछ पाया, उसका थोड़ा कीर्त्तन 'गांधी-चरित्र कीर्त्तन' मे दिया गया है। 53 लेखों का यह सग्रह है, जो गांधीजी की लोकोत्तर विभूति की विशेषताएं बताता है। उनकी संस्मरणात्मक पुस्तकों मे और एक पुस्तक है : 'आश्रम संहिता'। साबरमती आश्रम के प्रारम्भ के दिनों के कई किस्से इसमें दिए गए हैं। किस हेतु से गांधीजी ने आश्रम की स्थापना की, यह हेतु कहा तक सफल रहा, उसकी असफलताओं के कारण क्या रहे, आश्रम चलाने में गांधीजी का उत्साह कम क्यो हुआ, आदि कई प्रश्नो की चर्चा वैचारिक ढंग से संस्मरणात्मक रोचक शैली मे उन्होने इस पुस्तक मे की है। यह पुस्तक बड़ी महत्व की है। आश्रम की बुनियाद मे गाधीजी के बताए हुए एकादश व्रत थे। इन एकादश व्रतो की बुनियाद पर हम एक ओर हिन्दू-धर्म की एक अद्यतन आवृत्ति तैयार कर सकते हैं तो दूसरी ओर सभी धर्मों का सार एकत्र कर उनका एक धर्म-कुटुंब बनाने की भूमिका भी तैयार कर सकते हैं। यह एकादश व्रत सार्वजनिक जीवन के व्याकरण के ग्यारह महत्व के सार्वभौम नियम हैं। स्वयं गांधीजी ने इन व्रतों पर एक छोटी-सी व्याख्या लिखी है, जो 'मगल प्रभात' के नाम से प्रकाशित हुई है। काका साहब ने भी अपनी 'जीवन-संस्कृति की बुनियाद' नामक छोटी-सी पुस्तक मे इन व्रतों का अपने ढंग से विवेचन किया है। इन्ही व्रतों की व्याख्या विस्तार के साथ उन्होंने और एक पुस्तक मे की है. जिसका नाम है : 'गांधीजी के जीवन सिद्धांत'। पर यह पुस्तक अभी तक अप्रकाशित ही है। उनकी अप्रकाशित पुस्तकों में दूसरी महत्व की पुस्तक है : 'अहिंसा की जीवन दृष्टि'। गांधीजी जब नोआखली मे थे, तब उनके

एक पाठक मित्र ने उनसे अनुरोध किया था कि अहिंसा की सागोपाग चर्चा करने वाली एक पाठ्य पुस्तक लिखने का अब समय आ गया है, अगर आप समय निकाल नही सकते तो आपके निकटतम साथियो मे से किशोरलाल मश्रुवाला, नरहरिभाई परीख और काका साहब इनमे से किसी एक को यह काम सौप दीजिए। काका साहब की 'अहिंसा की जीवन-दृष्टि' इसी माग की पूर्ति की दृष्टि से सम्पादित की गई है। गाधीजी की अहिंसा जैन और बौद्ध परम्परा की अहिंसा से किन अर्थो मे अलग है और पश्चिम के पैसिफिस्ट लोगों की अहिंसा से किन बातो मे भिन्न, इसका विस्तृत विवेचन – अहिंसा के अन्य अनेक पहलुओ के साथ इस पुस्तक मे किया गया है। गाधीजी का जीवन, उनकी प्रवृत्तिया, उनका समाज पर हुआ असर, भारत को स्वतत्र करने का उनका विशाल कार्य और हिन्दू धर्म मे उनका किया हुआ बुनियादी सुधार - इन सबकी विशेषताओ और उनके परस्पर सम्बधो का एक जीवन व्यापी विवेचन अगर देखना हो तो काका साहब की 'गार्धाजी का जीवन दर्शन' पुस्तक पढ़नी होगी और रचनात्मक कार्यक्रमो के द्वारा गाधीजी सामाजिक, धार्मिक, सास्कृतिक, शैक्षणिक, आर्थिक, नैतिक और राजनीतिक क्षेत्रो मे किस प्रकार सम्पूर्ण क्राति लाना चाहते थे, इसका विवेचन देखना हो तो काका साहब की दो बड़े खंडो मे प्रकाशित पुस्तक 'गाधीजी का रचनात्मक क्रातिशास्त्र' पढ़नी होगी। इसमे शुरू मे रचनात्मक क्राति का व्याकरण स्पष्ट किया गया है। फिर, क्राति के पहले कदम के रूप मे हमे धार्मिक क्राति किस प्रकार करनी होगी और धार्मिक क्राति के लिए किस तरह समन्वय की साधना करनी होगी, यह बताया गया है। क्राति के दूसरे कदम के रूप मे सामाजिक क्राति का विवेचन किया गया है, जिसमे जाति-समस्या कैसे हल की जाए, अपृश्यता-निवारण के कार्य मे जो खतरे स्वराज्य मे पैदा हुए हैं, वे कैसे दूर किए जाए, आदिम निवासी लोगो की सेवा किस ढग से करे, पिछड़े वर्गों की उन्नति कैसे करे, समाज मे महिलाओ को उचित स्थान कैसे दे, आदि कई सामाजिक पहलुओ की चर्चा है। क्राति के तीसरे कदम के रूप मे ग्राम सस्कृति की बुनियाद, ग्रामोन्नति, यत्रो की मर्यादा, औद्योगिक सगठन, भूख की क्राति और जन-सख्या का विस्फोट, गो-सेवा आदि प्रश्नों की चर्चा है। क्राति का चोथा कदम है: सांस्कृतिक क्राति। इसमे राष्ट्र जीवन मे प्रादेशिक भाषाओ का स्थान, हिन्दी की प्राण-प्रतिष्ठा, अग्रेजी का खतरा, नई शिक्षा का आदर्श, लोक शिक्षा में स्वच्छता और आरोग्य शास्त्र इन महत्व के प्रश्नो की चर्चा है। नैतिक क्रांति के पांचवें

कदम में मद्यपान निषेध की समस्या और घूसखोरी का इलाज-जैसे प्रश्नों की चर्चा है तो छठवें कदम मे राजनीतिक क्रांति मे प्रांत-रचना, चुनाव की नीति, विरोध की नीति, विद्यार्थी जगत की उदंडता, राष्ट्र-रक्षा की समस्या, समुद्र का आमंत्रण और अणुबम की चुनौती-जैसे प्रश्नों की चर्चा की है। गांधीजी की 'रचनात्मक कार्यक्रम' पुस्तिका स्वराज्य से पहले लिखी गई थी। इसमें स्वराज्य पाने का तरीका बताया गया था। काका साहब की 'रचनात्मक क्रांतिशास्त्र' स्वराज्य के पच्चीस वर्ष बाद लिखी गई है। इसमे स्वराज्य से सुराज्य की ओर जाने का रास्ता दिखाया गया है। यह इस पुस्तक की विशेषता है।

गाधी-युग मे राष्ट्रभाषा के प्रश्न को लेकर काफी वाद-विवाद हुआ था। स्वराज्य मे भाषा की समस्या ने नया रूप लिया। इस संदर्भ मे भाषा विषयक प्रश्नो की चर्चा काफी महत्व की हो जाती है। काका साहब ने यह चर्चा विस्तार के साथ अपने 'राष्ट्रभारती हिन्दी का मिशन' ग्रंथ मे की है।

दुनिया को गांधीजी की सबसे बड़ी देन थी: सत्याग्रह। स्वराज्य में गांधीजी के ही साथियो ने सत्ता की गद्दी पर बैठते ही कह दिया कि अब लोकतंत्र मे सत्याग्रह के लिए कोई स्थान नही है और उन्होने उसे ताक मे रख दिया। इधर विनोबा जैसे गांधीजी के निकटतम साथी ने सत्याग्रह की सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम प्रक्रिया शुरू कर दी। नतीजा: गांधीजी की इस सबसे बड़ी देन का कोई त्राता देश मे नही रहा। वह पेशेवर राजनीतिज्ञों के और गुंडो के हाथ मे चला गया। काका साहब इससे बहुत चिंतित हुए थे। इस चिंता से जो चिंतन हुआ, वह उनके दूसरे महायुद्ध के समय के चिंतन के साथ जोड़कर 'सत्याग्रह और युद्ध-नीति' नामक पुस्तक मे संग्रहीत किया गया है, तो देश की सुरक्षा का गांधी प्रणीत मार्ग कौन-सा हो सकता है, स्वचक्र और परचक्र के समय अहिंसा मे विश्वास रखने वालों का कर्त्तव्य क्या हो सकता है, इन प्रश्नो की चर्चा 'शांति सेना और विश्व शांति' पुस्तक मे दी गई है।

समन्वय काका साहब के जीवन का ध्येय था। उनके शेष जीवन का यही मिशन था। समन्वय किसलिए और कैसे, इन प्रश्नों की चर्चा उन्होंने 'समन्वय संस्कृति की ओर' पुस्तक मे की है तो समन्वय के संदर्भ मे हिन्दू धर्म का स्वरूप हिन्दू जीवन दृष्टि की कमजोरियां, हिन्दू समाज मे आवश्यक सुधारों की गति-विधियां आदि महत्त्वपूर्ण समस्याओं का चितायुक्त चिंतन उन्होंने अपने 'युगानुकूल

हिन्दू जीवन दृष्टि' नामक ग्रथ में किया है। इसी परम्परा की उनकी दूसरी पुस्तक है : 'युगानुकूल जैन जीवन दृष्टि', जिसमे जैन धर्म की खूबियों और कमजोरियो का विवेचन है।

काका साहब गाधीजी से सन् 1915 मे मिले थे। उसके बाद उन्ही के दिए हुए काम करते रहे। उनसे पत्र-व्यवहार करने की विशेष कोई जरूरत नही थी। फिर भी बीच-बीच मे पत्र-व्यवहार चला। इस तरह जो 139 पत्र उनके पास सग्रहीत हुए थे, उनकी उन्होंने एक पुस्तक बनाई, गुजराती मे इसका नाम है : 'विरल सहवास'। इनमे से कई महत्व के पत्रों के नीचे उन्होने अपनी टिप्पणियां दी है, जिसमे पत्र का सदर्भ पाठकों के ध्यान मे आ सके। यह पत्र-व्यवहार नितात सुदर है। दोनो के बीच का सम्बध कितना गहरा और मीठा था, इसका कुछ आभास हम इस पत्र-संग्रह मे मिलता है।

सन् 1965 मे बम्बई विश्वविद्यालय ने काका साहब को श्री ठक्कर वसनजी माधवजी व्याख्यान माला मे 'गुजरात मां गांधी युग — ऐतिहासिक अने साहित्यिक अवलोकन' इस विषय पर पाच व्याख्यान देने का निमंत्रण दिया। काका साहब ने इस निमत्रण को स्वीकार कर जो व्याख्यान दिए वे उसी नाम से पुस्तकाकार मे प्रकाशित हुए है। गाधीयुग आधुनिक गुजरात का केवल जागृति-युग ही नही, बल्कि स्वर्ण युग भी था। इस युग मे गुजरात की केवल राजनीतिक ही नही, बल्कि सामाजिक, सास्कृतिक और साहित्यिक चेतना भी स्फुरित हुई थी। गुजरात का जीवन और गुजरात का साहित्य दोनों के क्षितिजो का विस्तार जिस तरह इस युग मे हुआ उस तरह इससे पहले कभी नही हुआ था। काका साहब इस युग की केवल सतान ही नही, बल्कि उसके अग्रिम विधायकों मे से एक थे। वे इस युग के बारे मे बोलें, यह सर्वथा उचित था और बहुत महत्व रखता था। यही नहीं, गांधी युग का जो प्रमाणभूत आलेखन और विवरण कर सकें ऐसे अधिकारी व्यक्ति केवल एक मात्र वही हो सकते थे। उनके यह पांचो व्याख्यान सुनने के लिए बम्बई विश्वविद्यालय मे पाचों दिन लोगों की जो विशाल उपस्थिति दिखाई दी थी, वह उनके अधिकार की और जिस विषय का उन्होंने प्रतिपादन किया, उसके महत्व का प्रमाण पेश करती है।

सवाल यह है कि पत्रकार, शिक्षक या मिशनरी काका साहब ने यह जो विशाल साहित्य निर्माण किया—जो वे ही लिख सकते थे—क्या वह गांधी-विचार की केवल व्याख्या ही है ? 'हां' कहना मुश्किल है और 'ना' कहना उससे भी कठिन

है जो हो, हम इस साहित्य को गांधी-विचार की व्याख्या मानें या न मानें, गांधी-विचार के लिए उनका यह मौलिक योगदान है, इतना तो निश्चित रूप से कह सकते हैं।

आनंदयात्री एवं सर्जक साहित्यकार

आमतौर से हम सभी मानते हैं कि कवि वह है, जो कविताएं लिखता है। काका साहब ने एक जगह लिखा है कि कवि की यह व्याख्या अव्याप्त भी है और अतिव्याप्त भी है। कवि तो वह है, जिसके जीवन में काव्य है और जो काव्य जीना जानता हो।

हो सकता है कि जो काव्य लिखता है, उसके जीवन में काव्य बिलकुल ही न हो और यह भी सम्भव है कि जिसने कविता की दो पंक्तियां भी न लिखी हो, उसके जीवन मे भरपूर काव्य हो।

काका साहब ऐसे कवि थे, जिनके जीवन मे भरपूर काव्य था। गुजरात के मानस पर उनकी जो प्रतिमा अंकित हुई है, वह प्रमुखतः कवि की ही है, सौदर्य के उपासक की है, सर्जक साहित्यकार की है। प्रो० ब० का० ठाकोर-जैसे विवेचक ने अपनी 'कविता समृद्धि' मे काका साहब का समावेश गुजरात के सर्वश्रेष्ठ दस गद्यस्वामियों मे किया है और कवि उमा शंकर जोशी ने तो एक जगह लिखा है कि काका साहब की साहित्य प्रवृत्ति को अगर कोई लेबल लगाना हो तो उस पर काका साहब की कविता ही लगा सकते हैं।

मुग्ध सौंदर्यासक्ति, समृद्ध कल्पना, संस्कारों से भरी हुई भावनामयता, अचूक उपमाएं आदि जो गुण उनके साहित्य मे दिखाई देते हैं, वह उनको कवि पद के अधिकारी बनाते हैं।

काका साहब अगर कवि नहीं हैं तो साहित्य मे दूसरा कोई कवि हो ही नही सकता। साहित्य के प्रति उनका बहुत बड़ा अनुराग था। दिक् और काल के सभी अंतर काटकर लोगों को जोड़ने की जो शक्ति साहित्य मे है, उसकी उन्हें बड़ी कद्र थी। दुनिया के किसी भी कोने मे बैठकर साहित्य के द्वारा हम कितनी ही दूर के और किसी भी काल के साहित्यकार के सम्पर्क में रह सकते हैं, उससे

बातें कर सकते हैं, उससे प्रेरणा पाकर जीवन उन्नत और समृद्ध कर सकते हैं, यह जो साहित्य का बड़प्पन है, उसने उन्हें साहित्य का उपासक और सेवक बनाया। साहित्य की इस शक्ति की उन्होंने कभी उपेक्षा नहीं की। जब लिखने बैठते थे, तब इस जानकारी के साथ लिखते थे कि साहित्य के द्वारा अपने समकालीनों को ही नहीं, बल्कि जो पीढ़ियां अभी पैदा भी नही हुई हैं, उनकी भी सेवा कर रहे हैं। साहित्य सेवा त्रिकाल व्यापी संस्कृति सेवा है, यह वह अच्छी तरह जानते थे।

सर्जक साहित्यकार के रूप में वे पहले-पहल प्रकट हुए अपनी 'हिमालयनो प्रवास' (हिन्दी मे, हिमालय की यात्रा) पुस्तक के द्वारा। यह यात्रा-वर्णन की पुस्तक है। इसी पुस्तक ने कवि काका साहब का परिचय गुजरात को करा दिया। सन् 1912-14 के बीच उन्होंने हिमालय मे जो दो ढाई हजार मील की पैदल यात्रा की थी, उसने उनके दिल और दिमाग पर एक अमिट छाप अकित की थी। हिमालय का जिक्र कही होते ही वह हमेशा गृहविरही बन जाते थे। काका साहब कहते हैं :

> जब कोई हिमालय की बात छेड़ता है तो मुझे उतना ही आनद होता है, जितना ससुराल मे रहने वाली बहू को मायके की बाते सुनकर हुआ करता है। लड़की जब मायके से दूर जा पडती है तो वह दिन-रात अपने मायके को और मायके वालों को ही बिसूरा करती है। इस बिसूरने का नतीजा यह होता है कि मायके का प्रत्यक्ष चित्र एक ओर रह जाता है और वह अपने मन में एक प्रेम चित्र का निर्माण कर लेती है। उसके अपने लिए यह प्रेम चित्र ही एक यथार्थ वस्तु बन जाती है। प्रेम चित्र मे रंग इद्रियो का नहीं, हृदय का होता है, आदर्श भावनाओं का होता है।

हिमालय की यात्रा मे उन्होने जो शब्द-चित्र दिए हैं, वे प्रेम-चित्र ही हैं। वे कहते है :

> जिस वस्तु से प्रेम हो जाता है, उस वस्तु का प्रेमरहित विचार हो ही नही सकता। इसलिए मुझसे प्रेम-चित्र छोड दूसरी किसी चीज की अपेक्षा कोई रखे ही क्यों ?

यात्रा का शौक उन्हें बचपन से ही था। पिताजी के साथ उन्होने बचपन में कई यात्राएं की थीं। उन दिनों की दुनिया आज जैसी दौड़-धूप वाली नही थी, बड़ी

धीमी गति से चलती थी। अतः उन दिनों उन्होंने जो यात्राए कीं, अधिकतर पैदल या बैलगाड़ी मे बैठकर ही की थीं। हिमालय की यात्रा भी पैदल ही की थी। पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति, नदी, सरोवर, पर्वत और बादल, प्रकृति के सभी उन्मेषों मे उन्हें ईश्वर के दर्शन होते थे। वे सौदर्य के परम उपासक थे। उनकी आंखें जहा-तहा सौदर्य को ढूढती रहती थी और स्थूल सौदर्य को बेधकर उनकी दृष्टि भीतर का रहस्य-दर्शन करती थी। सौदर्य ईश्वर का ही आविष्कार है, सौदर्य का परिचय सत्य का ही परिचय है, जो सुदर है, वह सत्य भी है, शिव भी है, इस सत्य की प्रतीति उन्हे थी। इसलिए रूप, गुण, भाव, प्रेम सब मे उन्हे सौदर्य दिखाई देता था। इन सस्कारो को स्वराज्य सेवा के कामो ने काफी पोषण दिया। स्वराज्य सेवा के कारण उन्होंने देश मे कई बार चक्कर लगाए। देश मे एक भी ऐसा प्रदेश नही होगा, जहां वे एक से अधिक बार न पहुचे हो। कश्मीर से कन्याकुमारी तक और द्वारका से सदिया तक के इस विशाल भारतवर्ष मे काका साहब ने जितने चक्कर लगाए हैं, उतने आधुनिक काल के और किसी पुरुष ने लगाए हो, ऐसा नही जान पड़ता। अपवाद के रूप मे केवल दो नाम लिए जा सकते ह। एक गाधीजी का और दूसरा, विनोबाजी का। पर, गाधीजी और विनोबा ने हिमालय पात्साक्षात किया हो, ऐसा नही कहा जा सकता। किशोर-लाल भाई कहते है :

> गाधीजी स भी काका साहब का भ्रमण अधिक रहा हो यह असम्भव नही है। किन्तु दोनो की आखों की रचना अलग-अलग है। दोनो ने अपने-अपने भ्रमण मे जो देश-दर्शन किया वह भिन्न-भिन्न प्रकार का और एक-दूसरे के अनुभवों की पूर्ति करने वाला है। गाधीजी के करुणामय और अर्थ शोधक नेत्रो ने देखा कि हिन्दुस्तान गांवो मे बसा हुआ है, जो गाव गदगी के ढेरों के बीच बसे हैं और गंदगी तथा रोगो के केन्द्र हैं। काका साहब के रसपूर्ण और सौदर्यशोधक नेत्रों ने सर्वत्र सौदर्य का प्रसार देखा। वे जहां गए, वहा उन्होने पर्वत देखे, पर्वतों के हिमाच्छादित उच्च शिखर देखे, आकाश को छूने वाल ऊचे-ऊचे वृक्ष देखे, नदियों का विस्तार, निनाद और उनमे एकाएक आने वाली बाढ़ों के दर्शन किए, झरनो का शात और आवेगपूर्ण प्रवाह देखा। वसंत के फूलो, तितलियो तथा पक्षियों मे अद्भुत कारीगरी से सजोए हुए तरह-तरह के रसीले रंगो के दर्शन किए और इस तरह सर्वत्र प्रकृति के सौदर्य विस्तार को देखा। साथ ही उन्होंने सौदर्य के साथ एकरूप हुए कलापूर्ण

हाथों से निर्मित इमारती (भवन निर्माण के) सौंदर्य को देखा, कंठों से अद्‌भुत नाद-सौंदर्य का अनुभव किया और वाणी द्वारा निर्मित भाषा-सौंदर्य के भी दर्शन किए। किन्तु इतना तो उन्होंने दीपक या दिन के अंधेरे में देखा, इससे भी अधिक उन्होंने चंद्रमा की चांदनी से परिपूर्ण या चंद्रविहीन रात्रि के प्रकाश में देखा। पूर्ण चंद्र से निरसित शुभ्र चांदनी और आकाश में क्रीड़ा कर रहे तारों की चंचल आंखों तथा रासमंडली के भी उन्होंने दर्शन किए। उसमें उन्हें पौराणिक आख्यानों के दर्शन हुए और उस सबका भाषा के चमत्कार से परिपूर्ण वाणी में उन्होंने वर्णन किया। उन्होंने सुजल, सुफल, सस्यश्यामल, शुभ्र-ज्योत्स्ना-पुलकित और फुल्लकुसुमित द्रुमदल शोभित देश का वर्णन किया तथा बालसुलभ सरलता से पुकार उठे, इतना अधिक सौंदर्य चारों ओर बिखरा पड़ा है, इसका कोई उपयोग क्यों नहीं करता ?

अपनी इस भारत-यात्रा में काका साहब ने जो-कुछ देखा उसके कुछ ही अंश हमें उनकी दो पुस्तकों में देखने को मिलते हैं : एक है, 'रखडवानो आनंद' (घुमक्कड़ी का आनंद) और दूसरी है, 'जीवनलीला'। पहली पुस्तक में देश के नितांत सुंदर और अत्यंत महत्व के पैंसठ स्थलों के वर्णन हैं तो दूसरी में सत्तर लेखों में देश की नदियां, प्रपातों, सरोवरों, समुद्रतटों के वर्णन हैं। गुजराती भाषा के एक गौरव ग्रंथ के रूप में 'जीवनलीला' को केंद्रीय साहित्य अकादमी ने देश की सभी भाषाओं में अनुवाद करने के लिए चुना है। काका साहब कहते हैं :

नदी को देखते ही मन में विचार आता है —यह आती कहां से है और जाती कहां तक है ?...नदी को जितनी बार देखते हैं, उतनी ही बार यह सवाल मन में उठता है और यह सवाल ज्यों-ज्यों पुराना होता जाता है, त्यों-त्यों वह अधिक गम्भीर, अधिक काव्यमय और अधिक गूढ़ बनता जाता है। अंत में मन से रहा नहीं जाता, पैर रुक नहीं पाते। मन एकाग्र होकर प्रेरणा देता है और पैर चलने लगते हैं। आदि और अंत ढूंढ़ना, यह सनातन खोज हमें शायद नदी से ही मिली होगी।...प्रकृति के निरीक्षण का आनंद अनुभव करते हुए पहाड़, खेत, बादल और उनके उत्सवरूप सूर्योदय तथा सूर्यास्त के रंग चमत्कार मैंने देखे हैं। हरेक की खूबी अलग, हरेक की चमत्कृति अनोखी होती है। फिर भी पानी के प्रवाह या विस्तार में जो जीवनलीला

> प्रकट होती है, उसके असर के समान दूसरा कोई प्राकृतिक अनुभव नही है। पहाड़ चाहे जितना उतुंग या गगनभेदी हो, जब तक उसके विशाल वक्ष को चीर कर कोई बड़ा या छोटा झरना नही झरता, तब तक उसकी भव्यता कोरी, सूनी और अलोनी ही मालूम होती है।

भारत-यात्रा के अपने वर्णनों को काका साहब केवल साहित्य विलास नही मानते, बल्कि भारत-भक्ति का और पूजा का एक प्रकार मानते हैं। भगवान् के गुण गाना जिस तरह नवधा भक्ति का एक प्रकार है, इसी तरह भारत की भूमि, उसके पहाड़ और पर्वत श्रेणियां, नदियां और सरोवर आदि के वर्णनों द्वारा उनका परिचय देना भी वे भारत-भक्ति का एक आनंदमयी प्रकार मानते हैं।

यात्रा वर्णनों की शैली उनकी अपनी है – सीधी, सरल, प्रसन्न, प्रांजल आडंबर-रहित। वाल्मीकि से लेकर रवीन्द्रनाथ तक की जो सास्कृतिक धारा इस देश मे बहती आई है, उसके काका साहब सुयोग्य उत्तराधिकारी थे। इसलिए उनकी प्रसन्न गम्भीर शैली में पिछले पांच हजार साल की संस्कृति की सौरभ भी महकती है। वाकई यह गद्य में बहने वाली कविता ही है।

काका साहब ने बहुत यात्राए की। पर सैरगाह की तरह जीवन का आनंद अनुभव करने के उद्देश्य से कभी नही की। वे एक जगह लिखते है :

> ज्यों-ज्यों मैं यात्रा करता हूं और अभिमान तथा प्रेम से हृदय को पूरित कर देने वाले दृश्य देखता हूं, त्यों-त्यों एक चीज मुझे बेचैन किया करती है : क्या मैं कह सकता हूं कि यह देश मेरा है ? मैं इस देश का हूं, इसमे तो कोई संदेह नहीं है, क्योंकि इसी देश ने मुझे जन्म दिया, वही मेरा पालन-पोषण अखंड रूप से कर रहा है, वही मुझे रहने के लिए स्थान, खाने के लिए अन्न और विश्राम के लिए आश्रय देता है। बाल-बच्चों को मैं उसी के सहारे निश्चित होकर छोड़ सकता हूं।...मैंने अपना सर्वस्व देश से ही पाया है। किन्तु यह देश मेरा है, यों कहने के लिए मैंने देश के लिए क्या किया है? मेरा जन्म हुआ, उसके साथ ही मैं देश का बना। मगर यों कहने से पहले कि यह देश मेरा है, मुझे जिंदगी-भर मेहनत करके इसके लिए खप जाना चाहिए।...देश के लिए, देश में असह्य कष्ट उठाने वाले गरीबों के लिए यत्किंचित भी कष्ट सहने का मौका मिलता है, तब मैं अपने को उपकृत

मानता हूं और ज्यों-ज्यों यात्रा करता रहता हूं, त्यों-त्यो मन मे नई शक्ति का संचार होने लगता है।

वे जहां भी गए, वहां के लोगों के साथ एकरूप हो गए। वहां के जीवन को समझने-परखने के प्रयत्न मे जो चीजें सामान्य आंखों को दिखाई नहीं देतीं, वह भी देखने लगे। मसलन, काका साहब असम की यात्रा करते हैं। असम का अप्रतिम प्राकृतिक सौंदर्य देखकर प्रभावित होते हैं। झोंपड़ियां बनाने मे, कपड़े बुनने में लोगों में जो कला-रसिकता दिखाई देती है, उसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रहते। असम के लोगों के मन मे वहां पर बसे हुए बंगालियों के बारे में जो डर है, उसका स्वरूप समझने की कोशिश करते हैं। असमिया लोगों के प्रति सहानुभूति अनुभव करते हैं। वही उनकी नजर असम की सीमा पर जा पड़ती है। वहां कई तरह की पहाड़ी जातियो के लोग उन्हें दिखाई देते हैं। उनकी समस्याओं की ओर उनका ध्यान जाता है और इन लोगों को भारत की मुख्य सांस्कृतिक धारा मे लाने के लिए क्या किया जा सकता है, इसके उपाय ढूंढ़ने लगते हैं। सीमा के उस पार की हलचलों की भनक भी उन्हें वहां सुनाई देती है और उनकी आत्मा बोल उठती है : अब इसी वर्ष चीनी लोगों का एक विश्व-विद्यालय समुद्र तट से हटकर असम की सीमा से केवल सौ-दो-सौ मील के फासले पर आ पहुंचा है। पहाड़ी मार्ग, मोटर गाड़ियां और हवाई जहाजों के द्वारा अब चीन के साथ हमारा सम्पर्क काफी बढ़ने वाला है। कही ऐसा न हो कि हमे अपनी ईशान्य सीमात की पहाड़ी जातियों का वर्णन और उनकी सूक्ष्म जानकारी चीनी प्राध्यापकों से लेनी या सीखनी पड़े।

काका साहब गोवा देखने जाते हैं। गोवा की वनश्री पर वे मुग्ध हो जाते हैं। वनश्री के साथ घुलमिल जाने वाले गोवा के मंदिरो और गिरजाघरों के दर्शन से प्रसन्न भी होते हैं। तुरंत उनका ध्यान गोवा के हिन्दू और ईसाई लोगो की ओर जाता है और वे कह उठते हैं : गोवा के सामाजिक जीवन में कोई मेल नही दिखाई देता। उसकी आत्मा बेचैन है। उसने कुछ खोया है। अपनी सृष्टि-निष्ठा और परम्परा-पूजा को छोड़कर उसे अपना नवनिर्माण करना है। कुछ करके दिखाना है। गोवा के बारे में उनके मन में आदर है, अभिमान है, कभी-कभी उन्हें उससे ईर्ष्या भी होती है, पर उसके दर्द को देखकर उन्हें दया भी आती है और इस दर्द को मिटाने की उन्हें दवा भी मिल जाती है। वे कहते हैं : हिन्दू और ईसाई इन दो स्वायत्त दुनिया में विभक्त इस छोटे से समाज को जोड़ने वाली एक कड़ी

है। वह है, उनकी मधुर पर उपेक्षित कोंकणी भाषा। उसकी सेवा से ही यह प्रजा तेजस्वी बन सकती है।

कोंकणी के बारे मे वे कहते है : कोंकणी इतनी मधुर भाषा है कि मरते समय अगर मेरे कानो पर उसके स्वर पड़ें तो मैं शायद मरना भूल ही जाऊंगा।

लाल बहादुर शास्त्री कहते हैं कि स्वराज्य में काका साहब अगर चाहते तो कोई भी ऊंचा पद पा सकते थे। कृपलानीजी के शब्दों मे कहें तो 'कम-से-कम गवर्नर तो बन ही जाते'। पर जब उनसे पूछा गया, कौन-सा पद आप पसंद करेंगे ? तब काका साहब ने मुस्कराकर जवाब दिया, आप अगर मुझे कुछ देना चाहते हो तो एक रेलवे पास दिलवा दीजिए, जिससे मै देश में कही भी जा सकू और अपने मेजबानो को प्रवास-खर्च के बोझ से बचा सकूं। सरकार ने काका साहब को तुरंत एक रेलवे पास दिलवा दिया, जो अंत तक उनके पास रहा। इससे लगभग नब्बे साल की आयु तक वे लगातार देश मे घूमते रहे। चलते रहो, चलते रहो, इस श्रुति के आदेश का वे अक्षरशः ही नही, बल्कि मूलतः भी पालन करते रहे। लगभग पच्चीस वर्ष रेलवे ही मानो उनका घर बन गया था।

जब तक स्वराज्य नही मिला था वे देश के बाहर कही नही गए। गुलाम हूं, कैसे बाहर जाऊं ? इस तरह का संकोच वे महसूस करते थे। ब्रह्मदेश और श्रीलंका को अगर विदेश कहे तो स्वराज्य-पूर्व काल मे उन्होने इन दोनो देशो की यात्रा की थी। पर उन्हें उस समय यह अनुभव नही हुआ कि वे विदेश जा रहे हैं। बुद्ध-धर्म के कारण ये दोनो देश उनके लिए मानो स्वदेश ही से लगे थे।

स्वराज्य मिलने के बाद वे लगभग सारी दुनिया घूम आए। सबसे पहले सन् 1950 में उन्होने पूर्व अफ्रीका के देशो की यात्रा की।

काका साहब लिखते हैं :

> इस भूमि पर अफ्रीका, यूरोप और एशिया की तीनों महा-प्रजाओं का सहयोग चल रहा है, जो मानव जाति के भविष्य के लिए अत्यंत महत्व का है।... मार्मागोवा का किनारा छोडने के बाद आठ दिन तक न तो जमीन का कोई टुकडा दिखाई दिया, न कोई पहाड़ की चोटी। आठ दिन के बाद सीधा मोम्बासा पहुंचा। तुरंत मन में आया, अरे ! यह तो हमारे उस पार के पड़ोसी ही हैं। यहा की लहरें हमारे किनारों से टकराती हैं और हमारी

> लहरें यहां के किनारों से आकर टकराती हैं। तुरंत इन प्रदेशों के लोगों से आत्मीयता का सम्बंध बन गया।...अफ्रीका में मैं लगभग तीन महीने घूमा। केनिया, युगांडा, जंजीबार और टांगानिका इन देशों के अलावा ठेठ अफ्रीका के मध्य में रुआंडा-ऊरुंडी भी हो आया। अफ्रीका में मैंने जो-कुछ देखा, विचारा और कहा, सब पड़ोसी धर्म से प्रेरित होकर कहा।

इस यात्रा मे उन्होंने अफ्रीका के पहाड़ देखे, ज्वालामुखी देखे, जंगल देखे, अभयारण्य देखे, पशु-पक्षी देखे, सरोवरों मे विहार किया, नदियां देखी, उत्तर पूर्व अफ्रीका की माता के समान उत्तरवाहिनी नील नदी के उद्भग स्थान तक हो आए। यमुनोत्री, गंगोत्री की तरह इस स्थान का उन्होने नीलोत्री नाम भी रखा और विशेष रूप से अफ्रीका के लोग देखे, उनके सुख-दुखों का परिचय प्राप्त किया था। पूर्व अफ्रीका का यह सारा प्रदेश उन दिनो अपनी आजादी की लड़ाई लड़ रहा था। यह एक ऐसा भू-भाग था, यहां करीब दस करोड मनुष्य ऐसे है, जो अब भी अपनी प्रागैतिहासिक काल की सामाजिक आर्थिक या सांस्कृतिक प्राचीन परम्परा मे ही रहते आए है। इनके नेताओं से भी काका साहब मिले। अप्पा पंत उन दिनो स्वतत्र भारत के राजदूत के तौर पर वहां थे। वे कहते हैं:

> इस प्रदेश मे काका साहब के साथ घूमने का सौभाग्य मुझे मिला था। मैं उन्हें सब जगह घुमाकर यह प्रदेश दिखाने का प्रयत्न किया करता था। पर जैसा कि हमेशा होता आया है, मुझे ही उल्टा फायदा हुआ। इस आगामी काल के महाद्वीप की भूमि पर इस मानव समूह का विशाल नाटक खेला जा रहा है, उमसे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और गहरे-से-गहरे रहस्यो का तेजी से और अत्यंत बुद्धिमत्ता से काका साहब को आकलन करते देखकर मै मंत्रमुग्ध हो गया।

अप्पा पंत और एक जगह लिखते हैं:

> मनुष्य-मनुष्य के बीच स्नेह सम्बंध का विकास करने मे धर्म, वंश, संस्कृति या जाति के भेद उनके लिए कभी बाधक नही हुए। उनके लिए विविध रग मिलकर जीवन का एक अधिक सुरंगी और संतोषजनक चित्र उत्पन्न करते हैं। अपनी विविध सभाओं में अंग्रेज, अफ्रीकी, भारतीय और अरबी श्रोतागणों के सामने वे इस विषय का अत्यंत सौदर्य के साथ और हृदय को छू जाने वाली भाषा मे अपने विचारों के विकास को प्रस्तुत करते रहे।... अफ्रीकी नेता जोमो केन्याता, ज्यूलियस न्येरेरे, म्बोया से लेकर साधारण

> अशिक्षित नौकर तक काका साहब के प्रवचनों को जिस तरह मंत्रमुग्ध होकर सुनते थे, यह देखने योग्य दृश्य था। उन दिनों अफ्रीकियों ने कभी ऐसे मनुष्य देखे ही नहीं थे।...भारतीय और अफ्रीकी लोग उनसे प्रभावित हो जाए, यह समझ में आ सकता है, पर यूरोपीय लोग भी जो विजेता थे, शासक थे वे भी पहले अनिच्छा से किन्तु बाद में अपनत्व और आनंद उत्साह से उनकी सभाओं में आने लगे।[1]

काका साहब ने पूर्व अफ्रीका की इस यात्रा का वर्णन अपनी 'उस पार के पड़ोसी' हिन्दी पुस्तक में किया है। अफ्रीका की इस यात्रा के बाद उनकी विदेश की यात्राएं बडी तेजी से शुरू हुई। सन् 1952 मे वे यूरोप की यात्रा पर गए। स्विट्जरलैंड, फ्रांस, जर्मनी और हालैंड में घूमकर महायुद्ध के कारण यूरोप की जो बर्बादी हुई थी, उसका प्रत्यक्ष दर्शन कर आए और यूरोप की प्रजा में फिर से सजीवन होने की कितनी जबरदस्त शक्ति है, यह भी देख आए।

यूरोप पहुंचने से पहले बीच में वे एक दिन के लिए ग्रीस के एथेन्स शहर में रुके थे। वहां की अक्रोपोलिस की पहाड़ी चढ़कर ग्रीस का पुराना मंदिर पार्थानोन भी देख आए थे।

यूरोप में उन्होंने जिनिव्हा, बर्न, फ्रैंकफुर्त, ज्यूरिच, हैम्बर्ग, बर्लिन, पैरिस आदि शहर देखे और आल्प्स और युंग फ्रौ के पर्वत शिखर भी देखे, हाइन, सीन-जैसी नदियां देखी, थूनरसी और इंटरलाकन जैसे सरोवर भी देखे, पैरिस मे लूब्र का संग्रहालय देखा, वैसे वारसे का राजमहल भी देखा। कोमोंत्रो में मोरल रिआर्मा-मेन्ट के प्रणेता डा० फ्रेंक बुकमन से मिलकर नैतिक पुनरुत्थान के सम्बंध में उनसे गहरी चर्चा भी की। डा० बुकमन के उद्देश्यों से तो उनका कोई मतभेद नहीं था, पर उनकी कार्य-पद्धति के बारे में उनके मन में संदेह था। चर्चा के बावजूद यह संदेह दूर नहीं हुआ।

इस यात्रा में देखे हुए एक ही स्थल का—इंटरलाकन का वर्णन उन्होंने लिखा है। बाकी स्थलों का उल्लेख न जाने क्यों लिखना रह गया। हालांकि उनके बारे में वे बड़ी लगन से बोलते थे।

---

1. समन्वय के साधक : सं० यशपाल जैन।

लंदन में पहुंचते ही उनसे पूछा गया, क्या आप भारत की ओर से गुडविल मिशन (मैत्री-लाभ कार्य) में पश्चिम अफ्रीका जा सकेंगे। दो वर्ष पहले उन्होंने जो पूर्व अफ्रीका की यात्रा की थी, उसके शुभ परिणाम भारत सरकार ने देखे थे। इसलिए भारत सरकार ने पश्चिम अफ्रीका के लोगों और राज्यकर्त्ताओं को भारत का सद्भावना संदेश सुनाने का काम उन्हें सौंपने की बात सोची। काका साहब ने हां कह दिया और वे एक माह के लिए घाना (जो उन दिनों गोल्ड कोस्ट कहलाया जाता था) और नाईजीरिया घूम आए। उन दिनों ये दोनों देश स्वराज्य की तैयारी मे थे और दोनों के इस स्वराज्य का प्रभाव सारे अफ्रीका खंड पर पड़ने वाला था।

गोल्ड कोस्ट के नेता एनक्रूमा से काका साहब की गहरी दोस्ती हो गई थी।

गोल्ड कोस्ट जाते समय बीच में एक दिन के लिए पुर्तगाल की राजधानी लिस्बन में रुके थे। गोवा के कुछ स्वतंत्रता सेनानियों को पुर्तगाली सरकार ने यहां राजबंदियो के तौर पर लाकर रखा था। उनमें से एक पुरुषोत्तम काकोडकर काका साहब के परिचित थे। काकोडकरजी वर्धा के अपने परामर्शदाता अण्णा साहब सहस्रबुद्धे से पत्र लिखकर बार-बार पूछते थे—अगर हम यहां से भागकर यूरोप मे कही गए तो क्या भारत सरकार हमें वहां से भारत ले जाने का प्रबंध कर सकेगी? अण्णा साहब ने इस विषय मे काका साहब से चर्चा की थी। यह जानने के लिए कि इन लोगों की क्या भागने की सचमुच तैयारी है या यह केवल कल्पना है, काका साहब लिस्बन उतरे थे। लिस्बन में उन दिनों भारत के राजदूत के तौर पर केवल सिंह नाम के एक सज्जन थे। उन्ही के यहां रुके। काका साहब ने इन राजबंदियों को भारत सरकार की ओर से आश्वासन दिया कि वे सचमुच भाग जाएं तो उन्हें भारत ले जाने की जिम्मेदारी वे लेंगे। काका साहब ने स्वप्न में भी यह नही सोचा था कि उनके गांधीवाद की यहां परीक्षा ली जाएगी। एक राजबंदी ने उनसे पूछा, हम तो सत्याग्रह करके जेल गए थे। उसी की सजा के रूप में हम यहां लाए गए हैं। अब यहां से भाग जाना सत्याग्रह की नीति में कहां तक ठीक बैठ सकता है? अब, ऐसे लोगों से बहस क्या करें? काका साहब ने जवाब दिया, भागना सत्याग्रह की नीति के बिलकुल अनुकुल नहीं बैठता। पर आप अगर भाग गए तो उसके कारण जो पाप लगेगा, वह सारा मैं अपने सिर पर ले लूंगा। मुझे आप इतना ही बताइए, क्या आपकी वैसी कोई योजना है या आपकी यह केवल कल्पना है?

काका साहब कहते हैं :

> वह तो केवल कल्पना ही थी। मुझे लगा, मैंने, खामखां इन लोगों के लिए जिंदगी का एक दिन बर्बाद किया। इससे बेहतर यह होता कि मैं केवल सिंह को लेकर लिस्बन में कुछ देखने चला जाता। मैंने इन लोगों से कहा, आपको नियति ने यहां लाकर छोड़ा है। आप पुर्तगाल का साहित्य पढ़ें, उनकी संस्कृति का अध्ययन करें और उनसे इस तरह पेश आएं मानो आप भारत के सांस्कृतिक दूत हों। पर दुर्भाग्य से इनमें यह योग्यता ही नहीं थी। मेरी सूचना का महत्त्व भी उनकी समझ में नहीं आया।[1]

पश्चिम अफ्रीका से लौटते समय उन्होंने मिस्र देश की राजधानी काहिरा में कुछ दिन बिताए।

> यह देश एशिया, यूरोप और अफ्रीका इन तीनों खंडो के बीच ग्रंथि रूप है। यहां पर हम तीनो खंडो के सवाल एकत्र देखते हैं और तीनो की संस्कारिता का असमान मिश्रण भी देखते है।

काहिरा में उन दिनों सरदार पणिक्कर भारत के राजदूत थे। उनके ही काका साहब मेहमान थे। उनमे जल्दी ही उनकी दोस्ती हो गई। भारत का समुद्री किनारा इन दोनो के बीच चिंता और चिंतन का समान प्रश्न था। सरदार पणिक्कर के बारे मे काका साहब कहते हैं :

> इनसे बाते करते-करते मैं बिलकुल भूल ह् गया कि मैं यहा पिरामिड्स देखने के लिए आया था।

जापान-यात्रा

सन् 1954 मे वे पहली बार जापान गए। सन् 57 मे दूसरी बार गए। 63 मे तीसरी, 67 मे चौथी, 68 में पांचवी और 72 मे छठी बार गए। कुल मिलाकर छह बार उन्होंने जापान की यात्रा की।

जापान का नाम उन्होंने बचपन में सुना था, जब इस छोटे-से देश ने अगड़-धत्ते चीन के विरुद्ध युद्ध करके विजय प्राप्त की थी। उसके बाद सन् 1904

1. लेखक के साथ बातचीत से।

मे और एक बार उसका नाम सुना, जब रूस और जापान के बीच युद्ध छिडा था और जापान ने रूस को युद्ध मे हरा दिया था। यह स्वदेशी आदोलन के दिन थे। भारत के नोजवानो के मन मे स्वराज्य की आकाक्षाए जाग्रत हुई थी। जापान ने इन नोजवानों का हृदय जीत लिया था और वह एक तरह मे एशिया के गुरुस्थान पर पहुच गया था। मारक्वीस इतो, एडमिरल तोगो आदि नाम भारत के नोजवानो की जबान पर चढ गए थे। पोर्ट हार्बर का किला, मुकडेन की रणभूमि, सुशिमा की खाडी एशिया के भाग्योदय के पुण्य स्थल बन गए थे।

फिर भी काका साहब को जापान देखने की इच्छा कभी नही हुई थी। ससार के सभी देश देखने की इच्छा रही—पिछडे, अविकसित, उपेक्षित देशों का विशेष आकर्षण रहा। इन देशो के पास और कुछ हो या न हो, उनकी अपनी सस्कृति तो है ही। उनकी खूबिया जानने-समझने की उत्कठा उन्हे हमेशा रही। पर जापान के बारे मे मन मे यही ख्याल था कि उसके पास अपना मौलिक कुछ भी नही है। जो-कुछ है, सब उधार लिया हुआ है। उधारी पूजी पर ही वह आगे बढा है।

जापान देखा नही था, तब तक उनके मन मे यही ख्याल रहा था। जापान प्रत्यक्ष देखने पर उन्हे महसूस हुआ कि इस विचार मे कुछ उतावलापन था। उधार पूजी लेने वाले भी यथासमय मौलिकता का विकास कर सकते हैं। खानदानियत तो अनुभव और समय की उपज है।

जापान मे बौद्धमत के बारह-तेरह पथ हे। उनमे निचिरेन पथ खास जापानी है। वह देशज बौद्धधर्म है। इस पथ के निप्पोन ज्ञान म्योहोजी पीठ के अध्वर्यु निचिदात्सु फुजीई, जिन्हे उनके शिष्य गुरुजी कहते हैं, पिछले महायुद्ध के कुछ समय पहले भारत तशरीफ लाए थे। गाधीजी से मिलने वे सेवाग्राम जा रहे थे, तब ट्रेन मे उनसे काका साहब की भेंट हुई थी। स्वाभाविक जिज्ञासा से काका साहब ने उनसे कई प्रश्न पूछे थे। बस इतना ही दोनो के बीच का सम्बध था। इसके बाद फुजीई गुरुजी के शिष्य एक के-बाद-एक सेवाग्राम आश्रम मे आकर रहने लगे। चमडे का पखा बजाकर 'नम् म्यो हो रेंगे क्यों' मत्र का जाप करना उनका नित्य का नियम था। उनकी कार्य तत्परता, उनका मेहनती स्वभाव और उनका अखण्ड संयम तीनो का गाधीजी पर बडा प्रभाव पडा था।

युद्ध में जब जापान शामिल हुआ, वह ब्रिटेन विरोधी दल के साथ रहा। फलस्वरूप, इन आश्रमवासी जापानी साधुओं को सरकार ने गिरफ्तार कर लिया। उनकी यादगार मे गांधीजी ने उनका 'नम् म्यो हो रेंगे क्यो' मंत्र आश्रम की प्रार्थना मे सम्मिलित कर लिया।

फुजीई गुरुजी के स्वच्छ व्यक्तित्व का भी गांधीजी के मन पर अच्छा प्रभाव पड़ा था। गांधीजी ने उन्हे पहला ही प्रश्न पूछा, 'आप भारत मे क्यो आए हैं?'

'भारत जीतने के लिए' गुरुजी ने जवाब दिया।

गाधीजी चौके। उन्होंने पूछा, 'कैसे?'

'जैसे भगवान् बुद्ध ने जापान को जीत लिया था।' गुरुजी का यह जवाब सुनकर गाधीजी जोर से हस पड़े और बोले, 'ऐसा ही है तो आप भारत खुशी से जीत लीजिए।'

जापान और भारत का हार्दिक सम्बंध इस प्रकार सेवाग्राम की भूमि पर ही जुड़ गया था।

युद्ध मे जापान बुरी तरह हारा। हारने के बाद अमरीका ने जापान पर शांति की जो शर्तें लादी उनमे एक महत्व की शर्त यह थी कि जापान अब लड़ाई के लिए सेना नही रखेगा। पराजित देश और क्या करता! उसने यह अपमान पी लिया। कुछ समय के बाद काल का चक्र पलटा। अमरीका को साम्यवादी रूस और चीन का डर मालूम होने लगा। अब एक ही रास्ता था— इन देशों के विरुद्ध जापान को फिर से शस्त्रसज्जित करना। खुद लादी हुई शर्तों मे हेरफेर करने की अमरीका ने जब सोची, जापानी शांतिवादियो ने अमरीका की इस नीति का डटकर विरोध किया। यह विरोध करने वालो मे फुजीई गुरुजी प्रमुख थे। वह सेवाग्राम आश्रम मे रह चुके थे। युद्ध के अनुभवों के बाद वे गांधीजी की अहिंसा की नीति के बड़े समर्थक बन बन गए थे। वह जापान मे चारो ओर यही प्रचार करते घूमते कि जापान को शस्त्रसज्जित होने ही नही देना चाहिए। अमरीका ने जो निःशस्त्रीकरण की नीति हम पर लादी है, उसे ईश्वर का आशीर्वाद समझकर हमे युद्ध से दूर ही रहना चाहिए।

स्वाभाविक रूप से वे अपने इस कार्य मे भारत की सहानुभूति चाहते थे। 1954 में उन्होंने जापान मे एक विश्व शांति परिषद् का आयोजन किया था।

और उसमें भारत के प्रतिनिधि के रूप में काका साहब उपस्थित रहें यह उनकी इच्छा थी। वह काका साहब के दो माह चाहते थे।

काका साहब उन दिनों पिछड़े वर्ग आयोग के काम में इतने व्यस्त थे कि दो महीने तो क्या, एक महीना भी जापान को देना उनके लिए असम्भव था। उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट करके जवाब भेज दिया। पर, फुजीई गुरुजी लगातार आग्रह करते रहे। तब खूब सोच-विचार कर और सारा हिसाब लगा कर वह जापान को दो सप्ताह देने के लिए तैयार हुए। बस, इन दो सप्ताहों ने उन्हें जापान के साथ हमेशा के लिए जोड़ दिया।

जापान की भूमि पर उन्होंने पहली ही बार पांव रखा, तब उन्हें इस छोर से उस छोर तक साकुरा के सफेद फूल-ही-फूल दिखाई दिए। वैसे तो ये फूल बिलकुल निर्गंध होते हैं। उनमे कोई उन्मादक तत्व नहीं होता। पर उनकी बहार इतनी उन्मादक होती है कि इस बहार को हर साल देखने की आदी जापानी प्रजा भी उनके पीछे पागल हो जाती है और साकुरा के गीत गाती-गाती रास्ते पर आकर नाचने लगती है।

केवल दो सप्ताहों की यह बहार रहती है।

जापानी लोगों की सौंदर्य की इस प्रतिसंवेदना को देखकर काका साहब उन पर मुग्ध हो गए। फिर तो क्या, जापान में जो-कुछ देखने लायक है, धड़ल्ले के साथ देखने लगे। पहली यात्रा मे दक्षिण की ओर का जापान थोड़ा बहुत देखा था, दूसरी मे उत्तर की ओर देखा। परवर्ती चारों यात्राओं में बाकी का सब देख लिया। प्रकृति इस देश पर इतनी प्रसन्न हुई है और उसने इस देश को इतनी नियामतें दी है कि उनका अनेक बार दर्शन करने पर भी मनुष्य की आंखें कभी तृप्त नही होती। जापान में एक-से-एक बढ़िया पर्वत हैं। एक से बढ़कर एक सरोवर हैं, जंगल हैं, झरने हैं, गरम पानी के झरने तो जगह-जगह हैं। प्रकृति ने यहा अपना शांत-सौम्य स्वरूप जैसे चारों ओर बिखेर दिया है, वैसे ही बीच-बीच मे आसो जैसे धधकते ज्वालामुखियो को रखकर अपने रुद्र स्वरूप का भी दर्शन दिखाया है। काका साहब कहते हैं :

> मेरे लिए यह यात्रा कोई कौतूहल तृप्ति का विषय नहीं रही। वह तो विधाता के आद्य अवतार का प्रत्यक्ष दर्शन समान बनी जिसके उद्धार के लिए भगवान ने अनंत अवतार लिए, यही विश्व उसका आद्य और

विराट अवतार है, उमके साथ तादात्म्य का अनुभव करना ही बड़ी साधना है।...हिमालय की उतुग हिमराशि में जो विश्वात्मैक्य का अनुभव कर सका था, उसी विश्वात्मैक्य को आसो के रक्षा पर्वत के शिखर पर धूप और ज्योति के बादलो के बीच अनुभव करने मे मुझे जरा भी कठिनाई महसूस नही हुई।

सृष्टि के इन सौम्य सुदर और अति सुदर उन्मेषों का यथेच्छ पान करने के बाद इस भूमि की संतान की ओर उनका ध्यान जाना बिलकुल स्वाभाविक था। उन्होंने देखा कि –

जापानी लोग जब काम मे जुट जाते हैं, तब वे राक्षस की तरह काम करते हैं। अपने शरीर पर भी दया नही करते। उनकी कार्य-शक्ति और सहन-शक्ति इस देश की सबमे बडी पूजी है। चाहे जैसे संकट आए, चाहे जितने कष्ट उठाने पड़े, चाहे जितने दुःख मे दिन बिताने पडे, जापानी लोग हिम्मत नही हारते। जिस विज्ञान की मदद से जापान आगे बढा था, उसी विज्ञान ने एक क्षण मे उसका पिछले महायुद्ध मे पराभव किया था। हिरोशिमा, नागासाकी जैसे उसके शहरो को एक क्षण मे तहस-नहस कर डाला था। फिर भी जापानी लोग हिम्मत नही हारे। उन्होने ये दोनो शहर फिर से खड़े कर दिए। दुःख की रेखाएं वे जैसे अपने मुह पर प्रगट होने नही देते, वैसे उन्होने इन शहरो मे विनाश का कोई अवशेष भी नही रहने दिया। यहा की प्रजा हसमुख है। खुद खुश रहती है और अपने आसपास के लोगों को भी खुश रखती है। छोटा-सा देश। उसकी अस्सी फीसदी जमीन-पर्वतों और ज्वालामुखियों ने घेर रखी है। रहने के लिए लोगो को बहुत कम जमीन मिली है। खेती के लिए तो और भी कम। फिर भी जमीन के एक-एक इच का उन्होने सदुपयोग किया है। कितने उद्यमशील ये लोग हैं और कितने अनुशासनप्रिय। किसी को कोई काम सौप दीजिए, आपकी सूचनाओं के अनुसार काम ठीक से कर देंगे। पूछना ही नही पड़ेगा और वे काम करते हैं या नही, यह देखने के लिए आपको सुपरवाइजर रखने की जरूरत नही पड़ेगी।

पर इन सब विशेषताओं से अधिक उनका ध्यान जापानियो की एक और विशेषता की ओर गया—

जापान ने यूरोप से विज्ञान लिया। पर वह यूरोप का अनुयायी नही रहा। वह जापान ही रहा। अपने सांस्कृतिक स्वराज्य को उसने कतई आंच नहीं आने दी। उसने अपनी भाषा नही छोड़ी। बल्कि यूरोप की प्रगल्भ-से-प्रगल्भ भाषाओं की तरह उसे विकसित किया। नीचे से ऊपर तक की शिक्षा यहां जापानी मे ही दी जाती है। सारा राज कारोबार जापानी मे ही चलता है। अपनी अस्मिता उसने अबाधित रखी है। देश को आधुनिक बनाने की सनक उसे भी लगी। पर उसने अपनी परम्परागत सौंदर्य पूजा को आघात नही पहुंचने दिया। उसने एक पेड़ काटा होगा, तो दूसरे दो बोए हैं। देश का प्राकृतिक सौंदर्य अबाधित रखा है। यही नही, नए-नए बगीचे बनाकर उसमे श्री वृद्धि भी की है। क्योतो मे उसने कितने सुंदर बगीचे बनाए हैं। लगता ही नही कि यह मानव निर्मित बगीचे हैं, बल्कि यही महसूस होता है कि यह प्रकृति ने ही बनाकर उसे दिए हैं।

जापानियो की सौंदर्य बुद्धि, उनकी उच्चकोटि की कलाभिरूचि (जो इकेबाना मे— पुष्प सज्जा की कला मे सबसे उत्तम ढंग से प्रगट होती है) आदि गुणों की ओर काका साहब का सबसे अधिक ध्यान गया और वह जापान और जापानियो के प्रशंसक बन गए।

पहली ही यात्रा मे वह इस नतीजे पर पहुंच गए कि इस देश के साथ भारत का केवल सरकारी स्तर पर ही सम्बध रहे, इतना पर्याप्त नही है, प्रजाकीय स्तर पर तो सबसे गहरा सम्बंध स्थापित होना चाहिए। उन्होंने इस दिशा मे एक योजना भी बनाई और उसे तुरंत कार्यान्वित भी कर डाला। वे जापानी युवक-युवतियो को भारत बुलाने लगे; उन्हें अपने साथ रखकर हिन्दी सिखाने लगे। जब जरूरत महसूस की, तब हिन्दी के विशेष अध्ययन के लिए उन्हें देश की अलग-अलग संस्थाओं मे रखकर तैयार कराने लगे।

काका साहब के पास आकर जिन्होंने हिन्दी मे अच्छी योग्यता हासिल की और जो आज जापान मे अच्छा सांस्कृतिक काम कर रहे हैं, ऐसे जापानी युवक-युवतियों के दर्जनों नाम बताए जा सकते हैं।

सन् 1962 में उन्होंने और एक कदम उठाया। अपने अत्यंत निकट के एक जवान अंतेवासी नरेश मंत्री को जापानी भाषा और जापानी संस्कृति का अध्ययन करने के लिए जापान भेज दिया। पिछले चौबीस वर्षों से वे जापान में हैं। बिल-

कुल जापानी बन गए हैं और वहीं रहकर काका साहब का सौंपा हुआ जापान-भारत मैत्री का काम बड़ी लगन और योग्यता के साथ कर रहे हैं ।

1957 में काका साहब जब दूसरी बार जापान गए, तब लौटते समय वह चीन भी हो आए। चीन में उन्होंने लगभग तीन सप्ताह बिताए थे। काका साहब कहते हैं :

> पर यहां मैं सरकारी मेहमान था । मुझे उन्होंने अच्छे-से-अच्छे होटलों मे रखा । देखने लायक सब-कुछ दिखाया । मैं चीन की उन्नति चाहता हूं, यह तो वह जानते ही थे । पर वह यह भी जानते थे कि मैं साम्यवादी नहीं हूं । गांधीजी का आदमी हूं । अतः जी खोलकर किसी ने भी मुझसे बातें नही कीं । चीन और भारत के बीच मित्रता बढ़ाने के उद्देश्य से जब भी मैंने कोई विषय छेड़ा तो उन्होंने इसकी उपेक्षा की। गांधीजी का जब-जब मैंने जिक्र किया, वे विषयांतर करके रवीन्द्रनाथ के बारे में बोलते रहे । इससे जो बोध लेना चाहिए, वह मैंने ले लिया और चीन के बारे में अपने विचार अधिक स्पष्ट करके स्वदेश लौटा। चीन के आज के नेताओं के मन में बौद्ध-संस्कृति के बारे में कोई आदर नहीं है । कोई सद्भाव नहीं है । फिर भी मैंने वहां देखा कि चीनी जनता के हृदय से बौद्ध संस्कार न नष्ट हुए हैं, न नष्ट होने वाले हैं । संस्कृति इतनी कमजोर चीज नहीं है कि केवल राज्य परिवर्तन से या सामाजिक क्रांति से समूल नष्ट हो जाए। चीन की अपनी हजारों साल की प्राचीन संस्कृति भी है। चीन में साम्यवाद लोकप्रिय क्यों हुआ, इसका एक कारण यह है कि इससे पहले चीन में जो क्रांतियां हुई, उनका लाभ सामान्य जनता को कभी नहीं मिला था। यह पहली ही क्रांति है, जिसका लाभ सामान्य जनता को मिला। इसलिए जनता माओ जैसे नेताओं की ओर श्रद्धा-निष्ठा और भक्ति से देखती है । पर, प्रजा की इसी निष्ठा के कारण चीनी नेताओं का आत्मविश्वास भी बढ़ गया है और वे साम्राज्यवाद की ओर झुकने लगे हैं। हां, जब साम्यवाद सैन्यवाद से अपनी शादी कर लेता है, साम्राज्यवादी बन जाता है । चाऊ एन लाई से मेरी भेंट हुई, तब मैंने उनसे कहा, आपको रूसी साम्यवाद अपनाने की जरूरत ही नहीं थी । आपके पास बौद्धमत था । उसकी आप निंदाई करते, उसके दोष निकाल देते तो आपको अपना देशज साम्यवाद मिल जाता। आपका यह बौद्ध साम्यवाद और हमारा गांधीवाद, जो अपने ढंग का एक अहिंसक साम्यवाद है, साथ मिलते

> तो संसार की हम शक्ल-सूरत ही बदल देते। आखिरी दिन जब विदाई समारोह हुआ और धन्यवाद देने का मुझे मौका मिला, तब मैंने कहा कि आपके पूर्वजों ने दुनिया को चकित करने वाला एक प्रचंड किन्तु निष्फल प्रयत्न किया था। बाहर के लोगो को बाहर रखने के लिए उन्होंने चीन के इर्द-गिर्द एक प्रचंड दीवाल खड़ी की थी। मैं यह दीवाल देखकर आया हूं। उसको मैं एक विराट विफलता ही कह सकता हूं। प्रकृति ने भारत और तिब्बत के बीच हिमालय जैसी एक अद्भुत और दुर्भेद्य दीवार खड़ी की है। क्या यह दीवार ह्वेन सांग को भारत जाने या भारत के बौद्ध साधुओं को चीन आने से रोक सकी है? कोई भी बड़ी दीवार विचारों को रोक नही सकती।[1]

काका साहब ने जापान की पहली दो यात्राओं का वर्णन अपनी 'सूर्योदय का देश' पुस्तक मे लिखा है। बाकी चार यात्राओं के कई स्थलों और प्रसंगों के वर्णन इधर-उधर बिखरे हुए 'मंगल-प्रभात' में मिलते हैं। चीन के बारे में दो चार पत्र छोड़कर उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा। कहते थे कि लिखने की मुझे प्रेरणा ही नहीं हुई।

चीन से स्वदेश लौटते समय वे थाइलैंड मे बैंकाक में रुके, केवल अंकोरवाट और आंकोर थाम के विशाल प्रचंड अद्भुत मंदिरों के दर्शन करने के लिए। काका साहब ने लिखा है:

> जिस प्रकार वर्षा के शुरू होते ही सांड अपने सीगों से जमीन खोदकर उसे सूघने लगता है, उसी तरह यात्रा का अवसर प्राप्त होते ही मनुष्य के पैर बिना पूछे चलने लगते हैं। यदि कोई उससे पूछे, कहां चले तो वह कह देता है, मैं कुछ नहीं जानता। जहां तक जा सकूंगा, चला जाऊंगा। जाना, चलना, नई-नई अनुभूतियां प्राप्त करना बस इतना ही मैं जानता हूं। आंखें प्यासी है, शरीर भूखा है, इसलिए पैर चलते हैं। इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानता। अर्थात् 'कालोह्य निरवधि' मानकर विपुला पृथ्वी की परिक्रमा पर निकल पड़ना ही मेरा उद्देश्य हैं।[2]

1. लेखक के साथ बातचीत से।
2. ज्योतिपुंज हिमालय : विष्णु प्रभाकर।

काका साहब की विदेश यात्राओं मे जवाहरलालजी बड़ी दिलचस्पी रखते थे। यह केवल सैलानी नही हैं, भारतीय संस्कृति के राजदूत हैं, इसी दृष्टि से उनकी ओर देखते थे और काका साहब जहां जाते थे, वहां उनको कोई असुविधा न हो यह देखने के लिए वहां के भारतीय राजदूतों को निजी पत्र भी लिखते थे।

चीन की यात्रा से लौटने के बाद काका साहब के मन मे एक नया ही विचार चक्कर काटने लगा। वह अपने आप से कहने लगे—

यूरोप, अमरीका के गोरे लोगों ने अफ्रीका के लोगों को गुलाम के तौर पर खरीदना शुरू किया और उनसे बेहद काम भी लिया। अफ्रीकी लोगों मे अपनों को और अपने को बेचने की प्रथा थी। इसलिए उनको खरीदना आसान था। पर भारत में तो ऐसी प्रथा ही नही थी। हमारे यहां चाणक्य ने कहा है—न आर्यः दासभावं अर्हति—जो आर्य जाति का है, वह किसी भी हालत मे गुलाम नही बन सकता। फिर, जब गोरे लोगो ने इन अफ्रीकी गुलामों से काम लेना छोड़ दिया, गुलामी की प्रथा ही बंद कर दी, तब उनकी जगह लेने के लिए उन्हें भारत से लोग कैसे मिलने लगे? और यह भारत के लोग आधी गुलामी की हालत में रहने के लिए विदेश कैसे चले गए?

एक बात तो स्पष्ट है कि हमारे यहा के राजा, समाज के नेता और व्यापारी अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों के प्रति हमेशा उदासीन रहे हैं। विदेश से यहा कौन कहा से आता है, यहा आकर वह क्या करता है, हमारे लोगों को क्या आमिष दिलाता है और उन्हे बाहर कैसे ले जाता है और लोग जहा जाते हैं वहां की स्थिति क्या है, इन प्रश्नो के बारे मे वे बिलकुल बेपरवाह रहे। समाज के नीचे के स्तर के लोग किस तरह जीते हैं, वे सुखी हैं या दुःखी, उन पर क्या अन्याय-अत्याचार होते हैं, इस विषय में भी यह उच्च वर्ग के लोग उदासीन रहे हैं। इसलिए ये निम्न स्तर के लोग समाज के उच्च स्तर के लोगों के अन्याय से सम्भवतः ऊब गए होंगे और इसी आशा से विदेश गये होंगे कि वहां जाकर उनकी हालत सुधरेगी।

जो हो, जो लोग गिरमिटिया बनकर बाहर गए वे कहां-कहां गए, उनकी वहां क्या कसौटी हुई, प्रतिकूल परिस्थिति में रहने से उनमें कौन-सी शक्तियां विकसित हुई, अब वे जहां रहते हैं वहां की भूमि में 'वे अपनी जड़ें कहां तक उतार सके हैं, आस-पास के लोगों के साथ उनका सम्बंध किस तरह का है—यह

सब अब देखना होगा। ईश्वर ने इन छोटी-मोटी प्रयोगशालाओं मे संस्कृति समन्वय के जो प्रयोग चलाए हैं, उनका अवलोकन करना जरूरी है।

जब यह विचार उन्हें बेचैन करने लगा, उन्होंने 1958 से पहले वेस्टइंडीज, ट्रिनीडाड, ब्रिटिश, गुयाना और सूरीनाम की यात्रा की और बाद मे 1959 में मारीशस री-यूनियन और माडागास्कर की। पहली यात्रा का वर्णन 'यात्रा का आनंद' नामक पुस्तक मे समाविष्ट है तो दूसरी का वर्णन 'शर्कराद्वीप मारीशस' पुस्तक मे मिलता है।

ब्रिटिश गुयाना मे एक अद्भुत प्राकृतिक दृश्य है। पोटारो नाम की एक नदी अपने चार सौ फुट चौडे पाट के साथ पूरी-की-पूरी एक पहाड़ पर स लगभग साढ़े सात सौ फुट नीचे छलाग लगाती है। इसे केचूर का प्रपात कहते हैं। यह प्रपात वे देख आए। वह कहते हैं कि मैने जोग का प्रपात चार छह बार देखा है। केचूर का प्रपात देख न पाता तो जीवन के एक वहुत बड़े आनंद से वचित रह जाता।

यहा से लौटते समय वे अमरीका गए थे। वहां नायगारा का प्रपात भी उन्होंने देखा था। दोना प्रपातों के वर्णन उन्होने उतने ही उत्साह मे लिखे हैं, जितने जोग के प्रपात के लिखे थे।

अमरीका मे वे माटगुमरी मे जाकर गाधीवादी नीग्रो वीर डा० मार्टिन लूथर किग से मिले थे। उन्ही के यहा मेहमान के रूप में दो दिन ठहरे थे। नीग्रो लोगों के प्रति अमरीका मे जो अलगाव नीति गोरे चला रहे थे, उसके विरुद्ध अहिसक आदोलन चलाकर डा० किग ने वहा सफलता प्राप्त की थी। डा० किग एक बप्टिस्ट पादरी थ, जिन्हे अहिंसा की प्रेरणा गांधीजी से मिली थी। उन्हें पहली ही बार एक ऐसे व्यक्ति से बातचीत करने का मौका मिला था, जिन्होंने गाधीजी क साथ काम किया था और भारत मे चले अहिसा के प्रयोगो मे सक्रिय योगदान दिया था। डा० किग को पत्नी कोरेटा किंग कहती है :

> मार्टिन की काका साहब से जो गहरी चर्चा हुई, उमने उनके जीवनपथ को एक नया ही मोड़ दिया।...उसके नेतृत्व मे नये स्फूर्तिदायक तत्वो का विकास हुआ।[1]

1. समन्वय के साधक।

काका साहब डा० किंग की सादगी, निर्दोषता और उत्सुकता से बड़े ही प्रभावित हुए थे। उनमे जो जन्मजात शिक्षक छिपा था, वह डा० किंग को देखकर तुरत जाग्रत हुआ और उनका गाधीजी के साथियों से सम्पर्क बढे, इस हेतु उन्होने उनको भारत आने का निमत्रण भी दे दिया।

चिर प्रवासी के प्रवासो का अत नही होता। काका साहब ने एक जगह लिखा है :

> ईश्वर ने पाव दिए हैं, चलने के लिए, प्रवास के लिए और आखे दी हैं सृष्टि का निरीक्षण करने के लिए। जब तक पाव चलते रहेगे, मेरी यात्राए भी चलती रहेगी।

एक महत्व की यात्रा उन्होने सन् 1961 मे की, वह है रूस की। इस यात्रा मे हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक विष्णु प्रभाकरजी उनके साथ थे। वे लिखते हैं :

> टालस्टाय के यास्नाया पोलियाना की यात्रा मे हमारे साथ बहुत बडा दल था। लगभग सौ व्यक्ति थे सारे देश के। उस समय गाधीजी के अतरग साथी होने के कारण काका साहब सहज रूप से हमारे नेता बन गए थे। टालस्टाय गाधीजी के मानस गुरु थे। इस तथ्य को रेखाकित करते हुए बहुत सुदर और प्रभावशाली भाषण दिया था उन्होने। कहा, 'हम यहा एक अजनबी के रूप मे नही आए हैं, एक भक्त के रूप मे यहा आए हैं...एक श्रद्धालु तीर्थयात्री के रूप मे आए है'।...सब-कुछ घूम-घूम कर देखा हमने। गाव के सभी निवासियो ने हमे घेर लिया था। जिस समय काका साहब टालस्टाय की समाधि पर नतमस्तक हुए, वह दृश्य मै भूल नही सकता। पेडो के नीचे लम्बी घास पर बैठे रूसी और भारतीयो के बीच वे ऋषि-तुल्य लग रहे थे।[1]

सर्जक और चितक

सर्जक साहित्यकार काका साहब की पुस्तको मे एक पुस्तक अनोखी है : 'जीवन नो आनद'।

1. काका साहब कालेलकर : विष्णु प्रभाकर।

'प्रकृति का एक भी दृश्य ऐसा नहीं है, जिसमें मुझे दिलचस्पी न हो।' पुस्तक के पहले ही लेख के इस पहले ही वाक्य में पुस्तक का पूरा वातावरण प्रकट होता है। काका साहब प्रकृति के भक्त हैं। वे अपने को 'कुदरत घेलो'—यानी प्रकृति का पागल भक्त कहते हैं। प्रकृति की ओर जब वे देखते हैं, तब प्रकृति से अपने को भिन्न नहीं मानते, उसी का ही एक अंग मानते हैं। प्रकृति का स्वजन बनकर वह उसकी ओर देखते हैं। इसलिए उन्हें पहली बारिश में जितना आनंद होता है, उतना ही मध्याह्न की धूप में भी होता है। बादल, उनके बदलते आकार, संध्या समय के बादलों के रंगों की छटाएं, चांदनी, अंधेरा, प्रभात की बेला, पत्थर, पक्षी और तो और, उन्हें कीचड़ में भी काव्य की अनुभूति होती है।

> हम आकाश का वर्णन करते हैं। पृथ्वी का वर्णन करते हैं, जलाशय का वर्णन करते हैं। कीचड़ का वर्णन किसी ने किया हो, देखा है? कीचड़ में पांव रखना किसी को पसंद नहीं। कीचड़ से शरीर गंदा हो जाता है। कपड़े मैले हो जाते हैं। कीचड़ के प्रति किसी को सहानुभूति नहीं। पर... कीचड़ मे कम सौंदर्य नहीं होता। एक तो यह कि यहां के लाल कीचड़ का रंग बड़ा ही सुंदर है। पुस्तकों के पुट्ठों के लिए, घरों की दीवालों को लगाने के लिए या पहनने के कीमती कपड़ों के लिए हम सब ऐसे ही रंग पसंद करते है। कलाविद लोगों को भट्टी में सेंके हुए मिट्टी के बर्तनों का यह रंग बहुत पसंद आता है। फोटो खींचते अगर उसमें कीचड़ का ठीक रंग आ जाए तो उसे 'वार्म टोन' कहकर लोग बहुत खुश हो जाते हैं। पर...कीचड़ का नाम लेते ही सब बिगड़ जाता है।...पंक शब्द घृणास्पद मालूम होता है और पंकज शब्द कानों मे पड़ते ही कवि डोलने लगते हैं, गाने लगते हैं। 'मल' तो बिलकुल मलिन है, पर 'कमल' शब्द सुनते ही प्रसन्नता और आह्लादकता चित्त के सामने खड़ी हो जाती हैं।...कितना आश्चर्य है।

आकाश अनंत है। प्रकृति की विभूतियां भी अनंत है और काका साहब की सृजक कल्पनाएं भी अनंत हैं। प्रकृति के सभी उन्मेषों और स्फुरणों में निरंतर बहती हुई आनंद धारा में वह जब स्नान करने लगते हैं, तब हमे उनकी रसिकता के प्रति ईर्ष्या होने लगती है। संध्या या प्रभात के समय के बादलों के रंगों की छटाओं का वे कितना सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं।

'जीवन नो आनंद' के पहले हिस्से में जिस 'प्रकृति के हास्य' का उन्होंने वर्णन किया है, वह तो 'दिन के शुभ्र अंधेरे' में दिखाई देने वाली प्रकृति का है। 'रात्रि के काले प्रकाश में' जब वह देखने लगते हैं, तब उन्हें अनंत सूर्यों वाली ईश्वर की सृष्टि दीख पड़ती है। उसका जब वर्णन वह लिखने लगते हैं, तब उनकी कलम से आकाशी सौंदर्य का मानो एक गद्यकाव्य ही झरने लगता है। आकाश-दर्शन को काका साहब ने विश्वरूप दर्शन के समान ही पावन माना है। आकाश-दर्शन में उनके प्रमुख उद्देश्य दो ही रहे। एक सौंदर्य की प्रतीति और दूसरा, हृदय की भव्यतामूलक उन्नति। इसके अलावा और कोई प्रयोजन नहीं रहा। वह पूछते हैं, भला आनंद में कोई प्रयोजन हो सकता है ? और स्वयं ही जवाब देते हैं : 'आनंद क्या वैश्य है ?' फलस्वरूप 'जीवन नो आनंद' के निबंधों में सर्वत्र निर्हेतुक आनंद ही ओतप्रोत दिखाई देता है। इसीलिए इस पुस्तक की शैली में सरलता, आह्लादिक प्रगल्भता, संस्कारिकता—एक शब्द में कहें तो रसात्मकता सबसे अधिक उभर आती है। कला की दृष्टि से काका साहब की यह रचना बढ़िया-से-बढ़िया मानी गई है।

इस पुस्तक के अंतिम हिस्से में चौबीस निबंध हैं। इनमें कला विषयक उनका चिंतन संग्रहीत किया गया है। इसमें 'कला : एक जीवन दर्शन' नामक उनका एक निबंध है। काका साहब ने जो लिखा उसे अगर गांधी विचार का भाष्य माना जाए तो कहना होगा कि गांधी दृष्टि की कला मीमांसा हमें इस निबंध में मिल सकती है।

गांधी विचार के लिए काका साहब का यह एक अत्यंत मौलिक योगदान है।

कला की दृष्टि से उनकी एक और रचना श्रेष्ठ मानी गई है। वह है : 'ओतराती दीवालो' (हिन्दी में : उत्तर की दीवारें) काका साहब जेल में हैं। कौवों और कबूतरों का निरीक्षण करते हैं। चींटियों और मकोड़ों का जीवन निहारते हैं और उनके बारे में लिखते हैं। कहीं विचारों की गहनता नहीं, उपदेश नहीं, विद्वता नहीं, प्रचार नहीं। कुछ नहीं, सिवा जेल की चार दीवारी के अंदर का आनंद।

किसी ने कहा है कि साहित्य की दुनिया में निष्काम कर्म के लिए कोई स्थान हो, तो वह इस पुस्तक में पाया जाएगा।

कला की दृष्टि से महत्त्व के उनके चार और ललित-निबंध संग्रह हैं : 'प्रकृति का संगीत' और 'उड़ते फूल' हिन्दी में, 'खेळकर पाने' मराठी में और 'अवार-नवार' गुजराती में।

काका साहब का व्यक्तित्व किसी एक सांचे में ढालना कठिन है। काका साहब शिक्षक थे, शिक्षा शास्त्री थे, पत्रकार थे, लोक शिक्षा के आचार्य थे, समाज शास्त्री थे, संस्कृति एवं स्वदेशी के उद्गाता थे। स्वातंत्र्य सैनिक थे, गांधी विचार के व्याख्याकार थे, सृजक साहित्यकार थे और उत्तम कला विवेचक थे। विनोबा के शब्दों में कहें तो काका साहब क्या थे, यह सवाल नहीं। क्या नहीं थे, यही सवाल है, पर जो-कुछ भी थे, उत्तम-से-उत्तम थे। काका साहब के व्यक्तित्व के इन अनेक पहलुओं में चिंतक काका साहब का व्यक्तित्व बड़ा ही दिलकश है। जीवन का एक भी अंग ऐसा नहीं होगा, जिसका उन्होंने गहराई के साथ चिंतन न किया हो और नए परिप्रेक्ष्य में उसे गहराई और मौलिकता प्रदान न की हो। गहरे-से-गहरे और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जीवन रहस्यों का सहज भाव से आकलन करने की और बिलकुल आसान शब्दों मे उनके निरूपण की उनकी क्षमता अद्भुत थी।

भारतवर्ष की आध्यात्मिक साधना जो वेद, उपनिषद, गीता, ब्रह्मसूत्र, सत और भक्ति साहित्य में विकसित हुई, उसी का पोषण काका साहब के व्यक्तित्व को मिलता रहा। इसी माहौल में उनकी परवरिश हुई। इन्हीं संस्कारों में उनका व्यक्तित्व खिला। हिमालय में उन्होंने जो साधना की, वह इसी वातावरण में की।

पर उनकी निरंतर खोज उन्हें काफी आगे ले गई।

उनकी चिंतनात्मक पुस्तकों में सन् 1966 में साहित्य अकादमी ने गुजराती भाषा में पहले तीन वर्षों में प्रकाशित सबसे उत्तम पुस्तक के रूप में पुरस्कृत किया, वह 'जीवन व्यवस्था' उनके उन्नासी निबंधो का संग्रह है, जा धर्म और संस्कृति के उन्नासी पहलुओं की एक नए परिप्रेक्ष्य में चर्चा करता है। वे कहते हैं :

> पुस्तक मे मैंने जो धर्म-चिंतन किया है, वह हमारे ऋषि-मुनियों तथा संत-महात्माओं के साहित्य के भक्ति-भाव, नम्र, किन्तु स्वतंत्र अध्ययन से ही उत्पन्न हुआ है। यह प्राचीन साहित्य पढ़ते-पढ़ते और उनमें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संस्कृति का जो परंपरागत विकास होता गया उसका चिंतन करते हुए मुझे वर्तमान काल के हमारे पुरुषार्थ की दिशा प्राप्त हुई और भविष्य की भी थोड़ी-बहुत झांकी मिली। परंपरा का अर्थ यह नहीं है कि

केवल पुराने की ही रक्षा की जाए, उसी से चिपक कर रहा जाए और उसी को बार-बार दोहराया जाय। परम्परा का अर्थ है पुरानी इमारत पर नई-नई मंजिलों को खड़ी करना और उन नई ऊंचाइयो से दूर-दूर तक देखने की सुविधा प्राप्त करना। परम्परा का अर्थ है संशोधन और परिवर्तन स्वीकार करने वाला अखंड प्रवाह।

भूतकाल की विरासत को वर्तमान काल के पुरुषार्थ मे किस तरह बोया जाए, जिससे भविष्य काल को समृद्ध-से-समृद्ध फसल मिले, इस दिशा मे किए हुए चिंतन का इस पुस्तक मे सार मिलता है। इससे पहले 'जीवन-चिंतन' नाम की इसी कोटि की उनकी एक और पुस्तक गुजराती मे प्रकाशित हुई थी। इसमे भी उन्होने धर्म जीवन के भिन्न-भिन्न तत्वों की मौलिक चर्चा की थी। जीवन की और जीवन के आदर्शो की एक केन्द्रीय कल्पना के आधार से ही उनका यह सारा जीवन-चिंतन चला और वह लगातार चलता रहा। ससार की सभी संस्कृतिया धर्म-प्रधान ही रही है। मानवी सस्कृति को जिन विचारों और जीवन-दृष्टियों ने प्रेरणा दी है, वह धर्म के नाम से ही पहचाने जाते है। विज्ञान के उपासकों ने आज संसार को जो एक नई जीवन-दृष्टि दी है, उसे भी काका साहब एक नई धार्मिक दृष्टि ही कहते थे। यही नही, बल्कि अर्थ व्यवस्था और राजनैतिक सत्ता को प्रधानता देकर आज संसार मे जो साम्यवाद प्रचलित हुआ है, उसे भी काका साहब एक आधुनिक अद्यतन जडवादी धर्म मानते थे। इसलिए उनके चिंतन मे धर्म ही प्रधान तत्व रहा।

उनकी और एक छोटी-सी पुस्तक है: 'धर्मोदय'। यह उनके धर्मानुभवों की सस्मरण-यात्रा है। धार्मिक अनुभवों को लोग अकसर ईश्वर विषयक अनुभव या अतीन्द्रिय अंतरात्मा विषयक अनुभव समझते हैं। गैबी आवाज सुनाई दे, बिना कारण प्रकाश दिखाई दे, अनपेक्षित मदद मिले, ऐसे अनुभवों को ही लोग धर्म के अनुभव समझते है। पर काका साहब दूसरे ही अनुभवों को धार्मिक अनुभव कहते थे। वे कहते थे कि जिन अनुभवों के कारण आत्मा का विकास होता है—या कहिए हृदय का विकास होता है और व्यक्तित्व बढ़ता है, जिन अनुभवों के कारण मनुष्य इन्द्रिय सुख की लालसा छोड़कर ऊंचा उठता है, जिन अनुभवों से आत्मा या ईश्वर मे श्रद्धा बैठती है, वही सच्चे धार्मिक अनुभव हैं। धर्मोदय मे उन्होंने अपने ऐसे ही धर्मानुभवों के संस्मरण दिए हैं। एक तरह से यह उनके आंतरिक

जीवन की—इनर लाइफ की आत्मकथा है। पं० सुखलालजी को उनकी यह पुस्तक बहुत पसंद आई थी और उन्होंने उसकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी।

चौरासी साल की उम्र में उनकी और एक पुस्तक प्रकाशित हुई : 'जीवन योग की साधना'। समय-समय पर लिखे गए उनके उन सत्तर निबंधों का यह एक संग्रह है। काका साहब जो निरंतर खोज में लगे हुए थे, वह उन्हें कहां तक ले गई थी, इसका कुछ आभास यह पुस्तक हमें देती है।

चलिए, देखें वे क्या कहते हैं।

भारत के अध्यात्म की सबसे बड़ी खोज है, आत्मा। सभी ऋषि-मुनि हमसे कहते आए हैं : आत्मा को खोजो, आत्मा को समझो, आत्मा को पहचानो। आत्मा ही जीवन का सारसर्वस्व है। काका साहब कहते हैं :

> जीवन का रस भले ही आत्मा में हो। हमारे हृदय में भले ही परमात्मा, परब्रह्म का निवास हो। आत्मा के बिना हमारा जीना अशक्य, निःसत्त्व, असम्भव क्यों न हो, केवल आत्मा-परमात्मा जीवन सर्वस्व नहीं है। जीवन का सार आत्मा में आ जाता है, इसलिए आत्मा को खोकर जीना महत् हानि ही है, महती विनष्टि ही है। पर...काका साहब यहां क्षण-भर के लिए रुक जाते हैं और कहते हैं : 'इत्र में भी फूल का सारसर्वस्व आ जाता है। पर इत्र फूल नहीं है। सुभग आकृति, ताजगी, कोमलता, यौवन, रंगों का विलास, सुगंध और इन सबके साथ क्षण-जीवित्व मिलकर फूल बनता है। इसीलिए वह हमें प्यारा है। फूल का आनंद इत्र नहीं दे सकता। वैसे ही जीवन का उत्तम रस भले ही आत्मा में आ जाता हो, आत्मा जीवन नहीं है। केवल आत्मदर्शन काम का नहीं, आत्मदर्शन युक्त जीवन-दर्शन ही महत्वपूर्ण है। वही सर्वश्रेष्ठ दर्शन है। अध्यात्मकिता को आखिरकार जीवन की ही सेवा करनी है।
>
> सार के नाम से जो चीज हम इकट्ठा करते हैं, वह महत्व की होते हुए भी उसमें जीवन के कई सूक्ष्म और अत्यंत महत्व के तत्व नष्ट हो ही जाते हैं।
>
> दूध को ही लीजिए। उसका सारसर्वस्व भले ही घी में हो, पर दूध में जो जीवन तत्व हैं, सब घी में नहीं आते। इसीलिए बच्चों से लेकर बूढ़ों

तक जीवन-पोषण का जो काम दूध करता है, वह घी नहीं कर सकता । दूध तो दूध ही है । ऐसे ही जीवन जीवन ही है ।

अध्यात्म विद्या ने मन को एकाग्र करने की प्रक्रिया को बहुत महत्व दिया है। इस प्रक्रिया को 'ध्यान' कहते हैं । कहते हैं कि जो 'ध्यान' मे बैठता है, उसकी दृष्टि कमरे में कौन आया इसकी ओर भी नहीं जानी चाहिए । तभी हम कह सकते है कि उसकी एकाग्रता सिद्ध हुई ।

काका साहब एकाग्रता को सर्वोच्च गुण नहीं मानते। वह कहते हैं कि एकाग्रता से उत्कटता अधिक महत्व की है। उत्कटता के साथ-साथ अनेक दिशाओं में एक साथ दृष्टि पहुंचाने की शक्ति भी आवश्यक है । इस शक्ति को वह विकिरण शक्ति कहते हैं ।

एक उदाहरण देकर कहते हैं : मैं एक चौराहे पर हूं । साईकिल पर बैठकर जा रहा हूं । मुझे रास्ता लांघना है। चारों ओर लोग आ-जा रहे है। वाहन भी आ-जा रहे हैं, पशु भी और बच्चे भी। इन सबको दृष्टिगत रखकर ही मुझे अपना रास्ता तय करना है । कैसे करूंगा ? सबकी गति, स्थिति, दिशा का हिसाब लगाकर ही जब मैं अपनी गति और दिशा निश्चित करूंगा, तभी लांघ सकूंगा । वरना मैं गफलत मे पड़ जाऊंगा और दूसरों को भी संकट में डाल दूंगा । इसमे जो सतर्कता बरती जाती है, उसी को मैं विकिरण शक्ति कहता हूं । यह शक्ति एक साथ असंख्य तत्वों की ओर ध्यान पहुंचाने की शक्ति है । जीवन मे इसी शक्ति की विशेष आवश्यकता है । यह ध्यान की ही शक्ति है । विश्व सेवा के लिए एकाग्र ध्यान के साथ विश्वाग्र ध्यान की भी आवश्यकता है।

और एक महत्व की बात काका साहब ने इस पुस्तक मे कही है

दुनिया-भर के संतों ने शरीर की निंदा की है। मानो अध्यात्म साधना में सबसे अधिक रुकावट शरीर से ही आती हो। कभी-कभी हम कहते हैं : मन तो ऊपर उठना चाहता है, पर शरीर दुर्बल है, वह हमें नीचे खींचता है । द स्प्रिट इज विलिंग, बट द फ्लेश इज वीक। और जब गिरते हैं, तब हम शरीर को सजा देते हैं ।

तपस्या के नाम पर न जाने कितने अत्याचार शरीर पर किए होंगे लोगों ने आज तक।

काका साहब पूछते हैं : आप शरीर को क्यों सजा देते हैं ? वह तो हमारा निष्ठावान साथी है। जन्म से लेकर मृत्यु तक के हमारे जीवन मे अगर कोई चिर साथी है तो वह शरीर ही है। मां-बाप, भाई-बहन, बेटे-बेटियां, पति-पत्नी—कोई भी ऐसे चिर साथी नही है, जैसा शरीर है। देश-देशांतर का सफर करे तो भी शरीर ही हमारे साथ रहता है। हम उस पर कितने अत्याचार करते हैं, तो भी विचारा शिकायत नही करता। हम हद से ज्यादा खाते हैं, शरीर यह अत्याचार चुपचाप सह लेता है। हम उसे नीद लेने नही देते तो भी बेचारा बरदाश्त करता है। शरीर अपनी तरफ से कोई शरारत नही करता। शरारत असल में मन करता है और आप सजा शरीर को देते हैं, यह सरासर अन्याय है।

वासना पर विजय पाने के लिए देहदंडन करना, शरीर को कष्ट देना, इस अध्यात्म को काका साहब गलत अध्यात्म कहते थे।

काका साहब ने इस साधना को जीवन-योग की साधना कहा है। उनका अध्यात्म आम अध्यात्म की तरह कभी भी जीवन विमुख नही था। जीवन की कल्पना को शुद्ध करने के लिए उन्होंने सारासार विवेक को आवश्यक माना। वे कहते है :

> जीवन जीते-जीते ज्ञान प्राप्त होता है। उत्कटता से जीवन जीते हुए ध्यान सिद्ध होता है। जीवन जीते-जीते ही यम-नियम की साधना सिद्ध होती है। इस प्रकार जीवन-साधना चलाते-चलाते सारासार विवेक बढ़ता जाता है तथा स्पष्ट होता जाता है। जीवन साधना शुरू करते ही आत्मदर्शन कमोवेश शुरू हो जाता है। साधना जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, जीवन मे योग आने लगता है, परिपुष्ट होने लगता है और योग-सिद्धि और जीवन-सिद्धि साथ-साथ चलते हैं।...यही है जीवन योग की खूबी और उसकी परिपूर्णता।

इस पुस्तक मे उन्होने पुरानी संस्कृति मे जो भी प्रेरणादायक चीजें हैं, उनको नए जीवन के संदर्भ मे समझाने की कोशिश की है और उसी मे से नए जीवन के आवाहन की तैयारी की है। पुरानी ही चीजो को आज के जीवन की कसौटी पर कसकर ऐसे ढंग से समझाने की कोशिश की है कि किसी को लगे ही नही कि पुराना तोड़कर वे कुछ नया करने जा रहे हैं। वह कहते हैं :

> जीवन-विकास का यही तरीका है। प्रथम पुराने कलेवर मे ही नई जान डाली जाए। फिर यह नई जान बढ़ने लगती है और पुराने कलेवर को बदलना ही पड़ता है।

नया कलेवर पैदा करने का प्रयत्न उन्होंने इसमें नही किया है। वे मानते हैं कि नई जान अपने लिए अनुकूल कलेवर मांग ही लेगी या प्रयत्नपूर्वक बना लेगी।

चिंतनात्मक पुस्तकों मे उनकी सबसे अनोखी पुस्तक है : 'परमसखा मृत्यु'। आमतौर से हम कभी मृत्यु का विचार ही नही करते। इस प्रकार जीते हैं, मानो हम कभी मरने वाले नहीं हैं। या यों मानकर जीतें हैं कि मरना तो है, पर इतना जल्दी नही। नतीजा : हमारा जीवन आयु की दृष्टि से कितना ही लम्बा क्यो न हो, जीवन की दृष्टि से वह छिछला ही रह जाता है। असल मे जीवन अगर उत्कटता से जीना हो तो मृत्यु का ख्याल हर समय रखकर ही जीना चाहिए। इस तरह से जीना चाहिए, मानो आज का दिन हमारे जीवन का आखिरी दिन हो सकता है। कभी-कभी वह आखिरी होता भी है। मृत्यु के सान्निध्य में जीने से ही हम उत्कट जीवन जी सकते हैं और उत्कट जीवन ही सच्चा जीवन है। काका साहब कहते है :

> आत्मा और परमात्मा के बारे में मनुष्य निश्चित रूप से जाने या न जाने, इहलोक के हमारे जीवन के तीन तत्वों के बारे मे मनुष्य के पास स्पष्ट कल्पना होनी ही चाहिए और उसमें से निष्पन्न कर्त्तव्यों का निश्चित ख्याल भी उसे होना ही चाहिए। यह तीन तत्व हैं : जन्म, जीवन और मरण। जीवन खर्च करने के लिए है। सत्कार्य और महत्कार्य मे हम जीवन का उपयोग न करें तो जीने मे स्वाद ही क्या रहेगा। नासमझ प्राणियो को जीना नही आता, इसलिए प्रकृति ने उनको जीने का हौसला दिया है। प्राणिमात्र का शिकार करना जिसका स्वभाव है, वह मरण हमारे पीछे दौड़ता आए और हम शिकारी कुत्ते से डरे हुए खरगोश की तरह आगे-आगे दौडते रहे, यह मनुष्य की प्रतिष्ठा को कैसे शोभा दे सकता है ? मरण आने पर उसके स्वागत के लिए हमारे पास फूलों का हार तैयार होना ही चाहिए।

जीने के साथ मरण तो आता ही है। वाक्य के अंत मे पूर्ण विराम, दिन की प्रवृत्ति के अंत मे नींद, नाटक समाप्त होते ही पर्दा या यात्रा के अंत मे मंजिल, उसी तरह जीवन के अत में मृत्यु निश्चित है। ऐसे अवश्यम्भावी मृत्यु का चिंतन मनुष्य न करे तो वह मनुष्य नहीं, पशु है। मृत्यु अगर न होती तो तत्वज्ञान या दर्शन की भूख ही मनुष्य को न लगती। मृत्यु एक ऐसी अद्भुत पहेली है कि उसी के कारण जीवन का अर्थ स्पष्ट करने के लिए मनुष्य बाध्य होता है। बच्चों

को हम लिखना-पढ़ना सिखाते है । नहाना-धोना, खाना, सोना कैसे करे यह भी सिखाते हैं, जवानों को गृहस्थाश्रम कैसे चलाना चाहिए, स्त्री-पुरुष सम्बंध का अर्थ क्या है, यह भी सिखाते है । केवल एक विषय का ज्ञान हम मनुष्य को नहीं देते—वह है मृत्यु के बारे मे । हा, मृत्यु से डरना और उससे भागना जरूर सिखाते है । पर भागने पर भी अंत मे सब मृत्यु के वश हो ही जाते है । मनन-शील मनुष्य को इससे कुछ अधिक चिंतन-मनन करना चाहिए, यह आग्रह काका साहब ने हमेशा रखा ।

सन् 1932 से लेकर 1967 तक के काल मे लिखे गए पच्चीस लेखो का यह सग्रह है । इसमे मृत्यु का रहस्य, मृत्यु का स्वरूप, स्वेच्छा मरण, अनायास मरण, मरणदान, आत्मरक्षा के लिए मरण, मरण की तैयारी—मृत्यु के कई पहलुओं का चिंतन आया है ।

आत्महत्या करने वालों के प्रति काका साहब के मन मे तिरस्कार था, फिर आत्महत्या करने वाला यह आदमी लौकिक दृष्टि से कितना ही बड़ा और अच्छा क्यो न हो ।

इन पक्तियो के लेखक को एक प्रसग का स्मरण है । साने गुरुजी महाराष्ट्र के पवित्र-से-पवित्र लोगो मे से एक माने जाते थे । बड़े लोकप्रिय नेता और लेखक थे । काका साहब से उम्र मे बहुत छोटे थे । फिर भी उनके प्रति काका साहब के मन मे आदर भी था, प्रेम भी था। उन्होने आत्महत्या करके दुनिया से विदा ली । मासिक पत्रिका के रूप मे 'मगल प्रभात' अभी-अभी शुरू हुआ था और वह काका साहब के विचारो का मुखपत्र माना जाता था। 'मगल प्रभात' मे साने गुरुजी के बारे मे कुछ-न-कुछ आना जरूरी था । पर काका साहब इन दिनों देश मे नही थे, पूर्व अफ्रीका की यात्रा मे थे । इसलिए काका साहब के एक अंतेवासी ने साने गुरुजी पर एक लेख लिखकर 'मगल प्रभात' मे छापा ।

दो-ढाई महीनों के बाद काका साहब अफ्रीका मे लौट आए, तब उन्होंने यह लेख पढ़ा और वे एकदम गरम हो गए । बोले, तुमको किसने कहा था कि इन पर लेख लिखना चाहिए ? मेरी पत्रिका मे ऐसे जीवन-द्रोहियों के बारे में एक शब्द भी प्रकाशित नही होगा । हां, मैं इनको जीवनद्रोही ही मानता हूं । जो निराश होकर, कायर बनकर आत्महत्या करता है, वह भले ही साने गुरुजी क्यो

न हों, जीवनद्रोही ही हैं। हारा हुआ आदमी है, उसकी तारीफ 'मंगल प्रभात' में नहीं होगी।

काका साहब को इतने गुस्से मे उनके निकटतम साथियो ने भी कभी नही देखा था।

फिर भी काका साहब स्वेच्छा-मरण के समर्थक थे। वह कहते हैं :

> अगर मनुष्य देखे कि उसे कोई असाध्य रोग हुआ है, जिसका इलाज हो नही सकता, रोग के साथ जीना दूभर हो गया है, समाज की कुछ मेवा भी नही हो सकती, आत्मचिंतन जैसी-साधना भी नही हो सकती और जीवन केवल भाररूप ही हो गया है, तब मनुष्य को न जीने का, अपने जीवन का अंत करने का अधिकार होना चाहिए। निष्प्रयोजन, निरुपयोगी जीवन जीने के लिए या ऐमा जीवन टिकाने के लिए मनुष्य बाध्य नही है। जो घडी समय बता ही नही सकती, उसे चाबी देते रहने के कोई मायने नही हैं।...अगर किसी की आत्म-साधना पूरी हुई, शरीर मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सेवा करने की तनिक भी शक्ति न रही तो ऐसे व्यक्ति को भी जीवनक्रम का अत करने का अधिकार है।...जैन परिभाषा मे इसे मारणातिक सल्लेखना कहते हैं। मरण की प्राप्ति हो जाए तब तक शरीर को पोषण न देना यानी उपवास करके शरीर को छोड़ देना, यही इसका अर्थ है।...इसे हम आत्म-हत्या न कहे।

इसी प्रश्न का दूसरा एक पहलू है—वह है मरणदान का। काका साहब इस पहलू की भी 'परमसखा मृत्यु' मे चर्चा करते हैं। वह कहते हैं :

> सेवावृत्ति मनुष्य स्वभाव का सहज और सुदर अंग है। भूखे को अन्न देना, प्यासे को पानी देना, थके हुए को आराम देना, डरे हुए को अभयदान देना, मरीज को दवा देना, शरणागत को आश्रय देना, जिज्ञासु को ज्ञान देना, पुरुषार्थी को सहयोग देना—ये सेवा के अनेक प्रकार है।...अब सवाल उठता है कि किसी जीव को जब जीना असह्य हो जाता है और जीने के कोई मायने ही नही रह जाते और उसे मरण की जरूरत हो तो उसकी हम मदद कर सकते हैं या नही ?

महादजी शिन्दे के एक सरदार को दुश्मनों ने तोप के सामने खड़ा करके उड़ा दिया। छिन्न-भिन्न होकर वह किले की दीवार के नीचे गिर पड़ा। पर उसके

प्राण नहीं निकले। असह्य पीड़ा से व्याकुल होकर वह इंतजार करता रहा कि कोई राहगीर उसे मरण दे। ऐसा एक पथिक उसे मिल भी गया और उसने उस वीर के गले पर खंजर चलाकर उसे जीवन से मुक्त कर दिया। इस मरण-दान को हम क्या कहें ? काका साहब कहते हैं कि 'हम इसे न खून कह सकते हैं, न हत्या। जिस तरह कोई सर्जन मरीज के हाथ-पाव काटकर उसकी सेवा ही करता है, उसी तरह विशिष्ट मौके पर मरण देकर मरीज को दुख-मुक्त करना भी सेवा ही होती है।' जीना दूभर हो गया, आसपास के सेवा करने वाले लोग थक गए। सारी परिस्थिति समझ कर मरीज ने डाक्टर से अगर प्रार्थना की, ऐसे शाप-रूप जीवन से मुझे मुक्त करना क्या तुम्हारा कर्तव्य नही है ? काका साहब कहते है : 'ऐसी हालत मे मरणदान देकर शरीर छोडने मे मरीज की मदद करना यही डाक्टर का पवित्र कर्तव्य है। उसे टालना सामाजिक गुनाह है, अधर्म है'। 'परमसखा मृत्यु' मे काका साहब ने जो प्रश्न उपस्थित किए हैं और उनके जो उत्तर दिए हैं, जीवन की दृष्टि से अत्यंत महत्व के है। आजकल जो संस्कृति दुनिया मे चलती है, उसे काका साहब 'जीवन लंपट' सस्कृति कहते थे। उसे अधूरी सस्कृति मानते थे और मरण जीवन की कृतार्थता है, इतना समझने वाली सस्कृति अब शुरू होनी चाहिए, ऐसी ख्वाहिश रखते थे।

'मृत्यु के बारे मे इतना गहरा चिंतन करने वाली पुस्तक सम्भवत: विश्व साहित्य में दूसरी नही मिलेगी।

चिंतक काका साहब का व्यक्तित्व उनकी चिंतनात्मक पुस्तको मे जितना उभर आया है, उससे अधिक उनकी डायरियो मे प्रकाशित हुआ है। यह एक अनोखा और निराला व्यक्तित्व है। उनका आतरिक जीवन इसमे प्रतिबिम्बित हुआ दिखाई देता है।

आमतौर मे लोग जब डायरियां लिखते हैं, तब आज क्या किया, किन से मिले, इसी तरह की बातो से भर देते हैं। इन डायरियों का भी साहित्य मे एक खास स्थान है। काका साहब ऐसी डायरियां शुरू-शुरू मे लिखते थे। पर सन् 1968 से उन्होंने अलग ढंग से डायरियो को लिखना शुरू किया। उनका सारा दिन तरह-तरह की प्रवृत्तियों से भरा हुआ रहता था। लेख लिखवाना, पत्रों के उत्तर देना, आए हुए लोगों से बातें करना, भाषण देना, यह सिलसिला दिन-भर चलता रहता था। रात को जब सोने जाते थे उससे पहले वह डायरी मे उस

दिन का अपना चिंतन लिखवाते थे, जो सारे दिन के उनके चिंतन का निचोड़ रहता था। ऐसी उनकी दो डायरियां गुजराती में और एक मराठी में प्रकाशित हुई है। गुजराती डायरियों के नाम हैं: 'प्रासंगिक प्रतिसाद' (सन् 1968) और 'संध्या छाया' (1969) मराठी में लिखी हुई डायरी का नाम है: 'आंतर जगांतील यात्रा' (1971)। चिंतक काका साहब का एक अंतरंग स्वरूप हमें इन तीनों डायरियों में मिलता है।

काका साहब ने डायरी के लिए एक नया शब्द बनाया था : वासरी। वासर दिन। वासरी दैनंदिनी।

अप्रतिम प्रतिभा के स्वामी

मराठी, गुजराती और हिन्दी तीनों भाषाएं काका साहब को एक समान प्रिय थीं। तीनों में वे अव्याहत रूप से लिखते रहे।

मराठी मे उनकी पैंतालीस पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें से सत्रह मूल मराठी में हैं, अट्ठाईस अनुवादित हैं। गुजराती मे उनकी त्रेपन पुस्तकें हैं, जिनमे से केवल छह अनुवादित हैं, सैंतालीस मौलिक हैं। हिन्दी मे पैंतालीस पुस्तकें हैं, जिनमें से केवल उन्नीस अनुवादित हे, चौबीस मौलिक हैं और 'मंगल प्रभात' की फाइलों मे जो साहित्य भरा हुआ है, उसका वर्गीकरण अभी बाकी है। यह साहित्य अधिकांश मूल हिन्दी मे है। उसके बीस-पच्चीस ग्रंथ आसानी से बनाए जा सकते हैं।

साहित्य अकादमी की स्थापना के समय भारतीय साहित्य की व्याख्या करते हुए डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने कहा था : 'भारतीय साहित्य एक है, यद्यपि वह अनेक भाषाओ मे लिखा जाता है'। इस व्याख्या के अनुसार रवीन्द्रनाथ भारतीय साहित्यिक थे, जो बंगला भाषा मे लिखते थे। सुब्रह्मण्यम भारती तमिल भाषा में लिखने वाले भारतीय लेखक थे और वल्लथोल मलयालम में लिखने वाले भारतीय साहित्यकार थे। ये तीनों भारतीय साहित्यिक थे, यद्यपि वे अपनी-अपनी भाषाओं में लिखते थे।

भारत के साहित्यिक संसार में ऐसे भी लेखक हैं, जिन्होंने अपनी भाषा के बदले दूसरी किसी भाषा में लिखा है—जैसे बेंद्रे। वे मराठी भाषी थे, किन्तु कन्नड़ में लिखते थे।

काका साहब उन इने-गिने साहित्यकारो मे से थे, जिन्होने एक साथ तीन भाषाओ मे साहित्य लिखा है। इस बहुभाषी देश मे साहित्यकार का बहुभाषी होना गाधी-युग का एक आदर्श रहा है। काका साहब इस आदर्श के एक उत्तम उदाहरण थे। उनके अतेवासियो मे भी जो साहित्यानुरागी रहे, लगभग सभी बहुभाषी बने। इसका एक सुदर उदाहरण गिरिधारी कृपलानी ने पेश किया है। वे सिंधिभाषी थे। उन्होन रवीन्द्रनाथ की 'अचलायतन' नामक एक बगाली रचना का गुजराती मे अनुवाद किया है और काका साहब ने, जो मराठी थे, इसकी गुजराती मे प्रस्तावना लिखी है।

गुजराती 'अचलायतन' मे इस प्रकार चार भाषाओ का सगम हुआ है। काका साहब ने इतना कुछ लिखा पर एक भी पक्ति अपने हाथ से नही लिखी। इस बारे म स्पष्टीकरण दते है :

> मै अपने खानगी पत्र भी अपने हाथ मे नही लिखता, तो लेख लिखने की बात ही क्या ? असल मे मै लेखक ही नही हू। मै बोलक हू और थोडा-बहुत शिक्षक हू। सामने बछडा खडा हो तभी जैसे गाय मिहाती है, वैसे कोई सुनने वाला हो तभी मेरी वाचा प्रस्फुरित होती है। इसलिए लेख लिखवाने के लिए मुझे कोई लिखैया चाहिए। लिखवाते समय मैं उसकी ओर देखता हू। मै जो लिखवाता हू, वह उसे दिलचस्प लगता है या नही, यह जानने की कोशिश करता हू। अगर मन मे सदेह पैदा हो कि एकाध बात या खूबी उसके ध्यान म नही आई तो लिखवाने का मेरा काम रुक जाता है और मे उसस पूछता हू : 'क्या यह बात तुम्हारे ध्यान म आई ? न आई हो तो लिखवाना छोडकर उसे समझाने लगता हू। उसके बाद ही आगे बढता हू। कभी एकाध लिखैया ध्यानपूर्वक सुनता है और लिख लेता है। पर लेख के रस मे समरस नही होता। उसकी सूरत दखकर ही मुझे इस बात का पता चल जाता है। ऐसे निर्विकारी लिखैया के साथ मेरा निबाह नही होता। सस्कार की भूमिका पर मनुष्य का सहवास मुझे न मिले तो लिखवाने का मेरा उत्साह ही मद पड जाता है। लिखवाने का काम छोड तो नही देता पर थोडा लिखवाकर मूक आह भर लेता हू। एक समय ऐसा था, जब मेरी इस आदत के कारण जैसा श्रोता लिखैया वैसा लेख हो जाता था। मेरा लेख प्राथमिक-सा मालूम हुआ तो स्वामी आनद तुरत पूछताछ करते थे। लिखने वाला कौन था ? मेरे लिए लिखने वालो की सख्या बड़ी है। ईश्वर

> की मुझ पर खास कृपा रही है। उसने मुझे एक-से-एक बढ़कर कई अच्छे लिखैये दिए हैं। उनके संस्कारी सहवास का मुझे लाभ तो हुआ ही है। पर उनका हस्ताक्षर भी मुझे प्रोत्साहन देने वाला सिद्ध हुआ है। मेरा हस्ताक्षर इतना खराब है किन्तु दूसरा कोई सुदर अक्षरो मे लिख देता है तब मेरे मन मे उनके प्रति केवल कृतज्ञता के ही मनोभाव पैदा होते हैं।

काका साहब का सारा साहित्य लिख लेने वालो मे चद्रशकर शुक्ल, उमाशकर जोशी, नाना धर्माधिकारी, श्रीपाद जोशी, सरोज बहन नानावटी, चन्द्रकात केणी, कुसुम शाह जैसे कई नाम गिनाए जा सकते हैं। काका साहब इनके बारे मे कहते हैं :

> इनमे से कई बाद मे बडे हो गए। बडे-बडे काम करने लगे। इसलिए उनसे लिखवाने मे मुझे झिझक महसूस होने लगी। वे मुझे छोड दे उससे पहले ही उनको विवेकपूर्वक छोड देने की होशियारी मैने दिखाई।

इनम सरोज बहन नानावटी सन् 1938 मे उनकी बेटी बनकर उनके साथ रहने आई, वह अत तक साथ रही। वे तो चलती ट्रेन मे या चलती मोटर मे भी अक्षरो म किसी प्रकार की विकृति आने दिए बिना लिख लेती थी। 1938 के बाद काका साहब का बहुत सारा साहित्य उन्होने ही लिखा है। जब कोई नया लिखैया उनके पास आता, तब उसे पहले ही वे पूछते थे : जानते हो न महाभारत लिखन का सकल्प व्यासजी के मन मे उठा, तब वह किससे लिखवाया था ? गणेशजी से। गणेशजी के द्वारा व्यासजी ने दुनिया के सारे सेक्रेटेरियो को उनका स्वधर्म समझा दिया है। जो लिखना है, समझ-बूझ कर लिखना है--'अबुद्ध्वा मा लिख क्वचित' दिमाग मे उतारे बिना कलम से कुछ भी उतारना नही।

लेखक के रूप मे काका साहब की कई विशेषताए थी। लिखवाते समय बीच मे कोई आ जाता (ऐसे लोगो का कभी अकाल पडा ही नही) तब काका साहब लिखवाना बद कर देते थे और उससे बातें करने लगते थे। वह जितना समय ले लेता, उतना समय उसे वह दे देते थे और जब वह चला जाता, तब टूटे हुए लेख को जोडकर आगे लिखवाने लगते थे। टूटे हुए तार को जोडने मे उन्हें देर ही नही लगती थी। लिखवाते-लिखवाते कभी आसन पर से उठकर चक्कर काटने लगते थे। लेख लम्बा होने पर निरन्तर चक्कर काटते थे। आमतौर से वे

लेटे-लेटे ही लिखवाते थे। पास ही कोई चाकू, आंकनी, कैंची, पेपरवेट वगैरह पड़े हों तो उन्हें हाथ में लेकर बच्चों की तरह खेलने की भी उन्हें आदत थी। संदर्भ ग्रंथ के रूप मे पास मे मोनियेर विलियम्स पड़ा रहता था। पर लिखवाते समय शायद ही किसी संदर्भ ग्रंथ को देखते। पूछने पर वे बताते थे :

> लिखने की प्रेरणा कैमी होती है ? भला यह भी कोई सवाल है ? बिना प्रेरणा मे कभी कोई लिखता है ? किन्तु प्रेरणा को जो दुराराध्या मानिनी रमणी मानते हैं, उनकी जाति का मैं नही हू। जीवन-सम्बधी असख्य प्रश्नो का विचार जिदगी-भर करता आया हू। जब लिखवाने का अवसर मिलता है, तब लिखवाता हू। कोई लिखने वाला हो और लिखवाने के लिए समय हो तो मेरी प्रेरणा नल के पानी की तरह वहने के लिए हमेशा तैयार ही रहती है। इसलिए अपनी प्रेरणा को मै आदरपूर्वक किंकरी कहता हू। क्या लिखवाना है, उसका केन्द्रस्थ विचार मन मे आते ही लिखवाना शुरू कर देता हू। लिखवाने-लिखवाते दलीले, उपमाए, मिसाले, उपमान अपने-आप सूझते हैं। अपनी बात का असर दूसरो के मन पर डालने के लिए लेखक, शिक्षक, सुधारक और धर्म प्रचारक हमेशा उत्साही होते ही हैं। यह उत्साह जितना उत्कट होगा उतनी मात्रा मे शैली मे प्रसाद आएगा।

ललित निबध भी उन्होने ऐसे ही लिखवाए हैं।

बारिश के दिन थे। धुआधार बारिश हो रही थी। काका साहब के साथ वर्धा मे मराठी के कवि मंगेश पाडगावकर बैठे थे। दोनो बारिश की ओर एकटक देखने लगे। अचानक पाडगावकर ने पूछा, 'काका साहब, आपने बारिश पर कुछ लिखा है क्या ?'

'तैयार हो ? अभी लिख डालेगे।' काका साहब ने जवाव दिया।

पाडगावकर कागज कलम लेकर बैठ गए और काका साहब उन्हे लिखवाने लगे। आध-पौन घट म 'वर्षागान' नाम का एक ललित निबध मराठी मे लिखा गया। 'जीवन लीला' मे वह समाविष्ट कर लिया गया है। वर्षागान नाम पाडगावकर का दिया हुआ है। काका साहब शायद दूसरा नाम देते।

लेख लिखवाने के बाद उसे परिष्कृत करने की उन्हे कभी जरूरत ही महसूस नही हुई। वह सीधा प्रेस मे चला जाता था। प्रेस मैनेजर कभी कहता,

इसमें से आठ-दस पंक्तियां निकाल देंगे तो वह ठीक पृष्ठों मे बैठेगा। तब काका साहब आठ-दस पंक्तियां इधर-उधर की निकाल देते थे और जब बढ़ाने की बात होती, तब आठ-दस पंक्तियां बढ़ा देते थे। वह कहते हैं :

> नल की टोंटी थोड़ी देर के लिए खोल देता हू और काम हो जाता है। लेखक जीवन जैसा कोई अलग जीवन वे कभी नही जिए। 'लिखने के लिए तैयार होना मुझे पसद नही है। ऊंट अपने ऊपर जीन कसने नही देता है। पर एक बार लिखवाना शुरू करूं तो लिखवाते-लिखवाते मेरी रूचि बढ़ती है। इसके दो कारण हैं। एक तो मैं मनुष्य प्रेमी हूं। विचार-विनिमय करने का अवसर मिले तो मै खुश हो जाना हू। दूसरा, मै उतना ही भाषा प्रेमी हू। अच्छे विचार अच्छी सयमित शैली मे लिखवाते हुए मुझे आनंद आता है।

काका साहब की साहित्य सम्पदा का मध्यबिंदु अगर हम ढूंढ़े तो मध्यबिदु के रूप मे जीवन ही मिलेगा। वे मानते आए थे कि दुनिया मे जीवन से बढ़कर कुछ भी नही है। धर्म, नीति, समाजशास्त्र, साहित्य, संगीत, कला सब उनकी दृष्टि मे जीवन की प्रतिष्ठा के ही साधन थे। साधन चाहे जितने सुदर हो, सम्पूर्ण हों, वे साधन ही हैं, साध्य नही हैं। साध्य तो जीवन ही है। जीवन-विकास, जीवन-शुद्धि, जीवन-समृद्धि उनकी साहित्य प्रवृत्ति के प्रेरक और नियामक तत्त्व रहे हैं। साहित्य जीवन के लिए ही होना चाहिए। उसका उद्‌गम भी जीवन मे है और साहित्य सेवन का फल जीवन का आनद, जीवन की सस्कारिता और जीवन की कृतार्थता ही है, यह उनकी धारणा थी। वह कहते है :

> साहित्य बुद्धि की प्रगल्भता को प्रगट करता है। मनोभावो को सूक्ष्म बनाता है। अनुभवो को पीजकर विशद करता है। धर्मबुद्धि को जाग्रत करता है। हृदय की वेदना को तेजस्वी बनाता है और आनंद को स्थायी रूप देता है इसलिए साहित्य के प्रति मेरे मन में आदर है। पर मैंने अपनी निष्ठा साहित्य को अर्पित नहीं की। साहित्य को मैंने इष्ट देवता के रूप मे कभी स्वीकार नही किया। उसको साधन के रूप मे ही स्वीकार किया है और साहित्यकार मुझे क्षमा करे तो कहूंगा, वह साधन के रूप मे रहे, मैने यही चाहा है। तुलसीदासजी के मन मे हनुमानजी के प्रति आदर था। पर उन्होंने

अपनी निष्ठा श्रीरामचंद्रजी को ही अर्पित की थी। मैं भी चाहता हूं कि हमारी उपासना साहित्य से अधिक जीवन की ही हो।

जीवन का अर्थ ही है, हृदय का विकास, ज्ञान का विस्तार और कौशल्य की परिसीमा। इन उद्देश्यो को हासिल करने के एक साधन के रूप मे उन्होंने साहित्य की ओर देखा। इसलिए जब साहित्यकारों के बीच मे वे बैठते थे, तब उन्हे संकोच महसूस होता था और जब साहित्यकार एक बड़े साहित्यकार के रूप मे उनका सम्मान करते थे, तब वह नम्रता से कहते थे, 'नही, मुझे आप साहित्य प्रेमी कह सकते हैं, क्योंकि मैंने साहित्य का काफी आस्वाद लिया है और मुझ पर उसका प्रभाव भी है। पर मुझे आप साहित्यकार न कहे, क्योंकि मै साहित्य सेवी नही हू और न साहित्योपासक ही हूं।'

सन् 1959 मे वे गुजरात साहित्य परिषद के बीसवें सम्मेलन के सभापति चुने गए। अपने भाषण का आरम्भ उन्होंने 'मै साहित्यकार नही हूं, साहित्य सेवी भी नही हू' इसी तरह किया। तब एक मजेदार प्रसंग लोगों को देखने को मिला। गुजरात के जाने-माने लेखक ज्योतीन्द्र दवे मच पर आकर बोलने के लिए खड़े हो गए। साथ मे वे पुस्तकों का एक बंडल लेकर आए थे। बंडल खोलकर उन्होंने 'स्मरण-यात्रा' निकाली। उसमें से 'अक्का' नामक एक अध्याय पढ़कर लोगो का सुनाया और काका साहब से पूछा, 'यह क्या है? क्या यह साहित्य नही है?' इसके बाद उन्होंने 'जीवन-लीला' पुस्तक खोली। उसमे से 'सखी मार्कंडी' लेख पढ़कर सुनाया और काका साहब से पूछा, 'अब बताइए, यह साहित्य नहीं है तो क्या है?' इस तरह दो-तीन और लेख पढकर उन्होने कहा, 'काका साहब आप क्या हमें मूर्ख समझते हैं? हम आपको साहित्यकार ही मानते हैं, साहित्यकार ही कहेंगे।'

गुजरात के मानस पर काका साहब की जो प्रतिमा अंकित हुई है, वह उनके साहित्य-विषयक विचारों के बावजूद एक श्रेष्ठ साहित्यकार की ही है।

विनोबा और सर्वोदय क्रांति

गांधीजी के जाने के बाद देश में एक तरह से निराशा छा गई थी। रचनात्मक कार्यकर्ताओं मे निष्ठा की कमी नही थी। पर उनका उत्साह गायब हो गया था। हाथ में जो काम था, वह वे निष्ठापूर्वक करते थे। पर यह जानते नहीं थे कि इसका भविष्य क्या है?

सरदार वल्लभभाई कभी-कभी मजाक मे कहा करते थे कि ये सब बापूजी की विधवाएं हैं।

अचानक विनोबा आगे आए। उन्होंने भूदान का काम हाथ में ले लिया और देश में देखते ही देखते एक नया उत्साह पैदा हो गया। निराशा एकदम दूर हो गई और देश-विदेश के लोग उनकी इस जिंदा रचनात्मक प्रवृत्ति की ओर कुतूहल से देखने लगे। भूदान के बाद विनोबा ने ग्रामदान का काम हाथ में लिया और सारे देश में मानो क्रांति का एक नया वातावरण तैयार हो गया।

देश मे जो सशंकित और अश्रद्धालु लोग थे उन्हें भी यह एक तरह का चमत्कार-सा मालूम होने लगा।

यह चमत्कार कैसे हुआ? केवल विचार-प्रचार से? विनोबा की सभी प्रवृत्तियो की जड़ में विचार हमेशा रहा है। पर विनोबा से भी अधिक क्रांतिकारी विचारो का प्रचार करने वाले लोग देश मे कई थे। वे कोई चमत्कार करके न दिखा सके। क्यों? काका साहब जवाब देते हैं:

> क्योंकि विनोबा श्रद्धावान थे। श्रद्धावान पुरुष ही लोगों मे जो सुप्त श्रद्धा रहती है, उसे जगा सकता है। चिराग से ही चिराग जलता है। जिस चिराग के पास तेल है, बाती है, उसमे ज्योति ग्रहण करने की शक्ति होती ही है। ऐसे चिराग को जब दूसरे जलते चिराग का सम्पर्क होता है, तब वह भी जलने और प्रकाश देने लगता है। गाधीजी ने यही द्विविध कार्य किया था। इसी परम्परा में विनोबा आगे आए। इस दृष्टि से विनोबा गाधीजी के सुयोग्य उत्तराधिकारी है।

विनोबा का और काका साहब का बहुत पुराना सम्बंध था। इतना पुराना था कि जब प्रथम परिचय हुआ, दोनो ने गाधीजी का नाम तक नही सुना था। काका साहब बडौदा मे गगनाथ विद्यालय के आचार्य थे। रात को वह अपने विद्यार्थियों को आकाश के सितारों से परिचित कराने के लिए खगोल विद्या के वर्ग चलाते थे। उस समय उनके पास गंगनाथ के बाहर के जो नौजवान आते थे उनमे एक विनोबा थे। उस समय वे विनोबा नही बने थे। केवल विनायक नरहरि भावे थे।

गांधीजी ने कोचरब में जब आश्रम खोला, तब दोनों स्वतंत्र प्रेरणा से आश्रम में शामिल हुए और आश्रम की शाला में दोनों एक साथ पढ़ाने लगे।

> उनकी अद्वितीय निष्ठा और श्रद्धा का परिचय मुझे आश्रम के उन प्रारम्भ के दिनों में ही हो गया था। एक प्रसंग का मुझे स्मरण है। हम आश्रम-वासी अकसर साबरमती नदी में नहाने जाते थे। विनोबा तो हमारी शाला के छोटे-छोटे बच्चों को भी नहाने के लिए ले जाते थे। एक बार हम दोनों एक साथ नहाने गए। हमारे साथ और भी दो आश्रमवासी थे। वे कौन थे, उनकी याद मुझे अब नहीं है। साबरमती नदी वैसे तो खतरनाक नहीं थी पर पानी का बहाव कभी-कभी तेज हो जाता था और बड़ी मुश्किल से हम बाहर आ पाते। हममें से कई लोग तो डूबते-डूबते बचे हैं। जिस दिन मैं और विनोबा नहाने गए उस दिन प्रवाह बड़ा तेज था। अचानक मैंने देखा कि विनोबा बहाव में बहते जा रहे हैं। मैंने तुरंत अपने दूसरे साथी का ध्यान उनकी ओर खींचा और हम सब उनको बचाने की कोशिश में लग गए। विनोबा भी ऊपर आने की भरसक कोशिश कर रहे थे। पर जब उन्होंने देखा कि ये कोशिशें सब व्यर्थ हैं, वे बहाव के अधीन हो गए और एक हाथ ऊंचा करके उल्टे हमें धीरज देकर कहने लगे, 'आप डरिए मत, आत्मा अमर है। बापूजी को कहना कि अंतिम क्षण तक मेरी श्रद्धा रही है कि आत्मा अमर है।' मैंने किनारे पर आकर अंतिम उपाय के रूप में एक रस्सी उनकी ओर फेंक दी। उन्होंने वह ठीक पकड़ ली और हम इस रस्सी के सहारे उन्हें खींचकर बाहर ले आए। वे बाल-बाल बच गए, इस बात का मुझे संतोष हुआ। उससे अधिक आत्मा अमर है, इस तत्त्व में उनकी श्रद्धा देखकर उनके प्रति मेरी श्रद्धा भी बढ़ गई।

काका साहब उनके बारे में और एक किस्सा सुनाते थे :

> गरमी के दिन थे। हम अपने विद्यार्थियों को लेकर पैदल ही आबू की यात्रा करने गए। विनोबा को पैदल यात्रा का अनुभव था। उन्होंने महाराष्ट्र में पैदल यात्रा करके शिवाजी के बहुत से किले देखे थे। मैंने तो हिमालय में हजारों मील की पैदल यात्रा की थी। इस यात्रा से लौटते समय हम छोटी लाइन के एक छोटे स्टेशन पर पहुंचे। हमने स्टेशन मास्टर से पूछा, यहां से साबर-मती स्टेशन कितना दूर है? उसने अंतर तो बता दिया, पर यह नहीं बताया

कि अभी थोड़ी देर में इस रास्ते एक ट्रेन आने वाली है। हम चलने लगे। चलते-चलते एक रेलवे पुल के पास पहुंचे। इन छोटे पुलों में पैदल जाने वालों के लिए बाजू में रास्ता नहीं होता। रेल की पटरी के नीचे मिट्टी भी नहीं होती। फुट-फुट के अंतर पर लकड़ी की पटरियां ही होती हैं। एक पटरी से दूसरी पर पांव रखकर जाना पड़ता है। हमने पुल आधा तय किया ही था कि इतने में पीछे से ट्रेन की आवाज सुनाई दी। मुड़कर देखा तो काल पुरुष की तरह एक ट्रेन हमारा पीछा कर रही थी। मैं आगे था, विनोबा पीछे थे। ट्रेन को देखते ही मैंने विनोबा को कहा, विनोबा भागो। हम दोनों दौड़ने लगे। दौड़कर मैंने पुल पार किया और मैं बाईं ओर कूद पड़ा। विनोबा दौड़ रहे थे और ट्रेन बिलकुल उनके नजदीक आ गई थी। मेरी आंखों के सामने अंधेरा छा गया। मैंने विनोबा को चिल्ला कर कहा : विनोबा, कूदो बाईं ओर। वे कूदे और मैंने उनको बाहुपाश में ले लिया। विनोबा को कुछ भी दिखाई नहीं देता था। एक तो शाम का अंधेरा था और दूसरा, उनकी आंखें कमजोर थीं। पर उन्होंने पटरियों की ताल पकड़ ली और जब मैंने कहा, कूदो बाईं ओर तो वह कूद पड़े। धड़धड़ करती ट्रेन चली गई। दूसरे दिन मैंने बापूजी को यह किस्सा सुनाया और कहा, 'गरमी के दिनों में महाराष्ट्र में नंगे पांव यात्रा करने के कारण विनोबा की आंखें कमजोर हो गई हैं। फिर भी न चप्पल पहनते हैं, न चश्मा। आप इन्हें आदेश दीजिए वरना वे अनुभव से भी सुधरने वाले नहीं हैं। बापूजी ने उनसे चर्चा भी नहीं की। आदेश ही दे दिया। उसके बाद ही विनोबा चश्मा और चप्पल पहनने लगे। चश्मा पहनने के बाद मुझसे कहने लगे, अच्छा, 'देखना' इसे कहते हैं। मुझे मालूम ही नहीं था।

आश्रम में दोनों का सहयोग बराबर चलता रहा। आश्रम के सिद्धांतों और उसके नियमों के विषय में चर्चाएं दोनों के बीच अखंड चलती रही। दृष्टिभेद कभी-कभी दिखाई देता था, पर दोनों के बीच की एकता और परस्पर आकर्षण इतना जबरदस्त था कि लगता था, दोनों का हृदय और मन एक ही है।

कुछ समय के बाद जमनालालजी ने वर्धा में एक आश्रम खोला और कइयों को यह मालूम नहीं है कि काका साहब की सिफारिश से ही गांधीजी ने विनोबा को वर्धा भेज दिया। इससे दोनों के बीच के प्रत्यक्ष सम्पर्क में कुछ साल के लिए अन्तराल पड़ गया था। सन् 1935 में काका साहब ने राष्ट्रभाषा प्रचार का

काम अपने हाथ में लिया और वर्धा को अपना मुख्यालय बनाया। तब फिर से विनोबा से सम्पर्क स्थापित हो गया। दोनों न सिर्फ पारिवारिक भूमिका पर आत्मीयता से चलते रहे, बल्कि चिंतन के क्षेत्र में भी हमेशा साथ रहे : अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय का प्रश्न हो, धर्म समन्वय का प्रश्न हो या बुनियादी तालीम, भाषा, अस्पृश्यता-निवारण, जातिभेद, स्त्री-मुक्ति कई क्षेत्रों में दोनों का चिंतन करीब-करीब एक-सा था। यहां तक कि कोई भी बात समझाते समय दोनों दलीलें भी लगभग एक-सी देते थे। दोनों के बीच अद्भुत साम्य था। काका साहब कहते हैं :

> हमारे विचारों में जो साम्य है, वह देखकर मुझे भी कभी कभी आश्चर्य हुआ है। हम दोनों की विचार करने की पद्धति करीब एक-सी है और हम दोनों ने जिंदगी-भर एक ही काम किया, पढ़ाने का। इसलिए विचार समझाने की पद्धति भी एक-सी है। फिर बरसों तक आपस में हमने चर्चाएं भी की हैं। अंतिम जेल में हम दोनों एक ही कमरे में लगभग तीन साल साथ-साथ रहे। मैं नहीं मानता कि दुनिया का एक भी प्रश्न रह गया हो, जिस की गहरी-से-गहरी चर्चा हमने न की हो। जेल में हम दोनों एक-दूसरे के नजदीक आए थे।

इतना सब कबूल करके भी काका साहब कहते थे :

> हममें एक बड़ा फर्क है। विनोबा का जीवन व्यवस्थित है, मेरा अव्यवस्थित। उन्होंने आश्रम के व्रतों को स्वीकार किया और अपने जीवन का ढांचा बना लिया। इतने साल अध्ययन के लिए, इतने साल साधना के लिए और इतने साल लोक-सेवा के लिए, यह संकल्प उन्होंने पहले ही कर रखा था। जितना पूर्व नियोजित जीवन उनका रहा उतना मेरा नहीं रहा।

पंजाब में विनोबा का जब 'अज्ञातवास' चल रहा था, तब इन पंक्तियों का लेखक उनके पास पहुंच गया था। उसे यह महसूस नहीं हुआ कि वह काका साहब से किसी भिन्न व्यक्ति के साथ बात कर रहा है। उसने जब देखा कि काका साहब की ही तरह विनोबा भी एक कान से ऊंचा सुनते हैं, तब उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उसने कहा, 'काका साहब में और आप में शारीरिक साम्य भी है।' तब विनोबा मुस्कराकर बोले, 'हम दोनों समानशील और समान धर्मा हैं। दोनों के हृदय और मन एक ही हैं। हमारे विचारों में तो साम्य है ही। पर

हां, उसमें कभी-कभी समय का बड़ा अंतर रहता है। एकाध विचार उनको पहले सूझता है, बाद मे मुझे।'

दोनों को पहचानने वाले लोग कभी-कभी कहते थे कि दोनों के बीच काफी मतभेद है। इस पर विनोबा कहते थे, वह तो हम दोनों के फिर से मिलने तक ही रहेंगे। जहां हम दोनों मिले, सारे मतभेद हवा हो जाएंगे।

और काका साहब कहते थे, 'पिंडे-पिंडे मतिर्भिन्ना' के न्याय से कुछ मतभेद रहा तो भी क्या ? हम दोनों के आदर्श एक हैं, हृदय एक है, दोनों का कार्य भी एक ही है। कार्य-पद्धति हर एक की अपनी-अपनी होगी ही।

विनोबा ने जब भूदान-आंदोलन शुरू किया, काका साहब को कतई आश्चर्य नही हुआ। आश्चर्य तो इस बात का हुआ कि जो लोग वह कहते थे, आपके विनोबा क्या हैं ? बड़े घमंडी हैं, अपने को दुनिया से अलग समझते हैं, बडे लोगो का अपमान करके ही अपने को बडा जताते हैं, वगैरह-वगैरह कहते थकते नहीं थे, वे ही भूदान-आंदोलन शुरू होते ही इस तरह पेश आने लगे मानो विनोबा की महत्ता को वे कबसे पहचानते आए हो। जो हो, भूदान-आदोलन शुरू होते ही काका साहब ने एक वक्तव्य अखबारों को दिया :

> विनोबा की भूदान-यात्रा भारत के इतिहास मे एक महत्व की और आशा-भरी घटना है। तेलंगाना की यात्रा मे जब उन्हें भूमि मिली तब चद लोगो ने कहा कि साम्यवादियों के आतंक से त्रस्त हुए लोगों r सामने भूमि दिए बिना कोई चारा ही नहीं था...ऐसा ही होता तो भी तेलगाना के भूमिदान का महत्व कम नही होता। जहां रोग है, वही पर लोग दवा लेंगे। लोग कड़वी दवा लेने को तैयार हुए और लोगो को दवा देने वाले सच्चे वैद्य मिल गए, यही बडी बात थी। अब तो उन्हें स्थान-स्थान पर भूमि मिल रही है, उससे सिद्ध होता है कि हिन्दुस्तान मे दैवी परिवर्तन या सात्विक क्रांति का माहौल भगवान अपने एक पवित्र भक्त के द्वारा पैदा कर रहे हैं। सचमुच विनोबा-जी की श्रद्धा और आस्तिकता महात्माजी की परम्परा की है। हमारे देश में ऐसे आस्तिक लोग समय-समय पर पैदा होते आए हैं, यह कोई अनहोनी बात नहीं है। किन्तु देश के सामान्य लोग ऐसे महानुभावों की बात सुनने को तैयार हो जाते है, यह यही बताता है कि भारतवर्ष की प्रजा आस्तिक है। उसमें धर्म का प्राण प्रज्वलित हो सकता है।

विनोबा के बारे मे शुरू-शुरू मे कुछ लिखते या बोलते उन्हें संकोच महसूस होता था। क्योंकि वे दोनो गुरुबधु है। एक-दूसरे को सर्टिफिकेट देते रहे, यह उन्हें शोभा नही देता। इस स्वाभाविक सकोच से शुरू-शुरू मे उनके बारे मे खास कुछ लिखते नही थे। फिर भी उनकी विशेषताओ की ओर लोगो का ध्यान खीचने मे उन्होने उन दिनो भी कभी सकोच नही किया। फिर तो जमाना भी धीरे-धीरे बदलने लग गया था। भूदान-आदोलन म नए-नए लोग आने लग गए थे। इसलिए स्वाभाविक सकोच को दूर रखकर वे उनकी विशेषताओ के बारे मे बेतकल्लुफी से समय-समय पर बालने या लिखने लग गए थे। एक बार उन्होने कहा :

> अपने जीवन के हर एक दिन का जिन्होंने पूरा पूरा उपयोग किया है, ऐसे पुरुषार्थी सत्पुरुषो म विनोबा का स्थान अग्रगण्य है। सन् 1910 मे उनसे पहली बार मिला तबसे देखता हू कि वे अपनी सर्वांगीण उन्नति जोरो से करते हुए आगे बढे है। उनका स्वभाव स्वाश्रयी है...अपने रास्ते म प्रगति करने के लिए जो-कुछ भी उन्हे छोडना पडे, वे आसानी से छोड देते हैं। जो ग्रहण करना पडे, पूरे उत्साह के साथ ग्रहण कर लेते हैं। सुख मे या दुख मे डूब जाना वह जानते ही नही। दोनों पर वह तुरत काबू पा लेते है। हिन्दुस्तान का अहोभाग्य इसी म है कि उसे ऐसे ही नेता आज तक मिलते रहे हैं, जो भारतीय सस्कृति के उच्च आदर्श की ओर ही राष्ट्र को ले जाने की कोशिश करते है।

और एक बार उन्होंने कहा :

> विनोबा की शक्ति और सफलता की बुनियाद में एक बात विशेष है। वह गतानुगतिक नही हैं। दस लोग मानते है, इसलिए मानना उनके स्वभाव मे नही है। वह अपने निजी अनुभव और श्रद्धा से चलेगे 'महाजनो येन गताः स पन्था', विनोबा इसका अन्धानुकरण करने वाले नही हैं। मन मे आया कि एक चीज अच्छी है तो वे तुरत उसे आजमाकर देखेगे। अनुभव लेगे और आगे बढेंगे। यही कारण है कि विनोबा दिन-पर-दिन सौम्य भी बनते जाते है और उनका प्रभाव भी बढता जा रहा है।

कभी-कभी लोग पूछते थे, 'आश्रमवासी के नाते आप दोनों मे सीनियर कौन है ? सन् 1968 मे दिल्ली मे विनोबा जयती मनाई गई थी, तब काका साहब से यह प्रश्न पूछा गया था और काका साहब ने जवाब दिया था :

> मैं गाधीजी से सन् 1915 मे शातिनिकेतन मे मिला था, जब वे दक्षिण अफ्रीका से लौट आए थे। आश्रम मे मै शरीक हुआ सन् 1917 मे। इससे पहले विनोबा आश्रम के सदस्य बन चुके थे। किन्तु संस्कृत पढ़ने के लिए एक साल की छुट्टी लेकर वह आश्रम से वाई की प्राज्ञ पाठशाला मे चले गए थे। एक साल पूरा करके जब वह लौट आए, तब मै आश्रम मे पुराना हो गया था। इसलिए कइयो को लगा कि मै सीनियर हू। असम मे आश्रमवासी के नाते वह सीनियर है। उम्र मे मै उनसे दस साल बड़ा हू। इसलिए मै उनसे सीनियर हूं और संकल्प तथा प्रत्यक्ष काम के हिसाब से भी मै सीनियर हू। किन्तु आज गाधीजी के देहात के बीस वर्ष बाद मै कह सकता हू कि गाधी-कार्य के प्रचार और विस्तार मे विनोबा हम सबमे सीनियरमोस्ट है।

भूदान प्रवृत्ति में कितनी जमीन मिली, वह किनको बाटी गई आदि प्रश्न महत्व के होते हुए भी काका साहब के लिए ये प्रश्न गौण थे। वे इस आदोलन की ओर सांस्कृतिक दृष्टि से ही देखते थे। भूदान प्रवृत्ति के कारण समाज मे कौन-सी सांस्कृतिक शक्तिया ऊभर आई हैं और वे लोगो को किन जीवन मूल्यो की दीक्षा देती हैं, इसी का उनकी दृष्टि मे महत्व था।

गाधीजी ने सिद्ध करके दिखाया था कि योग्य प्रेरणा पाने पर इस मुडदाल देश मे भी लोग निर्भय बन सकते हैं। उन्होने यह भी बता दिया था कि लोग अपनी हिंसा वृत्ति पर विजय पाकर लोकोत्तर त्याग और बलिदान के लिए भी तैयार हो सकते हैं।

अब विनोबा ने बता दिया था कि आज के नास्तिक और श्रद्धाहीन युग मे भी आस्तिकता और श्रद्धा का उदय हो सकता है। गरीब-से-गरीब आदमी भी त्याग कर सकता है।

नैतिक दृष्टि से यह बहुत बड़ी बात थी।

सार्वभौम सांस्कृतिक क्रांति की सभी सम्भावनाएं उन्हे विनोबा की इस प्रवृत्ति में दिखाई देने लगी। अगर इस प्रवृत्ति के कारण दस लोगों का हृदय-परिवर्तन

हो सकता है तो हजारो, लाखों, करोडो का भी हो सकता है। विनोबा ने इस प्रवृत्ति के साथ जब बुनियादी तालीम का प्रचार और जातिभेद उखाड देने का कार्यक्रम जोड़ दिया, तब काका साहब विनोबा की सूझबूझ पर काफी प्रसन्न हुए और बड़े उत्साह के साथ वे उनकी प्रवृत्तियो का समर्थन करने लगे।

विदेशो मे जहा-जहा भी वे गए उन्होने लोगो का ध्यान विनोवा की इस प्रवृत्ति की ओर खीचा। मिश्र, इटली, जर्मनी, बेल्जियम, ब्रिटेन, जापान, अमरीका आदि देशो मे जब भी पूछा जाता कि गाधी-कार्य आज भारत मे चलता है या नही, तब काका साहब विनोबा की प्रवृत्ति का जिक्र करते थे और उसकी खूबियो को समझाकर कहते थे– भारत की भूमि ऐसी प्रवृत्तियो के लिए अनुकूल है, यह तो मै कबूल करता हू। पर मनुष्य स्वभाव सर्वत्र एक-सा है, इसलिए यह भी कहना चाहता हू कि जो भारत मे सम्भव है, वह अन्यत्र असम्भव नही है। शर्त एक ही है : ऐसी प्रवृत्ति चलाने वाला विश्वप्रेमी हो, आध्यात्मिक दृष्टि से शक्तिशाली हो और स्वय अपरिग्रही हो।

विनोबा को जब ग्रामदान मिलने लगे, तब तो भूदान क्राति के सारे आयाम ही बदल गए। तब विनोबा का आदोलन एक-एक गाव का एक-एक परिवार बनाकर गाव-गाव मे नया समाज बनाने का और एक तरह देश की सूरत ही बदलने का आदोलन बन गया था। यह काम केवल नवनिर्माण का नही, नव जीवन और नव समाज के निर्माण का काम था। काका साहब ने विनोबा को पहले ही कह दिया था, 'मेरे पास मेरे अपने काम हैं, जो गाधीजी के सौपे हुए है। पर आपको मदद करना भी मेरा कर्तव्य हो जाता है। अतः आप जब बुलाएगे, मै आ जाऊगा और जो काम सौपेगे, करता रहूगा।'

विनोबा के कहने मे काका साहब ने दो सर्वोदय सम्मेलनो—अनुगूल और शिवरामपल्ली के सम्मेलनो– की अध्यक्षता की थी। उन्ही की इच्छा को मान देकर वह हिन्दुस्तानी तालीमी सघ के अध्यक्ष रहे थे और उन्ही की इच्छा से बोधगया के समन्वय आश्रम के कामो मे दिलचस्पी लेने लगे थे।

इसके अलावा वह अपने बहुविध और सर्वविध चिंतन के द्वारा उनकी प्रवृत्तियों को हमेशा परिपुष्ट करते रहे थे।

विनोबा और सर्वोदय के बारे मे उन्होने जो लिखा है वह विनोबा और 'सर्वोदय क्रांति' नामक पुस्तक मे संग्रहीत किया गया है। गाधीजी का "रचनात्मक क्राति

शास्त्र" नामक पुस्तक जो दो बडे खडो मे प्रकाशित हुई है, वह भी उन्होने विनोबा के कार्यकर्त्ताओ के लिए ही सम्पादित करवा ली थी।

काका साहब के लिए सर्वोदय भारत के उद्धार के अनेक मार्गों मे मे एक नही था, बल्कि 'एकमात्र मार्ग' था। इसलिए जब कभी विनोबा के चिंतन मे उन्हे एकांगिता दिखाई देती थी, तब वे बेचैन हो उठते थे और सर्वोदय के एक जागरूक सतरी के रूप मे वे अपने उग्र चिंतन के द्वारा उन्हे जाग्रत करने का काम भी बड़ी तीव्रता से करते थे। विनोबा ने भी उनका यह अधिकार कबूल कर रखा था।

विनोबा ने जब सत्याग्रह की सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर प्रक्रिया की बात छेडी तब काका साहब ने उन्हे चेतावनी देकर कहा कि इससे तो देश मे सत्याग्रह का त्राता ही कोई नही रहेगा और गाधीजी का यह प्रभावी अस्त्र गुडो के हाथ मे चला जाएगा। विनोबा ने जब तत्रमुक्ति की बात शुरू कर दी, तब भी काका साहब ने बेचैन होकर उनसे कहा था कि आपके इस निर्णय मे सर्वोदय का सगठन ही शिथिल हो जाएगा। विनोबा के कहने से जब सर्व-सेवा-सघ ने सर्वसम्मति से निर्णय लेने का निश्चय किया, तब भी काका साहब ने उन्हे सचेत करके कहा कि इसमे किसी-न-किसी दिन सर्व-सेवा-सघ सकट म आ पड़ेगा और सर्वसम्मति के निर्णय का सबको पश्चाताप होगा।

काका साहब ने अपनी ओर स विनोबा और सर्वोदय आदोलन को सब तरह से मदद भी की ह और जब कभी जरूरत पडी है तब अपनी स्पष्ट राय देकर उन्हे सचेत करने का भी काम किया है।

विनोबा की आध्यात्मिकता को काका साहब उनकी एक जबरदस्त शक्ति भी मानते थे और कमजोरी भी मानते थे। विनोबा के मानसिक गठन मे गाधीजी तो थे ही, पर उन्ही के अनुसार एक तिहाई ही गाधी थे। शेष दो-तिहाई शकराचार्य और ज्ञानेश्वर का प्रभाव था। कभी-कभी इन दोनो को जोर करते काका साहब ने देखा था। इसलिए बीच-बीच मे एक आशका उनको सताने लगती थी : सर्वोदय को वे भारत मे लोकोद्धार के जो अनेक पंथ है, उनमे से एक पंथ तो नही बना डालेगे ? और तुरत उनका दिल बोल उठता :

> नही, हम सर्वोदय की यह दशा होने नही देगे। सर्वोदय का रास्ता अनेक रास्तो मे से एक रास्ता नही है। यह तो एकमात्र रास्ता है, जिसके द्वारा

भारत और मानव वंश भविष्य के लिए जी सकता है, दूसरा रास्ता ही नही है। परस्पर अविश्वास, विरोध, संघर्ष आदि अनेक तरीके मानव जाति ने आजमाए हैं। अब ये सब तरीके विराट रूप धारण करके मानवता का ग्रास करने के लिए तैयार हुए हैं। अविश्वास, होड़, संघर्ष, शीतयुद्ध आदि सब प्रकार विश्वरूप धारण करके मनुष्य जाति के सामने खड़े हैं और रंग द्वेष, वंश-संघर्ष, पूजीवाद, साम्यवाद आदि वादो का ठंडा या गरम वाद-विवाद चला रहे हैं। हर एक पक्ष अपने-अपने प्रलयास्त्र तैयार कर रहा है। ऐसी हालत मे नर के सामने नारायण खड़ा होकर कहता है कि प्रलयंकारी यह मेरा विश्वरूप देख लो और इसमे सबक सीखो। इससे बचने का एक ही मार्ग है। बचने के लिए तरह-तरह के मार्ग आजमाने की गुंजाइश अब रही ही नही। सर्वोदय के लिए, सब के कल्याण के लिए मानस-परिवर्तन, तदनुकूल जीवन-परिवर्तन और उसके फलस्वरूप समाज-परिवर्तन करने के लिए तैयार हो जाओ। इसके लिए उग्र चिंतन करो। एकाग्र होकर प्रचार करो और सब संकल्प इकट्ठा करके एक ही प्रयोग को सफल करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दो : 'नान्यः पंथा विद्यते अयनाय'। अगर सर्वोदय का सिद्धांत सार्वभौम है तो उसका चिंतन और विनिमय भी सार्वभौम होना चाहिए। हमे डर है कि ऐसा सार्वभौम चिंतन नही हो रहा है। इसमे जितनी एकांगिता आएगी, फल-प्राप्ति में उतनी ही कमी रहेगी। अनेकविध, बहुविध, सर्वविध चिंतन के फलस्वरूप जो सर्वोदय चलेगा, वही सफल होगा। 'नान्य पन्था विद्यते अयनाय'।

जवाहरलालजी

जवाहरलालजी के सम्बंध मे काका साहब के मन मे विलक्षण आत्मीयता थी। वह यह जानते थे कि जिस अर्थ मे स्वयं या विनोबाजी गांधीजी के अनुयायी हैं, उस अर्थ में जवाहरलालजी उनके अनुयायी नही हैं। गांधी मार्ग से अधिक पश्चिम के समाजवाद के प्रति उनका अनुराग है। यद्यपि वे खादी पहनते है, सूत भी कातते है तो भी खादी के पीछे जो विचार है, उसे नही मानते और जिस मार्ग से वह देश को ले जाना चाहते हैं, वह गांधीजी के मार्ग से बिलकुल भिन्न मार्ग है।

पर फिर भी उनमें कुछ बातें ऐसी थीं, जो उन्हें खास आकर्षित करती थीं ।

एक तो यह कि वह सही माने में भारतीय थे । वे किसी खास प्रदेश के नहीं थे, किसी खास भाषा के या फिरके के नहीं थे । वे धर्म, जाति, पंथ, भाषा सबसे ऊपर थे ।

दूसरी बात, वे निष्कपट रूप से युद्ध विरोधी थे । जानते थे कि आज के युद्ध किसी को भी विजयी नही बना सकते, बल्कि संसार को विनाश की ओर ही ले जा सकते हैं । इसलिए अंतर-राष्ट्रीय व्यवहार मे अहिंसा को प्रधानता देने की वह सच्ची चाह रखते थे ।

तीसरी बात, उनके मन में किसी के प्रति द्वेष नही था । जिनके खिलाफ जिन्दगी-भर लड़े उन अंग्रेजों के प्रति भी नही था । अहिंसा वृति धारण करना एक बात ओर स्वभाव मे अद्वेष मानना बिलकुल अलग बात है ।

इन तीन कारणों से वे गांधीजी के नजदीक के थे ।

वह गांधीजी की खादी ग्रामोद्योग की अर्थनीति मे विश्वास नही करते थे, यह तो गांधीजी भी जानते थे । उन्होंने कभी गांधीजी से अपने विचार छिपाकर नही रखे । उनकी यह ईमानदारी भी उन्हें अन्य लोगों से ऊपर उठाती थी । उन्होंने अपने को सब धर्मों के जंजाल से मुक्त रखा, इसलिए वह गांधीजी से भारत की आध्यात्मिकता का शुद्ध रसायन पा सके । उनमे चारित्र्य का तेज था । इसीलिए जब उन्होंने स्वतंत्र भारत की विश्वमैत्री, शांति की उपासना और किसी भी गुट में न फंसने की नीति की घोषणा की, तब दुनिया समझ गई कि यह एक राष्ट्र पुरूष हैं, जिसकी वाणी के पीछे एक नए राष्ट्र का संकल्प व्यक्त होता है ।

काका साहब के लिए इतना काफी था । उन्होंने पहले ही निश्चय किया कि जवाहरलालजी से मतभेद हों तो भी उनका विरोध नही करना है, उनको कमजोर पड़ने नही देना है । हमारी दृष्टियां भले ही परस्पर विरोधी हों, यह विरोध ऊपर-ऊपर का है । समन्वय वृति से वह परस्पर पोषक बन सकता है और आगे जाकर दोनों के बीच समन्वय भी स्थापित हो सकता है ।

विनोबाजी की भी जवाहरलालजी के प्रति यही नीति थी ।

कांग्रेस की अंदरूनी राजनीति से काका साहब का कोई लेना-देना नहीं था । स्वराज्य की लड़ाई के दिनों में भी वह इस राजनीति से बिलकुल अलिप्त रहे थे

और अब स्वराज्य पाने के बाद तो उन्होंने राजनीति मात्र से अपने को कोसों दूर रखा था। पर सन् 1951 में जब कांग्रेस मे नेतृत्व का बखेड़ा शुरू हुआ—जो कांग्रेस के इतिहास में टंडन-नेहरू विवाद के नाम से पहचाना जाता है, तब काका साहब ने निश्चित रूप से जवाहरलालजी का पक्ष लिया था और कहा :

> राष्ट्र को अगर जीना है तो नेहरू के बिना भी चलाने की शक्ति उसमे होनी चाहिए और टंडन के बिना भी चलाने की शक्ति होनी चाहिए। टंडनजी की राष्ट्र सेवा हम भूल नही सकते और जवाहरलालजी के तुनुक मिजाज को हम पसंद नही करते। किन्तु सब तरह से सोचने के बाद हमें कहना पड़ता है कि राष्ट्रहित के लिए, राष्ट्रीय आदर्शो को सलामत रखने के लिए हमें जवाहरलालजी के हाथ मजबूत करने चाहिए। राष्ट्र कल्याण से बढ़कर न श्रद्धेय टंडनजी हैं, न उनके अध्यक्षीय अधिकार।...टंडनजी के अकड़पन में तेज की जगह हम कमजोरी देखते हैं। काग्रेस की परम्परा और देश का कल्याण इस जिद्दी कमजोरी के हाथ मे सुरक्षित नही है। तानाशाह और कोई हो सकता है, जवाहरलाल हरगिज नही।

इसी तरह का ओर एक प्रसंग कुछ वर्षों बाद सन् 1962 में उपस्थित हुआ, जब काका साहब को अपने निकट के साथियो और मित्रों को नाराज करके जवाहरलालजी का पक्ष लेना पड़ा। उस वर्ष के चुनाव मे बम्बई के एक निर्वाचन क्षेत्र से कृष्ण मेनन के विरुद्ध आचार्य कृपलानी खड़े थे। मेनन जवाहरलालजी के उम्मीदवार थे और कृपलानीजी विरोध पक्ष के थे। काका साहब के लगभग सभी साथी और मित्र कृपलानीजी की मदद करते थे। काका साहब को इस बखेड़े मे पड़ने की कोई जरूरत नही थी, पर उनसे रहा नही गया। उन्होंने मेनन का पक्ष लिया और उनका हार्दिक समर्थन करके अखबारों में अपना वक्तव्य प्रकाशित कर दिया। कारण पूछा गया तब उन्होने कहा, जवाहरलाल मेनन को अपने साथी के रूप मे चाहते हैं तो हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम चुनाव में मेनन की मदद करें। हमें जवाहरलालजी के हाथ कमजोर तो नही करने हैं।

1961 के अंत मे जवाहरलालजी ने शस्त्र बल का प्रयोग करके नही, बल्कि शस्त्र बल का केवल प्रचंड प्रदर्शन करके—गोवा को पुर्तगाली चंगुल से मुक्त किया। तब जवाहरलालजी की विदेशों में बहुत निंदा हुई। निंदा करने वालों में

वह भी थे, जिन्हें निंदा करने का कोई नैतिक अधिकार नहीं था क्योंकि उन्होंने कोई भी प्रश्न शस्त्रबल के बिना अब तक हल नही किया था। उनका शस्त्रबल में ही विश्वास था। इनकी निंदा की काका साहब को कोई चिंता नहीं थी। पर देश मे ही कई लोग गांधीजी का नाम लेकर जवाहरलालजी की निंदा करने लगे। भारत ने अपनी नीति को तिलांजलि दे दी, भारत का नैतिक पतन हुआ, वगैरह-वगैरह कहने लगे। तब काका साहब से नही रहा गया। उन्होंने गांधीजी की दुहाई, जो वे कभी नही देते थे, देते हुए जवाहरलालजी का समर्थन किया और कहा, इस स्थिति मे गाधीजी भी उनका समर्थन ही करते। गांधीजी की अहिंसा जिस तरह जैन और बौद्ध परम्परा से अलग कोटि की है, उसी तरह वह यूरोप, अमरीका के शातिवादियों की पैसिफिस्टों की अहिंसा से भी अलग है। इन शातिवादियों की अहिंसा तर्कनिष्ठ और सूत्रनिष्ठ ज्यादा है। गांधीजी की अहिंसा जीवननिष्ठ थी। उन्होंने आलोचकों को याद दिलाकर पूछा, क्या गांधीजी ने ब्रिटिश साम्राज्य की युद्ध संचालन मे मदद नही की थी? पिछले महायुद्ध म जब जापान के आक्रमण की सम्भावना पैदा हुई तब क्या उसके फौजी प्रतिकार की बात गाधीजी ने नही सोची थी? और जब बंटवारे के बाद कश्मीर पर हमला हुआ, तब गाधीजी ने क्या किया? हवाई जहाज से फौज भेजकर कश्मीर की रक्षा करने की सलाह भारत सरकार को नहीं दी थी? काका साहब कहते हैं:

> मै गाधीजी को जिस तरह समझा हूं, उसके अनुसार मेरे मन मे तनिक भी शंका नही है कि जवाहरलालजी की करीब चौदह साल तक की खामोशी और सहनशक्ति की गाधीजी सराहना भी करते और शस्त्र बल का केवल प्रदर्शन करके रक्तपात के बिना गोवा को मुक्त करने के कृत्य को अपने हार्दिक आशीर्वाद भी देते।...चौदह साल तक पुर्तगाल ने हमारी बात नही सुनी। समझौते के सारे प्रयत्न ठुकरा दिए और हमारी नीति अहिंसा की है इसी कारण पश्चिम के गोरे राष्ट्र हमारी फजीहत करने के लिए पुर्तगाल को मूक प्रश्रय देते रहे। जब कोई इलाज ही नहीं रहा तब हमने शस्त्र का आश्रय लिया। शस्त्र का केवल प्रदर्शन ही किया और बिना रक्तपात के गोवा को मुक्त किया। गांधीजी इसकी जरूर सराहना करते।

गोवा से काका साहब का बरसों से सम्बंध था। गोवा की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं से भी उनका उतना ही घनिष्ट सम्बंध था। वह अपने को गोवा के ही मानते थे। छह-सात लाख लोगो की आबादी के इस छोटे प्रदेश की अपनी कुछ विशेषताए हैं, जो उसके इतिहास की देन हैं। यह प्रदेश चार शताब्दियों से अधिक पुर्तगालियो के अधीन रहा। उसके भले और बुरे दोनो तरह के प्रभाव उस पर पड़े। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि गोवा का समाज दो हिस्सो ने विभक्त हो गया : हिन्दू और ईसाई। दोनो हिस्सो की भाषा कोंकणी है। दोनो के बीच की यही एक सांस्कृतिक कडी है : इस कड़ी को मजबूत करके दोनो हिस्सो को परस्पर ओत-प्रोत करना, इसी मे गोवा की सारी राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओ को हल करने की कुजी है, इस निर्णय पर काका साहब कई वर्ष पहले आ चुके थे।

अडचन एक ही थी। गोवा का हिन्दू समाज सौ फीसदी कोंकणी भाषा भाषो होते हुए भी उसने मराठी भाषा को अपनी सांस्कृतिक भाषा के रूप में स्वीकार किया था और वह कोंकणी को मराठी भाषा की ही एक उप-भाषा मानता आया था। उसका स्वतत्र अस्तित्व स्वीकार करने के लिए वह तैयार नही था।

सन् 1945 मे गोमतक मराठी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद से काका साहब ने गोवा के लोगो को कहा था

> कोंकणी स्वतत्र भाषा है या मराठी की एक उप भाषा है, इस विवाद मे हम न पड़े। मराठी जैसी चलती आई है, वैसी चलती रहे। पर कोंकणी की जो उपेक्षा हुई है, वह दूर होनी चाहिए। स्वराज्य प्राप्ति के लिए प्राण अर्पण करने की हमारी हमेशा तैयारी रहनी चाहिए। पर वास्तव मे आज इससे कम तैयारी की आवश्यकता है। वह यह है कि हम वास्तविकता को स्वीकार करें और आगे का रास्ता तय करे। मराठी के प्रति आग्रह अवश्य रखे पर उतने ही आग्रह से कोंकणी के विकास का भी काम करते रहे।

काका साहब की इस भूमिका से प्रभावित होकर गोवा के चद नौजवानो के साथ उनका निकट का सम्बंध स्थापित हो गया था, जो उनकी प्रेरणा से कोंकणी की सेवा मे लग गए थे।

इनमें एक थे गोवा के प्रतिष्ठित मराठी कवि बा० भ० बोरकर।

दूसरे ही साल—यानी जून 1946 मे—समाजवादी नेता डा० राम मनोहर लोहिया गोवा पहुंचे। वह अभी-अभी जेल से रिहा हुए थे और आराम करने के लिए अपने एक मित्र के साथ गोवा गए थे। उन्होने जब देखा कि यहां किसी तरह का नागरिक स्वातत्र्य नही है—सरकार की पूर्व अनुमति के बिना कोई न कुछ लिख सकता है, न बोल सकता है, यहा तक कि शादी के निमंत्रण भी पहले सेंसर के पास भेजने पडते हैं, तब उनका पुण्य प्रकोप जाग्रत हुआ और उन्होने वहां सत्याग्रह आदोलन शुरू कर दिया।

इस आदोलन मे गोवा के चद तेजस्वी नौजवान गिरफ्तार हुए और गोवा की सरकार ने उन्हे आठ-आठ, नौ-नौ साल की सजा देकर जेल भेज दिया। इनमें एक पुरुषोत्तम काकोडकर थे, जो सेवाग्राम मे रह चुके थे और गाधीजी के परिचित थे।

गाधीजी की उन दिनो सत्वपरीक्षा चल रही थी। स्वराज्य नजदीक आ गया था और देश मे हिन्दू-मुस्लिम सम्बधो ने भद्दा रूप ले लिया था। गाधीजी बड़े ही व्यस्त थे। फिर भी गोवा के आदोलन की ओर उनका ध्यान गये बिना नही रहा। उन्होने लोहिया का समर्थन किया और गोवा की सरकार को समय के पदचिन्ह पहचानने का परामर्श भी दिया।

ठीक इसी समय जवाहरलालजी के हाथ मे देश की बागडोर आ गई और उन्होने स्वराज्य के मगलाचरण के रूप मे अपनी अतरिम सरकार बनाई।

गाधीजी यह जानते थे कि लोहियाजी और जवाहरलालजी के बीच मनमुटाव शुरू हुए हैं। यही नही, बल्कि लोहियाजी जवाहरलालजी के प्रति दिन-ब-दिन कटु बनते जा रहे हैं। वह लोहियाजी के स्वाभिमानी और उग्र स्वभाव से अच्छी तरह परिचित थे। वह यह नही चाहते थे कि लोहियाजी गोवा के आंदोलन में अपने को एकाकी महसूस करे और यह भी नही चाहते थे कि जवाहरलालजी के लिए वह मुसीबत बन जाएं। उन्होने लोहियाजी को अपने पास बुलाकर उनसे अनुरोध किया कि जवाहरलालजी ने चूकि अब देश की बागडोर अपने हाथ मे ले ली है, ऐसा कोई काम नही करना चाहिए, जिससे वह मुसीबत में पड़ें। जो इंडोनेशिया की स्वतंत्रता के लिए अपनी आवाज उठाते हैं, वह क्या गोवा के अपने सगे भाइयों को भूल सकते हैं? उन्हें अपने ढग से काम करने देना चाहिए। गांधीजी की इच्छा को मान देकर लोहिया गोवा के आंदोलन से हट गए।

गोवा के बारे में उन दिनों गांधीजी लगभग हर हफ्ते कुछ-न-कुछ हरिजन मे लिखते आए थे। इस बीच उनके पास एक खबर आई कि पुरुषोत्तम काकोडकर ने जेल में उपवास शुरू कर दिया है। गांधीजी चाहे जितने व्यस्त रहे, ऐसी खबरों से उनका ध्यान हटना असम्भव था। उन्होंने इस खबर पर विश्वास रखा और काकोडकर जी के उपवास पर हरिजन में एक टिप्पणी लिखी, जिसका गोवा की सरकार ने झूठ कहकर तुरंत प्रतिवाद किया था। गांधीजी ने गोवा की सरकार से पूछा कि सत्य क्या है, यह जानने के लिए क्या वह हरिजन के प्रतिनिधि को जेल मे काकोडकर से मिलने भेज सकते हैं? गोवा सरकार ने इजाजत देने से इंकार कर दिया। पर काकोडकरजी के ही एक रिश्तेदार, जो वर्धा की एक संस्था में काम करते थे, गोवा जाकर यह पता लगाकर आए कि गोवा की सरकार जो कहती है, वही सच है। जेल मे सरकार जो खाना देती थी, काकोडकरजी ने वह लेने से इंकार कर दिया है, पर बाहर से दूध फल वगैरह मंगवाकर लेते हैं।

गांधीजी को बड़ा दु ख हुआ। उन्हें लगा कि वे धोखे मे आ गए और उन्होने हरिजन में गोवा के बारे मे लिखना उसी क्षण बंद कर दिया।

इसके बाद उन्होंने गोवा के बारे मे कभी कुछ नही लिखा।

पर गोवा के लोग उन्हें मिलने आते ही रहे। वे गोवा सरकार के अत्याचारों की खबरें उन्हें बताते रहे, वैसे एक-दूसरे के खिलाफ शिकायतें भी करते रहे। गांधीजी ने देखा कि यह सब राजनीति मे नौसिखिए हैं। इनका मार्गदर्शन करने के लिए किसी अनुभवी की जरूरत है। लोहियाजी को उन्होंने इस क्षेत्र से खीच लिया था। खुद उनके पास इनको सलाह सूचना देने के लिए समय नही था। उन्हें अपने दो साथियों का स्मरण हुआ। एक वल्लभभाई का और दूसरा काका साहब का। वल्लभभाई से उन्होने कहा कि बम्बई प्रदेश कांग्रेस के अपने साथियो द्वारा इन्हें संगठित रूप से काम करने की और एक आवाज से बोलने की राजनीति सिखाए और काका साहब से कहा कि इन पर निगरानी रखकर इनका उचित मार्गदर्शन करे। अपने विश्वस्त इन दोनो साथियों को गोवा का मसला सौपकर वह निश्चिंत हो गए। काका साहब कहते हैं :

'गोवा की परिस्थिति से मै परिचित हूं, यह वे जानते थे। इससे पहले दो तीनबार मैंने उनसे इस विषय मे चर्चा भी की थी और कोंकणी सम्बंधी अपनी भूमिका

भी उन्हें समझा दी थी। काकोडकर के तथाकथित उपवास से वे बहुत दुःखी हुए थे।' मुझसे उन्होंने कहा था, 'काकोडकर जैसे अपने ही कार्यकर्ता हमे धोखा दें तो हम किन पर विश्वास रखें ?' कृपलानीजी ने भी, जो इन्ही दिनों कांग्रेस के अध्यक्ष बने, मुझसे से गोवा के मामले मे ध्यान देने को कहा था।[1]

इसी कारण काका साहब गोवा की समस्या मे विशेष दिलचस्पी लेने लगे थे। बम्बई मे कवि बोरकर 'आमचा गोमंतक' नामक एक पत्रिका चलाते थे। उसमे वे नियमित रूप से लिखते थे और जो भी उनके पास आता था, उसे वह आवश्यक प्रेरणा प्रोत्साहन देकर उसका मार्गदर्शन करते थे। कई नौजवान उनके आस-पास इकट्ठा हो गए थे।

गोवा की राजनीतिक गतिविधियो से पिछले चौदह साल से उनका घनिष्ठ सम्बंध रहा था। इसलिए गोवा को परदास्य से मुक्त हुआ देखकर उन्हें विशेष रूप से परम आनंद हुआ था।

काका साहब ने जवाहरलालजी की शस्त्रबल का प्रदर्शन करके गोवा को मुक्त करने की कृति का जो जोरदार समर्थन किया, उससे जवाहरलालजी को बड़ी तसल्ली मिली थी। उन्होंने संसद म दो-तीन बार बड़ी कृतज्ञता से इसका जिक्र किया था।

जवाहरलालजी के बारे मे उनकी एक ही बड़ी शिकायत थी, वह यह थी कि वे कई महत्व के प्रश्नो की उपेक्षा करते हैं। गांधीजी ने किसी भी प्रश्न की उपेक्षा नही की। हम उनके इलाजो से सहमत हों या न हों, इतना तो सबको कबूल करना ही पड़ेगा कि जो भी समस्या उनके सामने उपस्थित हुई या उनकी नजर में आई, उसे हल करके ही आगे जाने की उन्होंने हमेशा भरसक कोशिश की। जवाहरलालजी समस्याओ को टालते रहे। अंग्रेजो की तरह उनकी ओर तटस्थता से देखते रहे और उनकी उपेक्षा करते रहे। नतीजा यह हुआ कि देश के सामाजिक, सांस्कृतिक नेतृत्व मे एक तरह की रिक्तता पैदा हो गई और इस रिक्तता को भर देने का मौका जीर्ण मतवादी और दकियानूसी लोगों को मिला।

काका साहब का कहना था कि किसी पुराने और बड़े घर मे जिस प्रकार कूड़ा करकट बहुत रहता है—घर जितना पुराना हो और जितना बड़ा उतना ही

1. लेखक के साथ बातचीत से।

ज्यादा कूड़ा करकट, उसी प्रकार बहुत बड़ी प्राचीन संस्कृति के दायाधिकारी भारत जैसे बड़े देश के सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन मे भी बहुत ज्यादा कूड़ा-करकट रहा है। कृषि की तरह संस्कृति मे भी समय-समय पर निदाई होनी चाहिए। पौधे की बढ़ती को रोकने वाली घास खुरपी से खोदकर दूर करने की प्रक्रिया संस्कृति मे भी चलती रहनी चाहिए। वरना सस्कृति विकृत हो जाती है। भारत वर्ष दुनिया का एक बडा देश है। यहां जितने मानव वश, जितने धर्म, जितनी भाषाएं, संस्कृति के जितने स्तर दिखाई देते है उतने दुनिया के किसी भी देश मे दिखाई नही देते। इतने बड़े और इतने प्राचीन देश मे जितने अनुपात में सास्कृतिक निदाई होनी चाहिए थी, नही हो पाई। फलस्वरूप हमारे सामाजिक जीवन मे कई विकृतिया पैठ गई है। कई तो दृढमूल भी हो गई हैं। इन विकृतियो ने कई तरह की समस्याए पैदा की है। इन समस्याओ की उपेक्षा करना या लोगो का आर्थिक स्तर ज्यों-ज्यों ऊंचा होता जाएगा, त्यों-त्यों ये समस्याए अपने आप हल हो जाएंगी, ऐसा मानना बडा खतरनाक है।

प्रयत्नपूर्वक और बुद्धिपूर्वक हल किए बिना ये समस्याएं हल नहीं हो सकती। देश की प्रात रचना के सवाल को ले -

पहले क्या था ? देश के कुछ स्वाभाविक विभाग थे, जो प्रकृति ने ही बनाए थे। विंघ्य के उत्तर के विभाग को आर्यावर्त कहते थे, दक्षिण विभाग को दक्षिणायन या दक्खन कहते थे। स्मृतियो ने नदियों के अनुसार विभाग मान्य किए थे। धर्मकार्य मे संकल्प करते समय देश काल का जब जिक्र करना पड़ता है, तब आज भी ब्राह्मण नदियों को याद करते हैं और 'रेवाया उत्तरे तीरे' या 'गोदावर्या दक्षिणे तीरे' बोलते है।

उत्तर भारत के अरावली के पहाड़ो ने दो विभाग बनाए थे। अरावली के पश्चिम की ओर का मरुसिंधु प्रदेश और पूर्व का गांगेय प्रदेश स्वाभाविक माने जाते थे और दोनो प्रदेशों पर एक-सा ध्यान रहे इस वास्ते भरतवश के राजपुरुषों ने दोनों के बीच के हस्तिनापुर को उभयान्वयी राजनगरी के रूप मे पसंद किया था।

पर देश तो एक ही माना गया था। वह आसेतु हिमालय देश था। इसे एक देश प्रकृति ने ही बनाया और इस प्रकृति के प्रभाव से और हमारे पूर्वजों के पुरुषार्थ से देश की संस्कृति भी एक ही बनी रही।

इस एक संस्कृति के देश के राजकीय विभाग कभी भी प्राकृतिक या स्वाभाविक नहीं थे। वह तो देश के राजाओं की महत्वाकांक्षाओं से बनते गए थे और समय-समय पर बदलते भी रहे थे। हमारे संस्कृति-धुरीणों ने राज्यसत्ता को कभी महत्व ही नहीं दिया। जब तक सांस्कृतिक एकता कायम है, तब तक राजकीय विभाग कैसे भी बने, कोई फर्क नही पड़ता, ऐसा ही वे मानते आए थे।

अंग्रेजों ने जो राजकीय विभाग बनाए उनमे लोकजीवन का ख्याल नहीं रखा गया, राज्यसत्ता की सहूलियत का ही मुख्य विचार रखा गया।

वैज्ञानिक ढंग से इस देश मे राजकीय विभाग कभी बने ही नही।

स्वराज्य की लड़ाई मे लोक जाग्रति ने जब सिर ऊंचा किया, तब जनता की अस्मिता का भी उदय हुआ और भाषा के अनुसार प्रांत बनाने की मांग शुरू हुई। इस मांग की ओर किमी राजपुरुष ने ध्यान नही दिया था। केवल गांधीजी ही पहले राजपुरुष थे, जिनका इस मांग की ओर न केवल ध्यान गया, बल्कि जिन्होंने इस मांग का जबरदस्त समर्थन भी किया।

क्यों ? क्योंकि उन्हें विश्वास हो गया था कि भाषा के अनुसार प्रांत-रचना करेंगे तो राष्ट्रीय जीवन मे प्रातीय भाषाओं को उनका स्वाभाविक स्थान भी मिल जाएगा और साथ-साथ धर्मभेद और व्यवसाय-भेद जैसे भेदों को स्थान नहीं मिलेगा। ये भेद गौण हो जाएंगे।

अंग्रेजों के शासनकाल मे इस तरह की प्रांत-रचना करना असम्भव था। क्योंकि उन दिनों देश में छोटी-बड़ी कई रियासते भी थीं और कई भाषा-भाषी लोग इधर-उधर के प्रदेशों में बंट गए थे।

कन्नड़ भाषा को ही लें—उसका एक हिस्सा हैदराबाद रियासत में था, दूसरा मैसूर रियासत मे, तीसरा बम्बई प्रांत मे और चौथा मद्रास प्रात में।

स्वराज्य के साथ प्रजा राज्य आया और रियासतों की हुकूमतें भी टूट गईं। अब भाषावार प्रांत-रचना करने मे कोई अड़चन नहीं थी।

समय पर यह प्रांत-रचना की जाती तो बाद में जो समस्याएं खड़ी हुई, सब टल जातीं। पर स्वराज्य के साथ देश का जो विभाजन हुआ उससे जवाहरलालजी इतने भयभीत हो गए कि भाषा के अनुसार प्रांत बनाने की बात भी सुनने से

इकार करने लगे। भाषावार प्रात-रचना की माग अराष्ट्रीय है, एकता की बाधक है, इस तरह कहने लगे।

काका साहब ने उनसे कहा, आप इस नीति से जो सकट टालना चाहते है वे नही टलेंगे, उल्टे आपके सिर पर वे आ पडगे और आप को झुका देंगे।

उन्होने जवाहरलालजी के सामने अपनी योजना रखी, जो गांधी-दृष्टि की योजना थी। उन्होने कहा, स्वराज्य मे राजकारोबार लोगो की भाषाओ मे चले। हर जगह नीचे से ऊपर तक की शिक्षा की बोध भाषा भी लोगो की भाषा रहे।

पर एक भाषा के सभी लोग एक राज्य मे आए यह जरूरी नही है। महाराष्ट्र के तीन स्वाभाविक विभाग है : देश, विदर्भ और कोकण। वैसे गुजरात के भी तीन स्वाभाविक विभाग है कच्छ, सौराष्ट्र और गुजरात। महाराष्ट्र के तीनो विभागो का राजकारोबार मराठी मे चले, वैसे ही गुजरात के विभागो का भी राजकारोबार गुजराती मे चले।

बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास, कानपुर, अहमदाबाद इनके नगरराज्य बनाये जाए। इसमे मध्य प्रदेश और युक्त प्रात को सबक मिलेगा। इन दोनो भारी भरकम प्रातो के दस-पद्रह प्रात बनाए जा सकेंगे।

इस तरह देश के छोटे-छोटे चालीस-पचास या पचास-साठ प्रात बनाएगे तो ऐस राज्यो का राज्यतत्र खर्चीला नही होगा, दीर्घसूत्री नही होगा। न ही जटिल होगा। ऐसे राज्यो की महत्वाकाक्षाए भी मर्यादा मे रहेगी। राज्यकर्त्ताओ का जनता के साथ प्रत्यक्ष सम्बध रहेगा। वह सीधा, सादा, सुघड, नम्र और सेवा प्रधान होगा। मर्यादित राज्यो से प्रजा मे सतोष रहेगा और केन्द्रीय सत्ता मजबूत होगी। राज्य चलाते-चलाते कई मत्रियो का अनुभव बढेगा उनमे से प्रभावशाली लोगो को आप केन्द्रीय मत्रीमडल मे भी ला सकेंगे।

रशिया और अमरीका के अनुकरण मे हमने जो राष्ट्र के लिए फेडरल स्ट्रक्चर मान्य किया, वह हमारे राष्ट्रीय स्वभाव के लिए अनुकूल नही है और हर पात को राज्य मानना, यह तो बडी भारी गलती है। इन्हे प्रात ही कहना चाहिए।

छोटे प्रातो से एकता नही टूटेगी। उल्टे, मजबूत होगी। एक गुजरात मे पाच यूनिवर्सिटिया बनने से उसकी एकता खडित नही होती और एक गुजरात के सत्रह

जिले बनाने से गुजरात का बंटवारा नही होता तो एक गुजरात के तीन प्रांत बनने से उसकी एकता क्यों टूटेगी ?

इस तरह छोटे-छोटे प्रांत बनाने के बाद उनमें से आठ-आठ, दस-दस को लेकर एक-एक क्षेत्र—प्रादेशिक अधिराज्य बनाया जाए। इससे छोटे राज्यों के सब दोष इन अधिराज्यों के द्वारा दूर होंगे। प्रत्यक्ष प्रशासन छोटे राज्यों का रहे और विकास की बड़ी-बड़ी योजनाएं शिक्षा आदि क्षेत्र अधिराज्य के मातहत रहें। जवाहरलालजी ने यह सब-कुछ सुन लिया और कहा :

हमें तो बड़े-बड़े कल कारखाने और उद्योग चलाने हैं। इनके लिए छोटे राज्य काम के नही हैं और उन्होंने विषय बदल दिया। जो चीज प्रजा जीवन के लिए स्वाभाविक और अत्यावश्यक थी, जो शुरू-शुरू के दिनों में आसानी से हो सकती थी, जिसे गांधीजी का पूरा समर्थन था, उसका जवाहरलालजी ने कमर कसकर विरोध किया। नतीजा क्या हुआ ? मेरे जैसे भाषावार प्रांत-रचना के राष्ट्रीय समर्थक दब गए और जब संकुचित प्रांतीयता के दुराग्रही लोगों ने चिल्लाना शुरू किया —बसें जला दी, स्टेशनो को आग लगा दी, तब लोकतंत्र का नाम लेकर जवाहरलालजी ने उनके सामने सिर झुका दिया। देश का नेतृत्व धीरे-धीरे संकुचित वृत्ति के भाषाभिमानी लोगो के हाथ में चला गया और केन्द्रीय नेतृत्व की प्रतिष्ठा भी घट गई। जवाहरलालजी एक राज्य पुनर्गठन आयोग नियुक्त करने के लिए मजबूर हुए। भारत के इतिहास में प्रथम बार वैज्ञानिक ढंग से सोचने का और बुद्धिपूर्वक कुछ करने का अवसर प्राप्त हुआ था। पर मुझे यह कहते संकोच भी महसूस होता है और दुख भी होता है कि यह काम जवाहरलालजी ने ऐसे लोगों को सौंपा, जो दूरदृष्टि से सोच नही सकते थे। लोगो की मांग क्या है, जिद्द क्या है और तुरंत क्या तय करने से काम चल सकेगा, इतनी ही बात सोचने के लिए मानो ये लोग नियुक्त किए गए थे। आयोग की टर्म्स आफ रेफरेंस और रिपोर्ट पढ़ने से मालूम हो जाएगा कि उसकी नियुक्ति केवल काम चलाऊ संतोष के लिए थी। मैंने इस आयोग के सामने अपने विचार रखे। मैंने कहा, एक भाषा के सब लोगों को एक राज्य में लाने की ओर बड़े-बड़े भाषिक राज्य बनाने की कोई आवश्यकता नही है। एक-एक भाषा की अलग-अलग संस्कृति नही है। एक-एक भाषा का अलग-अलग राज्य करना रशिया के योग्य हो, हमारे लिए योग्य नहीं। एक-एक

भाषा के लोगों को एक-एक राज्य मे लाएंगे तो जगह-जगह निजाम खड़े हो जाएंगे और वे केन्द्र-सत्ता को चुनौती देने लगेगे। इसलिए बेहतर यह है कि भाषिक ही सही, पर छोटे-छोटे राज्य ही बनाए जाएं। भले ही उनकी संख्या चालीस-पचास या पचास-साठ हो। पं० हृदयनाथ कुंजरू ने मुझे बीच में ही रोक लिया और कहा, इस तरह की मांग तो किसी ने भी नही की है। हम इस पर विचार कैसे करे ? मैने उनसे पूछा, आपका यह आयोग लोगो की मांगो पर विचार करने के लिए है या देश के हित की दृष्टि से किस तरह की राज्य-रचना हो, इस प्रश्न पर विचार करने के लिए है ? जो हो, जवाहरलालजी महत्व के प्रश्नो की उपेक्षा करते रहे और फिर प्रजामत के सामने झुकते भी रहे। अब तो मै देखता हू, हमारी निजामी वृत्ति छोटे-छोटे हिस्सो तक पहुंच गई है। फलतः छोटे राज्य तो बनेंगे ही, किन्तु संकुचित वृत्ति के अध क्षुद्र और महत्वाकाक्षी लोगो का नेतृत्व भी सफल होगा और वह केन्द्रीय सत्ता को कमजोर करेगा।[1]

एक बार जयप्रकाशजी से काका साहब की इस विषय मे बाते चल रही थी। अचानक उन्होंने पूछा, 'मै आपसे एक अंग्रेजी शब्द का अर्थ पूछना चाहता हूं। जो-कुछ भी नही समझते उन्हे अंग्रेजी मे इग्नोरेंट कहते हैं। पर जो प्रश्नो को इग्नोर करते हैं, उनको क्या कहना चाहिए।'

जयप्रकाशजी ने हसकर जवाब दिया : इग्नोरेंट ही। और कहा, मैं भी अब छोटे प्रांतो के पक्ष का हो गया हू।'

काका साहब के मुह से अनायास उद्गार निकले, 'काश ! आप पहले से इस विचार का समर्थन करते। अब तो आप भी अकेले पड गए है।'

पर इन छोटे-बड़े मतभेदो के बावजूद जवाहरलालजी के बारे मे उनके मन में नितांत आदर था। उनकी धारणा थी :

जवाहरलालजी की भारत भक्ति गांधीजी से तनिक भी कम नही थी। वह भारत में ही जन्मे थे, यहां के ही समाज मे छोटे से बड़े हुए थे। किंतु उनकी शिक्षा-दीक्षा पश्चिम की थी। विश्व का इतिहास पश्चिम की आंखों से ही

1. लेखक के साथ बातचीत से।

> उन्होंने देखा था। विश्व की राजनीति और अर्थनीति का परिचय उन्हें पश्चिम के द्वारा ही हुआ था। इस तरह की उनकी यह सारी पूर्व तैयारी भारत के लिए इसलिए लाभकारी सिद्ध हुई क्योंकि उनको भारत की आत्म-शक्ति का परिचय गांधीजी के द्वारा हो सका था। आखिरकार व्यक्ति का पुरुषार्थ और परिस्थिति के बीच कभी संघर्ष; कभी सहयोग चलता ही रहता है। यही तो विश्व का नाटक है। ऐसे नाटक में एक महान संस्कृति-समृद्ध राष्ट्र को उन्नति के रास्ते ले जाना ही तो भाग्यशाली व्यक्ति के पुरुषार्थ का लक्षण है।

जवाहरलालजी जब चीन की यात्रा से लौटे थे तो चीन की प्रगति से बड़े प्रभावित हुए थे। काका साहब से जब उन्होंने चीन की प्रगति की बातें की, तब उनका उत्साह देखकर काका साहब से रहा नहीं गया। बोले, हमारे मन में चीन के प्रति कोई पाप नहीं है, तो हम उसके प्रति अविश्वास क्यों रखें? दुनिया का व्यवहार विश्वास से ही चलता है। पर एक आशंका जो मेरे मन में चक्कर काटती है, आपके सामने रख देता हूं। इस देश के नए राज्यकर्ता मार्क्सवादी कहलाते हैं। पर मार्क्सवादी से अधिक सैन्यवाद में विश्वास रखते है। उनकी अर्थ-नीति, राजनीति मार्क्सवादी से अधिक सैन्यवादी है और उनका सैन्यवाद सभी क्षेत्रों में सफल रहा है। इसलिए इस देश से हमें खतरा कभी नही होगा, ऐसा मैं नही मानता। हमारे लिए ही खतरा है, ऐसा नहीं। रूस के लिए भी है। काका साहब के कथन की प्रतीति करने के लिए जवाहरलालजी को 1962 तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। काका साहब कहते हैं :

> मैं यह नहीं कहूंगा कि वह गफलत में रहे। राष्ट्र गफलत में रहा होगा। वह नही रहे। एक ओर उनकी श्रद्धा थी कि हमने अगर किसी का बुरा नहीं चाहा तो हमारा कभी बुरा होगा ही नही। दूसरी ओर वह जानते थे कि जब तक राष्ट्र का सामर्थ्य पूरा नहीं बढ़ता है, सब्र से ही काम लेना चाहिए। वे हमेशा जागरूक रहे। पर फूंक-फूंक कर कदम रखना सफलता का मार्ग नहीं है। सब तरह से पूरा सोचो और चंद बातें भाग्य पर छोड़ो यही होता है सिद्धांत भाग्यशाली लोगों का। इतने बड़े राष्ट्र का सर्वांगीण विकास करने के लिए आप विश्वास के साथ ही आगे बढ़ सकते हैं।

गांधीजी के आदेश से

लगभग रोज कही-न-कही भाषण देना, रोज एक-दो लेख लिखवाना, रोजाना मिलने के लिए आने वाले लोगों से भेंट करना और उनसे चर्चाएं करना, रोज आठ-दस पत्रों के उत्तर लिखवाना, नई-नई पुस्तकें पढ़ते रहना और आज यहां तो कल वहां इस तरह सतत घूमते रहना—काका साहब का यह कार्यक्रम उनकी नब्बे वर्ष की आयु तक अखंड रूप से चलता रहा। दाढ़ी-मूछों और सिर के बाल शुचि शुभ्र हो गए थे, पर बुढ़ापे का कोई चिह्न उनमे दिखाई नही देता था। वह मजाक मे कभी-कभी कह भी देते थे, बाल भले ही सफेद हुए हों, मैं अभी भी बूढ़ा नही हुआ हू। नब्बे वर्ष की उम्र में भी उनका शरीर झुका नही था। सीधे खड़े रहते थे और बिना छड़ी का सहारा लिए चलते थे।

पचास वर्ष पहले जिस स्फूर्ति से, जिस उत्साह से काम करते आए थे, वही स्फूर्ति और उत्साह नब्बे वर्ष की उम्र मे भी उनमे दिखाई देता था। दोष एक ही था। वह पहले से ही एक कान से ऊचा सुनते थे। फलतः सुनने का सारा काम बेचारे दूसरे कान को अकेले करना पड़ता था। इससे वह बीच-बीच मे रूठ बैठता था। कभी-कभी हडताल भी कर देता था। बाद मे उसने भी तंग आकर काम छोड़ दिया था। इससे सुनने का काम अपने आप बंद हो गया था। कभी मजाक मे कहते थे :

> पहले मैं आधा प्रोफेट था। अब पूरा प्रोफेट हो गया हू। किसी की सुनता ही नही। अपनी ही हाकता रहता हूं।

चेहरे पर एक प्रकार का शांत तेज और माधुर्य दीख पड़ता था, इसमे नम्रता ओर शुचिता का सौदर्य छलकता दिखाई देता था। उनकी मृदु वाणी मे, उनकी धीर गति मे, उनका शुचि शुभ्र चित्त प्रकट होता था। देखते ही लगता था कि उनमें जो सत्य था, उसी मे उनका मन स्थिर है। अंतरात्मा के सान्निध्य मे भी मानो वह सतत विचरते हैं। एक अदृश्य उपासना के द्वारा मानो अंदर से सर्वदा स्नान करते रहते थे। निर्मल और शांतिमय शुचिता से उनका समस्त जीवन दैदिप्यमान बन गया था। अपनी दीर्घायुता का श्रेय वह आश्रम जीवन को देते थे। पर कहते थे :

> कठोर तपस्या के रूप में मैंने आश्रम जीवन को स्वीकार कभी भी नहीं किया था। महायान बौद्ध धर्म के 'बोधिचर्यावतार' नामक ग्रंथ के एक वचन

का उन पर गहरा प्रभाव था—अपने चित्त को काबू में रखने के एक व्रत को छोड़ कर दूसरे अनेक व्रतों से मुझे क्या मतलब? 'चित्त रक्षाव्रतं मुक्त्वा बहुभिः किम् मम व्रते'। चित्त को काबू में रखने का एक ही व्रत मनुष्य के लिए काफी है, इसमें गफलत हुई तो बाकी के व्रत कुछ भी मदद नहीं कर सकेंगे, इस सिद्धांत मे उनकी पूरी श्रद्धा थी।

आहार की मात्रा हद से ज्यादा न हो, सारे दिन खाते रहना विश्री है, भूख न होते हुए भी केवल स्वाद के लिए खाना असंस्कारिता की निशानी है, ऐसे सादे नियमो का पालन कराना ही काफी है।...ताजा स्वच्छ पौष्टिक मिताहार, अनुकूल परिश्रम, खुली हवा का जीवन और प्रसन्न मन इतना सम्बल हो तो मनुष्य अवश्य दीर्घायु होगा।

उन्हें दो बार क्षय रोग हुआ। बचपन मे शरीर इतना दुर्बल था कि गर्दन सीधी नही रहती थी, किंतु सभल कर चले। जीवन के रस सदैव शुद्ध और ताजे रखे। कभी भी अति चिंता नही की। उत्साह और सतोष का समन्वय किया और सबसे बडी बात 'सृष्टि अनाथ नही है, उसका सचालक अवश्य है। वह सृष्टि के अंदर ही रहकर अपने नियमों के अनुसार सब-कुछ करता है। उसकी रचना और योजना भले समझ मे न आए, किन्तु उसकी ऐसी रचना और योजना है।' इस विश्वास से जीते रहे। यह विश्वास उनका करीब अनुभव-सा बन गया था और उनके जीवन के साथ एकरूप हो गया था। इसी विश्वास को लेकर उनकी आतरिक साधना चलती रही। वह कहते हैं .

बुढ़ापा या वार्धक्य की चिंता मुझे कभी नही हुई। शक्ति और सामर्थ्य बढ़े ऐसी इच्छा कभी भी नही की। अतः शरीर की और सब इंद्रियो की शक्ति क्रम से घटेगी इसकी चिंता भी मुझे कभी नही हुई। बचपन मे कई शक्तियां मनुष्य मे नही होती। बाद में वह आती हैं। इसका दुःख हमने कभी नही किया और प्रसन्नता से बचपन पूरा किया तो बुढ़ापे मे कई शक्तियां क्षीण हो गई, इसका दुःख भी क्यों करे?...बचपन में बचपन के रसों का आनद लिया, बड़े होते ही बचपन की बातें बचपना कहकर छोड़ दी और प्रौढ़ उम्र मे उसके लायक प्रौढ़ महत्वाकाक्षाएं आजमाई। उनका भी अनुभव हुआ। कई बातें निस्सार-सी मालूम हुईं। कई बातों का अनुभव मिलने पर तृप्ति हुई और जीवन में अनुभव-समृद्धि की शांति फैली। जो पुरुषार्थ हमने शुरू

किया, वही नए ढंग से और बड़े पैमाने पर औरों को चलाते देखते अपार संतोष होता है। जेल निवास के आहार के कारण दांत जल्दी खराब हो गए। उन्हें निकलवाना पड़ा। उनकी जगह दत्तक दांतों ने ले ली और काम चलाया। नजर कमजोर हुई, तब चश्मा चढा लिया। कान की शक्ति क्षीण हुई तब सभा समितियों मे जाना कम कर दिया और शहर मे रहते हुए भी मोटरो की कर्कश आवाज से बच गया, इसका मुझे बहुत सतोष हुआ। बाद मे कान की मदद क लिए एक कर्णिका आई। उसकी सेवा ली।...जो बाते बुढापे के कारण मुझसे अब नही होती, उनकी चिंता मैंने छोड़ दी है। बचपन जितना आनददायक था, जवानी जितनी प्रोत्साहक थी, उतना ही बुढ़ापा शातिदायक, सतोषप्रद और चिन्तनानुकूल बन गया है।

फिर कहते हैं :

जिस तरह शाम की थकान के साथ मीठी और प्रगाढ निद्रा का आनद सुखदायक होता है, उसी तरह विविधता से भरे हुए इस जीवन का यथा समय अत भी होने वाला है...यह आश्वासन मेरे लिए सबसे श्रेष्ठ है। मृत्यु को तो मैंने मित्र माना है। पूर्ण विराम भले ही न हो, किंतु नये प्रस्थान के लिए जरूरी विराम तो वह है ही।

बड़ी उम्र में भी वे यात्राएं करते थे। सतत कर्मशील थे। कभी भी अप्रसन्न या थके हुए मालूम नही होते थे। इसका क्या कारण है? इस तरह का किसी ने प्रश्न पूछा, तब कोई दार्शनिक या गंभीर जवाब देने के बदले उन्होने उसका अपने ढग मे जवाब दिया था :

यह बुढापा और मृत्यु दोनो मेरे पीछे पड़े है। मुझे पकड़ना चाहते है। पर पकड़ नही पाते। मेरा पता लगाकर एक जगह जाकर पूछते हैं : काका साहब कहां हैं? तब लोग कहते हैं : कल ही तो यहां थे, आज मालूम नही कहां चले गए। दरियाफ्त करके मेरा पता पाकर वहां हांफते-हांफते पहुच जाते हैं। वहां लोग कहते हैं : अभी तो यहां थे। अब पता नही कहां चले गए। शरीर की शक्ति कम हुई तो भी यात्रा मैंने नहीं छोड़ी। सेवा का आनंद मिलता है। अच्छे लोगों का साथ मिलता है। सृष्टि के विस्तार में भगवान के दर्शन होते हैं और शरीर तथा मन की ताजगी कायम रहती है। जब तक शरीर चलता है, तब तक मेरी यात्राएं चलती रहेंगी। जिस तेजी से मैं यात्राएं

करता हूं. उतनी तेजी से न तो बुढ़ापा दौड़ सकता है, न मौत मुझे पकड़ सकती है । मैं क्या करूं ? इन्हें टालने की मेरी तनिक भी कोशिश नहीं है, उन्हें पाने की भी उत्कंठा नही है । पुराने दोस्त हैं, किसी-न-किसी दिन जरूर मिलेंगे । जितनी देरी होगी उतने ही प्रेम से आलिंगन करेंगे ।

ऐसे शांत और समृद्ध जीवन में जय-पराजय, सफलता-असफलता कोई मायने नहीं रखती । नैतिक दृष्टि से इन्हें कोई महत्व उन्होंने कभी नही दिया । वे इन द्वंद्वों से कब के ऊपर उठ चुके थे और पूरी अलिप्तता से उनका सेवन करते आए थे । फलतः निराशा या कटुता उन्हें कभी छू तक न सकी ।

गुजरात को उन्होंने अपनी सेवाएं अर्पित की थीं । पूरे गुजराती बन गए थे । गुजरात के राजनीतिक जीवन मे उन्हे कोई दिलचस्पी नही थी । कोई महत्वाकांक्षा नहीं थी । पर गांधीजी के प्रभाव में उन्होंने लगन से और तेजस्विता से जो काम वहां किया, उससे उनका स्थान गांधीजी के बाद दूसरा हो गया । दुर्भाग्य से इससे सरदार वल्लभभाई के मन में गलतफहमी पैदा हो गई । वल्लभभाई को निश्चित करने के लिए उन्होंने गुजरात छोड़ा । फिर भी वल्लभभाई के बारे मे मन में किसी तरह की कटुता नहीं आने दी । उनके गुणों की उन्होंने हमेशा कद्र की और मुक्तकंठ से प्रशंसा भी । सांस्कृतिक गुजरात के साथ तो उनका सम्बंध बराबर बना रहा । गुजराती भाषा की उनकी सेवा भी अखंड चलती रही । गुजरात छोड़ने के बाद उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम प्रमुख रूप से हिन्दी बना । फिर भी कुछ सृजनात्मक लिखने की जब भी इच्छा हुई, तब गुजराती में ही लिखा । गांधीजी ने उन्हें सवाई गुजराती की उपाधि दी थी । इस उपाधि के द्वारा गांधीजी ने उनमें जो विश्वास प्रदर्शित किया था, उसके अनुरूप बनने के लिए वे हमेशा जाग्रत रहे ।

गांधीजी की प्रेरणा से जिस कार्य को उन्होंने अपना जीवन कार्य बनाया था और जिसके लिए अपनी आयु के चौबीस वर्ष खर्च करके धन्यता का अनुभव किया था उस राष्ट्रभाषा कार्य की दुर्दशा देखकर उन्हें दुःख हुआ करता था । हमारे सिर पर न अंग्रेजों का राज रहे, न अंग्रेजी का—माता के चेहरे पर लगा हुआ यह राजनीतिक और सांस्कृतिक गुलामी का कलंक दूर हो और भारत-जननी एक हृदय हो, इस विराट संकल्प को लेकर उन्होंने इस कार्य का आरम्भ किया था और दिन-रात काम करके बारह अहिन्दी प्रदेशों में हिन्दी के लिए अनुकूल

वातावरण निर्माण किया था। इन प्रदेशो में हजारों लोग उत्साह के साथ न केवल हिन्दी पढते थे बल्कि हिन्दी का प्रचार भी करते थे। जब तक यह काम अहिन्दी लोगो के हाथ मे रहा, तब तक वह अच्छी तरह से चलता रहा। पर इसमे ऐन मौके पर ऐमे कुछ अदूरदर्शी और अति उत्साही हिन्दी वाले कूद पड़े, जो एक तरह से साम्राज्यवादी बन गए थे। जिस तरह अग्रेजी भाषा प्रातीय भाषाओ को दबा कर अपना राज चलाती है, उसी तरह अब हिन्दी का प्रचार होना चाहिए, जिसस प्रातीय भाषाए गौण हो और सर्वत्र हिन्दी ही चलती रहे, इस महत्वाकाक्षा से प्रेरित होकर वे प्रचार करने लगे। इन्होने राष्ट्रभाषा प्रचार कार्य को काफी नुकसान पहुचाया। काका साहब कहते हैं :

> दो प्रसगो का मुझे स्मरण होता है। एक है शिलांग का और दूसरा मद्रास का। शिलाग मे मैंने राष्ट्रभाषा का सदेश सुनाया, प्रातीय भाषाओ के साथ राष्ट्रभाषा का क्या सम्बध होगा और राष्ट्रभाषा अपने विशाल परिवार की प्रातीय भाषाओ का सहयोग पाकर क्या-क्या कर सकेगी और अग्रेजो का साम्राज्य कैसे हटेगा आदि बाते समझा दी। इस सभा में मेरे भाषण के बाद उत्तर भारत के एक हिन्दी कवि खड़े हो गए और एक गाना सुनाने लगे। कुछ पक्तिया आज भी याद रह गई हैं—भाषाओ की रानी हिन्दी, हिन्द भर की बानी हिन्दी। केशव तुलसी त्यो सूरदास, भूषण पद्माकर सहोल्लास, इसमे करते थे मोद मान, इसकी ऐसी महिमा महान, सबको है सुखदानी हिन्दी, भाषाओ की रानी हिन्दी। आगे की पक्तिया हैं—
>
> गुजराती पजाबी उडिया, सिन्धी मद्रासी त्यो मुडिया, उर्दू तमिल, बगला इगलिश है कठिनाई की पुडिया, पर हिन्दी सरस सरलतम है, साहित्य सुगम है अनुपम है, रखती पवित्र पानी हिन्दी, हिन्द-भर की बानी हिन्दी, भाषाओ की रानी हिन्दी।

अब ऐसे लोग हिन्दी की क्या सेवा करेंगे ? दूसरा किस्सा मद्रास का है। कोई आर्य समाजी भाई होगे। हिन्दी का प्रचार करने वहा गए थे। वहा एक सभा मे उन्होने कहा, आप दक्षिण के लोग कैसी जगली भाषा बोलते हैं। लोटे मे कंकड़ डालिए और उसे हिलाइए—जो आवाज होगी वही आपकी भाषा है। छोड़िए इस भाषा को और हमारी यह आर्य भाषा सीखिए। सस्कृत भाषा हमारी देववाणी है। हिन्दी उसकी पुत्री है। इसलिए आपको

नेताओं ने श्मशान की एकता कहा थी। अंग्रेजी के द्वारा हम शायद ऊपर के राज्यकर्ताओं में एकता स्थापित कर सकेंगे। पर नीचे के स्तर पर लोगों की एकता, जनता की एकता कभी भी स्थापित नही कर सकते। यह तारक शक्ति केवल देशी भाषाओं में है।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी अंग्रेजी की आज की प्रतिष्ठा को वे खतरनाक मानते थे। जब किसी से यह कहते हुए वह सुनते थे कि अंग्रेजी तो पश्चिम की ओर देखने की हमारी खिड़की है, तब वह बोल उठते थे, 'काश ऐसा ही होता। पर आज तो वह पश्चिम की सारी बाढ़ को देश पर फैलाकर उसे डुबो देने का महाद्वार साबित हुई है।' जब कोई कहता कि अंग्रेजी को अब देशी भाषा ही मान लीजिए तब वह पूछते, 'ठीक है, मैं मान लेता हूं। पर मान लीजिए कि जनता का पैसा खर्च करके अंग्रेजी की पढ़ाई का जो प्रबंध आज हम पर लादा गया है, उसे अगर हम बंद कर दें, तो क्या अंग्रेजी इस देश में पनपेगी। देखते-देखते ही सूख जाएगी। फिर ऐसी भाषा को देशी भाषा कैसे मानें ? देशी भाषाओ की यह स्थिति नहीं है। ये भाषाए पढ़ाने का प्रबध अगर हम बंद कर दें तो भी ये भाषाएं जीएंगी और पनपती रहेगी, क्योंकि उनकी जड़ें इस भूमि में है। अंग्रेजी की जड़ें यहां नहीं हैं। उसका प्रचलन और दो सौ साल चलता रहे, तो भी वह देशी भाषा बन नही सकती।'

> अग्रेजी भाषा और अंग्रजी साहित्य पढ़ने से हम लोगों को काफी लाभ हुआ है, यह मैं कबूल करता हूं। इसलिए उसका अध्ययन इस देश में दीर्घकाल तक रहे, यह भी मैं चाहता हूं। पर उसका जो स्वाभाविक स्थान है, वहीं वह रहे। सभी स्थानों मे वह दखलंदाजी न करे। राज कारोबार तो इस भाषा के द्वारा कभी भी न चले। वह अधिकार मराठी, गुजराती, बंगला, तमिल आदि भाषाओं का है। इन्ही भाषाओ मे सारा राजकारोबार चलना चाहिए। हिन्दी इनको जोड़ने वाली भाषा रहनी चाहिए। वह कहते रहे कि देश की आजादी और देश की एकता एक-दूसरे पर निर्भर है। देश का राजकारोबार अगर अंग्रेजी में चलता रहा तो पढ़ाई का वाहन भी अंग्रेजी ही रहेगा और राष्ट्र जीवन की चर्चा भी अंग्रेजी में ही चलेगी। और देश की हार्दिक एकता क्षीण हो जाएगी और आजादी भी खत्म हो जाएगी। एकता के नाम पर जो लोग अंग्रेजी की वकालत करते हैं और राज्यतंत्र आज अंग्रेजी में चलता है इस सहूलियत के कारण जो लोग अंधे बने हुए हैं, वे

> समझ नही रहे हैं कि अंग्रेजी के कारण राज्यतंत्र की जड़ें सूख रही हैं और बुद्धि का विकास भी बहुत कुछ रुक गया है।

गांधीजी ने देश को एक नई राजनीति और एक नई युद्धनीति सिखाई। यही नही, बल्कि एक नई अर्थनीति और एक नई धर्मनीति भी सिखाकर लोगों के मन मे भारत को दुनिया का सबसे निराला और सबसे आदर्श देश बनाने का स्वप्न जगाया। काका साहब गाधीजी के उन साथियों मे से एक थे, जिन्होंने इस स्वप्न का सेवन भी किया था और इस स्वप्न मे रग भरने का अपने ढग से भरसक प्रयत्न भी किया था। स्वराज्य के बाद यह देश वह स्वप्न भूल गया और यूरोप की राजनीति, धर्मनीति, अर्थनीति और युद्धनीति अपनाकर दुनिया के कई मामूली देशो मे से एक बनने के रास्ते पर चलने लगा। यही नही, बल्कि गाधीजी का जमाना अब खत्म हुआ कहकर उनका श्राद्ध करने की तैयारी मे भी लग गया। असल मे निराश होने के लिए यह स्वप्न-भंग पर्याप्त था। पर काका साहब निराश नही हुए। निराश होना शायद वह जानते ही नही थे। वह कहने लगे, गाधी-युग का अभी प्रारम्भ भी नही हुआ है, उसके खत्म होने की बात आप क्या करते है?

> गाधी-युग का आरम्भ तो अब होने वाला है। जिस काल मे गांधीजी का जन्म हुआ और जिस जमाने मे उन्होने अपना जीवन कार्य चलाया, वह तो युद्ध-युग था। उन्होंने अपने जीवन काल मे एक नही, बल्कि दो महायुद्ध देखे और दूसरे महायुद्ध मे तो उन्होने युद्ध की पराकाष्ठा भी देखी। इस युद्ध-युग मे उन्होने अपने नए युग के बीज बोए। अब इस युद्ध के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि रूस और अमरीका को देखिए। वह क्या करते हैं? वह जागतिक युद्ध के लिए आणविक अस्त्र तैयार करते हैं। पर अदर से वे जानते हैं कि अगर वे युद्ध मे उतरे तो विजय के लिए नही, बल्कि जागतिक सर्वनाश के लिए ही उतरना होगा। मतलब, युद्ध की तैयारी करने पर भी उनका युद्ध मे विश्वास नही है। वह उड गया है। वे युद्ध से डरते हैं। हिंसा की भयानक कला मे जो सबसे अधिक प्रवीण हैं, उन्ही का हिंसा मे अब विश्वास नही रहा है। इस परिस्थिति मे दुनिया के सामने दूसरा रास्ता ही बाकी नही है, सिवा इसके कि वह गांधीजी के सत्याग्रह को समझे और उसका प्रयोग करे। असल मे दुनिया को यह रास्ता दिखाने का काम भारत का था। पर

गांधीजी के बाद इस देश ने न तो अहिंसा की कोई साधना की न सत्याग्रह का सफल प्रयोग करके दिखाया। भारत ने 'निर्वीर्य-ग्रह-कलह' का ही एक नमूना दुनिया के सामने पेश किया। भारत ने गांधी मार्ग का अनुसरण नहीं किया तो दूसरे किसी राष्ट्र को (रूस को ?) या दूसरी किसी जाति को (नीग्रो को ?) विधाता प्रेरणा देगा। पर कोई-न-कोई सत्याग्रह का प्रयोग करने के लिए आगे आएगा, इसमे मुझे कोई शक नही है। वह जब दिखाई देगा, तभी गांधी-युग का उदय होगा।

मार्क्सवादी जिसे ऐतिहासिक नियतिवाद कहते हैं, उसी कोटि की यह श्रद्धा थी। कभी-कभी उन्हें लगता था, शायद रूस में ही गांधी युग का सूर्योदय हो। क्योंकि रूस की दो विशेषताओं से वे प्रभावित हुए थे। एक, गरीबी के प्रति उसकी नफरत और दूसरी, युद्ध के प्रति उसकी नफरत से। कहते थे, काश ! रूस गांधीजी के सत्याग्रह का मार्ग समझ लेने की कोशिश करता !

गांधीजी को वे भूतकाल के नही, बल्कि भविष्य काल के प्रतिनिधि मानते थे।

जो भविष्यकाल के बारे में सोचता है, वह वर्तमान मे भी उसी काल में जीता है। काका साहब ने अपने जीवन में केवल आजकल की परिस्थिति का या देश के पांच-दस वर्ष के जीवन क्रम का ख्याल करके कभी विचार ही नहीं किया। भारतीय जनता की युगानुयुग चलती आई जीवन-यात्रा के संदर्भ मे ही वे पूछते रहे --

पिछले पाच हजार वर्षों के भारतीय इतिहास का क्या कोई निचोड़ है ? भारत भाग्य विधाता ने इस राष्ट्र के हाथों साधना चलाकर उसे किस मिशन के लिए तैयार किया है ? सैकड़ों वर्षों की यातना और यंत्रणा के बाद भारत को जो आजादी मिली वह कौन-सा गम्भीर युग कार्य करने के लिए है ?

सन् 1924 तक वे यह मानते थे कि भारत भाग्य विधाता ने इस्लाम और ईसाई धर्म को भारत में इसलिए लाकर छोड़ा क्योंकि वह इस देश के लोगों की संकुचितता को और अलंबुद्धि को तोड़ना चाहता था। यह दोनों धर्म इस देश मे किसी के बुलाने से नहीं आए, सजा के तौर पर इतिहास ने वे हम पर लादे। दोनों के द्वारा हमारी कमजोरियां ही प्रगट हुई। इस्लाम ने हमारी सामाजिक असमानता पर प्रहार किया और ईसाई धर्म ने विश्व के साथ हमारा परिचय कराया और हमें आधुनिकता की दीक्षा दी।

जो बातें हम स्वेच्छा से सीखने को तैयार नही थे, वे इतिहास विधाता ने हमे जबरदस्ती सिखाईं ।

भारत को आत्मशुद्धि तो करनी ही है । पर एक दिन यकायक इतिहास विधाता की इस योजना का दूसरा एक रूप उनके सामने प्रगट हुआ । उन्हें यह महसूस होने लगा कि जिन धर्मो को इतिहास विधाता ने यहां लाकर छोड़ा है, वे सिर्फ हमारी आत्मशुद्धि के लिए नही, बल्कि उन्हें ही नई प्रेरणा, नई दीक्षा मिले इसलिए लाकर छोड़ा है । इस्लामी देशो मे इस्लाम यह नई प्रेरणा पा नही सकता, नई दीक्षा ले नही सकता और ईसाई देशो में ईसाई धर्म भी यह नई प्रेरणा, यह नई दीक्षा नही ले सकता । भारत के सामने एक नया मिशन खड़ा है, इन धर्मों की सेवा करने का और उन्हे नई प्रेरणा देने का । भारत मे दुनिया के लगभग सभी प्रमुख धर्म आकर बसे हैं । इन सब धर्मों मे पारिवारिक समन्वय की स्थापना करना और समन्वय के द्वारा सभी धर्मों मे नवजीवन का संचार करना – यही है भारत की साधना जिसके लिए भारत भाग्य विधाता उसे तैयार कर रहा है ।

काका साहब के लिए यह एक तरह का रहस्योद्घाटन-सा सिद्ध हुआ और उनके सामने समन्वय का रास्ता भी स्पष्ट हो गया ।

धर्म के नाम आज युद्ध नही होते, पर शीत-युद्ध तो चलते ही रहते हैं । कुछ धर्म ऐसे है, जिनमे आत्मशुद्धि के प्रयत्न नही होते, पर साम्राज्य विस्तार के प्रयत्न वे जरूर करते हैं । चद धर्म सगठन कुशल हैं, वे अपना दुनियावी सामर्थ्य बढ़ाते रहते हैं और चद धर्म तो सगठन कर ही नही सकते । इन सब धर्मों का एक धर्म कुटुम्ब अगर बनाना हो तो क्या करना होगा ? उन्हें प्रेमादरपूर्वक और आत्मीयता के साथ अपनाना होगा, इसे छोड़कर दूसरा रास्ता ही नही है । धर्मों का स्वरूप ही ऐसा है कि उन्हे अपनाए बिना हम उनकी पूरी सेवा कर ही नही सकते ।

> बड़े परिवार मे सबसे बड़ा और वयोवृद्ध पुरुष जिस तरह सबको अपनाता है, सबकी खूबियो को जानता है. सबकी सेवा करता है —और सबसे सेवा लेता भी है वैसे अब भारत को धर्मों के बारे मे करना है । इसके लिए सब धर्मों के प्रति प्रेमादर और आत्मीयता के मनोभाव जगाने की सबसे अधिक जरूरत है ।

कम्प्रोमाइज, एडजस्टमेंट रिकंसिलियेशन, हार्मनी, सिंथेसिस इन सब तत्वों को मिलाकर जो वृत्ति बनती है, उसी को काका साहब समन्वय कहते थे और इसी को भारत का मिशन मानते थे।

सन् 1965 में उन्होंने आयु के अस्सी साल पूर्ण किए, तब तक उन्होंने इस एक ही विषय पर देश-भर में घूमकर सैकड़ों भाषण दिए थे। जब अस्सी साल पूर्ण किए, उनको लगा, अब इस उम्र में उन्हें सभी प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाना चाहिए। मित्रों ने उनके बारे में 'संस्कृति के परिव्राजक' नामक एक अभिनंदन ग्रंथ तैयार किया था और उन्हें वह अर्पित करने के लिए उस दिन राष्ट्रपति भवन में एक समारोह आयोजित किया था। यह सम्मान स्वीकार करने के लिए जब मित्र उन्हें राष्ट्रपति भवन में ले गए, वह घर से यही निश्चय करके बाहर निकले थे कि वे निवृत्ति की घोषणा करके ही लौटेंगे। पर ज्यों ही राष्ट्रपति भवन में उन्होंने पांव रखा, उन्हें एक विस्मयजनक अनुभव हुआ। उन्हें एक आवाज सुनाई दी—मानो स्वयं गांधीजी उन्हें कह रहे हों : नहीं, आपको अभी निवृत्त नहीं होना है। समन्वय का जो विचार लोगों के सामने आप लगातार रखते आए है, वह केवल इस देश के लिए नहीं, बल्कि दुनिया के लिए बहुत महत्व रखता है। उसे व्यवस्थित रूप देने के लिए आपको अब एक नई संस्था स्थापित करनी चाहिए। आप उम्र की चिंता न करें, काम शुरू कर दें। कोई-न-कोई आकर इस काम को जरूर उठा लेगा। आप इसकी फिक्र मत कीजिए।

काका साहब के लिए यह एक विलक्षण और चकित करने वाला अनुभव था। क्षण-भर के लिए वह विस्मय में पड़ गए। पर दूसरे ही क्षण उन्होंने निश्चय किया। इस आदेश को गांधीजी का अनुग्रह समझ कर उसका पालन करना ही होगा। फलतः वह जो निवृत्त होने की घोषणा करने के इरादे से गए थे, शेष जीवन समन्वय-कार्य के लिए समर्पित करने की घोषणा करके लौटे।

उनके पास उनकी अपनी एक छोटी-सी संस्था थी : गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा। इस संस्था का स्वरूप संस्था से अधिक काका साहब के व्यक्तिगत कार्यालय जैसा था। इससे बड़ी दूसरी संस्था स्थापन करके चलाने की काका साहब में शक्ति कहां थी ? पर गांधीजी के उस आदेश ने उन्हें चैन से नहीं बैठने दिया।

कुछ हिचकिचाहट के साथ, पर काफी सोच-विचार करके अंत में सन् 1967 में 10 जुलाई के दिन उन्होने एक नई संस्था स्थापित की : 'विश्व समन्वय संघ'।[1]

और तीस साल पहले जिस उत्साह के साथ उन्होंने राष्ट्रभाषा प्रचार का कार्य उठाया था, उससे दुगुने उत्साह से उन्होंने 'विश्व समन्वय संघ' का कार्य हाथ में ले लिया।

उन दिनों की उनकी एक तस्वीर इन पंक्तियों के लेखक के सामने आज भी कभी-कभी सजीव होकर खड़ी रहती है।

काका साहब अलीगढ़ गए थे। वहा की यूनिवर्सिटी मे उनका एक भाषण रखा गया था। मुझे भी उन्होने अपने साथ ले लिया था। अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में संस्कृत की भी पढ़ाई की जाती है, देश की कई भाषाओं के अध्ययन की यहां व्यवस्था कर दी गई है, यह देखकर वह बड़े खुश हुए। अपने भाषण मे इस बात का उन्होने जिक्र किया और कहा : 'कई लोगो को लगता है कि देश मे कई भाषाएं होना एक तरह का शाप है। असल मे यह न तो शाप है, न वरदान है, बल्कि एक अवसर है और एक चुनौती है। जब तक हम हृदय से एक हैं, हमारी एकता सुरक्षित है। फिर जनताभिमुख भाषा नीति कैसी चलनी चाहिए इसका विश्लेषण किया और बाद मे समन्वय का प्रश्न हाथ मे लिया। धर्म क्या हैं, दुनिया में इतने धर्म क्यो पैदा हुए, उनका कार्य क्या रहा, उनका आपसी रिश्ता क्या है, उनमे विकृतियां कैसे आई, उनमे सुधार क्यों होने चाहिए, उनकी उपेक्षा करने से वे अधार्मिक लोगों के हाथ मे कैसे पहुंच जाते हैं, फिर उनके हाथों देश का विभाजन, गांधीजी जैसे एक युग पुरुष की हत्या आदि पाप कैसे होते हैं, भारत के

1. गांधीजी की सभी रचनात्मक सस्थाए गाधीजी की मृत्यु के बाद 'सर्व सेवा संघ' मे सम्मिलित हो गई थी। हिन्दुस्तानी प्रचार सभा सम्मिलित न हो सकी, क्योंकि सर्व सेवा संघ ने प्रारम्भ मे ही प्रस्ताव पास किया था, जिसके अनुसार प्रत्यक्ष राजनीति मे हिस्सा लेने वाला कोई भी संघ का सदस्य नही बन सकता था और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा में जवाहरलाल, मौ० आजाद आदि सदस्य ऐसे थे, जो प्रत्यक्ष राजनीति मे थे। अतः हिन्दुस्तानी प्रचार सभा का दफ्तर जो वर्धा में था, दिल्ली लाया गया और इस स्थनांतर के साथ उसका नामांतर भी कर दिया गया।

सर्व-धर्म-समभाव का अर्थ क्या है, भारत का धर्मों के बारे में क्या मिशन है— आदि बातें उन्होंने विस्तार के साथ समझाई।

आमतौर से भाषण और प्रश्नोत्तरी मिलाकर काका साहब एक घंटे मे सारा कार्यक्रम पूरा कर देते थे। पर आज वह लगभग डेढ़ घटा खड़े रहकर बुलंद आवाज में बोलते रहे। लगता था मानो आज वे सब-कुछ कह देना चाहते हैं। इस उम्र में लोगों मे समय का भान नहीं रहता। पर नहीं, काका साहब जानते थे कि उन्होंने आज ज्यादा समय लिया था। बोले, मेरी उम्र आज चौरासी साल की है। अब मेरा दुनिया से विदा लेने का समय आ गया है। दुबारा मैं यहां आ सकूंगा, इसका कोई भरोसा नहीं है। जिस यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों के सामने मै बोल रहा हूं, उसका अपना एक भूतकाल है। उसका भविष्यकाल किस तरह का होना चाहिए, यह मुझे आपको बताना था। इसलिए जानबूझ कर मैने आपका ज्यादा समय लिया और मुझे जो-कुछ कहना था, वह सब खुले दिल से मैंने आपके सामने रख दिया।

अध्यक्ष ने अपने समारोह-भाषण मे कहा, 'हमने आज एक बहुत प्रभावशाली भाषण सुना। ऐसे भाषण सुनने के मौके जिदगी मे कभी कभार ही आते है। मैं तो काका साहब का भाषण मत्रमुग्ध होकर सुनता रहा। मुझे गहराई के साथ यही महसूस होता रहा कि काका साहब के मुंह से आज प्रत्यक्ष गाधीजी ही हमारे सामने खड़े होकर बोल रहे हैं।'

हां, प्रत्यक्ष गांधीजी ही बोल रहे थे।

काका साहब भी लगातार यह महसूस करते आए थे कि उनमे गाधीजी आकर बसे है और उनसे यह सारे काम करवा रहे हैं।

नब्बे साल की उम्र तक वे इसी भावावेश मे काम करते रहे।

ब्राह्मी स्थिति

अचानक एक दिन उन्होने ये सारे काम छोड दिए। एकाध साल से वह यह महसूस करने लगे थे कि अब वह बहुत-सी बातें बड़ी तेजी के साथ भूलते जा रहे हैं। पहले लोगों के चेहरे ध्यान मे नही रहते थे। पर नाम कभी भूलते नही थे। पर अब तो बड़े नजदीक के पुराने साथियों के भी नाम भूलने लगे। पुराने संस्मरण लिखवाते है तो तथ्यों की गडबड़ी हो जाती हैं। चितन लिखवाते हैं तो पहले की

तरह दलीलें पेश नही कर पाते। जो-कुछ पढ़ते हैं, भूल जाते हैं। वही दुबारा पढ़ने पर नया-नया-सा मालूम होता है।

एक दिन कमलनयन बजाज का एक लेख हाथ मे आया। उसमे उन्होने एक वाक्य पढ़ा, जिसमें उन्होंने काका साहब के साथ पूर्व-अफ्रीका की यात्रा करने का उल्लेख किया था। उन्होने सरोजबहन से पूछा, 'सरोज, हमने पूर्व-अफ्रीका की यात्रा की थी क्या?'

सरोज बहन ने उन्हे उन्ही की 'उस पार के पडोसी' पुस्तक लाकर दिखाई। उन्होंने उसके कुछ पन्ने पढ डाले। सब नया-नया सा मालूम हुआ। कुछ याद नही रहा था। उनके मुंह से अनायाम निकल पड़ा: आखिर बुढ़ापे ने मुझे पकड़ ही लिया। इस स्थिति मे अब कोई काम करना निरर्थक है, वरना सेवा के बदले असेवा ही हो सकती है। उन्होंने तुरंत निश्चय कर लिया कि अब कोई काम नही करूंगा। न भाषण करने कही जाऊंगा, न लेख लिखवाऊंगा। वह सब कार्यों से बिलकुल अलिप्त हो गए।

इसी वर्ष भारत मे आपात-स्थिति की घोषणा की गई और जयप्रकाश जैसे देश भक्त भी गिरफ्तार कर लिए गए। उनकी समझ मे नही आया, यह सब क्या हो रहा है और क्यों हो रहा है।

इदिराजी के प्रति उनके मन मे वात्सल्य भाव था। भारत के हजारों वर्षों के इतिहास मे पहली ही बार एक महिला के हाथ मे देश की बागडोर आ गई है, इस बात का उन्हे गर्व था और लगता था कि इंदिराजी को सब तरह की मदद सब लोगो की ओर से मिलनी चाहिए। जयप्रकाश जैसे राष्ट्र पुरुष उनका क्यों विरोध करते हैं, यह उनकी समझ मे ही नही आता था। इंदिराजी भी उनकी ओर पूज्यभाव से देखती आई थी। 1 दिसम्बर को सन्निधि में जब काका साहब का जन्मोत्सव मनाया जाता था, वह सुबह अवश्य सन्निधि में आ जाती थीं और उन्हें बड़ी ही नम्रता मे प्रणाम करके चली जाती थी। काका साहब ने अगर उन्हें कोई काम फर्माया तो बड़ी ही लगन के साथ वह कर डालती थी। उन्होंने जब आपात-स्थिति की घोषणा की तब काका साहब को लगा, यह अच्छा नहीं हुआ। बिनोबा की मध्यस्थता से इसका कुछ हल ढूंढ निकालना होगा। श्रीमन नारायण जैसे बिनोबा और काका साहब के बीच की कड़ी थे, वैसे ही इंदिराजी

और विनोबा के बीच की भी कड़ी थे। उन्होंने श्रीमनजी के सामने अपनी व्यथा रख दी।

श्रीमनजी ने कहा, विनोबा नही मानते कि मध्यस्थी का अभी समय आया है। बस, काका साहब ने उसी क्षण निश्चय किया। अब अखबार भी नहीं पढ़ने चाहिए।

उन्होंने अखबार पढ़ना छोड़ दिया। यही नही, रोज कई पत्रों के जवाब लिखवाते थे। बरसों से चलता आया यह सिलसिला भी उन्होंने यकायक बंद कर दिया।

कुछ समय के बाद गांधी हिन्दुस्तानी साहित्य सभा के अध्यक्ष पद से और 'मंगल प्रभात' के सम्पादक पद से भी उन्होंने मुक्ति ले ली।

दुनिया की सारी प्रवृत्तियों से चितवृत्ति हटाकर वे ईश्वर के निकट सान्निध्य में रहने लगे।

उनके व्यक्तिगत जीवन मे जय-पराजय, सफलता-असफलता के कई ज्वारभाटे आए थे पर वे जैसे आए, वैसे ही चले भी गए। उनको उन्होंने पूरी अलिप्तता मे सहन किया था। दुःख भी कई आए, पर उन्होने भी अपने कोई चिन्ह उन पर नहीं रहने दिए। उनकी जब उम्र चौवालीस वर्ष की थी, तब पत्नी चल बसी।

उनके बारे में काका साहब लिखते हैं :

> वह स्वतंत्र विचार की थी। आश्रम-जीवन उसका अपना आदर्श नहीं था। वह तो मेरे कारण उसने अपने ऊपर लाद लिया था। आश्रम-जीवन के प्रति उसके मन मे लगभग अश्रद्धा थी और मैं भी उन दिनों अन्य हिन्दू-पतियों के जैसा बडा कठोर पति था। सख्ती से पेश आता था। फलस्वरूप हमारे बीच अकसर गरम-गरम बहस हुआ करती और बहस के बाद या तो वह रो पड़ती या तंग आकर मायके चली जाती। इस वातावरण का प्रतिकूल परिणाम सतीश पर हुआ। वह यही मानता रहा कि मैंने उसकी मां को बहुत सताया है, बहुत दुख दिया है और वह रूठकर मुझसे दूर हो गया। मां का प्रभाव उस पर मुझसे ज्यादा है। मां उसे कहा करती, ये देशभक्ति के काम तुम्हें नहीं करने हैं। तुम्हारे पिताजी ने जो किए वह हमारी भविष्य की दस पीढ़ियों के लिए काफी हैं। तुम अच्छी पढ़ाई करो, अच्छी नौकरी करो,

अच्छे पैसे कमाओ और सुखी रहो।' इस नसीहत का प्रभाव उस पर पड़ा, यह स्वाभाविक ही था। मैं इधर राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार करता रहा, बुनियादी शिक्षा का समर्थन करता रहा और उधर मेरा ही बेटा सरकारी कालिज की शिक्षा पाता रहा। मेरे आलोचकों को—खास तौर से महाराष्ट्र के आलोचकों को, जो गांधीजी और उनके साथियों के जीवन में छिद्रान्वेषण की ही ताक मे हमेशा रहे, उन्हे मुझे दांभिक सिद्ध करने के लिए काफी मसाला मिलता रहा।[1]

महाराष्ट्र ने काका साहब की काफी निंदा की और उन्हें वह चुपचाप सुननी पड़ी। महाराष्ट्र में गांधी-निंदा की कई धाराए एकत्र हुई थी। एक तथाकथित तिलक पंथी लोगों की धारा थी, दूसरी सावरकर की हिन्दुत्ववादी धारा थी, तीसरी सनातनी हिन्दुओं की धारा थी, चौथी आम्बेडकर की धारा थी और पांचवी साम्यवादी और समाजवादी लोगो की धारा थी।

इन सब धाराओं ने महाराष्ट्र के जन मानस पर गांधी निंदा की मानो एक बाढ़ ही ला दी थी। ये गांधी निंदक जब गांधीजी पर सीधा प्रहार न कर पाते, तब काका साहब जैसे उनके शिष्यों पर प्रहार करते। इस प्रक्रिया मे काका साहब भी अपनी ओर से कुछ योगदान देते रहे। वह महाराष्ट्र के साथ रुखाई से पेश आते रहे। खास तौर से जब उन्हें हैजा हुआ और महाराष्ट्र के अखबारों ने गांधीजी के बारे मे जहर फैलाया, तब उनका दिल बड़ा ही कठोर हो गया। वह महाराष्ट्र की आंकाक्षाओं से विशेषतः संयुक्त महाराष्ट्र की उसकी मांग से कभी एकरूप न हो सके (विनोबा भी इस मांग के साथ एकरूप नही हुए थे)। इन सब बातो में कोंकणी भाषा का एक स्वतंत्र भाषा के रूप मे उन्होंने जो समर्थन किया, उससे महाराष्ट्र मे चली उनकी निंदा को और भी पुष्टि मिली। पर वह कहते थे :

महाराष्ट्र के हृदय को मैं जानता हूं। उसने हमेशा सभी अच्छे लोगों की कड़ी परीक्षा ली है। अण्णा साहब कर्वे को क्या उसने कम सताया है? फिर भी क्या उसी महाराष्ट्र ने उनको महर्षि नही कहा? महाराष्ट्र का यही स्वभाव है। मुझे पूरा विश्वास है कि महाराष्ट्र एक दिन गांधीजी की महत्ता

---

1. लेखक के साथ बातचीत से।

को पहचान लेगा। फिर उनका अनुसरण करने में वह किसी से पीछे नही रहेगा। आज भी महाराष्ट्र ने गांधी को क्या उत्तमोत्तम साथी नहीं दिए हैं।[1]

व्यक्तिगत जीवन मे उनके हिस्से मे दुःख भी काफी मात्रा में आए।

गुरु के तौर पर उन्होंने जिनकी ओर देखा था वह गंगाधरराव केशवराव और रवीन्द्रनाथ चल बसे तब उन्हे बहुत दुःख हुआ था। सबसे बडा दुःख तो गांधीजी के निधन का था।

फिर महादेवभाई, किशोरलालभाई, नरहरिभाई, नाथजी, मामा, स्वामी, कुमारप्पा, जवाहरलालजी जैसे साथी भी एक के बाद एक चल बसे। जिन्हे उन्होने अपनी ही बेटी माना था, वह रैहाना तैयबजी और पुत्रवधु समान डा० शरद नानावटी जब उनसे पहले चल बसी, तब तो काफी दुःख हुआ।

उनके दूसरे पुत्र बाल का 1976 मे हृदय गति रुक जाने से देहांत हो गया, यह उनके लिए एक बड़ा आघात था। इससे पहले सन् 1959 मे बाल की पत्नी रेवती भरी जवानी मे चल बसी और सन् 1963 मे सतीश की पत्नी चदन चल बसी।

चंदन बहन उनकी केवल पुत्रवधु नहीं, बल्कि प्रिय शिष्या भी थी।

पर इतने सारे दुःख आ पड़ने पर भी वह बराबर शात रहे। दुःखो से ऊपर उठने की उनकी शक्ति ने उन्हे संभाल लिया।

दुःखों को जितनी अलिप्तता से उन्होंने सहन किया था, उससे भी दुगुनी अलिप्तता से उन्होंने लगातार मिले सम्मानों को 'सहन किया'। सुख और दुःख मे हमेशा समभाव रहे। गीता के 'सुख-दुखे समेकृत्वा' को उन्होने अपने जीवन मे सम्यकतया चरितार्थ किया था।

सन् 1952 मे वह राष्ट्रपति की ओर से राज्य सभा के लिए मनोनीत किए गए। सन् 1958 मे वह दुबारा मनोनीत हुए। पूरे बारह साल वह राज्य सभा के सदस्य रहे। राज्य सभा से निवृत्त होने पर राष्ट्र की ओर से पद्मविभूषण उपाधि से अलंकृत किए गए। हिन्दी-हिन्दुस्तानी के प्रश्न को लेकर जिन सस्थाओ

1 लेखक के साथ बातचीत से।

के साथ उनके तीव्र मतभेद हुए थे उनमे से वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने सन् 1959 मे उन्हें अपना सबसे बड़ा 'महात्मा गांधी पुरस्कार' प्रदान करके सम्मानित किया तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने सन् 1968 मे अपनी उच्चतम पदवी 'साहित्य वाचस्पति' से उन्हे अलंकृत किया। सन् 1971 में गुजरात विश्वविद्यालय ने और सन् 1974 काशी विद्यापीठ ने उन्हें अपनी डी० लिट् की मानद उपाधिया देकर सम्मानित किया।

सन् 1961 मे प०सुखलालजी के हाथो अहमदाबाद मे उन्हें 'कालेलकर अध्ययन ग्रथ' अर्पित किया गया तो सन् 1965 मे राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन के कर कमलो द्वारा उन्हे 'सस्कृति के परिव्राजक' नामक अभिनदन ग्रंथ अर्पित किया गया।

सन् 1979 मे पिच्चानवी वर्षगांठ के अवसर पर एक बार और उनके मित्रों ने उन्हे 'समन्वय के साधक' नामक एक और अभिनदन ग्रथ अर्पण किया।

सन् 1975 मे जब वह निवृत्त हुए, दुनिया से इतने अलिप्त हो गए थे कि इन मान सम्मानो को तो क्या, अपने पूरे भूतकाल को उन्होने इस तरह भुला दिया था, मानो वह कोई दूसरे ही काका साहब रहे हों। एक तरह की ब्राह्मी स्थिति में वे निरंतर विचरने लगे थे। उनके आंतरिक जीवन मे जो तृप्ति थी, वह उनके चेहरे पर दीप्ति के रूप मे प्रकट हुई थी। उन्हें देखने पर मन मे यही प्रश्न उठता था —क्या बुढ़ापा भी इतना सुदर हो सकता है ? कितना शानदार मालूम होता है ! अतिम पाच वर्ष वे इसी स्थिति मे रहे थे।

मार्च 1981 मे इन पक्तियो का लेखक उनसे मिला था, तब उसने पूछा : 'काका साहब, आजकल आप कोई काम नही करते। क्या कोई परेशानी महसूस नही करते' ?

'नही. कोई परेशानी नही' तुरंत जवाब दिया, 'बिलकुल तृप्त हूं।'

'आजकल देश की हालत बहुत खराब हो गई है, क्या आपको उसकी कोई चिन्ता नही है ?'

मुस्कराकर कहने लगे, जब तक स्वराज्य नही मिला था, दिमाग तरह-तरह की योजनाएं बनाता रहता था। तब और किसी काम के लिए फुरसत ही नही मिलती थी। स्वराज्य मिला तब मैंने अपने आपसे कहा, अब तो हम स्वतंत्र हो

गए हैं। अब देश को हम जैसे बनाना चाहें, बना सकते हैं। हमारे मार्ग में रुकावट डालने वाली बाहरी शक्ति अब कोई नहीं है। फिर देश की पुरातन या सनातन कहो, जो भी कमजोरियां हैं, उनकी ओर देशवासियों का ध्यान खींचने का काम करने लगा। जातीय ऊंच-नीच भाव, साम्प्रदायिकता, ऐसे राष्ट्रीय दुर्गुण हैं, उनकी ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट कर कहने लगा, भई इन दुर्गुणों को हटाना है। वरना हम देश को आगे नहीं ले जा सकते। कल परसों तक मैं यही काम करता आया था। जब शरीर की शक्तियां क्षीण होने लगीं, तब एक-एक काम छोड़ता गया। धीरे-धीरे अंतर की ओर मुड़ने लगा। मैंने जो अपना जीवन कार्य माना था, पूरी लगन के साथ करता रहा। अब कोई कर्त्तव्य बाकी नहीं। बाकी का काम मैंने भगवान पर छोड़ दिया है और सारा दिन भगवान का चिंतन करता हूं। पिछले पांच वर्षो से भगवान का अखंड चिंतन करता आया हूं और तृप्त हूं। मन में किसी तरह का असंतोष नहीं है। किसी तरह की शिकायत नहीं है।

बोलते-बोलते रुक गए और कहने लगे, आजकल तुम्हारे जैसे भी जब आते हैं कोई बात नही छेड़ते। बस दर्शन देते हैं और चले जाते हैं। मैंने कहा, नही, नहीं। हम दर्शन करने आते हैं, उसी से हमें प्रेरणा मिल जाती है और आपके दर्शन-मात्र से ही हमारी पिपासा शान्त हो जाती है।

फिर स्लेट पर मैंने लिखा : हम कहते हैं कि यह देश सेक्यूलर है। यानी वह हिन्दुओं का है, मुसलमान-ईसाईयों का भी है। देश में जो लोग हैं, उन सबका है। देश में सब समान हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सब...

सब पढ़ लिया और कहा, 'हां।'

तो फिर इस देश मे हम मुसलमान, ईसाई आदि लोगों को मायनोरिटीज क्यों मानें? सेक्यूलर देश में मैजोरिटी-मायनोरिटी का सवाल ही नहीं उठना चाहिए। देश अगर हिन्दुओं का होता तो हिन्दू राष्ट्र में ही मुसलमान, ईसाई आदि लोग मायनोरिटीज मे शुमार होते। पर देश तो सेक्यूलर है।

काका साहब कहने लगे, सेक्यूलरिज्म हमारा आदर्श है, इस आदर्श की ओर हमें जाना है। इसका मतलब यह हुआ कि सेक्यूलरिज्म हमारा अभी भी समाजवाद के जैसा ही दूर का या नजदीक का ध्येय है। वहां तक अभी हम पहुंचे नहीं हैं। वास्तविकता क्या है? देश में हिन्दू बहुमत में हैं। हिन्दू लोग जिस तरह होंगे, उसी तरह का देश बनेगा। देश के आदर्शों की जिम्मेदारी हिन्दुओं को ही

उठानी होगी। हिन्दू अगर सेक्यूलर नहीं बनेंगे तो मुसलमान कम्यूनल ही रहेंगे। इस देश में जीने के लिए उन्हें अपना मूल्य बढ़ाना पड़ेगा। यह जो डेमोक्रेसी है न, उसकी सबसे बड़ी कमजोरी संख्याबल का तत्व है। बहुमत के लोग अगर संख्या बल के जोरों पर अपनी जिद चलाते रहेंगे तो अल्पमत के लोग हमेशा उनमें डरते रहेंगे और तुम जानते हो कि जब कोई जानवर किसी से डरता है, तब वह या तो भाग जाता है या हमला करता है। समाज की भी मनोवृत्ति ऐसी ही होनी है। बहुमत के लोग हमें दबा देंगे इस डर से अल्पमत के लोग अपना उपद्रव मूल्य बढ़ाते ही रहते हैं। इसीलिए मैं हिन्दुओं से कहता हूं, भाई, तुम चाहते हो न कि मुसलमान, ईसाई आदि लोग तुम्हारी ही तरह इस देश को अपना देश मानें और देश कम्यूनल न रहे, तो फिर तुम उदार बनो। उनसे ऐसे पेश आओ कि उन्हें लगना चाहिए, यह तो हमारे बड़े भाई है। हमारा हित इनके हाथों में सुरक्षित है। यह हम पर कभी अन्याय नहीं होने देंगे। हिन्दू अगर पूर्ण रूप से अहिंसक और समन्वयवादी नहीं बनेंगे तो यह मेजोरिटी, मायनोरिटी का सवाल देश को हमेशा कुरेदता रहेगा और देश तबाह हो जाएगा।'

मैंने उनसे कहा, आप में तो अब भी पहले ही जैसी ताजगी है। बोले, 'अभी भी बिलकुल निकम्मा नहीं हुआ हूं। तुम लोगों के उपयोग में अब भी आ सकता हूं।' मैंने उन्हें और एक प्रश्न पूछा, 'आप तो करीब-करीब सबको भूल गए हैं। क्या गांधीजी को भी भूल गए।'

'बिलकुल नहीं', तपाक से उन्होंने जवाब दिया और कहा, 'उनका मुझ पर और मेरे समय पर इतना गहरा प्रभाव है कि उन्हें भूलना बिलकुल असम्भव है। फिर मुस्कराकर बोले, 'पर एक बात है : वह दुनिया में नहीं हैं, यह बात कभी-कभी ध्यान में नहीं रहती। लगता है, कहीं हैं। बहुत दिन हुए, उनसे नहीं मिला। अब जल्दी ही उन्हें मिलने जाना है। मतलब, गांधीजी मेरे लिए अब भी जीवित हैं।'

देश की हालत बहुत खराब हो गई है, यह जो मैंने कहा था, वह बराबर उनके ध्यान में रहा। बोले, देश की हालत खराब होगी ही जब तक हम देश की सांस्कृतिक समस्याओं को हल नहीं करेंगे, तब तक चाहे कितना आर्थिक विकास करो, चाहे सरकार बदलो, परंतु फर्क पड़ने वाला नहीं है। देश के नेतृत्व में सुधार होने चाहिए। मेरा मतलब एक राजनीतिक पक्ष के बदले दूसरे को सत्ता

की कुर्सी पर बिठाना नहीं है । राजनीतिक कुर्सियां राजनीतिक लोगों को ही सुलभ हों । जनता का नेतृत्व संस्कृति-धुरीणों के हाथ में जाना चाहिए ।...

कुछ देर रुक कर बोले, एक जमाना था, जब दुनिया का नेतृत्व पोप, ख़लीफ़ा या शंकराचार्यों के हाथों में था। आज ? उनकी गद्दियां हैं । कोई-न-कोई उन गद्दियों पर बैठा हुआ भी है । पर उनका दुनिया पर कोई प्रभाव नहीं है । यही हालत इन राजनीतिक नेताओं की होगी । उनकी गद्दियां रहेंगी, वे भी रहेंगे । पर उनकी कीमत नहीं रहेगी । नया सांस्कृतिक नेतृत्व आएगा, यह अनिवार्य है । फिर धीरे से कहने लगे, इस भविष्यकाल के नेतृत्व के लिए मैंने बहुत-कुछ लिख रखा है ।

काका साहब वैसे ही बोले, जैसे दस साल पहले बोलते थे । उनके चिंतन मे कोई फर्क नही पड़ा था । पहले-जैसा ही वह ताजा था ।

अंतिम वर्षों का उनका दैनिक कार्यक्रम इस प्रकार रहा :

वह हमेशा ब्रह्म मुहूर्त में उठते थे, ध्यान में एकाध घंटा बिताते थे और फिर कुछ पढ़ने लगने थे । यही एक प्रवृति थी जो अंत तक अखंड रूप से चलती रही । सुबह के समय अधिकतर संतों का साहित्य पढ़ते या उपनिषद ।

दस बजे के करीब एकाध घंटा सो लेते थे । भोजन कम कर दिया था । दो बार की प्रार्थना और सुबह-शाम का आध-आध घंटे का भ्रमण, इस कार्यक्रम मे उन्होंने कोई विघ्न नही पड़ने दिया था । बाकी का सारा समय तरह-तरह की पुस्तकों के साथ ही बिताते थे ।

कभी-कभी नींद में भी उनकी कक्षा चलती रहती थी । मृत्यु के कुछ ही दिन पहले सुबह के दस बजे के करीब वह किसी को 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समा:' श्लोक का अर्थ समझा रहे थे । वह भी अपनी मातृभाषा मराठी में —सौ वर्ष जीना चाहिए । पर किस तरह ? कर्म करते हुए । सेवा करते हुए ।

जागने पर उनके एक अंतवासी ने उन्हें बताया—आज आपने नींद में भी कक्षा चलाई । आप किसी को आज ईशावास्य उपनिषद समझा रहे थे । मुस्कराकर बोले, जिंदगी-भर शिक्षक जो रहा ।

एक दिन नींद से उठते ही उन्होंने अपनी मानस कन्या सरोजबहन से कहा, सरोज, मुझे जीवत की चिंता होती है । पूछ तो लो, कैसे है ?

जीवत यानी आचार्य कृपलानी।

सरोजबहन ने फोन करके कृपलानीजी को यह बता दिया । एकाध घंटे के अंदर कृपलानीजी उनसे मिलने सन्निधि में आ गए । कृपलानीजी की आंखें कमजोर हो गई थी । उन्हें स्पष्ट दिखाई नहीं देता था । काका साहब के कान कमजोर हो गए थे । उन्हें सुनाई नहीं देता था ।

कैन यू सी मी ? कृपलानीजी ने पूछा । सरोजबहन ने स्लेट पर कृपलानीजी का प्रश्न लिख कर बताया। तुरंत जवाब दिया, यस, आई कैन सी यू। बट आई कांट हियर यू ।

दोनों एक-दूसरे का हाथ-में-हाथ लेकर देर तक स्पर्श से एक-दूसरे के साथ बातें करते रहे ।

अखबार पढ़ना छोड़ दिया था। पर हवा में ही शायद उन्हें कुछ मिल जाना होगा । कभी कहते, इस तरह तो चल नही सकता । किसी को जाकर उन्हें समझा देना चाहिए कि वे गलत रास्ते जा रहे हैं ।

बुढ़ापा धीरे-धीरे उन पर अपना कब्जा जमा रहा था। पर मृत्यु अब तक उन्हें पकड़ने नहीं पाई थी । अचानक एक दिन—16 अगस्त 1981 को उन्हें बुखार आया। 17 और 18 दो दिन लगातार वह एक-दो के बीच रहा । 19-20 को कुछ बढ़ा । 21 को चार तक बढ़ गया ।

उस दिन सुबह उन्हें प्यास लगी । दस बजे के करीब अचानक उनका चेहरा चमक उठा। उन्होंने आंखें खोली। मानो आनंद से भरपूर थीं। उमड़ती धन्यता से और आनंद विभोर वह सामने देखते रहे, मानो कोई दिव्य दर्शन कर रहे हों। सरोजबहन जो लगभग तैंतालीस वर्ष उनके सान्निध्य में रहीं, कहती हैं :

> मैंने इतने वर्षों के सान्निध्य मे कभी भी ऐसा दिव्य भाव उनके वदन पर नहीं देखा था । एक-दो मिनट तक वह रहा । फिर धन्यता की एक सांस छोड़कर उन्होंने आंखें मूंद लीं ।

काका साहब ने क्या देखा होगा ? गांधीजी को तो नहीं ? हो सकता है ।

दोपहर पौने तीन बजे के करीब उन्होंने फिर एक बार आंखें खोल दीं। आस-पास उनके अंतेवासी थे। हर एक की ओर देखकर मुस्कराए। फिर...एक हल्की-सी हिचकी ली और उसी क्षण अनंत की यात्रा के लिए चल पड़े।

पंद्रह मिनट के अंदर उनके अंतिम दर्शन के लिए इंदिराजी आ पहुंची। कुछ ही समय मे आचार्य कृपलानी आए। एक घंटे के अंदर दिल्ली का सारा सांस्कृतिक, शैक्षिक, साहित्यिक और रचनात्मक कार्यकर्ताओं का जगत उन्हें विदा देने के लिए सन्निधि मे आ पहुंचा। दूसरे दिन उनका पार्थिव शरीर अंतिम यात्रा के लिए तैयार हुआ, तब कृपलानीजी पास मे खड़े डबडबी आंखों से उसकी ओर देखने लगे। सतीश भाई ने जब कहा, चाचाजी, मैं अब अकेला पड गया हूं, तब कृपलानीजी तपाक से बोले, 'पागल, अकेला तो मैं पड़ गया हूं। मुझे जीवत कह कर पुकारने वाला यही एक शख्स था सारी दुनिया में, वह चला गया।'

मृत्यु के समय काका साहब की आयु छियानवे वर्ष की थी। सौ वर्ष पूर्ण करने के लिए केवल चार वर्ष बाकी थे। पर...

काका साहब के जीवन का वर्षो मे हिसाब लगाना गलत है। क्योंकि वर्षो मे वह कभी नही जीए। वह जीकर वर्षो मे जीवन भरते रहे।

'मृत्यु जीवन का पूर्ण विराम नही है। वह तो अमर लोक मे प्रवेश करने का द्वार है। मरण का स्मरण रखकर जो अलिप्तता मे जी सका उसी को अमरलोक का अधिकार प्राप्त होता है।...मृत्यु एक सुदर चीज है। उसकी अपनी लिज्जत भी है। धूप या कपूर जिस तरह जलकर समाप्त होते समय सर्वत्र सुगंध फैलाता है, उसी तरह सज्जनों की मृत्यु भी प्रसन्न, मंगल और सुवासित होती है। संगीत की लय जैसी मधुर होती है और पीछे आनंददायी स्मृति छोड़ जाती है, उसी तरह जीवन की लय को भी सज्जन लोग संगीतमय, आह्लादमय और परम शांतियुक्त बनाते हैं।...

मरण जीवन की कृतार्थता है...और जीवन तो निरंतर जारी ही है...[1]

1. 'परमसखा मृत्यु' : काका साहब कालेलकर।